रस-रत्नाकर

हरिशङ्कर शर्मा

प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १६४५ [मूल्य ५)
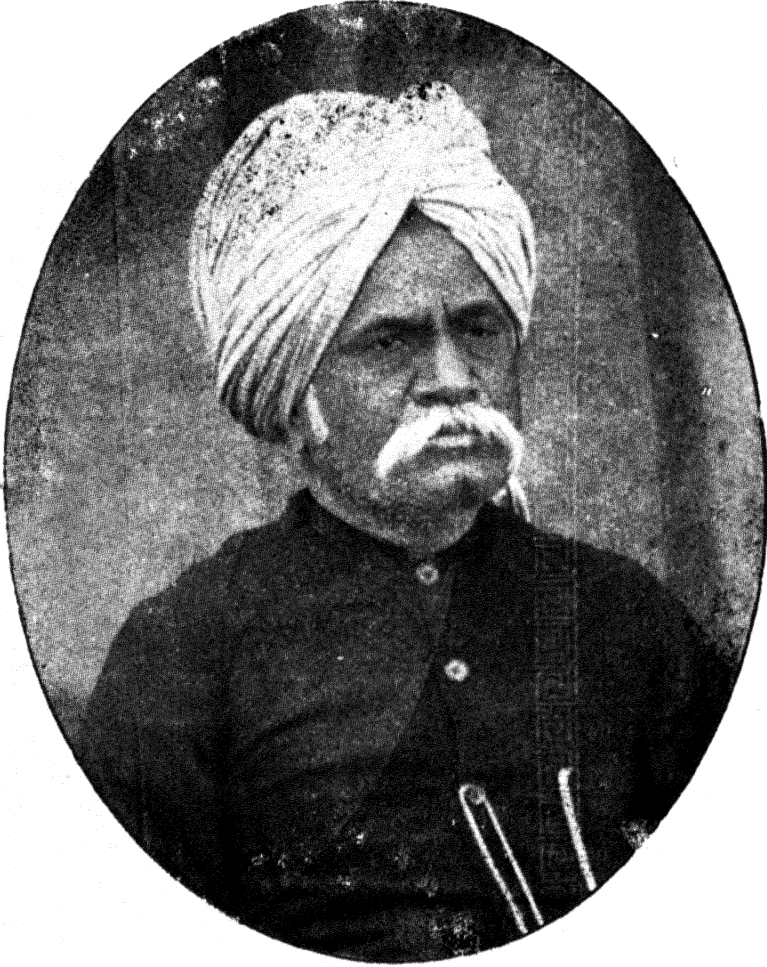
स्वर्गीय महाकवि पं० नाथूराम शङ्कर शर्म्मा

पूज्य पितृदेव

महाकवि 'शङ्कर'

की

विमुक्त आत्मा को

हरिशङ्कर

भूमिका

पं० हरिशङ्कर शर्मा के इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का निमंत्रण मैं अपना सौभाग्य और प्रतिष्ठा समझता हूँ। किन्तु इस निमंत्रण ने मुझे असमंजस में डाल दिया है। इस पुस्तक के अनुरूप भूमिका लिखने की योग्यता कहाँ से लाऊँ ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी कनिष्ठिका पर गोवर्द्धन उठा लिया। साथ के ग्वाल-बालों ने भगवान् की सहायता करने की इच्छा और अपने उद्योग की सफलता में पूर्ण विश्वास करके अपनी-अपनी लाठियों का सहारा भी लगा दिया और इस आनन्द-दायक भ्रम में मग्न रहे कि वे भगवान् के भार को बँटा रहे हैं। इस भूमिका को लिखकर मैं भी उन भरमे हुए ग्वालों का अनुकरण कर रहा हूँ। मेरी भूमिका इस ग्रन्थ-गोवर्द्धन के लिए ग्वालों की लाठियों के समान ही है। ग्रंथ का भार तो शर्माजी ही उठाए हुए हैं।

ऐसी पुस्तक की भूमिका लिखने में मुझे स्वभावतः संकोच होता है। भूमिका की आवश्यकता पुस्तक-प्रणेता का परिचय कराने और उसके लेखक के अधिकारी होने की साक्षी देने के लिए होती है। हिंदी संसार को पं० हरिशङ्कर शर्मा का परिचय देना मेरे लिए अक्षम्य धृष्टता होगी। ये साहित्य-सेवा तथा साहित्यिक जीवन दोनों में ही मुझसे कहीं श्रेष्ठ हैं। हिंदी-संसार उनसे उस समय पूर्ण परिचित था जब मैं विश्वविद्यालय की परीक्षाओं से सिर मार रहा था। और रही उनके अधिकारी लेखक होने की बात—उसके लिए और कुछ नहीं तो यह पुस्तक ही 'स्वतः प्रमाण' है।

यह ग्रन्थ वास्तव में हिंदी रसों और नायिका-भेदों का विश्वकोष है। उनसे सम्बन्धित सभी बातें इस पुस्तक में संगृहीत हैं। किन्तु यह केवल संग्रह मात्र नहीं है। इसमें गम्भीर विवेचना, स्पष्ट विश्लेषण और युक्ति-युक्त समन्वय भी है। भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों को देकर ही विद्वान् लेखक ने संतोष नहीं कर लिया, प्रत्युत बुद्धिसंगत तर्कों से उनका कड़ा परीक्षण करके ही उन्हें ग्राह्य या अग्राह्य किया है। प्रत्येक विषय पर भिन्न-भिन्न आचार्यों का मत संग्रह करना ही बड़े अन्वेषण, परिश्रम और अध्यवसाय का काम है। किन्तु जब हम देखते हैं कि उन मतों को किस निर्भीकता और विद्वत्ता से जाँचा गया है, तब हम लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा किए विना नहीं रह सकते।

शास्त्रीय मतों का संग्रह, उनका विवेचन और उनको रखने की शैली तो हमें मुग्ध कर ही लेती है, किन्तु जब हम उन असंख्य समीचीन उदाहरणों को पढ़ते हैं जो उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी काव्यों से दिये हैं, तो हम शर्माजी की विद्वत्ता ही नहीं किन्तु उनके हिंदी साहित्य के विस्तृत ज्ञान को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। उनसे हमें उनकी सहृदयता और सुरुचि का भी पूर्ण परिचय हो जाता है।

हिंदी साहित्य में इस विषय की एक 'स्टैंडर्ड'—सर्वमान्य—पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि इस ग्रंथ ने उस अभाव की पूर्ति कर दी है। काव्य-शास्त्र सम्बन्धी बातों को जानने के लिए अब जिज्ञासुओं को भटकना न पड़ेगा। रस, नायिका-भेद और नख-शिख सम्बन्धी बातों के लिए विद्वानों और विद्यार्थियों को यही एक पुस्तक पर्याप्त होगी।

इस पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि लेखक का दृष्टि-कोण विशाल और उदार है। वह किसी 'वाद' से 'बद्ध' न होने के कारण भिन्न-भिन्न मतों को स्वतंत्रतापूर्वक देखता है। वह दूसरों में अपना ही मत नहीं देखना चाहता, किन्तु यह जानने का उद्योग करता है कि आचार्यों का मत वास्तव में क्या था। साथ ही जहाँ उसका मतभेद भी है, वहाँ उसकी समालोचना सहानुभूति-पूर्ण और उदार होती है, जिससे उसके निष्पक्ष होने का पूरा विश्वास हो जाता है।

हिन्दी संसार—मातृ-भाषा-भक्त लोगों का दरिद्र-समुदाय—इस समय शर्माजी की इस कृति का आंशिक भी मूल्य या पारिश्रमिक नहीं चुका सकता। किन्तु जिस साहित्य का आरम्भ "स्वान्तः सुखाय" के मूल मंत्र से हुआ था, उसका विकास भी उसी मंत्र की शक्ति से होता रहा है। हिंदी साहित्य इन्हीं साहित्य-सेवियों से पोषित रहा है, और उनकी तपस्या ही सब प्रकार से उपेक्षिता हिंदी को पल्लवित और कुसुमित किए हुए है। इस तपःपूत साहित्य में यह ग्रंथ—जिसकी श्रेणी का ग्रंथ दो-चार पीढ़ियों में कहीं एक बार तैयार होता है—स्थायी स्थान पाएगा।

पं० हरिशङ्करजी शर्मा रसवादी हैं। वे पाश्चात्य साहित्य से इतने प्रभावित नहीं हुए कि 'रस' को भूल जायँ या उसके महत्त्व को भुला दें। हमारे आचार्यों ने काव्य का इतना सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण किया है कि उसे पढ़कर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। पाश्चात्य देशों में विद्वानों ने इस ओर अपेक्षाकृत बहुत कम ध्यान दिया। अतएव वहाँ इस विषय पर समीचीन विचार ही नहीं हुआ। जो लोग पाश्चात्य साहित्य को आदर्श मानते और वहाँ की

साहित्यिक "मान्यताओं" को वेदवाक्य समझते हैं; उन्हें इस विषय का महत्त्व समझने और स्वीकार करने में मानसिक कठिनाई होती है। शर्माजी ने जिस योग्यता और विद्वत्ता से रसों का सांगोपांग शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है, उसे पढ़कर, आशा है कि हमारे वे मित्र भी जो पाश्चात्य विचारों से प्रभावित हैं, रस-सिद्धान्त को समझ सकेंगे। रस के सिद्धान्त का प्रतिपादन और शृङ्गार रस का विश्लेषण इस पुस्तक के विशेष पठनीय भाग हैं। लेखक ने केवल प्राचीन आचार्यों का सहारा नहीं लिया, प्रत्युत उसने अकाट्य प्रमाणों से रस के सिद्धान्त का निरूपण और प्रतिपादन किया है। इसे पढ़ने के बाद साधारण व्यक्ति को भी रस का सिद्धान्त हस्तामलक हो सकेगा।

आशा है, हिन्दी संसार में इस अमूल्य पुस्तक का समुचित आदर होगा, और इसके द्वारा हमारे साहित्य-शास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण अंग का ज्ञान साहित्य-प्रिय जनता को सुगमता से हो सकेगा। इस विषय के उच्च विद्यार्थियों के लिए तो यह पुस्तक वरदान के समान प्रमाणित होगी। पं० हरिशङ्करजी शर्मा ने इस पुस्तक का निर्माण कर हिंदी की अमूल्य और चिरस्थायी सेवा की है।

आगरा
रामनवमी, २००२ वि०

श्रीनारायण चतुर्वेदी
(एम० ए० लन्दन);
इन्सपेक्टर आव् स्कूल्स;
भूतपूर्व शिक्षा-प्रसार आफ़िसर, यू० पी०

दो शब्द

श्री पं० हरिशङ्कर शर्मा कृत इस वृहत् रस-ग्रन्थ को देखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। हिन्दी साहित्य में रस निरूपण-परक अनेक रचनाएँ हो चुकी हैं, परन्तु यह ग्रन्थ अपने ढंग का निराला है। इसके पढ़ने से ग्रन्थकार के विशिष्ट स्वाध्याय और रस-सम्बन्धी व्यापक ज्ञान का अनायास ही परिचय प्राप्त हो जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने रस को 'अनिर्वचनीय' कहा है, परन्तु शर्माजी ने अपने अनुभव के बल पर इस 'अनिर्वचनीयता' की जो निर्वचन-विधि अपनायी है, वह मुक्त कण्ठ से सराहना करने योग्य है। शर्माजी की प्राञ्जल लेखन-शैली के पुण्य-प्रवाह में डूबता-उतराता हुआ पाठक बड़ी सरलता से, दुरूह रस-रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है।

इस ग्रन्थ में रसराज—शृंगार को ही प्रधानता दी गई है, इस विषय में शर्माजी राजाजी के पक्के अनुयायी प्रतीत होते हैं। ('राजा तु शृंगारमेवैकं रसमाह'—सरस्वती कण्ठाभरण। वयंतु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः इत्यादि)—परन्तु साथ ही इससे अन्य रसों की महत्ता कम नहीं होने पाई। इस ग्रन्थ में नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन है, परन्तु उसने श्लीलता की सीमा का कहीं भी उल्लंघन नहीं किया। जो विषय सभ्य-समाज ने इतना उपेक्षणीय समझ लिया था, उसे शर्माजी ने जिस मनोहारिणी पद्धति से उपन्यस्त किया है, उसे देखकर यदि 'नायिका भेद' का जीर्णोद्धार कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

पुस्तक की लेखन-शैली ने मुझे बहुत प्रभावित किया। विशेष कर इसलिए कि उसमें रस-सिद्धान्तों को शाब्दिक जगड्‌वाल में न डाल कर, बड़ी सरलता और सुन्दरता से समझाया गया है। ग्रन्थ के विचार बड़े साफ़ और सुलझे हुए हैं। प्रायः ऐसी पुस्तकों में भावों के स्पष्टीकरण की अपेक्षा शब्दाडम्बर ही अधिक होता है, परन्तु इस ग्रन्थ में यह बात नहीं है। इसमें बड़ी सरलता, साधुता और सुस्पष्टता का आश्रय लिया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने रस-सम्बन्ध में जो युक्तियुक्त और प्रमाणपूर्वक मत-प्रदर्शन किया है, वह बड़ा ही सुन्दर है। जिस करुण रस के देखने से सामाजिक के हृदय को वेदना होती है, उसे बार-बार वह क्यों देखता है, इस तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों के समाधान शर्माजी ने बड़ी ही ख़ूबी और विद्वत्ता से किये हैं।

प्रत्येक रस के प्रारम्भ में लेखक ने जो मन्तव्य प्रकट किये हैं, वे प्रशंसनीय एवम् माननीय हैं। उदाहरण भी बड़े सुन्दर और काव्यमय दिये गये हैं। न मालूम इनकी खोज में शर्माजी को कितने ग्रन्थों के पन्ने उलटने पड़े होंगे। मेरी राय में जहाँ यह नवरसों के निरूपण का ग्रन्थ है, वहाँ उसे व्रजभाषा-काव्य-साहित्य का भाण्डार भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि इसमें अधिकतर उदाहरण व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों के ही हैं। अनावश्यक और अप्रासङ्गिक बातों को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया। जो विवरण या वर्णन हैं वे अत्यन्त संक्षिप्त और सारयुक्त हैं। यह इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता है।

एक बात और—इस ग्रन्थ के निर्माण में संस्कृत के प्रायः सभी प्रामाणिक साहित्य-ग्रन्थों का किसी न किसी अंश में आश्रय लिया

गया है, और विविध आचार्यों के मत-भेद को बड़ी उत्तमता से प्रदर्शित किया है। साथ ही शर्माजी ने अपना स्पष्ट मत प्रकाशित करने में भी संकोच नहीं किया। ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर लेखक की निष्पक्षता, उदारता और आचार्यों के प्रति प्रतिष्ठा-भावना के भली-भाँति दर्शन होते हैं। इस युग में जबकि प्राचीनता के विरुद्ध एक युद्ध-सा छिड़ा दिखाई देता है, ऐसी युक्तियुक्त, प्रमाणपूर्ण प्राचीनता-पोषक पुस्तक की रचना, सचमुच बड़े सौभाग्य की बात है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी साहित्य-समाज में श्री हरिशङ्कर शर्मा के इस ग्रन्थ-रत्न का यथेष्ट आदर होगा और वह एक बहुमूल्य कृति समझी जायगी।

उन्मीलत् कमनीयकोमलपदन्यासाः सहासाः स्फुर-
च्छृङ्गारादिरस प्रपंचितसुधामाधुर्यधुर्याः परम्।
श्रीमद्भिः हरिशङ्करैर्विरचिताः भावोज्ज्वलाः सूक्तय-
श्चेतःकस्य न मज्जयन्ति सहसा ब्रह्मप्रमोदार्णवे॥

हरिदत्त शर्मा (एम० ए०, शास्त्री)
[न्याय—वैशेषिक—सांख्य—योग—वेद—काव्य—व्याकरण और तर्क-तीर्थ; वेदान्ताचार्य; व्याकरणाचार्य; साहित्याचार्य; आयुर्वेदाचार्य; इत्यादि]

निवेदन

'रस-रत्नाकर' नामक मेरी यह तुच्छ कृति हिन्दी जगत के सामने है। इसमें जो कुछ है, वह प्राचीन और नवीन आचार्यों का ही है। मेरा कुछ नहीं। सारी सामग्री को यथास्थान रखने में जो परिश्रम हुआ है, कठिनता से वही मेरा कहा जा सकता है। निःसन्देह ऐसी पुस्तकें लिखना विद्वानों का काम है, परन्तु 'क़लम का मज़दूर' होने के कारण मैं भी उसे करने लगा। मज़दूर को तो काम चाहिए—चाहे वह ईंटें उठाना हो; चाहे ग्रन्थों को सँभाल-सँभाल कर अलमारियों में लगाना। इस प्रकार के काम हाथ में लेना मेरा दुस्साहस मात्र ही हो सकता है। परन्तु अब इसके लिये क्या कहूँ; अनधिकार चेष्टा का क्षुद्र परिणाम आपके सामने है।

इस पुस्तक के लिखने में मुझ से अनेक भूलें हुई होंगी, जिनके लिए मैं अल्पज्ञ होने के कारण क्षन्तव्य हूँ। यहाँ मैं यह निवेदन अवश्य कर देना चाहता हूँ कि पुस्तक-प्रणयन में प्रमाद से काम नहीं लिया गया, इसलिए उसमें जो भूलें हैं, वे मेरे परिश्रम की नहीं, अयोग्यता या अज्ञान की ही हैं। जिन ग्रन्थों या महानुभावों से इस पुस्तक की रचना में मैंने कुछ भी सहायता प्राप्त की है, उनके लिए मैं हृदय से अत्यन्त आभारी और कृतज्ञ हूँ। मेरा क्या है, इसमें जो कुछ है, वह दूसरों का ही है। मैं तो 'ठुक-पिटकर' योंही 'पुस्तक-प्रणेता' बन गया हूँ। अस्तु।

आगरे के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वद्वर श्री पं० केदारनाथ भट्ट, एम० ए० का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में अपना विद्वत्तापूर्ण परामर्श प्रदान किया। सुहृद्वर पं० यज्ञदत्त शर्मा उपाध्याय तो प्रारम्भ से अन्त तक—लगातार कई मास—मेरे इस दुष्कर कार्य-साधन में सच्चे साथी और सबल सहायक की तरह सतत संलग्न रहे, अतः इनके प्रति अपनी कृतज्ञता के भाव प्रकट न करना अन्याय होगा।

सुप्रसिद्ध साहित्य-वेत्ता, कवि और काव्य-मर्मज्ञ विद्वद्वर श्री पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए० (लन्दन); और आचार्य-प्रवर श्री पं० हरिदत्त शर्मा शास्त्री एम० ए०, सप्ततीर्थ का मैं बड़ा आभारी हूँ, जिन्होंने अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी, मेरी प्रार्थना पर, इस पुस्तक के फ़र्मों को पढ़ने का कष्ट उठाया और 'भूमिका' तथा 'दो शब्द' लिख देने की कृपा की।

अन्त में मैं श्री ला० वेणीमाधव अग्रवाल (मालिक फ़र्म राम-नारायण लाल, पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता) को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने काग़ज़ की इस महगाई में, इतनी बड़ी पोथी को प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। सच तो यह है कि यह कार्य लालाजी के आग्रह और अनुग्रह से ही सम्भव और सम्पन्न हो सका है।

पुस्तक प्रयाग में मुद्रित हुई और मैं आगरे में रहता हूँ। प्रूफ़ मेरे पास आते रहे। ऐसी दशा में मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। फिर लगभग दो सौ पृष्ठों के प्रूफ़-संशोधन की व्यवस्था तो प्रयाग में ही हुई, अतः मुझे उनको देखने का अवसर नहीं मिला। आशा है, सहृदय पाठक छापे की ओर

मेरी भूलों का संशोधन करते हुए, इस पुस्तक को पढ़ेंगे। काग़ज़-कंट्रोल सम्बन्धी क़ानूनी कठिनाइयों के कारण पुस्तक के नये प्रकरण नये पृष्ठों से प्रारम्भ नहीं किये जा सके, इससे प्रतिपाद्य विषय का उचित वर्गीकरण नहीं हो पाया। यह मजबूरी थी। अस्तु।

इस पुस्तक में यदि कोई गुण है तो उसका श्रेय विद्वान् आचार्यों को है; और दूषण का भागी मैं हूँ। मेरी विनम्र विनती है कि जिन शब्दों और जिस भावना के साथ मैं अपनी इस तुच्छ रचना को पाठकों की सेवा में रख रहा हूँ, उसी दृष्टि-कोण से वह देखी और अपनायी जाय। यदि इस पुस्तक से साहित्य की अणुमात्र भी सेवा हो सकी तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक और सफल समझूँगा।

आगरा
अक्षय तृतीया
२००२

हरिशङ्कर शर्मा

विषय-सूची

विभाव

१—आलम्बन

२—उद्दीपन

ओ३म्

काव्य की महत्ता

'कविर्मनीषी: परिभू: स्वयंभू:'

सुन्दर शब्द-प्रयोग मनोहर भाव रसीले,
दूषण-हीन प्रशस्त पद्य भूषण भड़कीले,
प्रिय प्रसादता पाय मर्म-महिमा दरसावे,
रसिकों पर आनन्द-सुधा-सीकर बरसावे,
जिनके द्वारा इस भाँति की परम शुद्ध कविता कढ़े,
उन कविराजों का लोक में सुयश सदा 'शङ्कर' बढ़े।

—महाकवि शकर

परमात्मा कवि है, उसका काव्य वेद है, जो न कभी नष्ट होता है, और न जीर्ण होता है। सदा एक रस बना रहता है। छन्द वेद का एक अंग है। वेद में अलंकारों और भव्य भावों की भरमार है। वैदिक मन्त्रों का विशुद्ध गान, स्वर्गीय सुख और अलौकिक सुषमा का स्रोत प्रवाहित करता रहता है। सामगान का आनन्द बड़ा ही दिव्य और भव्य है। सच्चिदानन्द प्रभु ने सृष्टि के आदि में, अपने ज्ञान के साथ-साथ, मनुष्य को काव्यामृत भी प्रदान किया। उसको कविता-कला का उपदेश दिया। ईश्वरीय ज्ञान वेद में स्थल-स्थल पर काव्यमय चमत्कार दिखाई

देता है। सैकड़ों मन्त्रों में अलंकारों का प्रयोग किया गया है, और सारे वेद में रसों की सुरम्य सरिता बहाई गई है।

ऋषि-मुनियों की अधिकांश रचनाएँ काव्यमयी हैं। वे हमारे लिए उन अलौकिक काव्य-ग्रन्थों को छोड़ गए हैं, जिनकी समता संसार का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। उन महापुरुषों ने तो धर्म, समाज, ज्योतिष, गणित, वैद्यक, शिल्प आदि विषयों तक को अपने अद्भुत काव्य-प्रभाव से अलौकिक और अमर बना दिया है। हमारे जगत्प्रसिद्ध महाकाव्यों के कारण भारत-भारती की गुण-गरिमा का जो प्रसार और विस्तार हुआ है, वह किससे छिपा है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवि आज संसार में नहीं हैं, परन्तु उनकी अजरा-अमरा कीर्ति दिग्दिगन्त व्यापिनी हो रही है। कवि-कुल-गुरु गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस द्वारा परम पावन भगवान् राम के उच्च आदर्श को घर-घर की वस्तु बना दिया। तुलसीदासजी ने अपनी कविता-कला के प्रभाव से जाति को जगाया, और कोटि-कोटि जनता का चरित्र-सुधार किया। इसी प्रकार सूर, केशव, बिहारी, देव, पद्माकर, मतिराम, भूषण आदि महाकवियों ने भी अपनी-अपनी काव्य-साधना द्वारा सरस्वती की आराधना की।

जिस काव्य की इतनी महिमा है, वास्तव में वह क्या है; इस विषय पर यहाँ विचार करना कुछ अनुचित न होगा। संसार में शब्द के रूप में जो कुछ सुनाई पड़ता है, वह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। अर्थात् ध्वनि और वर्ण। अव्यक्त शब्द को ध्वनि और व्यक्त को वर्ण संज्ञा दी गई है। कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, कौआ, कबूतर आदि जो कुछ बोलते हैं, वह ध्वनि है। मुरली, वीणा, सितार, मृदंग आदि से जो मनोमोहक शब्द निकलता है, वह भी ध्वनि है। परन्तु मनुष्य के मुँह से जो सार्थक शब्द निकलते हैं, उन्हें वर्ण माना गया है। ध्वनि और वर्ण दोनों के सुनने में आनन्द आता है। मधुर वीणा-वाद्य या बाँसुरी की सुरीली तान मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षियों तक को मोहित कर लेती है। जिस

समय कोई वश्यवाक् कवि वर्णात्मक काव्य-रचना करता है, उस समय उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहता।

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं। मम्मटाचार्य के मत में शब्दों और अर्थों का निर्दोष एवं गुणयुक्त होना (उसमें अलंकार हों चाहे न हों) काव्य है[१]। भोजदेव की सम्मति में निर्दोष, गुण और अलकार युक्त रसात्मक वाक्य काव्य है[२]। पण्डितराज जयदेव कहते हैं कि निर्दोष लक्षणवती रीति एवं गुण, अलंकार समन्वित सरस वाक्य ही काव्य है[३]। काव्यालकार में निर्दोष, गुण एवं अलंकार सहित शब्दार्थों को काव्य माना गया है[४]। वाग्भट्टाचार्य काव्य उसे मानते हैं, जिसके शब्द और अर्थ सरल हों और जो गुण, अलंकार एवं रीति युक्त तथा सरस हो[५]। पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है[६]। साहित्यदर्पण के कर्ता कविराज विश्वनाथ की सम्मति में रसात्मक वाक्य ही काव्य है[७]।

काव्य की उत्कृष्टता उसके अर्थगौरव पर निर्भर है। यह अर्थ तीन प्रकार का माना गया है, १—वाच्यार्थ, २ लक्ष्यार्थ और ३—व्यंग्यार्थ।

१—" तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि "

२—" निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"

३—" निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुण भूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिवाक् काव्यनाम भाक्।"

४—" अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्।"

५—" साधु शब्दार्थ सन्दर्भं गुणालङ्कार भूषितम्।
स्फुट रीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥"

६—" रमणीयार्थ प्रतिपादकःशब्दःकाव्यम्।"

७—" रसात्मकं वाक्यं काव्यम्।"

वाच्यार्थ— जैसे—मोहन कहने से जिस व्यक्ति विशेष का बोध होता है, वह मोहन शब्द का वाच्यार्थ है; और मोहन शब्द उस व्यक्ति विशेष का वाचक। यह शब्द-व्यापार अभिधा वृत्ति कहाता है।

लक्ष्यार्थ—जब वाच्यार्थ वक्ता के अभिलषित अर्थ से नहीं मिलता, तब उससे उसे मिलाने के लिए जो शब्द का निकटवर्ती अर्थ कल्पित किया जाता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। वह शब्द उसका लक्षक कहाता है, और इस शब्द-व्यापार को लक्षणा वृत्ति कहते हैं। जैसे—यह सड़क तो दिन-रात चलती है। इसमें वक्ता का प्रयोजन वाक्य के वाच्यार्थ सड़क के चलने से न होकर, उसके निकटवर्ती अर्थ सड़क पर चलने वाले व्यक्तियों सवारियों आदि से है। वाक्य का वाच्यार्थ तो बिलकुल निष्प्रयोजन है, क्योंकि सड़क कभी नहीं चला करती। सड़क पर आदमी दिन-रात चलते हैं, यह लक्ष्यार्थ ही यहाँ इष्ट है।

व्यंग्यार्थ—शब्द या शब्दसमूह के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों से भिन्न प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ, तथा उस शब्द या शब्दसमूह को व्यञ्जक कहते हैं, और इस शब्द-व्यापार का नाम व्यञ्जना वृत्ति है। जैसे—कोई कहे "उसके चेहरे पर तो बारह बज रहे हैं" यहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही से भिन्न यह अर्थ निकलता है कि उसके चेहरे पर उदासी छाई हुई है। उक्त वाक्य में बारह बज रहे हैं। यह शब्द-समूह व्यञ्जक और उदासी छाना इसका व्यंग्यार्थ है।

उत्तम काव्य वह माना गया है, जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो। मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ गौण रूप से रहता है। जिस काव्य में शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) का ही चमत्कार होता है, व्यंग्यार्थ का नहीं, उसे कनिष्ठ या चित्र काव्य कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों में काव्य की रसात्मकता अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादकता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। कोई काव्य कितना ही निर्दोष और अलंकारपूर्ण क्यों न हो, परन्तु यदि उसमें लोकोत्तर

आनन्द-दायिनी रसात्मकता नहीं है, तो वह काव्य की कोटि में नहीं आ सकता। वस्तुतः रसात्मक काव्य रचने वाले कवि बड़ी कठिनता से उत्पन्न होते हैं। किसी ने ठीक कहा है—'कवि पैदा होते हैं, बनाए नहीं जाते।' जो लोग अपनी प्रवृत्ति के प्रतिकूल परिश्रमपूर्वक कविता करने लगते हैं, वे कवि नहीं पद्यकार हैं। कविता और पद्य-रचना में बड़ा अन्तर है। कवि का कर्तव्य महान् होता है, उसकी ज़िम्मेदारी की हद नहीं। जिन पंक्तियों में सहृदय-समाज के हृदय को फड़का देने की शक्ति नहीं, जिनमें चमत्कार और कवित्व का अभाव हो, वे कदापि कविता नहीं कही जा सकतीं। किसी ने ठीक कहा है—

किंकवेस्तेन काव्येन,
किं काण्डेन धनुष्मतः,
परस्य हृदये लग्नं,
न घूर्णयति यच्छिरः।

इसी बात को किसी ने निम्नलिखित शब्दों में कहा है—

जाके लागत तुरत ही सिर ना डुलै सुजान।
ना वह गीत न कवितरस ना वह तान न बान॥

निस्सन्देह धनुर्धर का वह बाण और कवि की वह कविता ही क्या, जो दूसरे के हृदय में लगकर उसका सिर न हिलादे। जिस कविता में अपने अद्भुत चमत्कार द्वारा प्रवीण पाठकों के सिर हिला देने की क्षमता न हो, वह कविता नहीं कही जा सकती। कवि किसी घटना को जिस दृष्टि से देखता है, साधारण लोग उसे उस दृष्टि से नहीं देखते। कवि की डबल ड्यूटी है—घटना को उसके वास्तविक रूप में देखकर, हृदय द्वारा उसका अनुभव करना, और फिर जैसा स्वयं अनुभव किया है, वैसा ही उसे दूसरों को भी अपनी प्रतिभा द्वारा अनुभव कराना। सत्काव्य के सम्बन्ध में किसी ने क्या ही ठीक कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनानाम् ॥

अर्थात् महाकवियों की वाणी में अभिधीयमान वाच्यार्थ से अतिरिक्त 'प्रतीयमान अर्थ' एक ऐसी चमत्कृत वस्तु है, जो कुछ इस प्रकार चमकती है, जिस प्रकार अङ्गना के अङ्ग में हस्तपादादि प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य की आभा दिखाई देती है।

ठाकुर कवि ने भी कविता की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। देखिये—

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर रीझि रिझावै।
प्रेम को पन्थ कथा हरिनाम की उक्ति अनूठी बनाइ सुनावै।
'ठाकुर' सो कवि भावै हमैं जोइ भारी सभा में बड़प्पन पावै।
पण्डित और प्रवीनन हूँ को जो चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

वास्तव में कवित्त वही है, जो पण्डितों और प्रवीणों का चित्त चुरा सकता है। किसी बात को साधारण ढंग से तो साधारण लोग भी कह सकते हैं, तुकयुक्त भाषा में भी वह कही जा सकती है, परन्तु उसे अलौकिक रीति से वर्णन करने का विचित्र कौशल कवि में ही होता है। "श्याम-गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी" चौपाई में जो चमत्कार है, वह " अकथनीय है सुन्दरताई, ताही सों सो कही न जाई " में कहाँ? इसी प्रकार " गिरा अलिनि मुख-पंकज रोकी, प्रगट न लाज निशा अवलोकी " को देखिये। साधारण-सी बात को कवि-प्रतिभा ने कैसा चमत्कृत बना दिया। लज्जा के कारण बोल न सकने के भाव को कवि ने जिस खूबी के साथ वर्णन किया है, वही कवित्व है। जिस कवि का मस्तिष्क-मन्दिर नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा-प्रभा से प्रदीप्त नहीं हुआ, वह किसी वस्तु या घटना का काव्यमय वर्णन कर ही नहीं सकता।

तपस्विनी सीता अशोकवाटिका में बैठी हैं, महावीर हनुमान राम-नामाङ्कित अँगूठी लेकर वहाँ पहुँचते और वृक्ष पर से उसे नीचे गिरा

देते हैं। सीताजी अँगूठी को उठाकर आश्चर्य से बार बार निरखती-परखती और महाकवि केशव के शब्दों में उससे पूछती हैं—

श्री पुर में बन माँहि मैं, तैं पुनि करी अनीति।
हे मुदरी अब तियन की को करिहै परतीति ॥

अरी अँगूठी, श्री (राजलक्ष्मी) ने तो राम का साथ अयोध्या में ही छोड़ दिया; बन में मैं उनका साथ छोड़ कर यहाँ चली आई ! अब तू भी उनके पास नहीं रही ! मैं तू और राजलक्ष्मी तीनों ही स्त्रियाँ हैं, तीनों ही ने राम को आपत्ति पड़ने पर दग़ा दी, तू ही बता अब स्त्रियों का विश्वास कौन करेगा ! उनकी 'परतीति' कैसे होगी ! कैसा सुन्दर भाव है। कितना निराला ढंग है। बात में से बात पैदा करना इसे ही कहते हैं।

महाकवि केशव अपना काव्य-कौशल यहीं समाप्त नहीं कर देते, वे हनुमानजी के मुँह से सीताजी के प्रश्न का उत्तर भी बड़ी खूबी से दिलवाते हैं। सुनिये—

कहि पूछति तुम मुद्रिके, मौन होति यहि नाम।
कंकन की पदई दई तुम बिन या कहँ राम ॥

सीते, तुम बार-बार मुद्रिके कह कर उसे क्यों सम्बोधन कर रही हो, इस का नाम अब अँगूठी नहीं रहा, इसीलिये वह इस नाम से नहीं बोलती। तुम्हारे बिना राम ने इसे कंकण की पदवी दे दी है। अर्थात् वे वियोग-जन्य वेदना के कारण इतने दुर्बल हो गए हैं, कि किसी समय जो चीज़ उनकी उँगलियों में पहनी जाती थी, वह अब पहुँचे में आ जाती है। इसलिए इस अँगूठी को अब कंकण कहो, अँगूठी कह कर उससे कुछ न पूछो। इस नाम से वह न बोलेगी। अहा ! कैसी सुन्दर उक्ति है। वियोग-जनित दुर्बलता का, इस प्रकार अलौकिकता पूर्वक, दिग्दर्शन कराना महाकवि केशव का ही काम है। वास्तव में कविता यही है। जिसकी प्रतिभा-पहाड़ी से इस प्रकार के भव्य भावों की भागीरथी प्रवाहित होती है, वही महाकवि है।

'अमी हलाहल मद-भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत-मरत झुकि-झुकि परत जिहि चितवत इकबार॥'

जिस महाकवि के विशाल मस्तिष्क से यह प्रसिद्ध दोहा निकला है, उसकी कीर्ति-कल्लोलिनी की विमल धारा को अक्षुण्ण रखने के लिए और किस साधन की आवश्यकता है! ये दो पंक्तियाँ ही उसके जीवन की विभूति कही जा सकती हैं। वृथापुष्ट पोथों से भी जो बात सम्भव नहीं, वह दोहे की इन दो लकीरों ने करके दिखा दी। महाकवि विहारी के दोहों के लिये तो प्रसिद्ध ही है—

सतसैया को दोहरा नाविक को-सो तीर।
देखत में छोटो लगे घाव करे गम्भीर॥

सतसई के एक-एक दोहे पर विद्वानों ने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डाले, फिर भी सहृदय-समाज की उत्सुकता का अन्त न हुआ। वह उसके अभिनव चमत्कार की चसक के लिए बराबर लालायित बना रहा। सचमुच विहारी ने सतसई लिखकर गागर में सागर भरने की कहावत चरितार्थ की है। दो पंक्तियों में इतना व्यापक और गम्भीर भाव लाना बहुत ही कठिन काम है।

भक्त-शिरोमणि सूरदास की भक्ति-भागीरथी में मज्जन कर न जाने कितने मनुष्य तर गए। कविवर कबीर ने न मालूम कितनों को ज्ञान-दान दिया। महाकवि भूषण की वीर वाणी ने शिवराज में विद्युच्छक्ति का संचार कर आश्चर्य जनक कार्य कर दिखाया। कहाँ तक कहें, कवियों ने अपनी कलित कल्पना द्वारा संसार को वह आनन्द प्रदान किया है, जिसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। कुछ अन्य कवियों की सूक्तियाँ भी सुन लीजिये—

प्रातःकाल पौ फटते ही प्राणनाथ परदेश को पधारेंगे, यह जान कर विरह-व्यथिता पत्नी व्याकुल हो रही है—घबरा रही है। उसकी इस आकुलता को कविवर रसनिधि कैसे करुण शब्दों में व्यक्त करते हैं—

आजु सखी हौं सुनति हौं पौ फाटत पिय गौन।
पौ में ह्यौ में होड़ है पहले फाटत कौन॥

अरी सखी, मैंने सुना है कि कल पौ फटते-फटते प्राणनाथ परदेश चले जायँगे। मुझे उनके प्रस्थान की सूचना से बड़ी वेदना हो रही है। अब देखना है, पहले पौ फटती है या मेरा हृदय विदीर्ण होता है।

आगे चल कर रसनिधि के शब्दों में वही स्त्री फिर कहती है—

जिहि बाम्हन पिय-गमन को सगुन दियो ठहराय।
सजनी ताहि बुलाइदे प्रान-दान लै जाय॥

पति को प्रस्थान का मुहूर्त्त बताकर 'बाम्हन' ने बड़ा बुरा काम किया है। उसको कदाचित् मेरा ध्यान नहीं रहा, मेरी वियोग-व्यथा को वह बिलकुल भूल गया। ख़ैर, उस भले आदमी ने जो कुछ किया, ठीक ही किया। सखी, उस बाम्हन से जाकर कहना तो सही कि मुहूर्त्त बताने की दक्षिणा में एक स्त्री तुमको अपने प्राण दान देना चाहती है, जाओ ले आओ।

× × × ×

महाकवि शङ्कर की उक्ति भी सुनिये। देखिये उनकी रूप-गर्विता नायिका क्या कहती है—

आनन की ओर चले आवत चकोर मोर,
दौर-दौर बार-बार बैनी झटकत हैं।
बैठ बैठ 'शङ्कर' उरोजन पै राजहंस,
हारन के तार तोर तोर पटकत हैं॥
झूम झूम चखन को चूम चूम चञ्चरीक,
लटकी लटन में लिपट लटकत हैं।
आज इन बैरिन सों बन में बचावै कौन,
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं॥

सखी क्या बताऊँ, आज वैरियों ने मेरे ऊपर बुरी तरह चढ़ाई करदी है। चकोर मेरे मुँह की ओर दौड़े चले आ रहे हैं। मोर वेणी को पकड़-पकड़ कर बार-बार झटकते हैं चंचरीक मेरी आँखों पर मँडला रहे हैं। हंसों ने उरोजों पर बैठकर मोतियों की माला तोड़नी शुरू कर दी है। हा भगवान्, इतने प्रबल वैरियों से मैं अकेली अबला कैसे प्राण बचाऊँ—किस प्रकार आत्मरक्षा करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।

छन्द के शब्दों से इतनी ही बात समझ में आती है, परन्तु ज़रा और ध्यान दिया जाय और इन शब्दों में कविता की आत्मा खोजी जाय, तो वह भी अपने अकृत्रिम रूप में विद्यमान है। उपर्युक्त छन्द में नायिका के अंगों के उपमानों की ओर संकेत किया गया है। इससे उसके सौन्दर्य का अनुमान किया जा सकता है। सुन्दरता-वर्णन का क्या ही विचित्र प्रकार है। छन्द के यथार्थ को समझ कर सहृदय पाठक की तबीअत फड़के बिना न रहेगी, और उसके मुँह से अनायास ही वाह निकल पड़ेगी।

शङ्करजी के निम्न लिखित दोहे भी कैसे सुन्दर हैं—

मारे बिरह बसन्त के बिरही परे अचेत।
मृतक जानि 'शङ्कर' तिन्हैं ग्रपम पावक देत॥

× × × ×

मुदे न राखत दीठि ज्यों खुले न राखत लाज।
पलक कपाट दुहून के छिन-छिन साधत काज॥

× × × ×

एक ओर तेरो बदन चन्द्र दूसरी ओर।
जात न कितहूँ बीच में नाचत फिरत चकोर॥

× × × ×

बाल युवा औ' वृद्ध को सुधा सुरा विष दैन।
काढ़े कंचन कलश कुच रूप सिन्धु मथि मैन॥

× × × ×

सचमुच न ऐसा कोई शब्द है, न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न ऐसी कोई कला है, जो काव्य का अङ्ग न हो। इसीलिए कवि पर बहुत भारी भार है। इस सारे भार को उसे अपनी लेखनी की नोक पर उठाना पड़ता है। जो इतनी क्षमता रखता है, वही सच्चा कवि है।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महाकवेः॥

कविता रसप्रधान होती है। रस-चमत्कार ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। शब्दाडम्बर युक्त सालङ्कार पंक्तियाँ नीरस होने पर उस शव के समान है, जिसको बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से तो अलंकृत किया गया है, परन्तु यह किसी ने नहीं देखा कि वह (शब्दों की) लाश है—उसमें जीवन की ज्योति नहीं जगमगा रही।

कभी-कभी कविता की भाषा पर बड़ी बहस छिड़ जाती है। कोई खड़ी बोली पर अपना सर्वस्व निछावर करता है, और कोई ब्रजभाषा के चारु चरणारविन्द का चंचरीक बना हुआ है। परन्तु हम तो समझते हैं, भाषा पर विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है, रस पर ध्यान देना चाहिये। किसी भाषा में भी व्यक्त क्यों न हुए हों, चमत्कृत भाव अपने आप चमकने लगते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने ठीक ही कहा है -

जामें रस कछु होत है ताहि पढ़त सब कोय।
भाव अनूठो चाहिये भाषा कोई होय॥

भाषा पर किसी जाति विशेष का अधिकार नहीं होता। जिस प्रकार हिन्दू शायरों ने उर्दू-फ़ारसी में बढ़िया शायरी की है, उसी प्रकार मुसलमान कवियों ने हिन्दी-साहित्य-भाण्डार को अपनी अद्भुत कविता-कला से अलंकृत किया है। कविवर रसखान मुसलमान थे, परन्तु वे ब्रजभाषा और ब्रजचन्द्र पर असीम अनुराग रखते थे। आज उनकी सरस कविता को पढ़कर सहृदय समुदाय अपने को कृतार्थ समझता है। रसखान के कुछ सवैये तो प्रायः सबही काव्य प्रेमियों की जिह्वा पर नृत्य

करते रहते हैं। कविवर रहीम के दोहे किस समझदार पाठक को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेते। ये दोहे आज घर-घर में लोकोक्तियों का रूप धारण कर चुके हैं। मियाँ नज़ीर ने भी स्वाभाविक सरल कविता से अपनी लेखनी को पवित्र किया है। पुराने युग को जाने दीजिये, आधुनिक काल में भी मीर, मूनिस, अजमेरी, ज़हूरबख्श अख्तरहुसैन आदि मुसलमान सज्जनों ने हिन्दी माता की अमूल्य सेवा की है। अभिप्राय यह कि साहित्य-सेवा में हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं उठता। सच्चा काव्य सम्प्रदायवाद से परे है। कवि की विमल वाणी विश्व की विभूति होती है। आवश्यकता कवि होने की है। कवि वही होता है, जिस पर परमात्मा अनुग्रह करता है, और जो कविता के संस्कार लेकर धरा-धाम पर अवतीर्ण होता है।

अनुप्रास युक्त पंक्तियों का ही नाम काव्य नहीं है, रसात्मक गद्य की गणना भी काव्य में की गई है। काव्य और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही सानुप्रास काव्य की सृष्टि रची गई। तुकहीन काव्य गानात्मक न होने के कारण राग-रागिनियों से विराग कर बैठता है, अतएव उसके लिए सानुप्रास भाषा की ही आवश्यकता है। साहित्य और संगीत का बड़ा सुन्दर समन्वय है। दोनों के एकत्र होने पर सोने में सुगन्ध की लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है। 'साहित्य संगीत कलाविहीन' लोगों को भर्तृहरिजी ने 'पुच्छ विषाण हीन साक्षात् पशु' बतलाया है।

आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। नाटकों की गणना दृश्य काव्यों में है, और रामायण महाभारत आदि श्रव्य काव्यों के अन्तर्गत समझे जाते हैं। साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में सबसे पहला ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र माना जाता है। अन्य रीति-ग्रन्थों की सृष्टि इसी शास्त्र के आधार पर रची गई है।

जिस प्रकार सुन्दर आभूषणों से किसी स्वभाव-सिद्ध सुन्दरी की कान्ति बढ़ने में सहायता मिलती है, उसी प्रकार अलंकारों की आभा से कविता-

कामिनी का कलित कलेवर जगमगा उठता है। कविता सच्चे हृदय का अकृत्रिम उद्‌गार है। वह कानों के परदों को पार करती हुई, सहृदय श्रोता के अन्तस्तल तक पहुँचती है। रसिक-समाज को मुट्ठी में कर लेना वश्यवाक् कवि के बाएँ हाथ का खेल है। कविता के लिए छन्दोज्ञान होना भी आवश्यक है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया छन्द की विशुद्धता ही कविता की कसौटी नहीं है। छन्द-शास्त्र तो नाप तोल का विषय है। उसमें तो वे लोग भी अभिज्ञता प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें कवित्व शक्ति उचित मात्रा में नहीं पाई जाती।

आज कल कवियों की भरमार है। कवि होने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनके विना ही कवि बनजाना सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है। बहुत-सी पद्य रचना करने या मोटे पोथे लिखने से ही कोई कवि नहीं हो सकता। कविता के लिए तबीअ़त पर जब्र करने की ज़रूरत नहीं है; हृदय के उद्‌गार अपने आप निकला करते हैं। तबीअ़त तो हाज़िर नहीं, मगर शायरी का शौक़ सवार है, ऐसी हालत में क्या ख़ाक शेर कहे जायँगे? किसी ने ख़ूब कहा है—

गौहरे मज़मूँ निकलते हैं मगर बेआबदार,
जबकि दरिया-ए-तबीअ़त जोश पर होता नहीं।

कविता के लिए दरिया-ए-तबीअ़त को ख़ुद ब ख़ुद जोश पर आने की ज़रूरत है। ठोंक-पीट कर वैद्यराज बनने से काम नहीं चलता। आज कल कुछ लोग कविता को व्यापार की वस्तु समझने लगे हैं। दाम दे-दे कर वे इस देवी को ख़ुश करना चाहते हैं। कवितादेवी को द्रव्य-दासी होने से बचाना चाहिये। इससे उसका अपमान होता है। कविता द्वारा कवि को अनायास ही धन-प्राप्ति हो जाय तो हो जाय, परन्तु वह इस विचार से न लिखी जानी चाहिये। इस दृष्टि से वह लिखी भी नहीं जा सकती। महाकवि अकबर ने बिलकुल ठीक कहा है—

उश्शाक़ को भी माले तिजारत समझ लिया,
इस क़हर का मुलाहिज़ा लिल्लाह कीजिये।

भरते हैं मेरी आह को फ़ोनोगिराफ़ में,
कहते हैं फ़ीस लीजिये और आह कीजिये।

सचमुच आह फ़ीस लेकर नहीं निकला करती, दिल में चुभन या टीस होने पर ही वह निकलती है, और अपने आप निकलती है।

कविता करने की तरह कविता समझना भी बड़ा कठिन काम है। इसके लिए भी सहृदयता की आवश्यकता है। पढ़ने या सुनने वाला 'साहबे दिल' होना चाहिये। सहृदयता नष्ट होने पर कविता का नामोनिशान भी बाक़ी नहीं रह सकता। सहृदयता ही है, जो कविता को जीवित रख रही है। कवि के हृदय की बात को सहृदय ही समझ सकता है, चाहे वह कविता की एक पंक्ति भी न लिख सकता हो। चन्द्रमा को देख कर जैसा आनन्द चकोर को होता है, वैसा और किसी को नहीं।

को जाने कवि के बिना कविता को आनन्द।
सुख चकोर को-सो भला किन पायो लखि चन्द॥

हृदयहीन श्रोता को - चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो—उत्कृष्ट से उत्कृष्ट काव्य सुनाइये, परन्तु उसे कुछ भी आनन्द प्राप्त न होगा। ऐसे व्यक्ति को कविता देवी के दर्शन कराना भैंस के आगे बीन बजाने के समान है। किसी कवि ने इस प्रकार के शुष्क श्रोताओं से तंग आकर ही आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द से प्रार्थना की है—

इतर कर्मफलानि यथेच्छया,
विलिखितानि सखे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्,
शिरसि मालिख, मालिख, मालिख।

हे विधाता! भले ही तू मुझे नरक में डाल दे, सख़्त से सख़्त सज़ा दे दे, भयंकर से भयंकर दुःखों की अग्नि में तपा ले, चाहे जैसे कष्टों का केन्द्र बना, परन्तु यह दण्ड मत दे कि मेरी कविता हृदयहीन अरसिकों के आगे पढ़ी जाय। कोई उपाय नहीं जो अरसिकों को कविता का सौंदर्य

समझाया जा सके, या उन्हें काव्य का लोकोत्तरानन्द अनुभव कराया जा सके। ऐसे ही हृदयहीन लोगों के लिए शङ्करजी ने कहा है —

भरिवो है समुद्र को शम्बुक में छिति को छिगुनी पर धारिवो है,
बाँधिवो है मृणाल सों मत्त करी जुही फूल सों शैल विदारिवो है।
गनिवो है सितारेन को कवि 'शङ्कर' रेनु ते तेल निकारिवो है,
कविता समुझाइवो मूढ़न कौं सविता गहि भूमि पै डारिवो है।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रथम तो संसार में मनुष्य-जन्म पाना ही कठिन है; मनुष्य-जन्म मिल भी गया तो विद्या मुश्किल से हासिल होती है, विद्वान भी हो गए तो कविता की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। कविता भी आगई तो कविता का ज्ञान — कवित्वशक्ति प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार कवि होना कठिन है, उसी प्रकार काव्य-मर्मज्ञ होने के लिए भी परमात्मा के अनुग्रह की आवश्यकता है। कवि की लेखनी में बड़ी शक्ति होती है। उसके कलम की नोक बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ कराने में समर्थ हुई है, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में वह समान रूप से चलती है। इसीलिए कवि का इतना ऊँचा पद माना गया है। उसे कवीश्वर और कविराज की उपाधि दी गई है।

जिसकी उपासना परमात्मा तक ने की हो, जिसकी सत्ता-महत्ता से सृष्टि का प्रत्येक परमाणु ओत-प्रोत हो, जिसकी अपूर्व आभा प्रकृति के वन, उपवन, पुष्प, लता-पताओं से प्रस्फुटित हो रही हो, जिसकी वेदी पर आदि कवि वाल्मीकि ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की हो, कालिदास ने भेंट चढ़ाई हो, तुलसीदास ने प्रेम-प्रसून समर्पित किये हों, उस कवितादेवी का पक्का पुजारी बनने के लिए कितनी साधना की आवश्यकता है, यह बात थोड़ा विचार करने पर ही बड़ी आसानी से समझ में आ जाती है। कविता के लिए निश्चिन्त होने की बड़ी आवश्यकता है। जिस देश में खान-पान और रहन-सहन तक की यथोचित व्यवस्था न हो, उसमें कवि-

जनोचित प्रतिभा का विकास कठिनता से ही हो सकता है। फिर भी इस दरिद्र देश में कवियों का प्रादुर्भाव होता ही रहा है।

पहले ही कहा जा चुका है कि जो कविता केवल धन या यशप्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है, वह वास्तविक गुण से हीन हो जाती है, उसमें कवि-प्रतिभा का यथोचित विकास और रसका पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। तबीअ़त पर बड़ा दबाव-सा पड़ा रहता है, एक लिप्सा-सी बनी रहती है, जो कवि को प्रकृत वस्तु की ओर न ले जाकर किसी कृत्रिम मार्ग की ओर ढकेलती है। शुद्ध भावना से की गई कविता में ही कवि का वास्तविक स्वरूप दिखाई देता है। अक्षर-अक्षर से हृदयोद्गार फूट निकलता है। ऐसे प्रतिभाशाली कवि की कीर्ति पताका फहराए बिना नहीं रहती। इतिहास साक्षी है कि प्राञ्जल काव्य-रचना के कारण कवि लोग धन और मान से बराबर सत्कृत किये जाते रहे हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी कवि देश का बड़ा उपकार करते हैं। तुलसीदास को ही देखिये, उनके रामचरित-मानस के अब तक सैकड़ों संस्करण निकल चुके, जिनके कारण प्रकाशकों को करोड़ों रुपये की प्राप्ति हुई, कथावाचकों ने लाखों रुपये कमाए। यही बात महाभारत, वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अभिप्राय यह कि सच्चे कवि राष्ट्र की महान् सेवा करते हैं। जनता में जीवन-ज्योति जगाना, लोक-रञ्जन करना, शिक्षा-सुधा पिलाना, सादाचारिक आदर्शों की ओर ले जाते हुए, युग का प्रतिनिधि बनना और फिर देश की कोश-वृद्धि के लिए एक विभूति छोड़ जाना कोई साधारण बात नहीं है। कवि स्वयं बहुत दिनों तक जीवित रहता है; और अपने चरितनायक को भी चिरायु करता है। जिस देश में जितने ही सत्कवि जन्म लेते हैं, वह देश उतना ही गौरवशाली समझा जाता है।

सत्कवियों ने विषादयुक्त जीवनों को हर्षपूर्ण बनाने और पीड़ित-प्रताड़ितों को सांत्वना देने में कमाल कर दिखाया है। आधि-व्याधियों से तप्त मनुष्यों को काव्यमय उपदेश कितना सहारा देता है! वस्तुतः

काव्य वह विभूति है, जिसके द्वारा मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों को सुधार कर अनुपम आनन्द का अधिकारी बन सकता है। जो काव्य सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, जीवन-मृत्यु प्रत्येक अवस्था में सहृदयों के हृदय का हार बन कर उनको अमरत्व की प्राप्ति कराने में सहायक होता है, उसे ब्रह्मानन्द का सहोदर कहना उचित ही है। किसी ने ठीक कहा है कि सत्कवि के लिए साम्राज्य भी तुच्छ है। जिस देश का काव्य-साहित्य जितना ही कम होता है, उसकी सभ्यता और संस्कृति भी उतनी ही न्यून समझी जाती है। किसी जाति की गौरव-गरिमा का अनुमान करने के लिए उसके वाङ्मय—विशेष कर—काव्य-साहित्य की ओर दृष्टिपात करना चाहिये। उसी से उसकी महत्ता और श्रेष्ठता का असली अन्दाज़ लग सकेगा।

रस क्या है ?

संसार रंगभूमि है। इसमें विविध जीवधारी, अभिनेताओं के रूप में, अपने जीवन-नाटक का अभिनय किया करते हैं। स्वयं परमात्मा सब से बड़ा सूत्रधार है, जो रात-दिन प्रकृति-नटी को नचाता रहता है। जगत् में सब लोग सुख चाहते हैं—शारीरिक और मानसिक। इसी उद्योग में वे सदैव संलग्न भी दिखाई देते हैं। संसार में तरह-तरह के सुख हैं, और नहीं तो, उन क्षणिक सुखों के कारण ही, थोड़ी देर के लिये, जीवन में सरसता आ जाती है। जिस ब्रह्मानन्द की खोज में योगी लोग लगे रहते हैं, उसकी तो बात ही निराली है। क्षणिक सुख के लिये ही सही, संसार में नाटक, सिनेमा आदि की कल्पना की गई, काव्य, नाटक और उपन्यास लिखे गए। उनमें प्रायः वे दृश्य अंकित किये गए जो हृदय को आनन्द देने वाले हैं। यों तो संसार में न जाने कितनी घटनाएँ घटती रहती हैं, परन्तु अलौकिक घटनाओं को मनुष्य बारबार देखना और सुनना चाहता है। सत्यव्रती हरिश्चन्द्र की पवित्र कथा, भगवान् रामचन्द्र का आदर्श चरित्र, भक्त प्रह्लाद की चारु चर्चा और महाभारत के अनेक दृश्य इसीलिए नाटकों तथा चित्रपटों द्वारा बार-बार दर्शकों के सामने आते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के दृश्यों को देखकर दर्शकों को अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। वे संसार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, कुछ काल के लिए, आनन्द-विभोर हो जाते हैं। नाटकीय दृश्य ही क्यों, उन कलित कथाओं का काव्यमय वर्णन भी सहृदय पाठकों के हृदयों को आनन्द से भर देता है। इसीलिए काव्य के दो भेद किये गए हैं—दृश्य और श्रव्य। शकुन्तला नाटक आदि दृश्य काव्यों में हैं, और महाभारत रामायण आदि श्रव्य काव्यों में, क्योंकि इनके सुनने-समझने में ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। दृश्य या श्रव्य काव्य

के देखने, पढ़ने या सुनने में तन्मयताजनित जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है। इसी रस की चर्चा और व्याख्या रस सम्बन्धी ग्रन्थों में की गई है।

सब जीवधारियों में एक ही आत्मा काम कर रही है, इसीलिए एक का सुख-दुःख दूसरे को अनुभव होता रहता है। परमात्मा ने पशु-पक्षियों को बुद्धि नहीं दी, यह साधन मनुष्य को ही प्रदान किया है, अतएव वह प्रत्येक बात को बड़ी समझदारी और छान-बीन के साथ सोचा-विचारा करता है। उसमें सहानुभूति और संवेदनशीलता अत्यधिक होती है। पशु-पक्षी सहज बुद्धि से प्रेरित होकर ही सारे काम करते हैं। उनमें प्रज्ञा का अभाव है, अतएव सब जीवों में मनुष्य की ही प्रधानता है। मनुष्यों में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके हृदय पर किसी घटना या किसी के सुख-दुःख का कुछ भी असर नहीं होता। उन्हें न संगीत प्रभावित करता है, न साहित्य। वे किसी को सुखी देखकर न सुखी होते हैं, और न दुखी देखकर दुखी। ऐसे साहित्य-संगीत-कला-शून्य हृदयहीन व्यक्तियों को ही भगवान भर्तृहरि ने बिना सींग-पूँछ का पशु कहा है—साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः। इत्यादि

कविता में रसकी ही प्रधानता है। रसके बिना कविता कविता नहीं मानी जाती। अगर कविता में रस नहीं, तो वह शब्दों की लाश या तुकों के लोथड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रस-स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों की विविध कल्पनाएँ हैं। कुछ आचार्यों की सम्मति में अलंकृत पंक्तियों का नाम ही रस है! कुछ लोग छन्द की छबीली छाया में घूमते-फिरते सुन्दर शब्द-समूह को ही रस-संज्ञा देते हैं। उनकी सम्मति में छन्द-कौशल दिखलाना ही कविता की जान है। परन्तु अलंकारों और छन्दादि को काव्य की आत्मा समझना उसी प्रकार है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति मृतक को साबुन से न्हिला-धुलाकर उस पर अङ्गराग लेपन कर दे, और उसे सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजा दे; और फिर गर्व पूर्वक कहे—देखिए कैसा

सुन्दर व्यक्ति है। कुछ आचार्यों की सम्मति में रीति-ग्रन्थों में वर्णित काव्य के गुण ही काव्य की आत्मा हैं। अर्थात् यदि किसी कविता में ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता और अर्थ-व्यक्ति इन नौ में से एक या अनेक गुण आ जायँ, तो उसे ही कविता की आत्मा समझ लेना चाहिये। परन्तु ये गुण तो कविता के बाह्य शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। आत्मा से उनका कोई सरोकार नहीं। यदि हम किसी कविता का अर्थ आसानी से समझ लेते हैं, तो बड़ी अच्छी बात है, परन्तु यह कहना कठिन है कि इस गुण के कारण वह रचना काव्यमयी हो गई या उसमें लोकोत्तरानन्द आगया। यही बात उपर्युक्त अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। फलतः रीति सम्बन्धी गुणों के कारण कविता सरस नहीं हो सकती।

कुछ आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनका कहना है कि कविता में वाच्यार्थ से भिन्न जो व्यंग्यार्थ है, वही ध्वनि है, उसी को कविता की जान समझना चाहिये। जिस प्रकार सुन्दर अंग-प्रत्यंग युक्त अलंकृत युवती के शरीर में लावण्य अपनी छटा दिखाता रहता है, उसी प्रकार रससिद्ध कवियों की कृति में ध्वनि या व्यंग्य की आभा चमकती रहती है। यह आभा न कोमलकान्त पदावली से प्रस्फुटित होती है, और न छन्दों या अलङ्कारों की सृष्टि से। वह तो भव्य भावों से अपने आप छिटकने लगती है। इन आचार्यों की सम्मति में व्यंग्यात्मक लावण्य का नाम ही आत्मा है।

कुछ आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। वक्रोक्ति एक अलङ्कार है, जिसमें वक्ता के आशय के विरुद्ध किसी और ही अभिप्राय की कल्पना कर ली जाती है। जैसे आगरे में कोई व्यक्ति साधारण रूप से भी कहे कि "मैं सोंठ की मंडी जाना चाहता हूँ," तो श्रोता लोग कहने लगेंगे—'हाँ हाँ, अवश्य जाइये, अवश्य जाइये. आप सोंठ की मंडी जाने योग्य ही हैं।' वास्तविक बात यह है कि आगरे का मानसिक अस्पताल (पागलखाना) सोंठ की मंडी में है, अतएव यहाँ सोंठ की

मंडी जाना, पागलख़ाना-प्रवेश के अर्थ में एक मुहाविरा-सा बन गया है। इसी प्रकार महाकवि बिहारी ने एक स्थान पर लिखा है—

"को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर"

अरे साहब, इनमें किसी से घटिया कौन है ! राधाजी वृषभ+अनुजा अर्थात् बैल की छोटी बहन हैं, तो कृष्णजी हलधर (बैल) के वीर (भाई) हैं। कैसा सुन्दर सुयोग है, एक बैल की बहन है, तो दूसरे बैल के भाई। परन्तु वास्तव में बात यह है कि राधाजी वृषभानु+जा अर्थात् वृषभानु की पुत्री हैं, और श्रीकृष्ण हलधर (बलराम) के भाई हैं। प्रकृतार्थ यही है, परन्तु शब्द-कौशल द्वारा कवि ने साधारण-सी बात में एक अद्भुत सौन्दर्य भर दिया है, यही वक्रोक्ति अलंकार है। पहले ही कहा गया है कि अलङ्कारों से कविता में कुछ सौन्दर्य तो आ जाता है, परन्तु उसमें जान नहीं पड़ती। उपर्युक्त उदाहरण में शब्दों की कलाबाज़ी तो दिखाई देती है, परन्तु भाव में कोई विशेष चमत्कार नहीं दीख पड़ता। इसलिए कहना पड़ता है कि वक्रोक्ति कविता की आत्मा नहीं है।

साहित्य दर्पणकार ने 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य माना है। जिस काव्य में रस अथवा चमत्कार है, उसे ही उन्होंने काव्य-संज्ञा दी है। रस क्या है, इसकी विविध आचार्यों ने विविध प्रकार से व्याख्या की है। परन्तु वास्तव में रस का अर्थ है—"रस्यते आस्वाद्यतेऽसौ रसः" अर्थात् जो चखा जाय यानी जिसका आस्वादन-चर्व्वण किया जाय वही रस है। किसी वस्तु को स्वाद से खाने का मतलब यही है कि उसको खाते समय आनन्द प्राप्त हो। जिस चीज़ के खाने में आनन्द आता है, उसे ही स्वाद के साथ खाना कहते हैं। नीम के रस या गिलोय के काढ़े को कोई भी स्वाद के साथ नहीं पीता। तो रस का अर्थ यह हुआ कि जिसके तन्मयी भाव के अनन्तर आस्वादन से आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है।

पण्डितराज विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम्॥

—साहित्यदर्पण

अर्थात् सहृदयों के हृदयों में स्थित वासना रूप रति आदि स्थायी भाव ही विभाव-अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर, रस-रूप को प्राप्त होते हैं। काव्यादि के सुनने अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन, उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद-ग्लानि आदि संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय जनों के हृदयों में स्थित वासना स्वरूप रति, हास, शोक आदि स्थायीभाव, शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रसों के स्वरूप में परिणत होते हैं। रस-निरूपण के सम्बन्ध में आचार्यों ने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किए हैं। उस विस्तृत विचार का जो परिणाम है, वही ऊपर दिया गया है। वस्तुतः रस का स्वरूप अलौकिक और अनिर्वचनीय है। केवल सहृदय जन ही उसका अनुभव या आस्वादन कर सकते हैं।

काव्य में मुख्यतः नव रस माने गए हैं, अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इन रसों में शृङ्गार रस की ही प्रधानता है। इसी से उसे रसराज भी कहते हैं। कुछ आचार्यों ने शृङ्गार रस ही सब रसों का मूल माना है। साहित्य-दर्पणकार के पितामह नारायण तर्कवागीश ने अद्भुत रस को ही रस की आत्मा माना है, अन्यों को नहीं। उनकी सम्मति में चमत्कार या विस्मय ही रस का प्राण है। इसी प्रकार उत्तर रामचरितकार करुण रस को ही सब कुछ मानते हैं। वे कहते हैं कि करुण से पैदा हुए अन्य रस भिन्न दिखाई देते हुए भी भिन्न नहीं हैं। नाट्य शास्त्रकार भरतमुनि ने शृङ्गार आदि आठ ही रस माने हैं, नवाँ शान्तरस नहीं माना। काव्य-प्रकाशकार नव रसों को मानते हैं।

कुछ लोग भक्ति और वात्सल्य को भी रस मानते हैं, कुछ आचार्यों का कहना है कि भक्ति और वात्सल्य शृङ्गार के ही भेद हैं। वात्सल्य को रस मानने वालों में साहित्यदर्पणकार मुख्य हैं। अभिप्राय यह कि वात्सल्य और शृङ्गार में अभेद एवं भेद दोनों के ही मानने वाले हैं। इन दोनों में भेद मानने वाले अनुभव पर बल देते हुए मानते हैं कि स्त्री-पुरुष विषयक रति और वात्सल्य में तत्वतः भेद है। क्योंकि दोनों की प्रेरक वासनाएँ एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। फ्रायड और उनके अनुयायी विरोधी मत के पोषक हैं। उनके मतानुसार उक्त दोनों भावों की प्रेरक वासनाओं में कोई अन्तर नहीं है। जो वासना स्त्री-पुरुष विषयक रति में काम करती है, वही संतति-स्नेह में भी। पिता और माता अपनी सन्तान से इस कारण स्नेह करते हैं कि वे उसमें एक दूसरे के अंश का अनुभव कर, उसकी ओर आकर्षित होते हैं। यदि यह कहा जाय कि हम दूसरों के बालकों से भी स्नेह करते हैं, तो यह उत्तर दिया जायगा कि न कोई पुरुष पूर्णरीत्या पुरुष है, और न कोई स्त्री पूर्णरीत्या स्त्री। दोनों में दोनों के अंश विद्यमान रहते हैं। फलतः यदि हम किसी बालक की ओर आकर्षित होते हैं, तो उसके पुरुष भाव की ओर नहीं, वरन् स्त्री भाव की ओर। और इस प्रकार वात्सल्य स्त्री-पुरुष विषयक रति से भिन्न कुछ नहीं है।

शृङ्गार रस की मुख्यता स्पष्ट है, क्योंकि सृष्टि-रचना का मूलाधार वही है। भरतमुनि ने तो रति और काम को शृङ्गार के माता-पिता का रूप दिया है। शृङ्गार बहुत व्यापक है, वह मनुष्य तक ही सीमित नहीं, पशु-पक्षियों और वनस्पतियों तक पर इसका प्रभाव है।

प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् शृङ्गार का रति, हास्य का हास, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का आश्चर्य और शान्त का निर्वेद। ये स्थायी भाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट होते हैं, तभी रसों की प्राप्ति होती है। अनुभाव-विभावादि की व्याख्या उनके वर्णन

में की जायगी। स्थायी भाव आदि से अन्त तक रहता और यही रस-रूप को प्राप्त होता है। विभावादि जब पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, तब उनकी 'हेतु' संज्ञा होती है। जहाँ भावना के बल और व्यञ्जना की महिमा से आस्वाद्यमान सब सम्मिलित विभावादिक सहृदयों के हृदयों में प्रपानक रस की भाँति अखण्ड एक रस के रूप में परिणत हो जाते हैं वहीं रस की अनुभूति होती है। जैसे किसी प्रपानक रस में खाँड़, मिर्च, ज़ीरा, हींग आदि के सम्मेलन से एक अपूर्व—उन सबके पृथक्-पृथक् स्वाद से विलक्षण - आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विभावादि के सम्मेलन से एक अपूर्व रसास्वाद पैदा होता है, जो विभावादि के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।

साहित्य-दर्पणकार का उपर्युक्त प्रपानक सम्बन्धी दृष्टान्त कैसा सुन्दर है। हम अपने साधारण जीवन में भी देखते हैं कि नमक-मिर्च, मसाला, घी और ज़मीकन्द के अलग-अलग चखने पर कुछ भी मज़ा नहीं आता, परन्तु जब इन सबका उचित मात्रा में संयोग हो जाता है, तो शाक के रूप में एक ऐसा स्वादिष्ठ पदार्थ बन जाता है, कि जिसे खाते-खाते तबीयत नहीं भरती, लोग उँगली चाटते रह जाते हैं। मसाले, घी और ज़मीकन्द तीनों के योग से ही यह रस आस्वादन योग्य बना। यही बात काव्य-रस के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् विभावादि के योग से ही स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। स्थायी भाव हृदय में उसी प्रकार वासना रूप से रहते हैं, जिस प्रकार पृथिवी में गन्ध रहती है। ज़रा पानी पड़ते ही जिस तरह ज़मीन मे खुशबू आने लगती है, उसी तरह विभावादि के कारण स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाता है। स्थायी भाव सदा स्थायी ही नहीं रहते, कभी-कभी वे संचारी का रूप भी धारण कर लेते हैं। अधिक विभावादि से उत्पन्न हुए रति आदि, स्थायी भाव होते हैं, और थोड़े विभादिकों से प्रसूत वे व्यभिचारी कहलाते हैं। स्थायी भाव संचारी के रूप में प्रकट होने पर रसत्व को प्राप्त नहीं होते। नाटकों के देखने या काव्यों के पढ़ने-सुनने से दर्शकों या पाठकों के हृदयों में

जो भाव स्थायी रूप से जाग्रत होता है, वही आगे चल कर रस बन जाता है। परन्तु सब दर्शकों और पाठकों की रुचि एक-सी नहीं होती, इसीलिये एक के हृदय में जो भाव स्थायी रूप से जाग्रत होता है, दूसरे के हृदय में वही अस्थायी बन जाता है। परिणाम यह होता है कि एकही दृश्य को देखने से सभी को समान आनन्द नहीं प्राप्त होता।

अभी कहा जा चुका है कि स्थायी भाव के साथ विभावादि का योग होने से ही रसोत्पत्ति होती है परन्तु कभी-कभी विभाव अनुभावादि तीनों में से एक के होने पर भी, रसत्व की प्राप्ति होती है। इसका समाधान साहित्यदर्पणकार ने यह किया है कि 'विभावादिकों में से दो अथवा एक के उपनिबद्ध होने पर, जहाँ प्रकरणादि के कारण दूसरे का झट से आक्षेप हो जाता है, वहाँ कुछ दोष नहीं होता।' आक्षेप का अर्थ है— व्यञ्जनीय रस के अनुकूल शेष (अन्य) दो भावों का भी बोध करा देना। इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि जब विभावादिकों में से, एक या दो के होने पर ही, रसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तो प्रकरणानुसार शेष दो या एक का अनुमान भी कर लिया जाता है।

कविरत्न स्वर्गीय सत्यनारायण के 'मालती-माधव' से इस विषय का एक उदाहरण दिया जाता है। देखिए—

मिसिली मुरझाई मृनालिनीसी दुबराइ गई जिह देह अमोल।
जब संग सहेली सबै बिनवैं कछु बेमन काज करै तब डोल॥
हिय सोच तऊ अकलंक मयंक की सोभा लजावनहार सुलोल।
नव कुंजर दन्त कटे की अनन्त धरैं छवि सुन्दर जाके कपोल॥

उपर्युक्त सवैया संस्कृत 'मालती-माधव' के एक श्लोक का अनुवाद है। माधव मकरन्द से मालती की दशा का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि, मालती का शरीर मसली-मुरझाई कमल-नाल के समान हो गया है। किसी काम में उसकी ज़रा भी प्रवृत्ति नहीं रही। हाथी दाँत के नये कटे टुकड़े के समान उसके श्वेत कपोल निष्कलंक चन्द्रमा की शोभा

धारण करने लगे हैं। अर्थात् उनमें लालिमा का लेश भी शेष नहीं रहा। इस सवैया में मालती के अनुभावों का ही वर्णन है, और उन्हीं के द्वारा विभावादिकों का आक्षेप होकर, विप्रलम्भ शृंगार का आस्वादन होने लगता है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रत्येक अवस्था में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों ही मिल कर स्थायीभाव को रसत्व तक पहुँचाते हैं। उनमें से एक या दो कुछ नहीं कर सकते। क्योंकि जिस प्रकार एक ही अनुभाव और संचारी भाव कई रसों का होता है, उसी प्रकार एक विभाव भी कई रसों का विभाव बन जायगा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में तो किसी रस का स्वरूप ही निश्चित न हो सकेगा। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' कहने वाले साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का भी यही मत है, जो परम माननीय है। अर्थात् विभावादि द्वारा स्थायी भावों के पुष्ट होने से ही रस बनता है। अकेला स्थायी भाव कुछ नहीं कर सकता।

जिस समय किसी नाटक या काव्य में करुणाजनक दृश्य या वर्णन आता है, उस समय सहृदय दर्शकों और पाठकों के हृदय द्रवीभूत होकर आँखों के रास्ते बहने लगते हैं। कभी-कभी तो हिलकियाँ भी बँध जाती है। हास्य रस का प्रसङ्ग आने पर सब हँसते और वीर रस का वर्णन होने पर उत्साह से भर जाते हैं। अभिप्राय यह कि नाटक या काव्य में जो रस आता है, वही सहृदय-समाज को प्रभावित करता है, उस समय उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि करुण रस में कैसा आनन्द ! जिस रस का स्थायी भाव शोक हो, उसमें सुख की कल्पना क्यों ? इसका सीधा उत्तर यह है कि राम-वनवासादि जो लोक में जनता के दुःख के कारण होते हैं, वे ही काव्य में वर्णित होने पर अलौकिक विभावन-व्यापार द्वारा सामाजिक जनों के मन में सुख उत्पन्न करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि लौकिक शोक हर्षादि कारणों से लौकिक शोक हर्षादि ही उत्पन्न होते हैं, और काव्य में सब विभावादिकों

से सुख ही पैदा होता है। रसानन्द के सम्बन्ध में, हमारी समझ से, एक यह विचार-धारा भी हो सकती है कि मान लीजिए महाराज रामचन्द्र सानुज और सपत्नीक वन जा रहे हैं। उनको राजकीय वेश-भूषा विहीन, वल्कलादि धारण किये वन-वन भटकते देख घोर दुःख होता है। साथ ही उनके पितृ-आज्ञा-पालन रूप उद्देश्य की पवित्रता का स्मरण कर परम प्रसन्नता होती है। राम-सीता और लक्ष्मण अपने सुकार्य-कलाप द्वारा संसार के सामने एक ऊँचा आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, जिसके अनुकरण की अभिलाषा मात्र भी परम प्रसन्नतादायिनी है। यही बात सत्यव्रती हरिश्चन्द्र, भक्त-प्रवर प्रह्लाद आदि के चारु चरित्रों में दिखाई देती है।

नाटक देखने तथा काव्यों के पढ़ने से दर्शकों और पाठकों को जिस अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है, वही रस कहाता है। सांसारिक पदार्थों के देखने या उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति के कारण मन में जो सुख-दुःखादि विकार उत्पन्न होते हैं, उन विकारों की उत्पादिका सामग्री ही साहित्य-शास्त्र में रस-सामग्री कहलाती है। जैसे किसी आदमी के गाली देने पर, हमारे मन में सहसा जो क्रोध उत्पन्न होता है, वही मनोविकार है। इस मनोविकार के कारण हमारी आँखें लाल हो जातीं और ओठ फड़कने लगते हैं। कभी-कभी गाली देने वाले को पीटने के लिए भी तबीयत चाहती है। यहाँ गाली हमारे क्रोध का कारण हुई, और ओठ फड़कना आदि कार्य। यदि उस गाली देने वाले ने कभी पहले भी हमें गाली दी, या कोई हानि पहुँचाई है, तो उस समय उसका भी स्मरण हो आने से हमारा क्रोध और भी बढ़ जाता है। यदि किसी घटना या दृश्य से उत्पन्न इसी प्रकार के मनोविकार का वर्णन कोई सत्कवि अपने काव्य में करता है, तो उसे पढ़कर सहृदय पाठक के हृदय में भी वैसे ही मनोविकार जाग्रत होते हैं। उस समय उस काव्य के पढ़ने में जो आनन्द अनुभव होता है, वही रस कहाता है। गाली सुनने के कारण हमारे हृदय में जो क्रोध जाग्रत हुआ, साहित्य की परिभाषा में वह स्थायी

भाव, गाली और गाली देने वाला विभाव, ओठ फड़कना आदि अनुभाव, और पुरानी बातों को स्मरण कर अधिक क्रुद्ध होना संचारी भाव कहाता है। यही सब रस-सामग्री है। इन्हीं सबके संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।

जिस समय रंगमंच पर कोई नाटक होता है, उस समय कुशल अभिनेता और अभिनेत्रियों के अभिनय देखकर कभी दर्शकों के हृदय आनन्द से उमड़ते, कभी उनके नेत्रों से आँसू बहते, कभी वे घृणा के कारण थू-थू करते, कभी क्रोध से काँपते, कभी उत्साह से उछलते, कभी भय से भीत होते और कभी आश्चर्य से हक्के-बक्के रह जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है, मानो संसार में कुछ है ही नहीं, जीवन नश्वर है, दुनिया एक सराय है, जहाँ से जल्द ही कूच कर जाना है। सामाजिकों के मन में, इस प्रकार के भावों की तन्मयता पूर्वक उत्पत्ति होना ही रसात्मकता है। इसी रसात्मकता में सहृदय सामाजिक आनन्द-लाभ करते हैं। काव्य में भी जब इसी प्रकार की रसात्मकता होती है, तो वहाँ भी पाठक के हृदय में नाटकों के से भाव जाग्रत होने लगते हैं, और लगभग वैसा ही आनन्द अनुभव होता है। यह काव्य की रसात्मकता है। जिस काव्य में सहृदय-समाज को मन्त्रमुग्ध कर देने की शक्ति है, वही उत्तम काव्य है।

रसों का विशेष सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है। सुख, दुःख, प्रेम, हर्ष, भय, शोक, मोह, क्रोध इत्यादि वृत्तियाँ मन की ही उपज हैं। इन वृत्तियों का मन, शरीर एवं इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसी के आधार पर रसों की उत्पत्ति होती है।

रसात्मक काव्यों में अलंकारों की अनावश्यक और अप्रासंगिक ठूँस-ठाँस न होनी चाहिये। स्वाभाविक रीति से सहसा जो अलङ्कार आ जाय वही ठीक है। रूपकादि भी रस-काव्य के लिए गौण होने चाहिये।

रसोत्पत्ति में विभावन, अनुभावन और सञ्चारण तीन कार्य होते हैं। रत्यादि को विशेष रूप से आस्वादन योग्य बनाना विभावन कहाता

है। आस्वादन योग्य बने हुए रत्यादि को रसत्व प्राप्त कराना अनुभावन कहलाता है। और रसरूप प्राप्त होने पर सम्यक् रीति से उसका संचार करना संचारण कहलाता है। रस की उत्पत्ति व्यञ्जना द्वारा होती है, क्योंकि लक्षणा और अभिधा द्वारा रसानन्द प्राप्त नहीं होता।

नाटक या काव्य में वह कौन-सी शक्ति है, जो लोगों पर इस प्रकार प्रभाव डालती है ? व्याख्याता की वाणी में वह कौन-सा जादू है, जिसके कारण वह श्रोताओं को मुट्ठी में कर लेता है ! उन्हें रुलाना, हँसाना, भयभीत एवं आश्चर्यान्वित कर देना उसके बाएं हाथ का खेल बन जाता है ? इसका उत्तर यह है कि जब श्रव्य या दृश्य काव्य, सहृदयों के हृदयों में स्थित वासना-रूप स्थायी भावों को जगा कर, उन्हें विभाव-अनुभाव और संचारी भावों द्वारा पुष्ट करते हुए, रसत्व तक पहुँचाते हैं, तभी यह आनन्द प्राप्त होता है। राम को वन जाते देख कर दर्शकों के हृदय में शोक उत्पन्न हुआ, उनको वल्कल वस्त्र धारण करते देख शोक की मात्रा और भी बढ़ी, कण्ठावरोध हुआ, आँखों से आँसू बह निकले और जब तक वह दृश्य सामने रहा, बराबर मोह, विषाद, चिन्ता आदि के भाव बने रहे। यही करुणरस हो गया। क्योंकि राम-वन-गमन आलम्बन, वल्कल वस्त्रादि उद्दीपन, अश्रुपात और गद्गद् स्वर अनुभाव तथा मोह, विषाद, चिन्ता इत्यादि संचारी भाव एक स्थान पर आ मिले। यही सब स्थायी भाव को रसत्व तक पहुँचाने के लिए आवश्यक भी थे।

उपर्युक्त कसौटी पर आप किसी भी रस को कस लीजिये, सब ही में ये बातें परिलक्षित होंगी। स्थायी भाव के आधार पर ही रस की सृष्टि रची जाती है। कभी-कभी मल-मूत्रादि से भी बीभत्स रस की कल्पना नहीं होती। जैसे किसी का पिता रोग-शैया पर पड़ा है, उसे बुरी तरह दस्त हो रहे हैं, बार-बार कपड़े बदलने पड़ते हैं, चारों ओर मक्खियाँ भिनक रही हैं। पास ही 'बेड-पैन' या मलभाण्ड रक्खा है, परन्तु पुत्रादि परिचारकों को उन सबसे ज़रा भी जुगुप्सा नहीं होती, उनके

हृदय में उस समय विषादपूर्ण परिस्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रोगी की परिचर्या करना ही उनका कर्तव्य है, ऐसी अवस्था में परिचारकों का स्थायी भाव जुगुप्सा न होकर शोक होगा; जो विभावादिक से परिपुष्ट होकर करुणरस में परिणत हो जायगा। अभिप्राय यह कि जिस दृश्य को देख कर हृदय में जो स्थायी भाव जाग्रत होता है, उसी की अन्य भावों की सहायता से रस संज्ञा होती है। यह एक लौकिक दृष्टान्त है। इसी प्रकार अलौकिक रस के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

नाटक या सिनेमा किसी वास्तविक घटना की नक़ल होते हैं, अथवा उनमें ऐसी कल्पित घटनाएँ अभिनीत की जाती हैं, जो वास्तविकता का रूप धारण कर चुकीं या कर सकती हैं। काव्यों में इसी प्रकार के दृश्यों, कथानकों अथवा भावों का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है। किसी सुन्दरी को देख कर किस सांसारिक के हृदय में लौकिक रति उत्पन्न नहीं होती। शोकपूर्ण परिस्थिति में कौन आठ-आठ आँसू नहीं रोता। अपमान या इष्ट-हानि देख कर किसे क्रोध नहीं आता। उत्साह-भावना जाग्रत होने पर वीररस की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहती। हास्यपूर्ण परिस्थिति के कारण सभी हँस पड़ते हैं, आश्चर्य की बातें किसे चकित नहीं करतीं। भयंकर बातों से भयभीत होना सभी के लिए समान है। घिनोनी बातें सुन या घिनोने दृश्य देख कर ग्लानि हुए बिना नहीं रहती। अभिप्राय यह कि रात-दिन के जीवन में भी हमारे ऊपर विविध घटनाओं का प्रभाव पड़ता रहता है, और हम उनके द्वारा उत्पन्न रसों का आस्वादन करने में सदैव अग्रसर रहते हैं।

काव्यों और नाटकों में रत्यादि स्थायी भावों का जो वर्णन आता है, उसका किसी सांसारिक व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध नहीं होता, और न लौकिक नायक-नायिकाओं से ही। वे रत्यादि भाव तो एक सामान्य स्थायी भाव के रूप में मनुष्य के निमित्त मात्र से सब के आनन्द का कारण होते हैं।

रति आदि स्थायी भावों के सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है, कि जब वे स्थायी हैं, तो अपना स्थान छोड़ कर अन्य रसों के व्यभिचारी क्यों बन जाते हैं। अथवा अन्य व्यभिचारी भाव स्थायी क्यों नहीं बन सकते। भरतमुनि ने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार सभी मनुष्य राजा न बनकर विशिष्ट और समर्थ व्यक्ति ही राजा बनते हैं, उसी प्रकार सब भाव स्थायी भाव नहीं हो सकते। जिस तरह सब व्यक्ति राजा न बनकर शासन करने की योग्यता रखने वाला विशिष्ट व्यक्ति ही राजा बनता है, उसी प्रकार रसत्व प्राप्त करने की विशेष सामर्थ्य रखने के कारण, रति आदि ही स्थायी कहलाते हैं। जिस प्रकार कोई राजा, अपने प्रतिनिधि को शासन-कार्य सौंप कर अन्यत्र चले जाने के कारण, पद-भ्रष्ट नहीं समझा जाता, उसी प्रकार स्थायी भाव संचारी बन जाने पर भी अपने स्थायित्व से वञ्चित नहीं होते।

रसों के आस्वादन से आनन्द-प्राप्ति की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह भी बताया जा चुका है कि करुण रस में किस प्रकार आनन्द-प्राप्ति होती है। शृंगार रस के आनन्द से कोई इन्कार नहीं कर सकता, रौद्र रस का आनन्द देखिए—धनुषभंग के समय जब परशुरामजी और लक्ष्मणजी के बीच गर्वोक्तियों का आदान-प्रदान हुआ, उस समय किस सामाजिक का हृदय आनन्द से न भर गया होगा। 'कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ' की गर्वोक्ति ने कितने हताश हृदयों में आशा का संचार नहीं कर दिया, कितने भग्न हृदयों को नहीं जोड़ दिया। लक्ष्मण के फड़कते हुए ओठों से निकले हुए शब्दों ने जनक-परिवार को अपार आनन्द प्रदान किया। यह रौद्ररस की महिमा है। युद्ध में वैरियों का संहार किसे आनन्दित नहीं करता। फिर शत्रुओं के रुधिर की धारा बहना, घायलों का बुरी तरह छटपटाना, कौओं और गिद्धों का लाशों को नोंच-नोंच कर खाना आदि कार्य बीभत्स होते हुए भी शत्रु की हानि के कारण आनन्द-वर्द्धक हैं। एक ओर वैरी की दुर्दशा होने के कारण आनन्द मनाया जा रहा है, दूसरी ओर इस बात की ख़ुशी है कि कर्तव्य-पालन करते हुए इतने

योद्धाओं ने वीरगति प्राप्त की ! प्राण दे दिये परन्तु पीठ न दिखाई !! निदान यह बीभत्स व्यापार भी आनन्ददायक ही है। एक ओर विजय की भावना है, और दूसरी ओर कर्तव्य-पालन की वेदी पर अर्पित हो चुकने की प्रसन्नता।

काव्यों और नाटकों में ही रस होता हो, सो बात नहीं है। जब कोयल बोलती है, तो उसकी वाणी में भी रस प्रतीत होता है। पपीहा की पीउ-पीउ में भी सरस मादकता है। सितार-सारंगी, वीणा आदि वाद्यों की ध्वनि में कैसा माधुर्य है ! स्वादिष्ट व्यञ्जनों में भी रस होता है। षट्रस भोजन प्रसिद्ध ही है। सुगन्ध भी मस्त कर देती है, परन्तु सब से अधिक मादकता सौन्दर्य में है, चाहे वह रूप का सौन्दर्य हो, चाहे वाणी का ; चाहे भाव का हो, चाहे ध्वनि का। वाद्यों की अर्थहीन ध्वनि के साथ जब सार्थक वर्णों (काव्य) का सम्बन्ध हो जाता है, तो वह कैसी मोहक बन जाती है। साहित्य और सङ्गीत के सम्मेलन से स्वर्गीय आनन्द आने लगता है। यदि वह काव्य-धारा वास्तविक काव्य-धारा हुई, तब तो बात ही क्या है। वाद्य-ध्वनि केवल कानों में घुस कर थोड़ी देर के लिए मन को प्रसन्न कर सकती है, उसका देर तक असर नहीं रहता। परन्तु रसात्मक पंक्तियाँ हृत्तन्त्री को स्पर्श करती हुई, अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं। वास्तव में रसात्मकता इतनी विलक्षण होती है, कि वह सहृदयों पर जादू का काम करती है और उन्हें मन्त्र-मुग्ध कर देती है। इस रसात्मकता का नाम ही काव्य है, और संसार में ऐसे काव्य का ही मान है।

एक बात और, काव्य, नाटक या संगीत का प्रभाव सहृदयता की मात्रा के अनुसार ही पड़ता है। बहुत-से शुष्क व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके हृदय की मरुभूमि में किसी रस की धारा नहीं बह सकती। कुछ हृदय ऐसे होते हैं, जिन पर रसों का पूरा प्रभाव तो नहीं पड़ता, परन्तु किसी अंश में पड़ता अवश्य है। और कुछ भावुक हृदय ऐसे हैं, जो रसों से आप्लावित हो जाते हैं। उन्हें उस समय रसमय तल्लीनता के

अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। रात-दिन के जीवन में ही देख लीजिये, एक वे कठोर हृदय हैं, जो किसी की करुण दशा देखकर हँसते हैं, और एक वे हैं जो फूटफूट कर रोने लगते हैं। सहृदयता और हृदयहीनता दोनों प्रकार के नमूने लोक में मौजूद हैं।

काव्यों की अपेक्षा नाटकों में रसों का प्रभाव अधिक पड़ता है। इसका कारण यह है कि भाव-प्रदर्शन का अभिनय में जितना अवसर है, उतना काव्य में नहीं। काव्य के अर्थ आदि सोचने-समझने पर रस की प्रभावशालिता सिद्ध होती है, परन्तु नाटक में सब बातें अङ्गचेष्टादि द्वारा ज्यों की त्यों सामने आ जाती हैं। काव्य को समझने के लिए मर्मज्ञ होने की आवश्यकता है, परन्तु नाटक देखने के लिए उतनी मार्मिकता अपेक्षित नहीं। यही कारण है कि नाटक या सिनेमा से साधारण जनता अधिक प्रभावित होती है। उसे अभिनय में जितनी सरसता दिखाई देती है, उतनी काव्य-पाठ में नहीं। कहते हैं, रसों की सृष्टि सबसे पहले नाटकों के कारण ही हुई, और नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने सर्व प्रथम इस विषय का वर्णन किया। रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि वह नाटक के पात्रों की अङ्ग-चेष्टाओं, भावभङ्गियों और वेश-भूषाओं से होती है। कुछ लोग कहते हैं, कि अभिनेताओं की हृदयस्थ भावना ही रस की उत्पादिका है, परन्तु ये दोनों बातें नहीं हैं। अभिनेता गण हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, राम, सीता, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि के हृदय कहाँ से ला सकते हैं। वस्तुतः रस तो उन सामाजिकों के हृदयों में ही उत्पन्न होता है, जो इन दृश्यों को देखकर तल्लीनता पूर्वक प्रभावित होते हैं। जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव स्थायी भाव से मिलते हैं, तब दर्शक के हृदय में रस की अनुभूति होती है।

वाल्मीकि रामायण संसार का आदि काव्य कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण रस ही है। महामुनि वाल्मीकि निषाद द्वारा काम-मोहित क्रौञ्च पक्षी का वध देखकर अत्यन्त दुखी हुए, उनका

शोक करुण रस में बदल गया, और सहसा उनके मुँह से निम्नलिखित श्लोक निकल पड़ा—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेक मवधीः काममोहितम्॥"

अरे दुष्ट निषाद! तू चिरकाल तक प्रतिष्ठा (मोक्ष) लाभ न कर सकेगा, क्योंकि तैने कामोन्मत्त क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से, एक का बध कर डाला!! यदि यह करुण दृश्य. भगवान् वाल्मीकि के सामने उपस्थित न हुआ होता, तो संसार में राम-गुण-गान करने वाले, रामायण काव्य की सृष्टि ही न रची जाती। करुण रस के प्रभाव ने ही वाल्मीकिजी से यह महान् कार्य कराया।

रस की लोकोत्तरता

जिस काव्यानन्द की इतनी महिमा गाई गई है. वह क्या है? आनन्द मन का एक व्यापार है, जो मनुष्य की आकृति और भाव-भङ्गि से जाना जाता है। हृदय का सुख या दुःख मुख-मण्डल पर प्रतिविम्बित हुए बिना नहीं रहता। हर्ष के समय शरीर में एक अद्भुत कार्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मज्जातन्तुओं द्वारा, मानसिक आनन्द का, सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। जब कोई सुन्दर दृश्य देखता अथवा श्रवण-सुखद संगीत सुनता है, तब उसके हृदय की अवस्था ऐसी हो जाती है, कि उसे और किसी बात की सुध-बुध ही नहीं रहती। उस समय की तल्लीनता में एक अद्भुत आनंद अनुभव होने लगता है। सांसारिक विषयों के आनन्द क्षणिक होते हैं, परन्तु जब जिज्ञासु परमात्मनिष्ठ हो, उसी में तल्लीन हो जाता है, तो परमानन्द की प्राप्ति होती है। काव्यों और नाटकों से प्राप्त होने वाला आनन्द चिरस्थायी नहीं होता। परन्तु यदि परमात्म-दर्शन के विचार से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी वेदादि (काव्यों) का सम्यक् रसास्वादन किया जाय, तो वह परमानन्द की प्राप्ति में सहायक होता है। परमात्मा कवि है, उसका काव्य वेद है। कहा भी है—"पश्य देवस्य

काव्यम् न ममार न जीर्यति"—अ्र्थात् परमात्मा के काव्य को देख, जो जीर्ण-शीर्ण या नष्ट नहीं होता।

काव्य-चर्चा में, लोकोत्तरानन्द का उल्लेख अनेक बार आता है। लोकोत्तरानन्द की प्राप्ति ही काव्य का चरम ध्येय है। यह लोकोत्तरानन्द क्या है, इसके समझने के लिए हमें व्यष्टिगत और समष्टिगत आनन्द की विवेचना करनी होगी। एक वह आनन्द है, जिसका अनुभव किसी व्यक्ति विशेष को ही होता है। यदि कोई विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास होता है अथवा किसी व्यक्ति को कहीं से धनराशि मिल जाती है तो उसे व्यष्टिगत प्रसन्नता होती है, समष्टिगत नहीं। ठीक भी है, अगर बम्बई के किसी व्यक्ति को प्रचुर धन प्राप्त हो जाय तो उससे अन्य लोगों को प्रसनन्ता क्यों हो? क्योंकि वह व्यक्तिगत स्वार्थ है। परन्तु जब किसी रंगमंच पर हम. रामलीला का अभिनय देखते हैं तो राम की विजय और सफलता के कारण सभी दर्शकों के हृदय में समान रूप से आनन्द का सागर उमड़ने लगता है। यही समष्टिगत आनन्द लोकोत्तरानन्द कहाता है। लोकोत्तरानन्द में वैयक्तिक स्वार्थ की भावना नहीं रहती। वह सबके लिये समान होता है।

साहित्यदर्पणकार लोकोत्तरानन्द की विवेचना करते हुए लिखते हैं, कि अखण्ड, स्वप्रकाश, चिन्मय, ज्ञानान्तर के संस्पर्श से रहित ब्रह्मास्वाद के समान 'साधारणी कृति' व्यापार से उत्पन्न, सहृदय सामाजिक हृदय संवेद्य जो 'चमत्कार प्राण' आनन्द है, वही लोकोत्तर रस का स्वरूप है, जो कि रज और तम से रहित सत्वोद्रेक वाले मन से ही उत्पन्न होता है।

काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर माना गया है। क्यों? इसका उत्तर 'काव्य-प्रकाश' में बड़ी सुन्दरता पूर्वक दिया है। अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मास्वाद यानी मुक्ति-दशा में ब्रह्म ही प्रकाशित रहता है, अन्य भावों का तिरोभाव हो जाता है, इसी प्रकार जिस समय विभावादि, स्थायी भावों के

साथ मिल कर रस रूप में परिणत हो जाते हैं, उस समय भी केवल रस विकसित रहता है, और सब उसी में लीन हो जाते हैं। अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबाकर, सत्वगुण का सुन्दर-स्वच्छ प्रकाश होने से, रस का साक्षात्कार होता है। अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश-स्वरूप. आनन्दमय और चिन्मय, चमत्कारमय यह रस का स्वरूप (लक्षण) है। इसका साक्षात्कार होते समय, दूसरे विषय का स्पर्श तक नहीं होता। रसास्वाद के समय विषयान्तर का ज्ञान पास तक नहीं फटकने पाता, अतएव यह ब्रह्मास्वाद (समाधि) के समान होता है। यही पूर्व दर्शित साहित्यदर्पणकार के मत का आशय है।

रस के ब्रह्मानन्द-सहोदर और लोकोत्तर होने में यह भी कारण है कि यह लौकिक घटादि कार्यों के ज्ञान से विलक्षण होता है। लौकिक ज्ञान या तो ज्ञाप्य होगा या कार्य, नित्य होगा या भविष्यत्, वर्तमान होगा या भूत, सविकल्पक होगा या निर्विकल्पक, परोक्ष होगा या प्रत्यक्ष। पर रस इनमें से किसी भी कोटि में नहीं आता। ज्ञाप्य तो वह इसलिये नहीं क्योंकि ज्ञाप्य घटादि कभी विद्यमान होते हुए भी ज्ञात नहीं होते। रस विद्यमान होता हुआ ज्ञात न हो, ऐसा कभी नहीं होता। कार्य इसलिए नहीं, कि यदि रस विभावादि कारणों से उत्पन्न होता है, ऐसा माना जावे, तो रस के प्रतीतिकाल में विभावादिकों की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कारण ज्ञान और कार्य-ज्ञान दोनों साथ नहीं हो सकते, तथा विभावादि के समूहालम्बनात्मक ज्ञान को ही रस कहा गया है। नित्य इसलिए नहीं कि यह विभावादि ज्ञान से पहले नहीं रहता। अनित्य भी इसलिए नहीं क्योंकि यह अनिर्वचनीय है। साक्षात् आनन्दमय प्रकाश रूप होने से भविष्यत् या भूत भी नहीं। कार्य या ज्ञाप्य के विलक्षण होने के कारण वर्तमान भी नहीं। रसानुभवकाल में विभावादि का परामर्श होता है, अतः निर्विकल्पात्मक नहीं। इसका शब्दों द्वारा निरूपण नहीं कर सकते, इसलिए सविकल्पात्मक नहीं। साक्षात्कार (अनुभूति स्वरूप) होने से परोक्ष नहीं, और शब्दजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष भी नहीं।

इन्हीं कारणों से प्राचीन रसशास्त्राचार्यों ने रस को अलौकिक, लोकोत्तर और ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा है।

इस रस का आस्वादन सब लोग नहीं कर सकते। वे बड़भागी ही कर पाते हैं, जिनमें पूर्वजन्मकृत पुण्य के वासनामय संस्कार होते हैं। काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण की, उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार भावों (विषयों) का तिरोभाव होने से मुक्तदशा में ब्रह्म मात्र प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार स्थायी भाव के रसत्व प्राप्त करने पर, रस ही रस दिखाई देता है, विभावादिकों का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। जिस काव्य में ब्रह्म-प्राप्ति की तरह भावों का तिरोभाव करने की क्षमता विद्यमान है, वही काव्य ब्रह्मानन्द-सहोदर, कहलाने का अधिकारी है। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि, काव्यानन्द-प्राप्ति मनुष्य की वासना, भाव-ग्रहण-शक्ति और सहृदयता पर निर्भर है। जिसमें ये शक्तियाँ जितनी ही अधिक होंगी, उतना ही वह काव्यानन्द का अधिकारी बन सकेगा।

रसों की उत्पत्ति

काव्य में मुख्यतया नौ रस माने गये हैं—अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। अब प्रश्न यह है कि रस का विचार पहले पहल कब मनुष्य के मस्तिष्क में आया। इसका ठीक-ठीक पता लगाना तो कठिन है, परन्तु नाट्यशास्त्र से इतना अवश्य जाना जाता है कि, सर्व प्रथम द्रुहिण (ब्रह्मा) ने, रस का रूप संसार के सामने रक्खा। भरत मुनि के मन्तव्यानुसार, शृङ्गार, रौद्र. वीर और बीभत्स इन चार ही रसों की पहले पहल उत्पत्ति हुई। फिर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस पैदा हुए। अग्निपुराण में भी यही मत प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् ब्रह्मा के अहंकार से ममता की उत्पत्ति हुई। ममता से रति और रति से शृङ्गार का जन्म हुआ। प्रीतिमूलक होने से शृङ्गार आनन्दमय है। आनन्द में बाधा पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है. वही रौद्र रस है। क्रोध आने पर, विरोध का परिहार करते हुए, प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करने को सोत्साह सन्नद्ध होना ही वीर रस है। इस उत्साहपूर्ण साम्मुख्य में, किसी प्रकार वैरी-विरोधियों से घृणा हो जाने के कारण ममता का संकुचित या संकीर्ण हो जाना ही बीभत्स रस का उत्पादक है।

ऊपर यह दिखाया गया है कि पहले पहल शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स इन चार रसों की ही उत्पत्ति हुई, शेष पाँच रसों को जन्म देने वाले ये ही चार रस हैं। इन चार रसों से और रस किस प्रकार निकले इसे भी सुन लीजिये। शृंगार की नक़ल करने से हास्यरस पैदा हुआ। किसी का अनुकरण करने से हँसी आनी स्वाभाविक ही है। राजा-रानी, साधु-सन्त, कुत्ता-बिल्ली, तोता-मैना इत्यादि किसी की भी नक़ल क्यों न की जाय, लोगों को हँसी आये बिना न रहेगी। प्रेमियों के हास-विलास,

व्यवहार अथवा रति-गोपनादि कार्यों में तो हास्य की झलक रहती ही है। कुछ लोगों ने अद्भुत रस भी हास्य का जनक माना है, क्योंकि कभी-कभी आश्चर्यजनक बातों से भी हँसी का फ़व्वारा छूट निकलता है।

अग्निपुराण के मत में रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति हुई, क्योंकि क्रोध में आकर ऊटपटाँग बकना, गालियाँ देना, मर्मवेधिनी बातें कहना, शेख़ी मारना आदि ऐसे कार्य हैं, जो लोगों के मर्मस्थल में घाव कर उन्हें व्याकुल कर देते हैं, जिससे वे करुणा के पात्र बन जाते हैं। कुछ आचार्यों ने करुण रस को शृङ्गार से उत्पन्न हुआ माना है, वे कहते हैं कि करुण रस का स्थायीभाव शोक है, और शोक प्यारी वस्तु के लिए ही किया जाता है। वीर रस से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानी गई है। ठीक भी है, युद्ध में योद्धाओं द्वारा जैसे-जैसे आश्चर्यजनक कार्य होते हैं, उनके कारण दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। भारतीय महाभारत का अवलोकन कीजिये, चाहे यूरोपीय महायुद्धों का वर्णन पढ़िये, सर्वत्र ही आपको वीरों के ऐसे आश्चर्यजनक कार्य-कलाप दिखाई देंगे, जिनमे बुद्धि चकराने लगेगी। यही अद्भुत रस है। बीभत्स को भयानक रस का जनक माना गया है। श्मशान भूमि या युद्ध-क्षेत्र दोनों की ही बीभत्सता देखकर, भय की उत्पत्ति होती है। जहाँ लोथों पर लोथ पड़ी हों, रुधिर धाराएँ बह रही हों, हड्डियों के ढेर लगे हों, चील-कौए और गिद्ध आँखें निकाल-निकाल कर खा रहे हों, शृगाल अँतड़ियाँ खींच रहे हों, कुत्ते चर्बी चाटने में निमग्न हों। कहीं धड़ पड़े हों, और कहीं मुण्ड लुढ़क रहे हों, कहीं चिताएँ जल रही हों, और कहीं मांस, मेद की दुर्गन्ध से नाक सड़ी जाती हो ऐसे दुर्दृश्य को देख कर किसे भय न लगेगा।

इन आठ रसों के अनन्तर, आचार्यों ने नवें शान्त रस का आविष्कार किया। महाभारत आदि ग्रन्थ शान्त रस प्रधान हैं। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। संसार की अनित्यता देखकर विषयों से विरक्ति हो जाने पर ही निर्वेद की उत्पत्ति होती है। रस गंगाधरकार ने उच्च कोटि के निर्वेद को ही शान्तरस का स्थायी भाव माना है। साधारण

गृहकलहादि से उत्पन्न निर्वेद को वे संचारी कहते हैं। किसी किसी ने "शम" को शान्त रस का स्थायी माना है।

उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध किसी-किसी ने भयानक से रौद्र रस की उत्पत्ति मानी है, क्योंकि यदि किसी को डराया धमकाया जाय तो वह क्रुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार रौद्र की तरह शान्त रस भी करुण रस का उत्पादक बताया है। क्योंकि सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त व्यक्ति जब एकान्त में परमात्म चिन्तन करता हुआ, अपने कृत कर्मों पर दृष्टि-पात करता है, तो उसे बड़ा विषाद होता है, उस समय वह साश्रुनयन होकर, गद्गद् वाणी द्वारा भगवान से क्षमा याचना करता है।

कुछ आचार्यों ने उपर्युक्त नव रसों के अतिरिक्त और भी कई रस माने हैं। जिनमें लौल्य, कार्पण्य, सख्य, उद्धत, दान्त, वात्सल्य (प्रेयः), भक्ति आदि मुख्य हैं। जिस रस का स्थायीभाव स्नेह हो वह 'प्रेयः' माना गया है, धैर्य स्थायीभाव वाला दान्त, गर्व स्थायीभाव वाला उद्धत, अभिलाष स्थायीभाव वाला लौल्य, श्रद्धा स्थायीभाव वाला भक्ति और जिसका स्थायी स्पृहा है, वह कार्पण्यरस कहा गया है। कुछ विद्वानों की सम्मति में स्नेह, भक्ति और वात्सल्य रति के ही रूप हैं। अर्थात् जब बराबर वालों में रति या प्रीति होती है, तो उसका नाम स्नेह, छोटों के साथ प्रीति का नाम वात्सल्य और बड़ों के साथ जो प्रेम हो उसे भक्ति कहते हैं।

यों तो वर्त्तमान युग में समाज-सुधार, स्वदेश-भक्ति, मातृ-भाषा प्रेम आदि विषयों पर जो भावमयी कविताएँ की जा रही हैं, वे भी किसी न किसी रस में अवश्य ही स्थान पाने की अधिकारिणी हैं, चाहे वह भक्ति रस हो, अथवा दूसरा। बहुत-सी ऐसी कविताएँ भी हो सकती हैं, जो किसी भी वर्णित रस के अन्तर्गत न होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं। ऐसी कविताओं के लिये नये रसों की सृष्टि रचनी पड़ेगी। परन्तु हमारी समझ में यदि इस प्रकार रसों की कल्पना की जायगी तो रसों की संख्या का निर्द्धारण करना ही असम्भव हो जायगा।

महाकवि देव ने रसों के सम्बन्ध में एक नया विचार प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जिस रस के ज्ञान कराने में, नेत्रादि इन्द्रियाँ सहायक होती हैं, वह लौकिक रस है. और जिस रस का बोध कराने में उपर्युक्त इन्द्रियाँ कुछ सहायता नहीं देतीं, और जो केवल आत्मा एवम् मन के संयोग से ही जाना जाता है, उसे अलौकिक रस कहते हैं। देवजी ने लौकिक के नौ और अलौकिक के तीन भेद किये हैं। लौकिक नौ रसों से उनका अभिप्राय प्रसिद्ध नव रसों से है। और अलौकिक तीन रस ये हैं— स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनायिक। स्वाप्निक रस से देवजी का अभिप्राय स्वप्न में प्राप्त आनन्द से जान पड़ता है। मानोरथिक रस में मनोराज्य की कल्पना की गई प्रतीत होती है. और औपनायिक से प्रयोजन हास-विलास एवं रास द्वारा उपनीत आनन्द प्राप्त करना भासित होता है। परन्तु देवजी के उपर्युक्त अलौकिक रसों का साहित्य जगत् में उल्लेख या प्रचार नहीं है। होता भी कैसे, क्योंकि उनके पूर्वोक्त दो भेद, श्रृङ्गार रस के 'स्वप्न-दर्शन' और वियोग की दस दशाओं में वर्णित अभिलाषा के ही रूप हैं। तीसरा भेद हास्य रस के अन्तर्गत आ जाता है।

कुछ लोगों ने वात, पित्त और कफ के अनुसार भी रसों का विभाजन किया है, कुछ ने उन्हें सत्व, रज, तम, के अनुसार ठहराया है, और कुछ विद्वानों ने ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण के गुण-कर्मानुसार उनका वर्गीकरण किया है। सबने अपनी-अपनी धारणाओं की पुष्टि में युक्तियाँ भी दी हैं, परन्तु ये युक्तियाँ साहित्यिक विचार-परम्परा पर अपना प्रभाव अङ्कित करने के लिए पर्याप्त नहीं कही जा सकतीं। सम्भव है, रसों को ऐसा रूप देने वालों का इरादा उन्हें धार्मिक धारा से सम्बद्ध करना हो।

इस विषय में कुछ विद्वानों ने इस प्रकार भी विचार किया है कि जीवन सुख-दुःखमय है। सुख पहुँचाने वाली चीज़ों से मनुष्य प्रेम करता है, और दुःख देने वालियों से घृणा। इस प्रेम और घृणा को राग-द्वेष के नाम से भी पुकार सकते हैं। मानव-जीवन के सारे भावों की जननी

राग-द्वेषात्मक यही दो वृत्तियाँ हैं। जहाँ प्रेम-वृत्ति का सम्बन्ध समान व्यक्ति के साथ होता है, वहाँ उसे मैत्री भाव कहते हैं। जब यह वृत्ति बड़ों के साथ सम्बन्धित होती है, तब वह भक्ति या प्रतिष्ठा में परिणत हो जाती है, और छोटों के साथ वात्सल्य या दयालुता का रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर द्वेष-वृत्ति को लीजिए, जब इसका सम्बन्ध बराबर वालों से होता है, तो चिड़चिड़ापन, उग्रता, क्रोध, अभद्रता आदि की सृष्टि होती है। बड़ों के साथ इसके सम्बन्धित होने से कायरता और ईर्ष्यालुता का जन्म होता है, और अगर द्वेष के पात्र असमर्थ तथा छोटे लोग हुए, तो वहाँ क्रोध और उग्रता का ठिकाना नहीं रहता। यही बात और विस्तार से कहनी हो, तो निम्न प्रकार कही जा सकती है। जिन भावों का प्रेम से जन्म होता है, पहले उन्हें देखिये। बराबर वालों के साथ प्रेम होने पर नीचे लिखे भाव पैदा होते हैं—

सरलता, सदाचरण, सुशीलता, विवेचकता, मृदुता, सहृदयता, मित्रता, सहकारिता, मिलनसारी इत्यादि।

बड़ों के प्रति प्रेम होने पर—

संकोच, आज्ञाकारिता, विनम्रता, शान्ति, भक्ति, गम्भीरता, निष्कपटता, अकिंचनता इत्यादि।

छोटों के साथ प्रेम होने पर —

दयालुता, सद्भावना, कोमलता, भद्रता, उदारता, शुभचिन्तना, सराहना, मृदुभाषण आदि।

अब घृणा से उत्पन्न होने वाले भावों पर विचार कीजिए।

बराबर वालों के साथ द्वेष होने पर निम्न लिखित भावों का जन्म होता है—

अभद्रता, अशिष्टता, चिड़चिड़ापन उद्दण्डता, क्रोध, दमन इत्यादि।

बड़ों के साथ द्वेष होने पर—

सन्देह, भय, कायरता, ईर्ष्यालुता, द्वेष इत्यादि।

छोटों के साथ—

दम्भ, दौरात्म्य, घमण्ड, आत्मश्लाघा, उग्रता, अविनय, घृणा, उद्दण्डता, अत्याचारिता, स्वार्थान्धता, दूसरों को तुच्छ समझना इत्यादि।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी, कि प्रेम और घृणा से ही प्रायः मुख्य-मुख्य भावों की उत्पत्ति होती है। अन्यभाव बहुधा इन्हीं भावों से निकले हैं। फिर चाहे वे भाव प्रेम-प्रसूत या घृणा-जनित भावों के पृथक्-पृथक् सम्मिश्रण हैं, अथवा दोनों के मिलकर। उदाहरणार्थ वीरता को ही लीजिए इसकी उत्पत्ति दया और दमन के भावों से है। अर्थात् निर्बलों पर दया कर के उनकी सहायता करना और अत्याचारियों से घृणा कर उन्हें दबाना। साहसशीलता, शक्तिमत्ता, दृढ़ता, धीरता आदि वीरता के ही भेद हैं। विश्वास की भावना क्या है? दूसरे के कार्य-कलाप और विचारों के साथ प्रेम करना।

इसी प्रकार विश्वासघात, जलन, कटुता, छल, कपट, चिन्ता, असन्तोष, कुढ़न, अधमता, मलिन-मनोवृत्ति, असावधानता, मिथ्यात्व, दिखावट, धृष्टता, चालाकी, उत्सुकता, लोलुपता, लज्जा, शेखी, आत्मश्लाघा, आशावादिता, पवित्रता, न्यायप्रियता, दातृत्व-भावना, क्षमाशीलता, सन्तोष, दयार्द्रता, पर दुःख कातरता प्रसन्नता, सहनशीलता, विश्वासपात्रता आदि जितने भी भाव हैं, वे सब उपर्युक्त घृणा और प्रेम दो वृत्तियों से ही सिद्ध किये जा सकते हैं। कविता के नौ रसों में भी इन वृत्तियों का पूरा प्रभाव है, बल्कि कहना चाहिए कि ये रस भी प्रेम और घृणा से ही उद्भूत हुए हैं।

आचार्यों ने रसों के भिन्न-भिन्न देवता भी माने हैं, यथा शृङ्गार के देवता श्रीकृष्ण; हास्य के प्रमथ (शिवगण); करुण के वरुण; रौद्र के रुद्र; वीर के इन्द्र; भयानक के काल; बीभत्स के महाकाल; अद्भुत के ब्रह्मा और शान्त रस के विष्णु भगवान। श्रीकृष्ण रस-रंग के प्रेमी थे, और व्रज-बालाओं के साथ रास-लीला किया करते थे, अतएव वे शृङ्गार रस के देवता हुए। विष्णु भगवान् द्वारा नारदजी का वानर रूप किये जाने पर शिवजी के गण प्रमथ ने उनकी हँसी उड़ाई थी, अतएव वे हास्य रस

के देवता माने गए। करुणा से मनुष्य का हृदय द्रवित हो जाता है; जल भी द्रव पदार्थ है, अतएव जल के देवता वरुण ही करुण रस के देवता निश्चित किये गए। शिवजी ने क्रोध से रुद्र-रूप धारण कर कामदेव को भस्म किया था, इसीलिए उनका नाम 'रुद्र' भी है। रौद्र रस का स्थायी-भाव क्रोध होने के कारण, क्रोध की साक्षात मूर्ति रुद्र को उसका देवता बनाना उचित ही है। देवेन्द्र दैत्यों के साथ युद्ध करने में अभ्यस्त हैं, अतएव वे वीर रस के अधिष्ठाता हुए। मृत्यु-देवता यमराज के भय से कौन थर-थर नहीं काँपता, अतएव इनको भयानक रस का अध्यक्ष बनाया गया। महाकाल को विविध बीभत्स दृश्यों का उत्पादक होने के कारण बीभत्स रस का देवता माना गया। विश्व की विचित्रताओं का विधाता ब्रह्मा ही है, इसलिए वह अद्भुतरस का देवता हुआ। अब रह गया शान्त रस, सो इसके अधिष्ठाता स्वयं विष्णु भगवान् हैं। विष्णु की शान्ति संसार-प्रसिद्ध है, लोक को स्थित रखने वाले वही हैं। भृगु की लात खा कर भी बराबर शान्त बने रहना उन्हीं का काम था। उपर्युक्त रसों के देवता पौराणिक परम्परा के अनुसार माने गए हैं। प्रत्येक रस का देवता, उसके अनुरूप ही निश्चित किया जाना, कम बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। ऐसा होने से रसों की विशेषता बहुत कुछ बढ़ गई है।

रस-विरोध और मैत्री

जिस प्रकार पशु-पक्षियों और मनुष्यों में परस्पर विरोध पाया जाता है, उसी प्रकार रसों में भी विरोध होता है। करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक के साथ शृङ्गार रस का विरोध है। इसी भाँति भयानक और करुण से हास्य का; हास्य और शृङ्गार से करुण का; हास्य, शृङ्गार और भयानक से रौद्र का ; शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से भयानक रस का ; भयानक और शान्त से वीर रस का; वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से शान्त रस का; एवम् शृङ्गार रस के साथ बीभत्स रस का विरोध माना गया है। कहते हैं कि शान्त रस के विरोधी, शृङ्गार, हास्य और रौद्र हैं, परन्तु इन तीनों का विरोधी शान्त रस नहीं। हास्य रौद्र का विरोधी है, लेकिन रौद्र हास्य का विरोधी नहीं है। इसी प्रकार वीर रस शृङ्गार का विरोधी है, परन्तु शृङ्गार वीर का विरोधी नहीं है। इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ और कविराज विश्वनाथ के मतों में सामञ्जस्य नहीं है। अस्तु ; रस-विरोध का अर्थ यह है कि विरोधी रसों का साथ-साथ वर्णन न किया जाय। इससे रसास्वादन का आनन्द और उद्देश्य नष्ट हो जाता है। साधारण जीवन में भी हम देखते हैं, कि यदि कहीं हास्य-विनोद हो रहा हो, तो वहाँ शोक और भय की चर्चा सारा मज़ा मिट्टी में मिला देती है। अथवा जहाँ शोक छाया हो, वहाँ हँसी-मज़ाक, आमोद-प्रमोद या सजावट-बनावट की बातें अच्छी नहीं लगतीं। इसी प्रकार अन्य रसों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। जिस प्रकार रसों का परस्पर विरोध है, उसी भाँति उनमें मित्रता भी है। अर्थात् शृङ्गार की हास्य से ; करुण की रौद्र से ; वीर की अद्भुत से और बीभत्स की भयानक से मित्रता मानी गई है। रसों की इस मैत्री का यह भी कारण प्रतीत होता है, कि उनकी एक दूसरे से उत्पत्ति हुई है। यानी हास्य,

रौद्र, अद्भुत और भयानक क्रमशः शृङ्गार, करुण, वीर और बीभत्स से निकले हैं।

प्रयत्न करने पर भी जब परस्पर विरोधी दो रस एक स्थान पर आ जायँ तो काव्य-प्रकाश के मतानुसार उनका परिहार इस प्रकार करना चाहिये कि यदि दो विरोधी रसों का समान आलम्बन हो तो उन दोनों में भेद—अन्तर कर दिया जाय। अर्थात् उन दोनों के बीच में ऐसे रस की स्थापना की जाय जो दोनों का विरोधी न हो। जब विरोधी रस का आधार स्मरण हो, या जब दो विरोधी रसों में साम्य स्थापित कर दिया जाय तो विरोध का परिहार हो जाता है। जब दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अङ्गाङ्गि भाव से अङ्ग बन गए हों, तब भी विरोध का परिहार हो जाता है। रस गंगाधरकार के मत में जहाँ एक से विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध भाव अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाँ भी उनका विरोध निवृत्त हो जाता है।

रस और सञ्चारी भाव

सञ्चारी या व्यभिचारी भावों में से कौन-कौन सञ्चारी किस-किस रस में होते हैं, यह बात नीचे लिखे विवरण से अच्छी तरह जानी जा सकेगी।

शृङ्गार रस में—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा ये तीन संचारी सम्भोग शृङ्गार में वर्जित हैं।

विप्रलम्भ शृङ्गार में—आलस्य, ग्लानि, निर्वेद, श्रम, शंका, निद्रा, औत्सुक्य, अपस्मार, सुप्ति, विबोध, उन्माद, जड़ता और असूया ये संचारी होते हैं।

हास्य रस में—अवहित्थ, आलस्य, सुप्ति, निद्रा, विबोध, श्रम, चपलता, ग्लानि, शंका, असूया आदि संचारी होते हैं।

करुण रस में—मोह, निर्वेद, दैन्य, जड़ता, विषाद, भ्रम, अपस्मार, उन्माद, व्याधि, आलस्य, स्मृति, स्तम्भ, स्वर-भेद और अश्रु संचारी होते हैं।

रौद्र रस में—उत्साह, स्मृति, स्वेद, आवेग, अमर्ष, उग्रता और रोमाञ्च संचारी होते हैं।

वीर रस में—उत्साह, धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता और रोमाञ्च संचारी होते हैं।

भयानक रस में—स्तम्भ, स्वेद, स्वरभंग, रोमाञ्च, वैवर्ण्य, शंका, मोह, आवेग, दैन्य, चपलता, त्रास, अपस्मार, प्रलय और मूर्च्छा संचारी होते हैं।

बीभत्स रस में—अपस्मार, मोह, आवेग और वैवर्ण्य संचारी होते हैं।

अद्भुत रस में—स्तम्भ, स्वेद, स्वरभंग, अश्रु, रोमाञ्च, विभ्रम और विस्मय संचारी होते हैं।

शान्त रस में—धृति, मति, हर्ष और स्मृति संचारी होते हैं।

वात्सल्य रस में—हर्ष, गर्व, शंका आदि संचारी होते हैं।

कहीं-कहीं स्थायीभाव भी संचारी बन जाते हैं। जैसे शृङ्गार में हास, शान्त, करुण। हास्य में रति और करुण। करुण में भय तथा शोक। वीर रस में क्रोध, भयानक में जुगुप्सा तथा सम्पूर्ण रसों में उत्साह तथा विस्मय संचारी बन जाते हैं।

रसों के सूक्ष्म भेद

रसों के सम्बन्ध में उनके सूक्ष्म भेदों की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है। यथा—करुण और रौद्र दोनों में ही इष्ट-हानि होती है। परन्तु शोकजनक इष्ट-हानि पर मनुष्य का काबू नहीं चलता, इसलिए उसमें कुछ न कर सकने के कारण करुणा, दीनता, निराशा, ग्लानि आदि की ही प्रधानता रहती है और रौद्र में क्रोध आता है, क्योंकि इसमें अनिष्ट करने वाले पर वश चलने और उससे बदला ले सकने की सम्भावना रहती है। इस अवस्था में आशा, गर्व और रोष विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं, वीर और रौद्र रस में यह अन्तर है कि वीर रस में क्रियात्मकता का आधिक्य होता है, और रौद्र रस गर्व-गौरव वर्णन तथा रोष-प्रदर्शन तक

ही सीमित रहता है। वीर में उदारता, धीरतादि की विशेषता होती है और रौद्र में चीखने-चिल्लाने तथा डींग मारने की। पहला भविष्य से सम्बन्धित हैं और दूसरा वर्तमान से। भय और क्रोध में शक्तियाँ विकसित हो जाती है, और बीभत्स में संकुचित। कहीं-कहीं पात्र-भेद से बीभत्स भयानक रस का रूप धारण कर लेता है। जैसे श्मशान का दृश्य कमज़ोर तबियत वालों को तो भयानक बन कर डरा देता है, परन्तु जिनका दिल मज़बूत है, उन्हें उससे ग्लानि या घृणा मात्र होती है।

भाव तथा रसाभासादि

भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं कि, प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी भावों तथा देवता, गुरु आदि के विषय में अनुराग, एवं सामग्री के अभाव से रस-रूप को अप्राप्त उद्बुद्ध मात्र रति, हास आदि स्थायियों की 'भाव' संज्ञा है। अर्थात् देवता, गुरु, मुनि, राजा, पुत्र आदि जहाँ रति के आलम्बन होते हैं, वहाँ रति 'भाव' कहलाती है। और जहाँ रति आदि नवों स्थायीभाव उद्बुद्ध-मात्र हों, अर्थात् वे विभाव, अनुभावादि से परिपुष्ट न हुए हों, वहाँ उनको भी भाव कहते हैं। निर्वेदादि सञ्चारी जहाँ प्रधानता से प्रतीयमान (व्यञ्जित) होते हैं, वहाँ वे भी भाव कहाते हैं। जिस छन्द या काव्य में, सञ्चारी भाव की प्रधानता होती है, वह भाव-प्रधान कहा जाता है। काव्य में रस की प्रधानता होती है, रस की मौजूदगी में, सञ्चारी भाव का प्रधान होना उसी प्रकार है, जिस प्रकार मन्त्री के विवाह में राजा के होते हुए भी, मन्त्री की ही मुख्यता का माना जाना। अथवा यों समझिये कि 'प्रपानक' तैयार होने पर, उसमें मिर्च आदि किसी पदार्थ की तेज़ी हो जाना। साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रसंग में पार्वती के विवाह का उदाहरण दिया है। अर्थात् "शिवजी के साथ अपने विवाह की चर्चा सुन कर, पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीची गर्दन किये, लीला कमल की पंखड़ियाँ गिनने लगीं।"[1] यहाँ अवहित्था संचारी की प्रधानता है।

श्लोक १—एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती॥

देवता विषयक रति का उदाहरण देखिए—"चाहे मैं स्वर्ग में रहूँ, चाहे पृथिवी पर, और चाहे नरक में मेरा निवास हो, परन्तु हे नरकान्तक मुकुन्द, मरते समय भी मैं तुम्हारे चरणारविन्द का स्मरण करता रहूँ।"[१] यहाँ भक्त की मुकुन्द के सम्बन्ध में रति है। इसी प्रकार गुरु, राजा, पुत्र, ऋषि, मुनि आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

उद्बुद्ध मात्र स्थायीभाव का उदाहरण देखिए—"हिमालय में वसन्त पुष्पालंकृता पार्वती को देख कर, शिवजी का धैर्य कुछ विचलित हो गया; और वे पार्वती के चन्द्रानन पर अपनी भाव-भरी दृष्टि डालने लगे।"[२] यहाँ पार्वती के रूप-लावण्य को देखकर शिवजी के हृदय में रति उद्बुद्ध मात्र हुई है, अतएव वह भाव है।

रस और भाव अनुचित रूप से प्रयुक्त या अयोग्य रीति से वर्णित हुए हों, तो वे क्रमशः रसाभास और भावाभास कहलाते हैं। अनौचित्य से अभिप्राय देश-काल आदि के विरुद्ध वर्णन करने से है। अनुचितार्थ भी अनौचित्य में ही गिना जाता है। रसगंगाधर कार पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस-भङ्ग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा न आने देना चाहिए। रस-भङ्ग किसे कहते हैं, उसे भी समझ लीजिए। जिस तरह शर्बत आदि किसी वस्तु में कोई कड़ी वस्तु गिरजाने के कारण, वह खटकने लगती है, उसी प्रकार रस के

१—दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक! प्रकामम्।
अवधीरित शारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

२—हरस्तु किञ्चित्परिवृत्त धैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमा मुखे बिम्बफलाधरोष्ठे,
व्यापारयामास विलोचनानि॥

अनुभव में खटकने को रस-भंग कहते हैं। अनुचित होने का अर्थ यह है कि, जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति, व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में, जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवम् उचित द्रव्य गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना। जाति आदि के सम्बन्ध में जो अनुचित बातें हैं, अब उनके कुछ उदाहरण सुनिये-- जाति के विरुद्ध—जैसे बैल तथा गाय आदि की तेज़ी और बल के कार्य्य एवं सिंह आदि का सीधापन आदि। देश के विरुद्ध—जैसे स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि। काल के विरुद्ध—ठंढ के दिनों में जल-विहारादि और गर्मी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। वर्ण के विरुद्ध—जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना आदि। आश्रम के विरुद्ध—जैसे ब्रह्मचारी और संन्यासी का पान चबाना और स्त्री ग्रहण करना। अवस्था के विरुद्ध—जैसे बालक और बूढ़े का स्त्री-सेवन और युवा का वैराग्य। स्थिति के विरुद्ध—जैसे दरिद्रों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्रों जैसा आचरण।

रस गंगाधर कार के बताये उपर्युक्त अनौचित्यों के अतिरिक्त साहित्य-दर्पण कार ने भी कुछ अनौचित्य गिनाये हैं। अर्थात् नायक के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष में, यदि नायिका का अनुराग वर्णित हो तो वहाँ अनौचित्य जानना। एवम् गुरुपत्नी आदि में, अथवा अनेक पुरुषों में यदि वा दोनों में से किसी एक में ही (दोनों में नहीं) किम्वा प्रतिनायक अथवा नायक के शत्रु में, या नीच पात्र में, किसी नायिका रति वर्णन अथवा पशु-पक्षी विषयक रति की चर्चा हो तो, वहाँ शृङ्गार रस में अनौचित्य के कारण, शृङ्गाराभास अथवा रसाभास समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि गुरु आदि पर क्रोध हो तो, रौद्र रस में अनौचित्य होता है, एवम् नीच व्यक्तियों में शम स्थित होने पर शान्त में, गुरु आदि आलम्बन हों तो हास्य में, ब्राह्मण-बध आदि कुकर्मों में उत्साह होने पर अथवा नीच पात्रस्थ उत्साह होने पर वीर रस में, और उत्तम पात्रगत होने पर भयानक रस

में अनौचित्य होता है। विरक्त में शोक होना करुण में, यज्ञ-पशु में ग्लानि होना बीभत्स में और ऐन्द्रजालिक कार्यों में विस्मय होना अद्भुत में रसा-भास होता है।

अनौचित्य जनित रस-भङ्ग या रसाभास के जो कारण ऊपर बताये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हो सकते हैं। देश, काल, पात्र, आचार, विचार और सामाजिक स्थिति के आधार पर ही इस प्रकार के कारणों की कल्पना की जाती है। साधारण अवस्था में जो अनौचित्य होता है, कविता में भी प्रायः वही माना जाता है। कुछ विद्वानों की राय में यदि किसी रस में कुछ दोष आ जाय तो वहाँ रस नहीं रहता; क्योंकि दोष और रस एक साथ नहीं रह सकते। इस विचार के विरुद्ध कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि रस में कुछ दोष आ जाने से, रस नष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत वह बराबर बना रहता है। हाँ, उसे उस समय दोष-युक्त होने से रसाभास कह सकते हैं। ठीक भी है, यदि हलवे की कड़ाही में त्रिफले का कुछ अंश पड़ जाय, अथवा घड़े-भर रस में रत्ती-भर कुटकी डाल दी जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि हलवा हलवा नहीं रहा, या शर्बत से शर्बतपन नष्ट हो गया। सुधार-भावना से अनौचित्य का आविर्भाव रसाभास का कारण नहीं माना गया। जैसे यदि कोई किसी साधु-सन्त या गुरु-पण्डित के सदोष होने पर, सुधार-भावना से उनकी हँसी करे, या उन पर व्यंग्य-वाण छोड़े तो यह अनौचित्य रसाभास का कारण नहीं होता।

कहीं-कहीं अनौचित्य से भी रस की पुष्टि मानी गयी है, और उतने अनौचित्य का वर्णन निषिद्ध नहीं है; क्योंकि जो अनुचितता रस की विरोधिनी हो, वही निषेध्य होती है। उदाहरणार्थ हनुमन्नाटक का नीचे लिखा श्लोक देखिये ;

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते ! जडमते, नैषा सभा वज्रिणः।

वीणां संहर नारद ! स्तुति-कथालापैरलं तुम्बुरो !,
सीता रल्लक भल्ल भग्न हृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥

अर्थात् हे ब्रह्माजी, यह वेद-पाठ का समय नहीं है। चुप होकर बाहर बैठो। हे बृहस्पते, जो कुछ कहना है, थोड़े में कहो। मूर्ख, यह इन्द्र की सभा नहीं है कि घंटों बक-बक करते रहो। नारदजी, अपनी वीणा समेट लो। हे तुम्बुरो, इस समय ख़ुशामद की बातें न करो, क्योंकि सीता की बिरूनियों के भालों से लंकेश्वर रावण का हृदय घायल हो गया है, वह स्वस्थ नहीं है।

इस श्लोक में ब्रह्मादिकों के तिरस्कार के लिए बोले गए द्वारपाल के वचनों की 'अनुचितता' दोष नहीं है। क्योंकि उनसे रावण के परमैश्वर्य की पुष्टि होती है, और इसमे वीररस का आक्षेप होता है।

आचार्य केशव ने पाँच प्रकार के रस-दोष माने हैं—अर्थात् प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुस्सन्धान और 'पात्र' दोष। जहाँ शृंगार, बीभत्स, भयानक, वीर, रौद्र और करुण में से एक ही छन्द में, दो अथवा अधिक का संयोग हो जाता है, तो उसे प्रत्यनीक दोष कहते हैं। जहाँ नयिका और नायक में वाचनिक प्रेम तो हो, परन्तु हृदय में वे कपट-भाव ही बनाये रहें तो वहाँ नीरस दोष होता है। जहाँ शोक में भोग का वर्णन किया जाय, वहाँ विरस दोष समझना चाहिये। नायक नायिका में जहाँ एक अनुकूल हो और दूसरा प्रतिकूल तो वहाँ दुस्सन्धान दोष होता है। प्रश्न के विरुद्ध उत्तर देना अथवा किसी बात को बिना विचारे वर्णन कर डालना पात्र दोष माना गया है। परन्तु केशवजी के उक्त रस-दोष-वर्णन का आधार हमें प्राचीन रस-ग्रन्थों में नहीं मिला। यद्यपि परम्परया प्रत्येक घटना रस की पोषक, नाशक या विशेषक होती है, और इसी रूप में उसका रस से सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है, तो भी उक्त पाँच दोषों में से अन्तिम दो दोषों का रस के साथ उनके स्वकथित लक्षण के अनुसार, सम्बन्ध जोड़ना एक द्राविड़ प्राणायाम है। यह विषय विद्वानों के विचारने

योग्य है। अस्तु, विचार पूर्वक देखने से इन रस-दोषों का भी अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसाभासादि रस-दोषों में हो जाता है।

उपर्युक्त विषय को अच्छी तरह समझाने के लिए, यहाँ रसाभास और भावाभास के कुछ उदाहरण दे देना भी आवश्यक है। शृंगार रसाभास के उदाहरण देखिये—

दै दधि, दीनों उधार हो 'केशव' दान कहा, अरु मोल लै खैहैं।
दीने बिना जु गई हो गई न गई न गई घर ही फिरि जैहैं॥
गोहित बैर किये कब हो हितु, बारु किये वरु नीकी ह्वै रैहैं।
बैरु कै गोरस बेचहुगी, अहो बेच्यो न बेच्यो तो ढार न देहैं॥

उक्त उदाहरण में नायक तो प्रत्येक बात बड़े प्रेम से पूछता है, परन्तु नायिका के उत्तर में कठोरता आ जाती है। इससे एक नायक में अनुकूलता और दूसरे (नायिका) में प्रतिकूलता दिखाई देती है। और देखिये—

लाल भाल जावक लखत बरी विरह के झार।
भरी शोक लपटति गरे बिहँसति भूषण भार॥

यहाँ शोक में रति का वर्णन किया गया है, अतएव यह दोष है। नीचे लिखी चौपाई भी देखने लायक हैं—

नदी उमड़ि अम्बुधि कहँ धाई, संगम करहिं तलाब तलाई।
पशु-पक्षी नभ-जल-थल-चारी, भए कामवश समय बिसारी॥
देव दनुज नर किन्नर व्याला, प्रेत पिशाच भूत वैताला।
इनकी दशा न कहहुँ बखानी, सदा काम के चेरे जानी॥
सिद्ध विरक्त महामुनि योगी, तेऽपि काम वश भए वियोगी।

उपर्युक्त चौपाइयों में, नदी, तालाब, समुद्र, पशु-पक्षी, भूत-पिशाच और मुनियों की रति का वर्णन होने से शृंगार रसाभास है।

करुणरसाभास के उदाहरण देखिये—

तात बात मैं सकल सम्हारी, भइ मन्थरा सहाय बिचारी।
कछुक काज विधि बीच बिगारा, भूपति सुरपति-पुर पगुधारा॥

कैकेयी भरत के ननसाल से आने पर उनके आगे बनावटी शब्दों में अपना शोक प्रकट कर रही है। अयथार्थ होने से यह करुण रसाभास है।

इसी प्रकार अन्य रसों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। भावाभास के उदाहरण भी ऊपर वर्णित अनौचित्यों के आधार पर खोजे जा सकते हैं।

भावशान्ति

एक भाव की विद्यमानता में, किसी दूसरे विरोधी भाव के उदय हो जाने पर, पहले भाव की चमत्कारपूर्ण समाप्ति या शान्ति को भाव-शान्ति कहते हैं। जैसे कोई नायक अपनी रूठी हुई स्त्री से कहता है—"सुमुखि ! क्रोध छोड़, मैं हाहा खाता हूँ, अनुनय-विनय करता हूँ। ऐसा गुस्सा तो तुझे कभी नहीं आया।"[1] पति की विनम्र विनती सुन पत्नी आँसू बहाने लगी, पर बोली कुछ नहीं। यहाँ आँसू बहने के कारण नायिका के हृदय में वर्त्तमान ईर्ष्याभाव की शान्ति वर्णित है, अतः यह भाव शान्ति हुई।

रामायण में भावशान्ति का कैसा सुन्दर उदाहरण है, देखिए—

प्रभु-विलाप सुनि कान विकल भए वानर-निकर।
आइ गएउ हनुमान जिमि करुना में वीर रस॥

१—सुतनु जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां।
न खलु तव कदाचित् कोप एवं विधोऽभूत्।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या,
नयन जलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित्॥

लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर, संजीवनी बूटी लाने के लिए गए हुए हनुमान के आने में विलम्ब देखकर, श्रीरामचन्द्रजी तथा अन्य लोग विलाप कर रहे थे, इतने ही में वे आ गए, मानो करुणा में वीर रस का उदय हो गया।

भावोदय

जहाँ किसी भाव की शान्ति के पश्चात्, दूसरा चमत्कृत भाव उदय हो, वहाँ भावोदय होता है। भाव और भावोदय में इतना ही अन्तर माना गया है, कि जहाँ शान्त होने वाला भाव, अधिक चमत्कृत होता है, वहाँ भावशान्ति होती है, और जहाँ उदय होने वाला भाव विशेष चमत्कारपूर्ण होता है, वहाँ भावोदय होता है। जैसे—"पहले तो मानिनी नायिका अनुनय-विनय करते हुए नायक का तिरस्कार करती रही, परन्तु जब वह निराश और रुष्ट होकर वापस जाने लगा, तो नायिका हृदय पर हाथ रख कर, गहरी साँस लेती तथा आँसू बहाती हुई सखियों की ओर देखने लगी।[1]" यहाँ पहले ईर्ष्याभाव की शान्ति होने पर, नायिका के हृदय में जो विषाद उदय हुआ वह अधिक प्रबल है, अतः इसे भावोदय कहेंगे।

भावसन्धि

जहाँ समान और प्रबल चमत्कृत दो भाव एक ही साथ उपस्थित हों, वहाँ भावसन्धि होती है। इसमें एक भाव एक ओर को आकृष्ट करता है, और दूसरा दूसरी ओर को। जैसे कामिनी के कलित कलेवर को देखकर किसी नायक का एक साथ हर्ष-विषादयुक्त हो जाना[2]। हर्ष सुन्दरी के

१—चरण पतन प्रत्याख्यानात्प्रसाद पराङ्मुखं,
निभृत कितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषी कृते।
व्रजति रमणे निश्वस्योच्चैः स्तनस्थित हस्तया,
नयन-सलिलच्छन्ना दृष्टिःसखीषु निवेशिता॥

२—नयन युगासेचनकं मानस वृत्त्यापि दुष्प्राप्यम्।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे॥

सौंदर्य-दर्शन का और विषाद उसकी दुर्लभता का। यही भाव-सन्धि है। इस प्रसंग में कविवर विहारी लाल के निम्नलिखित दोहे पढ़ने योग्य हैं—

नई लगन कुल की सकुच विकल भई अकुलाय।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिन जाय॥
× × ×
छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥

उपर्युक्त दोहों में प्रेम और लज्जा दोनों की प्रबलता का वर्णन है, यही भावसन्धि है।

भावसन्धि के उदाहरण में तुलसीदासजी की निम्नलिखित चौपाई भी बड़ी सुन्दर है—

नीके निरखि नयन भरि सोभा।
पितु प्रन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥

सीताजी को रामचन्द्र की सुन्दरता देखकर एक ओर हर्ष हो रहा है, और दूसरी ओर पिता की कठिन प्रतिज्ञा (धनुष भंग सम्बन्धिनी) स्मरण कर क्षोभ सता रहा है।

भावशवलता

लगातार कई भावों का एक ही स्थान पर समान रूप से प्रतीत होना भावशवलता कहलाता है। साहित्य दर्पण का उदाहरण देखिए—

क्वाकार्यं, शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरः पास्यति।

विरहोत्कण्ठित राजा पुरूरवा उर्वशी के स्वर्ग चले जाने पर कहता है—कहाँ मेरा निर्मल चन्द्रवंश और कहाँ यह निषिद्ध आचरण! क्या

कभी फिर भी वह दीख पड़ेगी ? ओह ! यह क्या ! मैंने तो कामादि दोष दबाने वाले शास्त्र पढ़े हैं। ओहो, क्रोध में भी अति कमनीय उसका मुख ! भला मेरे इस आचरण को देखकर विवेचक विद्वान् क्या कहेंगे ! हा, वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ है। अरे मन ! धीरज धर, न जाने कौन बड़-भागी उसका अधरामृत पान करेगा।" इस श्लोक में वितर्क, उत्कण्ठा, मति, स्मृति, शङ्का, दैन्य, धैर्य, चिन्ता आदि अनेक संचारी भावों का सम्मिश्रण है, अतएव इसे भावशवलता कहेंगे।

जब उपर्युक्त भाव और रस परस्पर मिला दिये जाते है, तब उन्हें 'रस-संकर' कहते हैं। सामान्यतः इसके तीन भेद माने गए हैं। अर्थात् जन्य-जनक भाव, अङ्गाङ्गि भाव और स्वतन्त्रता। जब एक रस से दूसरा रस उत्पन्न होता है, तब उसे जन्यजनक भाव रस-संकर कहते हैं। इसके विषय में साधारण नियम यह है कि रौद्र से करुण, बीभत्स से भयानक और शृङ्गार से हास्य रस उत्पन्न होते हैं। परन्तु अनेक स्थानों पर इस नियम के विपरीत भी जन्यजनक भाव देखने में आता है, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में वीर रस से भयानक की उत्पत्ति हुई है। देखिये—

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्ही सिवराज वीर अकह कहानियाँ।
भूषन भनत तिहूँ लोक में तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइति सकल बिललानियाँ॥
आगरे अगारन ह्वै नाँघती कगारन छ्वै,
बाँधती न बारन मुखन कुम्हिलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहै भागी जाहिं,
बीबी गहैं सूथनी सु नीवी गहैं रानियाँ।

जहाँ एक रस प्रधान और दूसरा उसके आश्रित रहता है, वहाँ वह अङ्गाङ्गि भाव रस-संकर कहाता है।

जहाँ एक ही पद्य में अनेक स्वतन्त्र रस पाए जायँ वहाँ 'स्वतन्त्रता' रस-संकर माना जाता है। जैसे—

महिपरत उठि भट लरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस निसिचर एक श्री रघुकुल मनी।
सुर-मुनि समय अवलोकि मायानाथ अति कौतुक करे।
देखत परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरे॥

उक्त पद्य में अद्भुत, वीर और भयानक रस स्वतन्त्रता पूर्वक विद्य-मान है। इसलिए, यहाँ स्वतन्त्रता रस-संकर है।

अन्य रस-दोष

रस का आस्वादन व्यञ्जना द्वारा होता है, अतएव उसका या स्थायी और व्यभिचारी भावों का किसी रचना में स्पष्ट शब्द द्वारा कथन रसदोष है। प्रायः कविजन अपनी कविता में, व्यञ्जना से काम न लेकर शृङ्गार रस में 'शृङ्गार', हास्य में 'हास', करुण में 'शोक' बीभत्स में 'घृणा' वीर में 'उत्साह' रौद्र में 'रोष' या 'क्रोध' आदि शब्द लिखकर बात को स्पष्ट कर देते हैं, जो दोष है। जैसे—

× × × ×

एक दिन 'हास' हित आयो प्रभु पास तन—
राखे न पुराने बास कोऊ एक थल है।

× × × ×

उपर्युक्त हास्य रस सम्बन्धी कवित्त के चरण में 'हास' शब्द स्पष्ट लिखा गया है, अतएव यह दोष है। और देखिये—

× × × ×

'वीर रस' रहे राज वैरी गण गाजि गाजि,
समर में आए रण साजि बेसुमार हैं।

इस चरण में 'वीर रस' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। और भी—

× × × ×

जीत्यौ रति रन मथ्यौ मनमथ हू को मन,
केसौराय कौन हू पै 'रोष' उर आन्यो है।

यहाँ 'रोष' शब्द स्पष्ट हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से अच्छी तरह समझ में आ गया होगा कि किसी काव्य में किस प्रकार रसों के नाम आने से रस-दोष आजाता है। इसी भाँति स्थायी और व्यभिचारी भावों का स्पष्ट नामोल्लेख होने से भी रस नष्ट हो जाता है, अतः रचना में इस प्रकार रसादि का स्पष्ट नामोल्लेख करने से कवि का फूहड़पन प्रकट होता है।

जिस रचना में विभाव, अनुभाव आदि कठिनाई से जाने जा सकें, उसमें भी रस-दोष माना गया है। जैसे कोई वियोगिनी की दशा का वर्णन इस तरह करे, जिसमें यही न जाना जा सके कि वह वियोगिनी का वर्णन है, या राजयक्ष्मा के किसी रोगी का। इसलिए विभावानु-भावादि का वर्णन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि समझने में कठिनता न हो।

एक स्थान में परस्पर विरोधी रसों और उनके विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों का वर्णन करना भी रस-दोष है। जैसे—

"यौवन के सुरसाल योग में काल रोग है अति बलवान"

यहाँ वियोग शृङ्गार का वर्णन करते हुए, यौवन के सम्बन्ध में काल रोग का उल्लेख किया गया है। काल रोग शृङ्गार के विरोधी शान्त रस का उद्दीपन है, अतः शृङ्गार के वर्णन में, उसके विरोधी तथा शान्त के अंगभूत काल रोग का बर्णन करना रस-दोष हुआ।

विरोधी रसों या उनके अङ्गभूत विभावादिकों का, एक ही स्थान में, देश-भेद, समय-भेद, रस-संकर, स्मृतसाम्य और अङ्गाङ्गि भाव द्वारा वर्णन किया जाय, तो वहाँ रस दोष नहीं माना जाता। जैसे—

"लै कृपान कर में शिवा गरज्यौ सिंह समान।
पीठि फेरि रन ते तबै बैरिन कियो पयान॥"

इस दोहे में शिवा के कृपाण लेकर सिंह-समान गरजने (वीर रस) और भयभीत होकर शत्रुओं के रणभूमि से भागने (भयानक) का एक ही जगह वर्णन है। उक्त दोनों रस परस्पर विरोधी हैं, अतः यहाँ रस दोष होना चाहिये था। परन्तु चूँकि कवि ने दोनों रसों के देश (आलम्बन) भिन्न-भिन्न कर दिये हैं, अर्थात् वीर रस का आलम्बन शिवा और भयानक का वैरी बना दिया, अतः दोष-परिहार हो गया। इसी प्रकार समय-भेद रस-संकर आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

गुण, वृत्ति और रीतियाँ

गुण

रसात्मक काव्य के तीन गुण माने गए हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये गुण रस के अविचल धर्म होने से उसके उत्कर्ष के कारण हैं।

माधुर्य—जिस रस के आस्वादन से हृदय द्रवीभूत होकर आनन्द अनुभव करता है, उसे माधुर्य कहते हैं। इस गुण के द्वारा सम्भोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिपुष्ट होते हैं।

माधुर्य के व्यञ्जक ङ, ञ, न, म वाले वर्गों के वर्ण होते हैं, जैसे—ङ्क, ङ्ग, ञ्च, न्द, म्भ। ह्रस्व र और ण भी इसमें प्रयुक्त होते हैं, पर ट, ठ, ड, ढ का बिलकुल प्रयोग नहीं होता। समास इसमें नहीं होता; यदि कहीं होता भी है, तो बहुत थोड़ा और छोटे-छोटे पदों का।

ओज—अन्तःकरण को उद्दीप्त करने वाला गुण ओज कहाता है। इसके द्वारा वीर, बीभत्स और रौद्र रस को अधिक पुष्टि मिलती है।

ओज में वर्ग के अन्तिम वर्णों का योग उसी वर्ग के पहले और तीसरे अक्षरों से होता है। ट, ठ, ड, ढ के साथ आगे या पीछे र का संयोग रहता है। तालव्य श और मूर्धन्य ष अधिक प्रयोग में लाए जाते हैं, तथा समस्त पद अधिक व्यवहृत होते हैं।

प्रसाद—काव्य के सुनते ही जो अर्थ हृदय में प्रविष्ट होकर लोकोत्तरा-नन्द प्रदान करता है, उसे प्रसाद कहते हैं। यह गुण सब रसों को समान रूप से पुष्ट करता है।

प्रसाद में वर्णों का कोई नियम नहीं। संस्कृत कवियों में यह गुण कालिदास की कविता में अधिक पाया जाता है। किन्हीं आचार्यों ने श्लेष,

समाधि, औदार्य, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कान्ति इत्यादि गुण भी माने हैं, परन्तु ये सब उपर्युक्त तीन गुणों में ही अन्तर्हित हो जाते हैं।

भरत मुनि ने उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त समता, सुकुमारता आदि और भी गुण माने हैं।

वृत्ति

इसके अतिरिक्त रसों के सम्बन्ध में वृत्ति की भी मान्यता है। यह वृत्ति तीन प्रकार की है। १—मधुरा, २—परुषा और ३—प्रौढ़ा। इन तीनों वृत्तियों से क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण व्यञ्जित होते हैं।

मधुरा—जिस रचना में अनुनासिक वर्णों की प्रचुरता होती है, ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से म पर्यन्त शेष स्पर्श संज्ञक वर्ण, य, र, ल, व अर्थात् अन्तस्थ संज्ञक वर्ण, द्वित्व लकार (ल्ल) और ह्रस्व रेफ आदि अधिक व्यवहृत होते हैं, वह मधुरावृत्ति कहाती है। इसी का नाम कौशिकी वृत्ति भी है।

परुषा—जिस रचना में संयुक्त, रेफयुक्त एवं विसर्ग सहित वर्णों और श, ष, ट, ठ, ड, ढ आदि का प्रयोग अधिक हुआ हो—संयुक्त वर्णों में भी वर्गों के तीसरे (ग, ज, ड, द, ब) और चौथे (घ, झ, ढ, ध, भ) वर्णों के परस्पर संयुक्त रूपों तथा उस वर्ण का उसी के साथ संयुक्त रूपों का अधिक उपयोग हुआ हो, उसे परुषा या आरभटी वृत्ति कहते हैं।

प्रौढ़ा—जिस रचना में उपर्युक्त दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण हो, वह प्रौढ़ा या सात्वती वृत्ति कहाती है।

रीति

गुणों को व्यक्त करने वाली रसानुरूप पद-रचना रीति कहलाती है। रीति के भी तीन भेद हैं। १—वैदर्भी, २—गौड़ी और ३—पञ्चाली। ये तीन रीतियाँ ही क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण की व्यञ्जिका हैं।

वैदर्भी—जिस रचना में समस्त पद बहुत ही अल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हों, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं।

गौड़ी—जिस कविता में चार से अधिक पदों के समास व्यवहृत हुए हों, वह गौड़ी रीति कहाती है।

पाञ्चाली—जिस रचना में चार से कम पदों के समास पाए जायँ, वह पाञ्चाली रीति कहलाती है।

साहित्यदर्पणकार ने लाटी नाम की एक चौथी रीति भी मानी है, जिसका लक्षण नीचे लिखे प्रकार किया है।

लाटी—जिस कविता में पाञ्चाली और वैदर्भी दोनों के मिश्रित लक्षण पाए जायँ, उसे लाटी रीति कहते हैं।

उपर्युक्त गुण, वृत्ति और रीति रस की परिपक्वता या पुष्टि में सहायक होते हैं, इसलिए उत्कृष्ट काव्य में उनका होना बहुत आवश्यक है।

रस और संगीत

साहित्य का संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों सहृदयता सापेक्ष हैं, अर्थात् बिना सहृदयता के न साहित्य की ओर रुचि होती है, और न संगीत की ओर। विद्वानों ने व्याकरण, न्याय, मीमांसा, कलादि सहित भाव को साहित्य कहा है। साहित्य क्या है? इसके उत्तर में एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है, कि परस्पर एक दूसरे की सहायता चाहने वाले, तुल्य-रूप पदार्थों का एक साथ किसी एक कार्य-साधन में लगना ही साहित्य कहाता है। साहित्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक होने से काव्य भी उसका एक अंग है। काव्य गानात्मक होता है। उसमें ऐसे छन्दों और पदों की सृष्टि की जाती है, जो संगीत के साथ मिलकर, एक और एक ग्यारह की लोकोक्ति चरितार्थ करते हुए, हृत्तन्त्री को झंकृत कर देते हैं। जिस समय हम किसी सत् कविता को सुनते या पढ़ते हैं, उस समय हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। उसी प्रकार श्रवण सुखद संगीत की सुमधुर ध्वनि कान में पड़ने से प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। जहाँ साहित्य और संगीत दोनों मिलकर, स्वर्गीय आनन्द प्रदान करते हों, वहाँ की तो बात ही क्या है। यद्यपि साहित्य और संगीत पृथक-पृथक् भी सच्चे आनन्द के स्रष्टा हैं, तथापि दोनों का संयोग सोने में सुगन्ध पैदा कर देता है। महाराज भर्तृहरिजी ने तो साहित्य-संगीत कला-विहीन मनुष्य को 'पुच्छ-विषाण हीन' पशु कहकर पुकारा है। वास्तव में जिस मनुष्य में संवेदना-शील हृदय नहीं है, वह 'पुच्छ-विषाण हीन' पशु ही नहीं- पशु से भी गया-बीता है। हरिण, सर्प आदि का तो सगीत पर मुग्ध हो जाना प्रसिद्ध ही है, परन्तु हृदयहीन पुरुष पर उनका (साहित्य-संगीत का) कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

संसार संगीत से ओत-प्रोत है। कोयल की कुहू-कुहू, कबूतर की गुटरगूँ, नदियों का कल-कल नाद, वायु का सन-सन शब्द और वृक्षों का मस्ती से झूमना, शुष्क बाँस से बनी बाँसुरी की सुरीली तान, और कुधातु के बाजों से निकलती हुई स्वर लहरी संगीत नहीं तो क्या है।

कुछ लोग साहित्य और संगीत को एक दूसरे के आश्रयीभूत न मान कर, उनमें भिन्नता सिद्ध करना चाहते हैं। कुछ लोगों की सम्मति में संगीत शृङ्गार का अनुभाव मात्र है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। संगीत का सम्बन्ध तो प्रायः सभी रसों के साथ है। नाट्य-शास्त्र के परमाचार्य्य भरत-मुनि के अनुसार, हास्य और शृङ्गार के गायनों में, पञ्चम और मध्यम स्वर प्रधान होते हैं। वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज तथा ऋषभ स्वर मुख्य माने गए हैं। इसी भाँति करुण और शान्त रस में गान्धार एवं निषाद स्वर, और बीभत्स तथा भयानक रस में धैवत स्वर प्रधानतया प्रयुक्त होते हैं। रसों के स्थायी भाव संगीत के स्वरों में पाये जाते हैं। रसानुकूल विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारी भाव भी संगीत के स्वरों में मौजूद हैं। प्राचीन संगीताचार्यों ने उपर्युक्त रसों की भाँति ही षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सातों स्वरों के भी क्रमशः अनुष्टुप्, गायत्री, त्रिष्टुप्, बृहती, पंक्ति, उष्णिक और जगती ये सात छन्द भी निश्चित कर दिये हैं। ये सब वैदिक छन्द हैं। इन्हीं के आधार पर अन्य छन्दों की भी रचना हुई है, जो सम्बन्धित रस के साथ उपर्युक्त संगीत-स्वरों में गाए जा सकते हैं।

संगीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है,* कि पवन से नाद, नाद से स्वर, और स्वर से राग पैदा होता है। जोहो, संगीत की बड़ी महिमा है। लोक-साहित्य ही क्यों, ईश्वरीय ज्ञानवेद भी संगीत पर ही आश्रित है। सामगान की महिमा किसने नहीं सुनी। यजुर्वेद में संगीत के तीन-चार स्वरों का गायन है, परन्तु सामवेद में सातों स्वर काम में लाए गए हैं। हिन्दी में सम्भवतः सर्व-प्रथम महाकवि सूरदास ने रागात्मक पदों की रचना कर, साहित्य को संगीत के साथ सम्बन्धित किया। मीराबाई के गीत भी स्वर-लहरी के साथ गाये गए। देववाणी के गानात्मक काव्यों में जयदेव-जी का गीतगोविन्द प्रसिद्ध है।

---

* पवनाज्जायते नादो नादतः स्वर सम्भवः।
स्वरात्संजायते रागः स रागो जन रञ्जनः॥

इस काव्य में संगीत और साहित्य का अद्भुत समन्वय, पाठकों को, अनायास ही देखने को मिल सकता है। इस काव्य के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है, कि जब जयदेवजी की धर्मपत्नी युवावस्था में ही, भीषण रोग के कारण, मृतप्राय हो गई थी, तब उन्होंने उसके सामने ही गीतगोविन्द की रचना प्रारम्भ कर दी। कहा जाता है कि उनके इस अद्भुत संगीत का उसके पाञ्चभौतिक शरीर पर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि वह असाध्य रोग से मुक्त होकर पुनः स्वस्थ हो गई। राग-रागिनियों के प्रभाव से बुझे हुए दीपक जल उठने, घनघटाएँ उमड़-घुमड़ कर मेह बरसने लगने, और पशु-पक्षियों के मुग्ध हो जाने की बात तो लोक में प्रसिद्ध ही है। कहते हैं, कि संगीत सुनकर गाएँ दूध अधिक देने लगती हैं। संगीत के कारण कितने ही उन्निद्र रोग के रोगी भी अच्छे होते सुने गए हैं। युद्ध-भूमि में आल्हा के कड़के और मारू बाजा सुनकर वीरों के भुजदण्ड फड़कने लगते हैं। जिस समय किसी रस के अनुरूप गान-वाद्य होता है, उस समय एक अद्भुत 'समाँ' बँध जाता है। सहृदय श्रोता तन्मय हो जाते हैं। संगीत ही क्यों, भावपूर्ण चित्रों और मूर्तियों को देखकर भी रसों की अभिव्यक्ति होती है। कविता, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि की गणना ललित-कलाओं में है। इन सब ही के द्वारा भावों का प्रदर्शन होता है। शब्द, ध्वनि, भाव-भंगी, तूलिका, रेखा आदि भावों की प्रदर्शिका हैं, और ये भाव ही अन्त में रसों के उत्पादक सिद्ध होते हैं। अभिप्राय यह कि साहित्य, संगीत, चित्र आदि सब ही के साथ रसों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दुर्भाग्यवश संगीत-शास्त्र उपेक्षित अवस्था में पड़ा था। परन्तु कुछ संगीत-विशारदों के उद्योग द्वारा, अब उसका उद्धार-कार्य प्रारम्भ हो गया है, और स्थान-स्थान पर संगीत-विद्यालय खुलने लगे हैं। गानात्मक साहित्य की भी अच्छी उन्नति हो रही है। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि सुमधुर और निर्दोष संगीत के साथ, सरस और शुद्ध कविता मिलकर, सहृदय-समाज को लोकोत्तरानन्द प्रदान करती रहे।

श्रृंगार की रसराजता

साहित्य में शृङ्गार रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वह जीवन मे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। शृङ्गार प्रेम का प्रेरक है. विना प्रेम के संसार का निर्वाह हो ही नहीं सकता। मनुष्य ही नहीं, परमात्मा भी शृङ्गार-प्रिय है। उसने प्रकृति-परी को जो सौन्दर्य प्रदान किया है, उससे उसकी शृङ्गार-प्रियता सिद्ध होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। जो शृङ्गार सृष्टिकर्ता परमात्मा तक को पसन्द हो, उसका खण्डन करना साधारण काम नहीं है। स्वभाव से ही मनुष्य सौंदर्य का उपासक या शृङ्गार का प्रेमी होता है। वसन्त ऋतु में वनस्पति-जगत् के शृङ्गार या सौंदर्य को निहार कर हृदय हर्ष से भर जाता है। वृक्ष-लताओं को नाना प्रकार के पुष्पों से सुसज्जित देखकर, प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। तरु-वल्लरी ही नहीं; मनुष्य और पशु-पक्षी आदि प्राणियों के शरीर भी समय पाकर शृङ्गार के आगार बन जाते हैं। मनुष्यों में भी स्त्रियाँ तो शृङ्गार और सौन्दर्य का केन्द्र ही होती हैं। यौवन वसन्त आने पर उनमें एक प्रकार का अद्भुत आकर्षण आ जाता है। उस समय उनका सौन्दर्य अथवा प्राकृतिक शृङ्गार कविता का विषय बनकर कवि-कल्पना का प्रेरक बन जाता है स्त्रियों के स्वाभाविक सौन्दर्य को वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर देने पर, शृङ्गार की मात्रा और भी बढ़ जाती है। पुरुष और स्त्री में स्त्री की सुन्दरता तथा कोमलता अधिक आकर्षक मानी गई है। इसीलिए कवियों ने उसकी प्रशंसा में काव्य के काव्य रच डाले हैं! कच, कुच, कपोल, आँख, नाक, कान, मुँह, ओठ, चिबुक, भुजा, जंघा, नितम्ब इत्यादि अंगों का वर्णन करने में कमाल कर दिया है; हिन्दी ही क्यों, कदाचित् ही किसी भाषा का काव्य-साहित्य शृङ्गार रस से शून्य रहा हो। साधारण जनता के गीतों में भी, वह यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। दर्शक के हृदय पर सौन्दर्य

का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह उस पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। जैसा जिसकी समझ में आया, सब ही ने गद्य, पद्य, चम्पू आदि में सौन्दर्य का वर्णन किया है। परन्तु कवि-हृदय की कल्पना कुछ और ही होती है। वह सौन्दर्य में भी एक अलौकिक सौन्दर्य उत्पन्न कर देती है।

प्रायः देखा जाता है कि प्राचीन समय में कविता के दो ही विषय थे—भक्ति और शृङ्गार। इनमें भी शृङ्गार सम्बन्धी काव्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता था, अतएव कवि-कल्पना इसी ओर झुकी रहती थी। परन्तु पीछे ज्यों-ज्यों विज्ञान का प्रकाश फैलता गया, और दैव-दुर्विपाक से लोगों को उदर-पूर्ति की चिन्ता सताने लगी, त्यों-त्यों शृङ्गार की चर्चा में कमी हुई। कवियों ने अपनी कविता का प्रवाह बदला, और शृङ्गार का स्थान अन्य विषयों ने लिया। आजकल शृङ्गार की कविता आवश्यक नहीं समझी जाती क्योंकि उसके अधिक प्रचार से लाभ की अपेक्षा हानि ही की विशेष सम्भावना है।

शृङ्गार रस के स्वरूप के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि का मत है कि 'संसार में जो कुछ पवित्र' उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वही शृङ्गार रस है।' साहित्य-दर्पणकार का कहना है कि काम के उद्भेद (अंकुरित) होने को शृङ्ग कहते है। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृङ्गार कहलाता है। इस लक्षण में भी 'उत्तम प्रकृति' विशेष ध्यान देने योग्य है। अभिप्राय यह कि भरत मुनि की भाँति कविराज विश्वनाथ भी शृङ्गार रस को उत्तमता से पृथक नहीं मानते। दोनों का मत-साम्य स्पष्ट है, जहाँ उत्तमता है, वहाँ पवित्रता, उज्ज्वलता आदि का होना भी स्वाभाविक है। स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, पत्र-पुष्प, पुर-प्रासाद, वन-उपवन, नदी-नद, झरना-झील, स्रोत-सरोवर, गिरि-शिखर, आकाश-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र सभी शृङ्गार रस के आधार हैं, सब में शृङ्गार की अद्भुत छटा दिखाई देती है। आँख से सुन्दर वस्तुओं को देखकर, कान से श्रवण-सुखद मधुर ध्वनि सुनकर, नासिका से मस्त

कर देने वाली सुगन्ध सूँघकर, हृदय में आनन्द की धारा उमड़ने लगती है। चमत्कृत काव्य के भव्य भाव को हृदयङ्गम कर, सहृदय श्रोता का मन आनन्दित हो जाता है; सुन्दर प्रासाद की रुचिर रचना को अवलोकन कर प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। वन-उपवनों की प्राकृतिक छटा निहार कर, मन-मयूर नाचने लगता है। वस्तुतः शृङ्गार रस की बड़ी महिमा है।

प्रेम और विलासिता में बड़ा अन्तर है। प्रेम ईश्वर है, उसका स्थान हृदय की विशुद्धता में है, परन्तु विलासिता इन्द्रिय-लोलुपता जन्य काम-वासना की तृप्ति मात्र है। प्रेम से शृङ्गार की उत्पत्ति मानी गई है, और विलासिता कामुकता-शान्ति का कारण समझी जाती है। शृङ्गार की विशुद्ध प्रेम-वृत्ति, परमात्मा की ओर प्रवृत्त होकर, भक्तिभाव से राधा-कृष्ण का गुण गान करती है। इसके अतिरिक्त और भी जहाँ-जहाँ उज्ज्वलता, शुद्धता, उत्तमता और दर्शनीयता है, वहाँ-वहाँ उसका प्रभाव दिखाई देता है। इसके विरुद्ध, दूसरी ओर विलासिता-पूर्ण भावना है, जो इन्द्रिय-लोलुपता की ओर अग्रसर होकर, नर-नारियों के अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता का वर्णन करती रहती है, शृङ्गार की इस दूसरी मनोवृत्ति के दुरुपयोग ने ही काव्य-साहित्य की ओर उँगली उठवाने में सहायता दी है। अस्तु

शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है। साधारणतः रति का अर्थ है—प्रीति, प्रेम, अनुराग आदि। साहित्य-दर्पणकार की व्याख्या के अनुसार, 'प्रिय वस्तु में मन के प्रेम-पूर्वक उन्मुख होने का नाम रति है।' 'सुधा-सागर' ने स्त्री-पुरुष के काम-वासना-मय हृदय की परस्पर रमणेच्छा को रति कहा है। रति ही कामदेव की स्त्री है। अंकुरित काम ही अपनी प्रिया रति से मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करता है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में, मनुष्यों और पशु-पक्षियों की रति में बड़ा अन्तर है। वे कहते हैं कि मनुष्य जिस साहित्यिक रति की अनुभूति करते हैं, पशु-पक्षियों को उसका अनुभव नहीं होता। पशु-पक्षियों में तो

केवल सहज प्रजनन-शक्ति (Propagation of species) होती है, जिससे प्रेरित होकर वे सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी कार्य करते रहते हैं। साहित्यिक रति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। निस्सन्देह विद्वानों की यह सम्मति भी विचारणीय है। अस्तु

यदि शृङ्गार रस न हो, तो संसार संसार न रहे, और सर्वत्र घोर शुष्कता का आधिपत्य स्थापित हो जाय। स्त्री-पुरुष या नर-मादा के हृदय में, प्रेम पैदा कर रमण की इच्छा उत्पन्न कराने वाला शृङ्गार ही है। इसीलिए इसको इतना ऊँचा पद दिया गया है। शृङ्गार को रसराज उपाधि से अलंकृत करने का एक यह भी कारण है, कि उसमें उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ कर, प्रायः शेष सब सञ्चारी भाव, विभावों और अनुभावों सहित आ जाते हैं। कहीं-कहीं तो शृङ्गार में उपर्युक्त चार सञ्चारी भी सम्मिलित कर लिए गए हैं, अर्थात् कितने ही कवियों ने, किसी न किसी रूप में इनका भी वर्णन किया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया, शृङ्गार विश्व में व्याप्त है। प्राणियों के जीवन से तो इसका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। लता-पुष्पों पर भी इसका प्रभाव होता है। शृङ्गार रस की इतनी व्यापकता के कारण ही रसों में उसका सर्वोच्च स्थान माना गया है। यौवन की मादकता या जवानी की मदहोशी शृङ्गार रस की सूचिका है। कुछ आचार्यों ने शृङ्गार रस की अपेक्षा हास्य, अद्भुत, करुण आदि को मुख्य माना है, परन्तु यह मत युक्ति-युक्त और समीचीन न होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक है, शोक की उत्पत्ति ममता के कारण होती है, ममता ही शृङ्गार रस की विभूति है, अतएव शृङ्गार की ही मुख्यता होनी चाहिये। रहा हास्य रस सो यह तो शृङ्गाररस से निकला ही है। फिर उसका आधार मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणी नहीं हैं, अतएव इसकी अप्रधानता भी स्पष्ट है। अद्भुत रस भी मानव-क्षेत्र के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता, ऐसी दशा में यह भी प्रधानता का अधिकारी नहीं। परन्तु शृङ्गार की व्यापकता असीम और

अनन्त है। जो रस, सृष्टि में इस प्रकार ओत-प्रोत है, उसे प्रधानता न देना कैसे उचित कहा जा सकता है।

शृङ्गार रस की प्रधानता के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है, कि सारे रस शृङ्गार रस से उत्पन्न होकर, शृङ्गार में ही विलीन हो जाते हैं। बात ठीक-सी भी मालूम देती है, क्योंकि इस धारणा की पुष्टि में भी उदाहरण पाए जाते हैं। यथा—रामचन्द्रजी का विवाह-प्रसंग ही ले लीजिए। पुष्प-वाटिका में सीता और राम के हृदयों में परस्पर दर्शन के कारण प्रेम (शृङ्गार) अंकुरित होता है। दोनों के विवाह की चर्चा सुन, सारे समाज में हर्ष (हास्य) छा जाता है, परन्तु स्वयंवर के समय धनुष-भंग होता न देख, समस्त सामाजिक शोक (करुण) से द्रवीभूत होने लगते हैं। उस समय राजा जनक की निराशापूर्ण एवं अनुचित बातें सुनकर, लक्ष्मण को क्रोध (रौद्र) हो आता है। श्रीरामचन्द्र उन्हें शान्त (शान्त) करते हैं। थोड़ी देर बाद ही धनुष-भंग होने के कारण एक ओर उपस्थित राजे महाराजे भयभीत (भयानक) होते हैं, और दूसरी ओर रामचन्द्रजी की ऐसी अद्भुत (अद्भुत) क्षमता देख सबको आश्चर्य होता है। कुछ अभिमानी राजाओं के हृदयों में अपनी असमर्थता के कारण ग्लानि (बीभत्स) की उत्पत्ति होती है। इतने ही में परशुराम आ जाते हैं, और उनमें तथा लक्ष्मणजी में करारी झड़प होती है। फिर राम और सीता का विवाह हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण से ज्ञात होगा कि अकेले शृङ्गार रस के कारण करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत आदि अनेक रस उत्पन्न होकर, अन्त में वे शृङ्गार में ही विलीन होगए।

शृङ्गार रस का स्थायी भाव प्रेम मनुष्यों के हृदयों में बचपन से ही अंकुरित होता, और अन्त तक रहता है। परन्तु अन्य स्थायी भावों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। बालक में पहले पहल अपने माता-पिता और भाई-बहनों के लिए प्रेम उमड़ता है। बड़ा होने पर वही प्रेम पति-पत्नी-रूप दो प्राणियों के हृदय-बन्धन में बदल जाता है। सन्तान होने पर वात्सल्य में भी प्रेम के ही दर्शन होते हैं। वृद्धावस्था में ममता

भी प्रेम की ही प्रतिनिधि है। मरते समय करुणापूर्ण हृदय के उद्गार या करुण चेष्टाएँ भी प्रेम की ही प्रतीक हैं। जो प्रेम जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त हमारा साथी रहता हो, उसकी प्रधानता स्वीकार न करना कितनी भूल है।

शृङ्गार रस की रसराजता के विषय में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता महाराज भोज हमारे पक्ष के प्रबल पोषक हैं। वे रस-विचार प्रकरण में लिखते हैं—

............वयंतु

'शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।'

अर्थात् यद्यपि अन्य आचार्यों ने अनेकों रस स्वीकार किये हैं, पर हमारी समझ में एक मात्र शृङ्गार ही रस है, और तो सब नाम के ही रस हैं। इस प्रकार उन्होंने शृङ्गार की प्रधानता स्पष्ट उद्घोषित की है। इसी बात को उद्धृत करते हुए राजा रुय्यक ने लिखा है—

'राजातु शृङ्गारमेवैकं रसमाह' इत्यादि।

अभिप्राय यह कि रुय्यक के मत में शृङ्गार रस की ही सब रसों में श्रेष्ठता मानी गई है।

जिस प्रकार गन्दे पानी से गंगाजल दूषित हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-विलास-जन्य लोलुपता, विशुद्ध प्रेम-पीयूष को अपवित्र कर देती है। दुर्भाग्यवश कभी कभी यह दूषित प्रेम भी काव्य का रूप धारण कर, सहृदय-समाज के सामने आता रहता है, जिसे वह निन्दनीय समझता है। संयोग-जन्य प्रेम की अपेक्षा वियोग-जनित प्रेम में अधिक विशुद्धता मानी गई है। भक्त कवियों ने अपने काव्यों में पवित्र प्रेम सम्बन्धी शृङ्गार का ही वर्णन किया है। जिस समय पवित्र प्रेम-पूरित काव्य-ध्वनि हमारे कर्ण-कुहरों में होकर मन-मानस तक पहुँचती है, उस समय उसमें अलौकिक आनन्द की उत्ताल तरंगें उठने लगती हैं।

संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य पर शृङ्गार रस का पर्याप्त प्रभाव है। नाटक, इतिहास, पुराणादि सब में ही शृङ्गार की प्रधानता पाई जाती है। जब रस-साहित्य का विषय मानव-हृदय, बाह्य जगत्, प्रकृति आदि है, तब वह शृङ्गार रस से शून्य हो ही कैसे सकता है। संस्कृत और हिन्दी ही क्यों, जिन भाषाओं के साहित्य में भी पवित्रता, उज्ज्वलता, दर्शनीयता आदि गुण मिलते हैं, उनमें शृङ्गार रस का स्पष्ट विकास दिखाई देता है। साहित्य पर युग की छाप रहती है। जैसा युग, वैसा साहित्य। मुसलमान-शासकों की विलासिता के कारण, हिन्दी-साहित्य के लिए भी ऐसा समय आया, जब कवियों ने नायक-नायिकाओं के अङ्गों का वर्णन करना ही अपना कर्त्तव्य समझ लिया। अभिप्राय यह कि जिस युग में, जिस रस की आवश्यकता होती है, उसमें वही परिपक्व होकर प्रादुर्भूत होता रहता है। किसी युग में शृङ्गार रस की प्रधानता रही, किसी में शृङ्गार-समन्विता भक्ति को मुख्यता दी गई, और किसी में वीर, करुण आदि को। वर्त्तमान युग शृङ्गार रस की प्रधानता का युग नहीं है, इसमें वीर, करुणादि रसों को ही मुख्यता प्राप्त है।

निस्संदेह व्रजभाषा में शृङ्गार रस की कविताएँ इतनी अधिक हैं, कि अब उसमें इस रस पर लिखने की आवश्यकता नहीं रही। व्रजभाषा में शृङ्गार सम्बन्धिनी कविताएँ क्यों अधिक हैं, इसका कारण सुनिए—इतिहास में एक समय ऐसा आया, कि भगवद्भक्तों की शृङ्गारमयी उपासना का प्रतिबिम्ब व्रजभाषा पर भी पड़ा, कवि लोग श्रीकृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं का वर्णन बड़ी तन्मयता से करने लगे। इस भक्ति-भावना पर श्रीमद्भागवत का बड़ा प्रभाव था। उस समय की कविताओं में अधिकतर कृष्ण-लीला सम्बन्धी विशुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। निश्चय ही उस समय शृंगार-रस की सरिता ने भक्ति-भागीरथी से मिलकर, संगम का एक अपूर्व दृश्य उपस्थित कर दिया था। विद्वानों का विचार है कि यदि ईश्वर-भक्ति-जनित विरक्तिमय जीवन की शुष्कता दूर करने के लिए, उसमें राधा-कृष्ण की शृङ्गारमयी आराधना का मेल न मिलाया जाता, तो जाति का

बड़ा अहित होता। असंख्य नर-नारी विरक्ति के कारण घर-बार छोड़ अकर्मण्य बन जाते। वे लोक-साधन से दूर रह कर विराग के राग गाते दिखाई देते। शृंगारमयी भक्ति ने उस शुष्कवाद को रोका, और विरक्ति-युक्त उपासना का मुँह अनुराग-जनित भक्ति की ओर किया।

जैसा कि ऊपर कहा गया, आधुनिक युग में हिन्दी कविता का प्रवाह बदला है, और उसमें अनेक सामयिक एवं उपयोगी विषयों का प्रवेश होने लगा है। परन्तु 'रजनी' 'सजनी' के गीत उसमें अब भी गाए जाते हैं। 'कंकण' 'किंकिणी' तथा 'नूपुरों' की मधुर ध्वनि आज भी सुनाई पड़ती है। आश्चर्य तो यह है कि आजकल के जो कवि व्रजभाषा के शृंगार से चिढ़कर उसे हेच और हेय समझते हैं, वे भी अपनी कविता को उस से अछूता नहीं रख पाते ! नाटकों और सिनेमाओं में जाकर अभिनेत्रियों के रूप-लावण्य और हाव-भाव को देखने में तो अशिष्टता नहीं समझी जाती, परन्तु उनका काव्यमय वर्णन सारे अनर्थों का कारण बन जाता है। कमरों में सुन्दरियों के चित्र टाँगने से तो सदाचार-सदन पर प्रहार नहीं होता, परन्तु महाकवि पद्माकर का शृंगार सम्बन्धी कोई काव्य-मय छन्द या विहारी का चमत्कृत दोहा, नैतिकता के गढ़ पर ग़ज़ब का गोला गिरा देता है ! अरे साहब ! सौन्दर्य किसे अच्छा नहीं लगता, खूबसूरत चीज़ें किसे पसन्द नहीं आतीं। स्वयं विश्वकर्मा भगवान् ने प्रेम और सौन्दर्य की बड़े रच-पच कर रचना की है। अगर उनमें कोई दोष होता तो वे पैदा ही क्यों किये जाते। जब सौन्दर्य और प्रेम इतने व्यापक और मोहक हैं, तब उनका कवित्वमय वर्णन विघातक कैसे हो सकता है। आवश्यकता होने न होने का दूसरा प्रश्न है। ज़रूरत न होने पर तो मोहनभोग और कलाकन्द भी उपेक्षा की वस्तु बन जाते हैं। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि मोहनभोग या कलाकन्द बुरी चीज़ हैं। वे बुरी उस समय होंगी, जब उन पर मिट्टी आ पड़ेगी, अथवा उनसे अन्य किसी दूषित पदार्थ का मेल हो जायगा। यही बात शृंगार के सम्बन्ध में भी है। उत्कृष्ट शृंगार का कोई विरोध नहीं कर सकता।

गन्दा या अश्लील शृंगार तो शृगार ही नहीं, वह तो शृंगाराभास है, क्योंकि उसमें पवित्रता, श्रेष्ठता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता का अभाव है। भला ठिकाना है कि जिस विशुद्ध प्रेम और सौन्दर्य की निन्दा कभी हो ही नहीं सकती, उसका सरस वर्णन आक्षेप योग्य समझा जाता है। हम स्वयं अशिष्टता और अश्लीलता के समर्थक नहीं हैं। ये दोष जिस रचना में भी होंगे, वही निन्दनीय कही जायगी। अस्तु

शृङ्गार दो तरह का माना गया है, संयोगात्मक और वियोगात्मक। वियोगावस्था में प्रिय वस्तु के न मिलने से बड़ा दुःख होता है, परन्तु उसके गुणों का ध्यान या स्मरण एक अद्भुत आनन्द प्रदान करता रहता है। शृङ्गार रस नायिकाओं के ही अंग-प्रत्यंगों अथवा हाव-भावों का वर्णन करने में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उसमें कबीर, सूर, तुलसी आदि महा कवियों ने विरक्ति से भरे हुए, ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी गम्भीर भाव भी प्रदर्शित किये हैं। कहीं मृत्यु को दुलहिन माना है, और कहीं प्रियतम। कहीं-कहीं शव की अरथी (काठी) को दुलहिन की डोली से उपमा दी गई है, कफ़न को गौने की साड़ी बताया गया है। शृङ्गार-पूर्ण भाषा में इस प्रकार के वैराग्य सम्बन्धी वर्णन बड़े ही प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। 'आई गवनवा की सारी, उमरि अबही मोरी बारी" "साँची मान सहेली परसों पीतम लेवे आवेगो", "सजले साज सजीले सजनी! मान विसार मना ले बर को", इत्यादि गीत शृङ्गार रस की भाषा में लिखे गए हैं, परन्तु उनका वास्तविक भाव समझने पर, हृदय में निर्वेद जाग्रत होने लगता है। मृत्यु ही नहीं, ईश्वर का वर्णन भी शृङ्गारी भाषा में किया गया है। यथा—"कौन उपाय करूँ पिय प्यारो साथ रहे पर हाथ न आवै", "आज अली बिछुरो पिय पायो मिट गए सकल कलेस री", इत्यादि सैकड़ों ऐसे पद्य मिलेंगे, जो शृङ्गार रस में डूबे हुए हैं, परन्तु उनका प्रकृतार्थ हमारे हृदय को एक विरागमयी गम्भीर भावना की ओर आकृष्ट करता रहता है। जो लोग शृङ्गार रस को स्त्री-पुरुषों की काम-कला मात्र का विषय समझकर उसे निरर्थक बताया करते हैं, उन्हें शृङ्गारी भाषा के इन गम्भीर भाव-

भरे पद्यों को पढ़कर सोचना चाहिये. कि शृङ्गार के संसर्ग से इन विरक्त भावनाओं का प्रभाव कितना अधिक बढ़ जाता है।

इतना ही नहीं, कुछ लोग नायिकाओं के नाम से बुरी तरह चिढ़ते हैं। मानो नायिका शब्द इतना बुरा है कि उसका उल्लेख मात्र भी पाप का भागी बना देगा। जो वीतराग जन स्त्रियों के सहज सम्पर्क से सर्वथा अलग रह कर, अलौकिक रूप से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उनकी तो बात ही निराली है। न उन्हें नायिकाओं से मतलब; न उनके भेदों और वर्णनों से सरोकार। परन्तु जो लोग हृदय में तो नायिकाओं के लिए असीम अनुराग रखते हैं, परन्तु उनके सरस और शिष्ट वर्णन से बिदक जाते हैं, वे दम्भ के अवतार होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते। भरतमुनि आज नहीं हुए। उनके नाट्यशास्त्र को बने सहस्रों वर्ष बीत गए, परन्तु नायिकाओं का वर्णन उस प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी किया गया है। साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में भी इस विषय का पर्याप्त विवेचन है। संस्कृत काव्यों में नायिका-वर्णन से सर्ग के सर्ग भरे पड़े हैं। हिन्दी वालों ने भी इस रस की सुरम्य सरिता बहाने में कमी नहीं की। मतलब यह कि शृङ्गार रस और नायिकाओं का वर्णन कोई नयी चीज़ नहीं है, और न वह घृणास्पद ही कहा जा सकता है। अतियोग मिथ्या योग या दुरुपयोग तो किसी चीज़ का भी ठीक नहीं होता।

नायिकाभेद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि प्रकृति, अवस्था और स्थिति के अनुसार स्त्रियों का वर्णन ही नायिका-भेद कहाता है। प्रेम की किस अवस्था में, किन स्त्रियों की कैसी दशा हो जाती है, विरह में वे क्या सोचती हैं, मिलन उनकी मानसिक अवस्था पर क्या प्रभाव डालता है, नायक के आने की प्रसन्नता या प्रतीक्षा में उनके मन पर कैसा असर पड़ता है, प्रेम की प्रतिकूलता में वे किस तरह व्याकुल हो जाती हैं, काम-वासना के जाग्रत होने पर उसके साथ लज्जा और संकोच का किस प्रकार द्वन्द्व होता है। ऐसी अवस्था में धीरता और सहन-शीलता किस प्रकार सहायक होती हैं, सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव उठने पर मन की क्या

दशा हो जाती है, प्रेम-प्राप्ति के लिए मानसिक भावों का किस तरह विकास होता रहता है, इत्यादि बातों का अति सूक्ष्म वर्णन नायिका-भेद में विशेष रूप से किया जाता है। स्त्रियों के इस सूक्ष्म मानसिक विश्लेषण को आज कोई कितना ही निरुपयोगी क्यों न समझे, परन्तु कलाकारों की विशद विवेचना की प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त नायिका-भेद में आपको आदर्श पत्नी और आदर्श पति का वर्णन मिलेगा। पतिप्राणा स्त्री के हृदय में अपने प्राणनाथ के लिए कैसे-कैसे भव्य भावों का संचार होता रहता है, और भार्यानुरक्त पति अपनी प्राणाधिका पत्नी के प्रति कैसी कलित कल्पनाओं से ओत प्रोत दिखाई देता है? गृहस्थ को स्वर्गधाम बनाने वाली स्वकीया कौन है, और वह नरक-निदर्शन किन क्रूर स्वभावाओं के कारण बन जाता है, इत्यादि बातों से परिचित होने के लिए नायिका-भेद से बहुत सहायता मिलती है। नायिका-भेद की उत्कृष्ट कविताओं को निष्पक्ष होकर पढ़िए, तो आपको उनमें प्रेममय त्याग और स्नेह-युक्त आदर्श के दर्शन होंगे। आप अच्छी तरह जान सकेंगे कि स्त्रियाँ प्रीति के प्रबल प्रसंग में पड़कर, अपने शरीर तक की परवा नहीं करतीं। अपने प्राण प्यारे के वियोग में कञ्चन-सी काया को घुला देना उनके लिए एक साधारण बात है। अस्तु

स्वकीया, परकीया और गणिका तीनों को नायिका नाम से पुकारा गया है। स्वकीया का आदर्श सद्गृहस्थ का उच्च और अनुकरणीय आदर्श है। परकीया बड़ी कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं के पश्चात् अभीष्ट प्रेम प्राप्त करने में समर्थ होती है। उसे इसके लिए अनेक छल-छिद्र भी करने पड़ते हैं। तरह-तरह की उक्तियाँ और युक्तियाँ काम में लानी पड़ती हैं। जिस प्रकार संसार में विष और विषधर का भी कुछ न कुछ उपयोग है, उसी प्रकार गणिकाओं की भी उपयोगिता मानी जा सकती है। वेश्याएँ नवयुवकों को बहका-फुसलाकर किस प्रकार उन्हें अपने माया-जाल में फाँसतीं और धन-हरण करने के लिये किस तरह धूर्त्तता रचा करती हैं, इत्यादि बातें गणिकाओं के प्रपंच-वर्णन से ही जानी जा सकती हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत

नायिका भेद के वर्णन का मुख्य उद्देश्य स्वकीया की आदर्श-रक्षा है। स्वकीया का प्रेम-धन लूटने के लिए, जिन पोच प्रपञ्चों का प्रयोग किया जा सकता है, उन्हीं का रहस्योद्घाटन परकीया और गणिका के वर्णन में किया जाता है। अँगरेज़ी, अरबी, फ़ारसी आदि किसी भी भाषा के काव्य-साहित्य में देखिए, जहाँ प्रेम का वर्णन है, वहाँ स्त्रियों की मनोगत भावनाएँ भी दरसाई गई हैं। भले ही इन कविताओं में स्वकीया, परकीया और धीरा-अधीरादिका नामोल्लेख न हो, परन्तु नायिका-भेद के ज्ञाता उन वर्णनों को सुन-समझ कर बड़ी आसानी से जान सकेंगे कि वह किस नायिका की उक्ति है, और वह कौन-सी विरह-दशा है। हम तो समझते हैं, प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने नायिका-भेद के मिस, काम-कला-जन्य मनोविकारों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। इस वर्णन को यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तब भी वह ठीक ही उतरेगा। फिर कैसे मान लिया जाय कि शृंगार व्यर्थ की वस्तु है, अथवा नायिका-भेद में कोई अच्छी बात है ही नहीं।

काव्य-कला की दृष्टि से नायिका-भेद सम्बन्धिनी कविताएँ अति उत्कृष्ट समझी जा सकती हैं, क्योंकि उनमें मनोभावों की बड़ी सुन्दर और स्वाभाविक व्याख्या की गई है। रमणीयता और रसात्मकता स्पष्ट दिखाई देती है। हृद्गत भाव बड़ी खूबी से चुने हुए शब्दों में व्यक्त किये गए हैं। वास्तव में ये कविताएँ सार्थक संगीत हैं। शृंगार रस-पूर्ण कविताओं के चमत्कृत भावों को देखकर, मन-मानस में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं कला को कला की दृष्टि से देखने पर ही उसकी उत्कृष्टता और महत्ता प्रकट होती है, नायिका-भेद को नायिका-भेद की दृष्टि से देखिए, और विचारिए कि उसमें जिन भावों की अभिव्यक्ति हुई है, उनमें काव्य-कला के विचार से किसी प्रकार की त्रुटि तो नहीं है, सदोषता तो नहीं दिखाई देती। इस दृष्टि से नायिका-भेद सम्बन्धिनी कविताएँ बड़ी आकर्षक और हृदय को स्पर्श करने वाली प्रतीत होंगी। उनमें मस्तिष्क और हृदय दोनों की सूक्ष्म भावनाओं के दर्शन होंगे। प्रतिभाशाली कवियों की ललित

लेखनी से निकली हुई, मोहक मधुरिमा, पाठक पर अपना अमिट प्रभाव अंकित किये विना नहीं रहती। आवश्यकता केवल सहृदयता या संवेदन-शीलता की है।

उपर्युक्त पंक्तियों में संक्षिप्त रूप से यह दिखाने की चेष्टा की गई है, कि शृंगार रस का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके विना संसार में नीरसता और शुष्कता का आधिपत्य स्थापित हो जायगा, और सृष्टि-संचालन सम्बन्धी कार्यों में बड़ी बाधा पड़ेगी। ऐसी दशा में शृंगार रस को निरर्थक और निष्प्रयोजन कैसे माना जाय। हाँ, यदि संसार से प्रेम और सौन्दर्य ही नष्ट कर दिये जायँ, तो शृंगार-रस की भी अन्त्येष्टि क्रिया की जा सकती है।

इस बात को हम फिर बड़े ज़ोर से कहना चाहते हैं कि हिन्दी में शृङ्गार रस की बहुलता है, अतएव अब उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं। अश्लीलता पूर्ण गन्दी गढ़न्त को शृंगार-रस कहना, शृंगार शब्द का दुरुपयोग करना है। विवाहित स्त्री-पुरुषों को दाम्पत्य प्रेम के लिए, जिन अनुभवों और विचारों की आवश्यकता है, उनका थोड़ा-बहुत मसाला नायिका-भेद में मिल जाता है। अतएव किसी न किसी रूप में, शृंगार के इस विभाग की भी कुछ न कुछ उपयोगिता है; जो हो, वर्त्तमान युग शृङ्गार के गीत गाने का नहीं है। इसमें तो वे ही कविताएँ होनी चाहियें, वे ही ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएँ, जिनसे देश और जाति का उद्धार हो, जनता स्फूर्ति प्राप्त कर सके, और लोग अपने को ऊँचा उठाकर दूसरों को उन्नत बना सकने में समर्थ हों।

भक्ति रस

वैष्णव लोग भक्ति को भी रस मानते हैं। उनका कहना है कि जिस परमात्मा का नाम रस हो, उसकी भक्ति को रस में न गिनना ठीक नहीं है। भगवान् जिसके आलम्बन हैं, रोमाञ्च, अश्रु-पातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराण-श्रवण के समय भगवद्भक्त भक्ति रस के उद्रेक से जिसका अनुभव करते हैं, वही भगवद्-अनुराग स्थायी भाव है। वे कहते हैं कि परम प्रभु परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाला जो भक्ति रस इस प्रकार विभावादिकों से पुष्ट हो रहा हो, उसे रस स्वीकार न करना कदापि उचित नहीं हो सकता।

भक्ति रस का आस्वादन करके, न जाने अब तक कितने भक्त अपने जीवन को अमर बना गए। जिन व्यक्तियों ने भक्ति रस को भले प्रकार चख लिया, उन्हें फिर संसार में किसी प्रकार का आकर्षण न रहा। मीराबाई की महिमा को कौन नहीं जानता ? भक्त प्रह्लाद की गुण-गरिमा किससे छिपी हुई है ! एक दो नहीं; सैंकड़ों भगवद्भक्तों से संसार का इतिहास भरा पड़ा है। ईश्वर-भक्ति में तल्लीन होकर अलौकिक आनन्द प्राप्त करना क्या कोई साधारण बात है। परन्तु आश्चर्य है कि इस रस की बहुत कम पृथक् सत्ता स्वीकार की गयी है। अगर भक्ति में अद्भुत तल्लीनता न होती तो आज भक्तों के नाम भी सुनाई न पड़ते। शृंगार और भक्ति रस में बहुत भेद है। जिस प्रकार वात्सल्य में अलौकिक आनन्द होता है, उसी प्रकार भक्ति में भी। जो भक्ति रस परमात्मा तक पहुँचाने वाला हो, उसकी इस प्रकार उपेक्षा कैसे की जा सकती है। वेद और शास्त्र, काव्य और इतिहास, सभी भगवद्भक्ति से भरे पड़े हैं। संसार के सभी महान् पुरुष भगवान् के अनन्य भक्त रहकर अपना उदात्त आदर्श छोड़ गये हैं। भक्ति के कई भेद किये जा सकते हैं—गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, राजभक्ति, स्वदेशभक्ति इत्यादि।

भक्ति का अतियोग धर्मान्धता अथवा अन्ध श्रद्धा की ओर ले जाता है, और इसका हीन योग अश्रद्धा, नास्तिकता और शुष्कता का उत्पादक है। सन्ध्या, स्तुति, प्रार्थना, उपासना प्राणायाम, योगाभ्यास, नम्रता, कृतज्ञता, दया, परोपकार, क्षमा, आत्मनिष्ठा, सत्यप्रेम आस्तिकता आदि की जननी भक्ति ही है। संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं, जहाँ भक्ति की मान्यता न रही हो। जहाँ जाइए, वहाँ किसी न किसी रूप में लोग परमात्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते दिखाई देंगे। मस्तिष्क-शास्त्रियों का कहना है कि हर्ष, विषाद, करुणा, शौर्य, घृणा, क्रोध, प्रेम आदि की तरह भक्ति-भाव के लिए भी मस्तिष्क में पृथक् स्थान है। इसलिए भक्ति-भावना का प्रकाशन किसी अन्य वृत्ति द्वारा नहीं हो सकता। भक्ति-वृत्ति का विकास करने के लिए, अभ्यास और शिक्षा की आवश्यकता है। प्रसिद्ध मस्तिष्कशास्त्री डाक्टर, गॉल और डा० जार्ज कौम्ब का यह भी कहना है कि जो लोग परमात्मा के सच्चे भक्त होते हैं, उनके मस्तिष्क में भक्ति का स्थान अपेक्षाकृत बड़ा होता है, ऐसे लोगों की रुचि ईश्वर-भक्ति परोपकार, दया आदि धर्मभावों में ही अधिक होती है। तत्त्ववेत्ता और कवियों के मस्तिष्क में भी यह स्थान कुछ बड़ा होता है। इसी मत के समर्थक "ह्यूमैन साइंस एण्ड फ़्रेनोलोजी" नामक ग्रन्थ के रचयिता डाक्टर ओ० एस० फ़ाउलर हैं। अभिप्राय यह कि जब प्रसिद्ध मस्तिष्क-शास्त्रियों की अन्वेषणा के आधार पर, मस्तिष्क में भक्ति का स्थान पृथक् है, तो उसका प्रभाव भी पृथक् ही मानना पड़ेगा।

—:o:—

विभाव

विभाव

जिसके आश्रय से रस प्रकट हो, उसे विभाव कहते हैं। नाट्य-शास्त्रकार ने विभाव का लक्षण 'विभाव्यन्ते अनेन वागङ्ग सत्वाभिनया इति विभावः' किया है। अर्थात् जिसके द्वारा वाचिकाभिनय, आंगिकाभिनय और सात्विकाभिनय प्रकट किये जायँ, उसे विभाव कहते हैं। रसतरंगिणीकार के मत से, जो विशेषतया रस को उत्पन्न करे उसकी विभाव संज्ञा है।

विभाव दो प्रकार का होता है, अर्थात् १—आलम्बन और २—उद्दीपन

आलम्बन विभाव

जिसका आलम्बन अर्थात् आश्रय लेकर रस उत्पन्न हो, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं, जैसे नायक-नायिका। नीचे नायक आलम्बन के उदाहरण दिये जाते हैं—

आई भली मैं चली सखियान में पाई गोबिन्द के रूप की झाँकी।
त्यों 'पदमाकर' हारि दियो गृह-काज कहा अरु लाज कहाँ की॥
है नखते सिखलौं मृदु माधुरी बाँकीय भौहैं बिलोकनि बाँकी।
आजु की या छबि देखि भटू अब देखिबे कौं न रह्यो कछु बाकी॥

× × ×

सोने-सो रंग भयो तो कहा अरु जो विधिना कटि छीन सँवारी।
दार्यौं-से दन्त भए तो कहा जु कहा भयो लाँबी लटैं सटकारी॥
रूप की रासि भई तो कहा नहीं प्रेम की रासि हिये अवधारी।
नैन बड़े जो भए तो कहा, पर आखिर गोरस बेचनहारी॥

नायक

साहित्यदर्पण-कार ने नायक का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

त्यागी, कृती, कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्त लोकस्तेजो वैदग्ध्य शीलवान्नेता ॥

अर्थात् दाता (त्यागी), कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान, नायिकाओं के अनुराग का पात्र, रूप-यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर एवं सुशील पुरुष को नायक कहते हैं। हिन्दी साहित्यकारों ने नायक की व्याख्या इस भाँति की है—

सुन्दर गुन-मन्दिर युवा युवति बिलोकें जाहि।
कविता, राग रसज्ञ जो नायक कहिये ताहि ॥

उदाहरण देखिए—

बारौं कम्बु कण्ठ पै, कपोलनि कमल-दल,
बिम्बाफल बिद्रुम अधर अरुनाई पै।
भौंहनि कमान, बान तिरछी निरीछनि पै,
बारौं पंचबान मान तन तरुनाई पै।
बारिहौं त्रिबेनी चिन्ह चरन-मयूष लखि,
चिन्तामनि स्रेनी नख नूतन लुनाई पै।
'ठाकुर' के ईस तेरे सीस बकसीस करि,
बारौं मेरुमन्दर अमन्द गरुवाई पै।

और भी देखिए—

मंजु मोर मुकुट निपट घुँघरारी लटैं,
झूलि-झूलि कुण्डल कपोलन पै झलकैं।
बारिज बदन रस रूप को सदन लच्छि,
दमकैं रदन भरि-भरि छबि छलकैं।

कानन छुवत कोये नैन मैन कोटि मोहे,

सोभा सर लखि-लखि मानो मीन ललकैं।

देखिबे को स्याम 'सोम' देतो दृग रोम-रोम,

सो न कीनों बिधि औ अबधि कीनीं पलकैं।

इसमें नायक का सौन्दर्य वर्णित है। कवि सोम कहते हैं कि ऐसी रूप-माधुरी के दर्शनों से तो तभी तृप्ति होती, जब विधि रोम-रोम में आँखें बना देता, परन्तु उसने तो इन दो आँखों पर भी पलकों के परदे लगा दिये हैं!

नायक के वर्णन में नीचे लिखा कवित्त भी पढ़ने लायक़ है—

चन्द्र नख चन्द्रिका चकोर पद कंजन पै,

मेरो मन मंजुल मिलिन्द ललकन पै।

बंसी त्यों बिसाल लाल अधर अमोलन पै,

वारौं कुरबिन्द दन्त कुन्द कलिकन पै।

छबि पै छपाकर प्रभाकर प्रताप ही पै,

बारौं कोटि काम कमनीय झलकन पै।

पन्नगी कुमार औ कदम्बिनी देवार वारौं,

बाँकुरे बिहारी की अमोल अलकन पै।

नायक के वर्णन में पद्माकरजी की भी कल्पना देख लीजिए—

जगत बसीकरन हीहरन गोपिन के,

तरुन तिलोक में न ऐसी सुन्दराई है।

कहै 'पदमाकर' कलानि को कदम्ब अव-

लम्बन सिंगार को सुजान सुखदाई है।

रसिक-सिरोमनि सुराग-रतनाकर लै,

सीलगुनआगर उजागर बड़ाई है।

ठौर ठकुराई को जु ठाकुर ठसकदार,

नन्द को कन्हाई सो सुनन्द को कन्हाई है।

नायक के भेद

धर्मानुसार नायक के तीन भेद हैं, अर्थात् १-पति, २-उपपति और ३-वैशिक। अवस्थानुसार मानी और प्रोषित ये दो भेद और भी माने गए हैं।

पति

विधिवत् विवाह करके, शास्त्र तथा कुल-मर्यादा का पालन करने वाले पुरुष की पति संज्ञा है। उदाहरण देखिए—

हेर फेर करि के तिरीछे मंजु मोरै नैन,
मीन मृग कंजन की माधुरी धरत है।
'सेवक' भनत पूर्यौ पूरन प्रस्वेद अंग,
रोमनि कदम्ब की कला को निदरत है।
बचन अलेखे तन कम्पयुत देखे और,
गौर कर पेखे पग और ही धरत है।
चाँवर डुलाव रति पाँवर पिरीते जहाँ,
साँवर सलौनी संग भाँवर भरत है।

अर्थ स्पष्ट ही है। एक उदाहरण और लीजिए—

बाँधे मंजु मौर सीस कंचन घटित सिर,
पेच कलँगी की छवि पुंजन ठन्यौ है री।
जामा जेबदार औ कुसुम्भी कटि फेंटा पट,
बाजूबन्द जड़ित उमैड़ सों तन्यौ है री।
'दामोदर' सुकवि अनंगधर रूप मानो,
अंग-अंग सोभा को तरंग उफन्यौ है री।
नवल बनी को अवनी को प्रान प्यारो नीको,
नवलकिसोर नीको बनरा बन्यौ है री।

उक्त पद्य में भी वर की विवाह कालीन वेश-भूषा का वर्णन है।

पति के भेद

पति के चार भेद हैं, १-अनुकूल, २-दक्षिण, ३-धृष्ट और ४-शठ। कुछ लोग उपर्युक्त चारों भेदों के अतिरिक्त अनभिज्ञ संज्ञक एक भेद और भी मानते हैं।

अनुकूल

जो नायक अपनी विवाहिता स्त्री में पूर्ण प्रेम रखता हुआ, दूसरी स्त्री का विचार भी नहीं करता. उसे अनुकूल पति कहते हैं। जैसे—

ग्रीसम निदाघ समै बैठे अनुराग भरे,
बाग में बहति बहतौल है रहट की।
लहलही माधवी लतान सों लपट रही,
हीतल सों सीतल सुहाई छाँह बट की।
प्यारी के बदन स्वेद-सीकर निहारि लाल,
प्यारो प्यार करत बयारि पीत पट की।
पत्र बीच ह्वैकै कढ़ै रवि की मरीचि तहाँ.
लटकि छबीलो छाँह छावत मुकट की।

अनुकूल नायक अपनी प्रियतमा से कितना प्रेम करता है, इसका आभास ऊपर के पद्य से भली भाँति मिल जाता है। एक उदाहरण और भी देखिए—

नारि पराई तें बोलिबो को कहै, क्यों हूँ न काहू कों भूलि हू हेरे।
मेरो लखै मन वेई औ मैं हूँ. लिये उनको लिखि चित्र हियेरे॥
बाँधि सकै उनकौ मन को बँध्यौ रैन-दिना रहै मेरेई नेरे।
लेम नहीं उनमें अपराध कौ मान की हौंस रही मन मेरे॥

यहाँ नायक अपनी पत्नी के इतना अनुकूल है कि वह भूल कर भी कभी कोई ग़लती नहीं होने देता। नायिका को मान करने के लिए कोई बहाना ही नहीं मिलता। उसकी रूठने की 'हौंस' मन की मन में ही रही जाती है।

नीचे लिखा दोहा भी अनुकूल पति का अच्छा उदाहरण है--

सपने हू मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही में रही सखी मान की साध॥

दक्षिण

अनेक पत्नियों में समान अनुराग रखने वाला नायक दक्षिण कहाता है। ऐसे नायक को सब नायिकाएँ अपना प्यारा समझती हैं, और कभी उससे मान नहीं करतीं। उदाहरण देखिए—

भूषन के भार तें सँभारत बनैं न अंग,
मन्द-मन्द चाल तें गयन्द को लजाती हैं।
जोरि-जोरि जोरी हिलि-मिलि कै निकुंज माँहि,
आवति चली यों सबै आपुस में भाती हैं।
ठाढ़ो कमलापति छबीलो छैल देखै तिन्हें,
तिरछी चितौनि ही तें लखि मुसकाती हैं।
मैन मदमाती इतै बार-बार आप लखैं,
नैन-तरवार-वार करि-करि जाती हैं।

नायक अपनी सभी पत्नियों में समान अनुराग रखता है, इसका परिचय नायिकाओं के परस्पर जोड़ी बनाकर आने और साथ-साथ छबीले छैल के संग रँगरेलियाँ करने से मिल जाता है। यदि उसका प्रेम एक से अधिक और दूसरी से कम होता, तो उनमें परस्पर इतना सौहार्द भाव न दिखाई देता, बल्कि उस अवस्था में तो वे एक दूसरी को ईर्ष्या की दृष्टि से देखतीं।

इसके उदाहरण में कवि लछिरामजी का दोहा और देखिए--

दक्षिण नायक एक तुम मनमोहन ब्रजचन्द।
फुलए ब्रज-बनितान के दृग इन्दीवर वृन्द॥

धृष्ट

जो नायक बार-बार अपराध करके भी निःशंक रहे, और अनेक झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित न हो, किन्तु नम्र और निश्चल बना रहे, झूठ बोलने में जो तनक भी संकोच न करता हो, वह धृष्ट कहाता है। यथा—

> बरजौ न मानत हौ बार-बार बरजों मैं,
> कौन काम मेरे इत भौन मं न आइये।
> लाज को न लेस, जग हाँसी को न डर मन,
> हँसत हँसत आन बात ना बनाइये।
> कवि 'मतिराम' नित उठि के कलंक करो,
> नित-नित सौंहैं करो अंग बिसराइये।
> ताके पग लागो निसि जागि जाके उर लागे,
> मेरे पग लागि-लागि आगि न लगाइये।

कविवर मतिरामजी का उपर्युक्त कवित्त धृष्ट नायक का कैसा सजीव उदाहरण है। नायिका उसे बार-बार समझाती है, डाटती-फटकारती भी है, परन्तु वह अपनी कुटेव नहीं छोड़ता, उलटा निर्लज्जता पूर्वक हँसता है।

और भी देखिए, नीचे लिखे सवैया में नायिका अपने धृष्ट नायक के सम्बन्ध में क्या कहती है—

> द्वार तें दूरि करो बहु बारनि हारनि बाँधि मृनालनि मारो।
> छोड़त ना अपनो अपराध असाध सुभाइ अगाध निहारो॥
> बैरिनि मेरी हँसें सिगरी जब पाँय परै सु टरै नहिं टारो।
> ऐसे अनीठि सों ईठि कहै यह ढीठ बसीठन हीं को बिगारो॥

ढिठाई की हद हो गई! मारने-पीटने पर भी नायक अपराध करना नहीं छोड़ता। बार-बार पाँवों में पड़ता और 'हाहा' खाता रहता है।

यदपि न बैन उचारियतु गहि निवारियतु बाँह ।
तदपि गरेई परतु है. गजब गुनाही नाह ॥

यहाँ हाथ पकड़ कर धक्का देने पर भी धृष्ट नायक गले ही पड़ता जाता है ।

हाय कहा गारी गनत कमल-पात सम लात ।
छिन-छिन करत गुनाह अरु छिन-छिन हा-हा खात ॥

जब नायक पाद-प्रहार को पुष्प-वर्षा समझता है, तब गाली-गलौज की तो बात ही क्या, वह तो उसके लिये आशीर्वाद-रूप है ।

शठ

जो नायक किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त होकर, प्रकृत नायिका को छल-पूर्वक भुलावे में डाल, अपना अपराध छिपाए रहता, तथा अपनी कार्य-सिद्धि के लिए मीठी-मीठी बातें बनाता, और नायिका के प्रति अनुकूलता-सी दिखाता है, उसे शठ कहते हैं । यथा

हौं तो निरदोसी दोस काहे को लगावे मोहि,
जैसी तोहि भावै मो पै सपथ कराय लै ।
त्रिवली-त्रिवेनी नाभि-सर में सँचाय देखु,
रीझौं तो निहाल मान कीन्हौं ई घटाय लै ।
कंचुकी-कुटी में दोय तपसी विराजमान,
ताको सीस छुवाय चोर साह निपटाय लै ।
कोप करि पावक कपोल गोल लाल-लाल,
लाख-लाख वार मो पै जीभन चटाय लै ।

उपर्युक्त पद्य में शठ की शठता का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है । वह नायिका द्वारा डाँटे-फटकारे और मारे-पीटे जाने पर भी, उसके इस व्यवहार को हँसी में ही टालता जाता है ।

शठ के उदाहरण में मतिरामजी का भी नीचे लिखा पद्य पढ़ने लायक़ है—

मोते तो कछू न अपराध पर्‌यौ प्रान प्यारी,
मान करि रही यों ही कहि कै अरसते।
लोचन चकोर मेरे सीतल ही होत हेरे,
अरुन कपोल मुख-चन्द के दरस ते।
कहै 'मतिराम' उठि लागि उर मेरे कित-
करति कठोर मन अँसुआ बरसते।
कोपते कटूक बोल बोलति है तऊ मोको,
मीठे होत अधर सुधा-रस परसते।

यहाँ शठ नायक को नायिका के कटु और कठोर बोल भी सुधा सने-से प्रतीत होते हैं। वह अपने को निरपराध बताता और चापलूसी से नायिका को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही एक नायक का वर्णन तोष-जी ने भी किया है, देखिए—

पाप पुराकृत को प्रगट्यौ बिछुर्‌यौ तेहि राति भई सुख घात है।
जीवन मेरो अधीन है तेरे ही जीवन मीन की कौन-सी बात है॥
'तोष' हिये गरु मैन-विथा हरु, नातो पिया पल में पछितात है।
जो तुम ठानती मान अयानि तो प्रान पयान किये अब जात है॥

अनभिज्ञ

जिस नायक को असमर्थता के कारण शृङ्गार की सरस क्रियाओं का वास्तविक ज्ञान न हो, उसे अनभिज्ञ कहते हैं। यथा—

नैनन ही सैन करै बीरी मुख दैन करै,
लैन करै चुम्बन पसारि प्रेम पाता है।
कहै 'पदमाकर' त्यौं चातुरी चरित्र करै,
चित्त करै सोहैं जो विचित्र रति-राता है।

हाव करै भाव करै विविध विभाव करै,
बूझै प्यौ न एते पै अबूझन को आता है।
ऐसी परबीनि को कियो जो यह पुरुष तो,
बीस बिसे जानी महा मूरख बिधाता है।

इससे भी अधिक विधाता की मूर्खता का प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है, जिसने ऐसी सकल कला प्रवीणा नायिका को मोधू के पल्ले बाँध दिया !

करि उपाय हारी जु मैं सनमुख सैन बताइ।
समुझत प्यौ न इतेहु पै कहा कीजिये हाइ ॥

उक्त दोहा भी किसी ऐसी ही नायिका की उक्ति है। 'कहा कीजिये हाइ' में बेचारी की कितनी मनोव्यथा भरी हुई है।

उपपति

पर-स्त्री पर अनुरक्त रहने वाले को उपपति कहते हैं। वह जहाँ भी सौन्दर्य-सुधा देखता है, वहीं उसे पान करने को लालायित हो उठता है। मधुमत्त मधुप की भाँति कली-कली का रस चाखना, इसे बहुत पसन्द है। उदाहरण देखिए—

मत्त गज गामिनी-सी भामिनी सुजामिनी में,
दामिनी-सी दमकि कढ़ी या गैल आय के।
बंक करि भौंहैं सौंहैं जोरि के रसीले नैन,
'रसिक विहारी' मीठे बचन सुनाय के।
मेरो मन लैगई सु बैगई बिरह-बीज,
कैगई जु टोना मुरि मन्द मुसकाय के।
हाय वा कसाइन के नेक न कसक हिय,
चली गई घायल के पायल बजाय के।

पायल की झनकार कान में पड़ते ही, नायक का मन नायिका की ओर आकृष्ट हो गया है। आकृष्ट ही नहीं हो गया, बल्कि नायिका के पायलों की ध्वनि ने उसका हृदय बुरी तरह ' घायल ' कर डाला है!

कविवर पद्माकर ने उपपति का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

आखिर जाये अहीर के हौ जिय जानत नेक ना मेरे सुभाय हौ।
दै दधि दान जु पै सुरझौ 'पदमाकर' ऍट कहा अरुझाय हौ॥
जो रस चाहत हौ तुम साँवरे सो रस गोरस रोके न पाइ हौ।
पैहो कवै जब गोधन गाय हौ, वेनु बजाइ हौ, मोहि रिझाइ हौ॥

नायक (कृष्ण) दधि बेचने के लिए जाती हुई गोपी से गोरस के साथ-साथ कुछ और भी पाने के लिए उलझ रहे हैं। परन्तु गोपी भी बड़ी चंट है, बिना नचाये तथा बिना गोधन गवाए, वह कृष्ण से बात भी नहीं करना चाहती।

नीचे लिखा दोहा भी उपपति का अच्छा उदाहरण है—

नैन जोरि मुख मोरि हँसि नेसुक नेह जनाय।
आगि लैन आई हिये मेरे गई लगाय॥

अर्थात् आँखें नचाती और मन्द-मन्द मुस्कराती हुई नायिका आग लेने क्या आई, वह तो मेरे हृदय में उलटी आग लगा गई! अर्थात् प्रेमाग्नि प्रज्वलित कर गई!

उपपति के भेद

उपपति के दो भेद हैं। १-वचन-चतुर और २-क्रिया-चतुर।

वचन-चतुर

जो उपपति वाक् चातुरी से अपना कार्य सिद्ध करता है, उसे वचन-चतुर कहते हैं। उदाहरण देखिए—

दूसरे की बात सुनिपरत न ऐसी जहाँ,
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।

छाइ रहे जहाँ द्रुम-बेलिन सों मिलि 'मति-
राम' अलि कूलनि अँध्यारी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज घन-
कुंजन में होति तहाँ दिन हू में राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली कहि,
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।

यहाँ नायक अकेली जाती हुई गोपी को, उसके मार्ग में पड़ने वाली कुंज की सघनता और जन-शून्यता का कैसी चतुराई से स्मरण दिलाता है। बातों ही बातों में, वह द्रुम-लताओं के परस्पर मिलने, मधुकर-पुंज के गुंजारने और कोकिल के कूकने आदि की बात कह कर यह भी व्यक्त कर देता है, कि आज कल मतवाला बना देने वाली मधुऋतु भी अपने पूर्ण यौवन पर है।

एक उदाहरण और भी देखिए, पद्माकरजी कहते हैं—

दाऊ न नन्द बबा न जसोमति न्यौते गए कहुँ लै सँग भारी।
हौं हूँ इकै 'पदमाकर' पौरि में सूनी परी बखरी निसि कारी॥
देखै न क्यों कढ़ि तेरे सुखेत पै धाय गई छुटि गाय हमारी।
ग्वाल सों बोलि गुपाल कह्यौ सुगुवालिनि पै मनो मोहिनी डारी॥

यहाँ भी गोपाल कैसी वाक्-चातुरी से गोपी को स्वयं अपने घर में अकेले होने की बात बता रहे हैं।

क्रिया-चतुर

छल छिद्र द्वारा अपना मतलब निकालने वाला क्रिया चतुर कहाता है। यथा—

उत सों सखान सजि आए नन्दलाल इतै,
राधिका रसाल आई बृन्द में सहेली के।
खेलें फाग अति अनुराग सों उमंग भरे,
गावें मन भावें तहाँ बचन अमेली के।

मारी पिचकारी मंजु मुख पै बिहारी ताके,
दावन बचाई कै अबीर झेला झेली के।
जौ लौं निज नैननि सों रंग को निवारै प्यारी,
तौ लौं छैल छ्वै भजे कपोल अलबेली के।

यहाँ छैल कैसी चतुराई से अलबेली के कपोल छू कर भाग गए! वह जान भी न सकी कि ऐसा करने वाला कौन था? बेचारी आँखें मीड़ती ही रह गई!

क्रियाचतुर नायक के उदाहरण में पद्माकरजी का पद्य भी पढ़ लीजिए—

आई सुन्यौति बुलाइ भली दिन चारि को जाहि गोपाल ही भावै।
त्यौं 'पदमाकर' काहु कह्यौ कै चलो बलि बेगिही सासु बुलावै॥
सो सुनि रोकि सकै क्यों तहाँ गुरु लोगन में यह ब्यौंत बनावै।
पाहुनी चाहै चल्यौ जबहीं तबहीं हरि सामुहें छींकत आवै॥

यहाँ नायक घर आई हुई पाहुनी से सबके आगे, स्पष्ट तो कह नहीं सकता कि अपने घर मत जाओ, यहीं रहो; पर वह अपनी चतुराई से उसका जाना स्थगित कर देता है। अर्थात् जब वह चलने लगती है, तभी सामने छींक कर अपशकुन कर देता है।

क्रियाचतुर का एक उदाहरण और भी देखिए—

नँदलाल गयो तितही चलि कै जित खेलति बाल सखीगन में।
तहँ आपही मूँदि सलौनी के लोचन चोर मिहीचनि खेलन में॥
दुरिबे को गई सिगरी सखियाँ 'मतिराम' कहै इतने छन में।
मुसिकाय कै राधिकै कण्ठ लगाय छिप्यो कहुँ जाय निकुंजन में॥

यहाँ भी हज़रत नायक अपनी क्रियाचातुरी से मनमानी करके निकुंजों में जा छिपे। आँखमिचौनी के कारण उन्हें मौक़ा भी अच्छा मिल गया।

वैशिक

जो नायक वेश्यानुरागी निःशंक और निर्लज्ज होता है, उसे वैशिक कहते हैं। यथा—

नित बारबधून के बार हजारन बार अबार सबार ठनै।
सब छोड़ि अचार विचार दयो उपचार लचार न होत भनै॥
दृग आनन-चन्द्र-चकोर किये नँदराम रहे रस ही में सनै।
तन ते मन ते धन ते धन पै तनहूँ मनहूँ धनहूँ न गनै॥

और देखिए गोविन्द कवि इस प्रसंग में क्या कहते हैं—

दिल जान हमारी निछावर है यहि प्रीति में कौन इमान गनै।
न रही कुलकानि न धर्म रह्यौ नर रूप की कीच में आय सनै॥
कवि 'गोविंद' ओठ ते ओठ मिलै तबहीं रति-रंग अनंग जनै।
छबि देखत हाल बिहाल भए मन देत बनै धन देत बनै॥

इस सम्बन्ध में कविवर मतिराम का दोहा भी क्या ख़ूब है। देखिए—

लोचन पानिग पढ़ि सजी लटबंसी परबीन।
मो मन बारबिलासिनी फाँसि लियो मनु मीन॥

मानी

प्रियतमा द्वारा किये गये अपमान से अप्रसन्न होकर मान करने वाला पुरुष मानी कहाता है। नीचे के पद्य में देखिए नायिका मानी की कैसी ख़ुशामद कर रही है—

बात हीं बात दै पीठि पिया पटिया लगि मान जनावन लाग्यो।
ज्यों-ज्यों करै मनुहारि तिया रुख 'तोष' सु त्यों-त्यों रुखावन लाग्यो॥
चूक परी सो परी बकसो यह प्रान है रावरे पाँयन लाग्यो।
लीजिए मोहि उठाय हिये बिच भावन! जोर जड़ावन लाग्यो॥

इस सम्बन्ध में पद्माकरजी का उदाहरण भी पढ़ लीजिए—

बाल बिहाल परी कब की दबकी यह प्रीति की रीति निहारो।
त्यों 'पदमाकर' है न तुम्हें सुधि कीन्हों जो बैरी बसन्त बगारो॥
तातें मिलो मनभावती सों बलि ल्यांते ह-हा बच मान हमारो।
कोकिल की कल बानी सुने पुनि मान रहैगो न मान तिहारो॥

उक्त पद्य में नायिका की सखी मानी नायक से कह रही है—बेचारी का तुम्हारे विना बुरा हाल है। मैं तुम्हारी हा-हा खाती हूँ, मान जाओ, अच्छा है, चले चलो, तुम्हारी भी बात रही जाती है। अगर नहीं मानते तो याद रक्खो, वसन्त ऋतु आ रही है। जब शीतल मन्द मलय समीर बहेगा, कोकिल कूकेंगी, और भ्रमर गुञ्जार करेंगे, तब तुम्हारा सब मान मिट्टी में मिल जायगा, और तुम अपने आप उसकी हा-हा खाते फिरोगे।

प्रोषित

प्रवास में प्रियतमा-विरह-विकल पुरुष को प्रोषित कहते हैं। यथा—

लोकन सँवारो तो सँवारो ना बिगारो कछु,
लोकन सँवारि नर-नारि ना सँवारतो।
कीन्हों नर-नारी तो ना प्रेम को प्रचार देतो,
प्रेम को प्रचारो तो ना मैन को प्रचारतो।
मैन को प्रचारो तो प्रचारो ना सँयोग देतो,
कीन्हों जो सँयोग तो वियोग ना विचारतो।
'नन्दराम' कीन्हों जो वियोग बिधना तो भूलि,
बौरे बन बागन बसन्त ना बगारतो।

और देखिए—

परी तेरे सुमुख-सुधाधर की दुति जापै,
ललित कियो री बचनामृत अगाधा सों।
'सेवक' त्यौं तेरेई उरोज-सुधा-कुम्भनि को,
परसि प्रसेद पूरि-पूरि मन साधा सों।

एरे मन्द पौन गौन करि जैये बेगि उतै,
ऐसे ही सुनैयेगो सँदेस मेरो राधा सों।
तेरी गुही उर जो न होती बनमाल तौ,
बचावतो को मोहि बिरहानल की बाधा सों।

यहाँ विरह-बिधुर प्रोषित, नायिका के हाथ की गूँथी माला के सहारे ही अपने प्रवास के दिन पूरे कर रहा है।

अब श्रीकृष्णजी की प्रोषित अवस्था का वर्णन कविवर रत्नाकर के शब्दों में सुनिए—

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकवीन सों।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे जो कान्ह,
ऊधो को कहन हेत ब्रज जुवतीन सों।
गहवरि आयो गरौ भभरि अचानक त्यों,
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीन सों।
नेंक कही बैननि अनैंक कही नैननि सों,
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों।

विरह-व्यथा के कारण बेचारों से बात भी कहते नहीं बनती। गला भर आया और हिलकियाँ बँध गईं।

नायिकाओं की भाँति नायकों के भी सैकड़ों भेद हो सकते हैं। परन्तु विस्तार-भय के कारण रीति-ग्रन्थों में उनका संक्षिप्त रूप से ही वर्णन किया गया है।

स्वभावानुसार भेद और गुण

भेद

स्वभावानुसार नायक के चार भेद माने गए हैं। १—धीरोदात्त, २—धीरोद्धत, ३—धीर ललित और ४—धीर प्रशान्त।

धीरोदात्त

जो नायक आत्मश्लाघा दोष से मुक्त, क्षमायुक्त, अति गम्भीर स्वभाव वाला, हर्ष शोकादि में समान भाव प्रकट करने वाला, दृढ़व्रती, विनयी, स्वाभिमानी और उदारहृदय हो वह धीरोदात्त कहाता है।

धीरोद्धत

मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, दुर्दान्त और आत्मश्लाघी नायक धीरोद्धत कहाता है।

धीर ललित

निश्चिन्त, अति कोमल स्वभाव, विनोदप्रिय और सदा नृत्य-गीतादि कलाओं में निरत रहने वाले नायक को धीर ललित कहते हैं।

धीर प्रशान्त

दातृत्व, कृतज्ञता आदि नायक के सामान्य गुणों में से अधिकांश गुण-युक्त विद्वान् ब्राह्मणादि को धीरप्रशान्त नायक कहते हैं।

गुण

नायकों के शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित और औदार्य ये आठ सात्विक गुण माने गये हैं। जिनकी व्याख्या इस प्रकार है:—

शोभा

शूरता, चातुर्य, सत्य, असीम उत्साह और अनुराग से युक्त तथा नीच से घृणा और उच्च में स्पर्धा उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के धर्म को शोभा कहते हैं।

विलास

नायक के धीर दृष्टि से देखने, सिंह के समान गम्भीर गति से चलने एवं मन्द मुस्कराहट के साथ बातचीत करने आदि चेष्टाओं व क्रियाओं को विलास कहते हैं।

माधुर्य

व्याकुलतापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी मन में घबराहट के भाव न आने देना माधुर्य कहाता है।

गाम्भीर्य

भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि के होने पर भी मन का निर्विकार रहना गाम्भीर्य कहाता है।

धैर्य या स्थैर्य

भयङ्कर विघ्न उपस्थित होने पर भी दृढ़तापूर्वक कार्य में संलग्न रहने को धैर्य या स्थैर्य कहते हैं।

तेज

अन्य द्वारा किये गये आक्षेप और अपमान आदि को जीते जी सहन न करना तेज कहाता है।

ललित

बोल-चाल, वेश-भूषा और शृङ्गार की चेष्टाओं में स्वाभाविक माधुर्य को ललित कहते हैं।

औदार्य

प्रिय भाषण पूर्वक दान देना और शत्रु मित्र को एक दृष्टि से देखना औदार्य कहाता है।

नोट—ऊपर नायक के भेदों और गुणों के लक्षण मात्र लिख दिये गए हैं, उनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। आशा है, पाठकों को लक्षण पढ़कर ही नायक के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा। इस सम्बन्ध में एक बात और है, अर्थात् उपर्युक्त भेदों का वर्णन साहित्य-दर्पण आदि संस्कृत के ग्रन्थों में तो मिलता है, परन्तु हिन्दी के आचार्यों ने उनका उल्लेख बहुत ही कम किया है।

नायिका-वर्णन

जिहि बनिता की सुघरता लखि मुद लहत सुजान।
ताहि कहत हैं नायिका कोबिद कलानिधान ॥

जिस स्त्री को देखकर, हृदय में रसीले भावों की उत्पत्ति होती है, उसे नायिका कहते हैं। साहित्यकारों ने नायिका के निम्नलिखित लक्षण माने हैं। अर्थात् यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, भूषण, दातृत्व, कृतज्ञता, पाण्डित्य, उत्साह, तेज, चातुर्य आदि। इनमें सबसे अधिक और शीघ्र प्रभाव डालने वाले यौवन और रूप हैं। 'रूप-यौवन-सम्पन्ना' नायिका ही नायक के हृदय पर अधिकार करने में समर्थ होती है, अन्य गुणों का परिचय तो उसे पीछे प्राप्त होता है। इन गुणों से जितना ही अधिक परिचय होता जाता है, प्रेम में उतना ही स्थायित्व आने लगता है। रूप की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। इसका निर्णय तो नायक के दृष्टिकोण पर ही निर्भर है। नायक-नायिका के हार्दिक मिलन से अकृत्रिम और स्थायी प्रेम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। फिर दोनों सुख-दुःख, लाभ-हानि सम्पत्ति-विपत्ति, सब में समान रूप से भागीदार हो जाते हैं। भेद-भाव खोकर एकरूपता का उदय होता है। दोनों मिलकर समान भाव से कुल-मर्यादा का पालन करते हैं।

महाकवि केशवदास ने नायिका का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

ग्रहनि में कीन्हों गेह सुरनि दै देखी देह,
हर सों कियौ सनेह जाग्यौ जुग चार्यौ है।
तरनि में तप्यौ तप जलधि में जप्यौ जप,
'केसौदास' बपु मास-मास प्रति गार्यौ है।

उरगन-ईस द्विज-ईस ओसधीस भयौ,
जदपि जगत-ईस सुधा सों सुधार्‌यो है।
सुनि नँदनन्द प्यारी, तेरे मुख-चन्द सम,
चन्द पै न आयौ कोटि छन्द करि हार्‌यो है।

उपर्युक्त पद्य में नायिका के रूप का वर्णन है। कविवर मतिराम नायिका का कैसा सुन्दर वर्णन करते हैं, उसे भी देखिए—

कुन्दन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसकानि मिठाई।
ज्यौं ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निखरै-सी निकाई॥

नायिका के सु-वर्ण को देख कर स्वर्ण का भी रंग फीका जान पड़ता है। अलसाई आँखें और चञ्चल चितवन देखकर कौन ऐसा है, जो विना मोल उसके हाथ न बिक जाय। जैसे-जैसे ध्यान पूर्वक देखिये, तैसे-तैसे उसकी सुन्दरता बढ़ती ही जाती है।

पद्माकरजी ने स्नान करती हुई नायिका का कैसा सुन्दर शब्द-चित्र खींचा है। देखिए—

जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यौं 'पदमाकर' हीर के हारन गंग तरंगन कों सुख देनी॥
पायन के रँग सों रँगी जाति-सी भाँति ही भाँति सरस्वती सेनी।
पैरै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबेनी॥

वह सुन्दरी तालाब में तैरती हुई, जहाँ चली जाती है, वहीं त्रिवेणी का दृश्य दिखाई देने लगता है। तैरते में लहराती हुई लम्बी वेणी यमुना की श्याम धारा-सी प्रतीत होती है, हीरक-हार की शुभ्र छटा गंगा की अमल धवल धारा जान पड़ती है, और पैरों की अरुणिमा से रंजित जल-धारा सरस्वती का प्रवाह-सी दिखाई देती है। इस प्रकार तीनों के मेल से ताल में त्रिवेणी-सी बन जाती है।

नायिका-भेद

धर्म, आयु, प्रकृति, जाति और अवस्था अर्थात् परिस्थिति इन पाँच कारणों से नायिकाओं के अनेक भेद माने गए हैं, जिनका विस्तृत विवरण आगे दिया जाता है।

१—धर्म-भेद से—स्वकीया, परकीया और सामान्या।

२—आयु-विचार से—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा।

३—प्रकृत्यनुसार—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

४—जाति-भेद से—पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्थिनी।

५—परिस्थिति-अनुसार—खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषित-पतिका और आगतपतिका।

धर्मानुसार नायिका-भेद

धर्म के विचार से नायिका तीन प्रकार की मानी गई है—१—स्वकीया अर्थात् अपनी स्त्री, २—परकीया अर्थात् अन्य की स्त्री, और ३—सामान्या अर्थात् सर्वसाधारण की स्त्री वेश्या आदि।

स्वकीया

स्वकीया वह पतिप्राण स्त्री है, जिसने लज्जा को ही अपना आभूषण बना रक्खा है, और जो विनय, सरलता, वाक्पटुता आदि गुणों से युक्त होकर घर-गृहस्थ के कामों में लगी रहती है। जिसे स्वप्न में भी पर-पुरुष की इच्छा नहीं होती, तथा पति के प्रति अविनय और अवज्ञा के भाव जिसके हृदय में कभी उत्पन्न ही नहीं होते। 'विनयार्जवादि युक्ता गृह-कर्मपरा पतिव्रता स्वीया।'

मतिरामजी ने स्वकीया का लक्षण इस प्रकार किया है।

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानति लाज है, प्रीतम जानति प्रीति॥

स्वकीया के लक्षण में निम्नलिखित दोहा भी पढ़ने योग्य है—

स्वीया अरु पतिव्रता में है यह भेद विचार।
वह सनेह यह भगति सों सेवति है भरतार॥

अभिप्राय यह कि वस्तुतः उत्तमा स्वकीया ही पतिव्रता होती है। सुन्दर कवि कृत स्वकीया का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

देखति नैन की कोरन लों अधरान ही में मुसिक्यानि को थानो।
बोलति बोल सो कण्ठ ही में चलते पग पै न कहूँ अहटानो॥
सुन्दर रोस नहीं सपने अरु जो भयो तो मन ही में बिलानो।
मैं बसुधाऽब सुघाई सबै पर याकी सुघाई सुधाई है मानो॥

इस सम्बन्ध में मतिरामजी का सवैया भी पढ़िए—

संचि विरंचि निकाई मनोहर लाजनि मूरतिवन्त बनाई।
तापर तोपर भाग बड़े 'मतिराम' लसै पति प्रीति सुहाई॥
तेरे सुशील सुभाव भटू, कुल-नारिन को कुल कानि सिखाई।
तैं ही जने पति देवत के गुन गौरि सबै गुन गौरि पढ़ाई॥

उपर्युक्त दोनों सवैयों में स्वकीया अर्थात् आदर्श गृहलक्ष्मी का स्वभाव और चरित्र वर्णन किया गया है।

स्वकीया के सम्बन्ध में गोविन्द कवि का नीचे लिखा कवित्त कैसा सुन्दर है—

सासु और ससुर की सेवा में सदा ही प्रीति,
ऐसी बधू दोनों कुल तारि है पै तारि है।
लाज भरे नैन जुग सील के जहाज मानो,
पति के करोर पाप जारि है पै जारि है।
'गोविंद' गुनन भरी नेकहू गुमान नाहिं,
दारिद-औ दुःख-दल टारि है पै टारि है।
जैसे सब बारिनु में गंगाजू को बारि नीको,
तैसेई स्वकीया सब नारिनु में नारि है।

आयु के अनुसार नायिका-भेद

आयु के विचार से स्वकीया नायिका के तीन भेद किये गए हैं, अर्थात् १—मुग्धा, २—मध्या और ३—प्रौढ़ा। इस प्रकार भेद करने का अभिप्राय यह है, कि ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों लज्जा की मात्रा कम और काम की मात्रा अधिक होती जाती है।

मुग्धा

मुग्धा वह नायिका है, जिसमें नव यौवन का विकास अथवा काम-कलाओं का विलास पहले-ही-पहल प्रादुर्भूत हुआ हो। जिसके हृदय में लज्जालुता के कारण रति में झिझक और संकोच की मात्रा अधिक पाई जाती हो, एवं जिसका मान अधिक समय तक स्थिर न रह सके।

साधारणतः मुग्धा की चाल धीमी पड़ जाती है, और अपने कमरे से बाहर निकलना उसे अच्छा नहीं लगता। कभी वह मन्द मन्द मुस्कराती है, और कभी उसके मुख-मण्डल पर लज्जा एवं संकोच के भाव दिखाई देने लगते हैं। कभी-कभी कुछ गम्भीर वक्रोक्तियाँ उसके मुँह से निकल जाती हैं। वह हर वक्त प्रियतम की चर्चा करना और सुनना ही अपना ध्येय बना लेती है। नवयौवन-विकास के समय मुग्धा के स्वभाव में ही परिवर्त्तन नहीं होता, बल्कि उसका शरीर भी बदला हुआ दिखाई देता है। अर्थात् उसका बाल्यकालीन कटि-प्रदेश तो पतला होने लगता है, परन्तु नितम्बों में स्थूलता आ जाती है। उदर क्षीण होकर उरोज उभरने लगते हैं। चितवन में चाञ्चल्य और बाँकपन तथा चेहरे पर यौवन की उमंगों के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। उदर पर, नाभि से निकली हुई रोम-राजि यौवन के आगमन की प्रतीक-सी जान पड़ती है। मुग्धा अपने प्रियतम से मिलने के लिए, सर्वदा समुत्सुक रहती हुई भी, झूठी झिझक के कारण अनिच्छा-सी प्रकट करती रहती है।

साहित्यदर्पण में मुग्धा का लक्षण इस प्रकार किया गया है, देखिए—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं, वक्षोजयोर्मन्दता।
दूरं यात्युदरञ्च, रोमलतिका, नेत्रार्जवं धावति॥
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्यभिषिक्तं क्षणात्।
अङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः॥

संक्षेप में मुग्धा का लक्षण इस प्रकार समझिए—

झलकति आवै तरुनई नई जासु अँग-अंग।
तासों मुग्धा कहत हैं जे प्रवीन रस रंग॥

मुग्धा के उदाहरण में बालम कवि क्या कहते हैं, देखिए—

मृगन की मीनन की चञ्चलाई चखन में,
मोतिन की हीरन की जोति है रदन में।
ओठन में आई है मिठाई सब सिमिटि कै,
दाख में न ऊख में न स्वाद सरदन में।
महाकवि 'बालम' के खुले हैं बिसाल भाल,
रातो दिन राजति मसाल-सी सदन में।
बिधना गुलाब कै-सो अरक उतारि मानो,
चन्द की निकाई राखी प्यारी के बदन में।

× × ×

इसी सम्बन्ध में पद्माकरजी की भी सूक्ति सुनिए—

ये अलि या बलि के अधरानि में आनि चढ़ी कछु माधुरई-सी।
ज्यौं 'पदमाकर' माधुरी त्यौं कुच दोउन की बढ़ती उनई-सी॥
ज्यौं कुच त्यौंही नितम्ब चढ़े कछु ज्यौंही नितम्ब त्यौं चातुरई-सी।
जानि न ऐसी चढ़ाचढ़ि में किहि धौं कटि बीचई लूटि लई-सी॥

× × ×

कवि गंग की कल्पना का भी चमत्कार देखिए—

जल में दुरी हैं जैसे कमल की कलिका द्वै,
उरजन ऐसे दीनी सरुचि दिखाई-सी।
'गंग' कवि साँझ-सी सुहाई तरुनाई आई,
लरिकाई मध्य कछु मैं न लखि पाई-सी।
स्यामा को सलोनों गात ता में दिन द्वैक माँझ,
फिरी-सी चहति मनमथ की दुहाई-सी।
सीसी में सलिल जैसे सुमन पराग तैसे,
सिसुता में झलमलै जोवन की झाँई-सी।

× × ×

दास कवि क्या कहते हैं, उनकी उक्ति भी सुन लीजिए—

आनन में मुसकानि सुहावनी बंकुरता अँखियान छुई है।
बैन खुले मुकुले उरजात जकी तियकी गति ठौन ठई है॥
'दास' प्रभा उछरै सब अंग सुरंग सुबासता केलिमई है।
चन्द्रमुखी-तन पाय नवीनो भई तरुनाई अनन्द मई है॥

× × ×

इस विषय में मतिरामजी ने भी ख़ूब ऊँची उड़ान भरी है, यथा—

नेंक मन्द मधुर कपोल मुसिक्यान लगी,
नेंक मन्द गमन गयन्दन की चाल भौ।
रंचक न ऊँचौ लगौ अञ्चल उरोजन ते,
अंकुरनि बंक दीठि नेंक सो बिसाल भौ।
'मतिराम' सुकवि रसीले कछु बैन भये,
बदन सिंगाररस बेलि आलबाल भौ।
बालतन यौवन-रसाल उलहत सब,
सौतिन के साल भौ निहाल नँदलाल भौ।

उपर्युक्त सभी पद्यों में नायिका की वय-सन्धि-जन्य उस अवस्था का वर्णन है, जिसमें लज्जालुता का प्राधान्य रहता है। इस सम्बन्ध में महाकवि विहारी का निम्नलिखित दोहा बड़ा सुन्दर है—

लिखन बैठि जाकी छबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

मुग्धा के भेद

मुग्धा नायिका के भी दो भेद किये गए हैं, १—अज्ञात यौवना और २—ज्ञात यौवना।

अज्ञात यौवना

जो नायिका मुग्धावस्था प्राप्त होने पर भी, अपने भोलेपन के कारण, यह नहीं जान पाती कि वह युवती हो गई; या जो अपने जीवन में एक विचित्र प्रकार के परिवर्त्तन के होते हुए भी उसका कारण नहीं समझ सकती, उसे अज्ञात यौवना कहते हैं।

उदाहरण देखिए—

कारे चीकने है कछु काहे केस आपु ही तें,
बढ़ि-बढ़ि बिथुरि छवालों लागे छलकन।
बार-बार बदन बिलोकन लगी हैं सौति,
औरै तौर सौरभ समूह लागे हलकन।
कौन धों बलाय बसी अंग में हमारे हमें,
देखिबे को कान्ह 'हनुमान' लागे ललकन।
जंघ लागी सटन घटन लागी लंक औ,
बढ़न लागीं आँखें री नितम्ब लागे दलकन।

× × ×

दूसरा उदाहरण—

कोकिल कूक सुने उमँगै मन और सुभाउ भयो अब ही को।
फूले लता-द्रुम-कुंज सुहात लगै अलि-गुंजन भावतो जी को॥
कारन कौन भयो सजनी यह खेल लगै गुड़ियान को फीको।
काहे तें साँवरो अंग छबीलो लगै दिन द्वैक ते नैननि नीको॥

× × ×

अज्ञातयौवना के उदाहरण में मतिराम का यह सवैया भी पढ़ने लायक़ है—

खेलन चोरमिहीचनी आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहांईं॥
एकहि भौन दुरे इक संग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कम्प छुट्यौ घन स्वेद बढ्यौ तन रोम उठ्यौ अँखियाँ भरि आईं॥

× × ×

और भी देखिए—

लाल तिहारे संग में खेलै खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नैन हो करन कपूर लगाइ॥

× × ×

अधर परसि मीठी भई दई हाथ ते डारि।
लावति दतुअनि ऊख की नौखी खिजमतगारि॥

उक्त दोहे में नायिका के मधुर ओठों से लगकर दातुन मीठी हो जाने का वर्णन है। अरे नौकराइन, तू ऊख की दातुन उठा लाई, कहीं ऊख की दातुन भी की जाती है!

अज्ञातयौवना के उदाहरण में निम्नलिखित पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

कौन रोग दुहुँ छतियन उकस्यौ आय।
दुखि-दुखि उठत करेजवा लगि जनु जाय॥

उपर्युक्त बरवै में पहले पहल यौवन अंकुरित होने का वर्णन है।

ज्ञात यौवना

जिस नायिका को अपने अंकुरित यौवन का ज्ञान हो जाता है, और जो अपने जीवन में एक नये प्रकार की झलक अनुभव करने लगती है, उसे ज्ञात यौवना संज्ञा दी गई है।

ज्ञात यौवना कभी सकुचाती हुई-सी, इधर-उधर देखती है, कभी चञ्चलता पूर्वक चलती और कभी हाथ उठाती है। वह हर वक्त शृंगार की चेष्टा करती रहती है। उसे अपने अंगों का उभार देखकर बड़ा आनन्द आता है, परन्तु वह इस भाव को सखियों से छिपाए रखने की चेष्टा करती है। यथा—

चाव सों चटक रचि-रचि के रुचिर चीर,
रुचि सों पहिरि के विनोद बरसति जाति।
कसि-कसि कंचुकी विमल बँगला में बैठि,
सौतिन के सकल सुहाग करषति जाति।
निरखि-निरखि कर पायन की लागी 'हनु-
मान' तरुनाई की निकाई परखति जाति।
बेरि-बेरि मुकुर बिलोकति धरति फेर,
आँचर उघारि हेरि-हेरि हरषति जाति।

बड़े चाव से शृङ्गार करती हुई नायिका बार-बार शीशे में अपना रूप निहारती और आँचर उघार-उघार कर अपने विकसित यौवन को देख प्रसन्न होती है।

नीचे लिखा कवित्त भी ज्ञात यौवना का सुन्दर उदाहरण है—

बिसरन लागो बालपन को अयानप
सखीन सों सयानप की बतियाँ गढ़ै लगी।
दृग लागे तिरछे चलन पग मन्द लागे,
उर में कछूक उकसनि-सी बढ़ै लगी।
अंगन में आई तरुनाई यों झलकि,
लरिकाई अब देह तें हरै-हरै कढ़ै लगी।

होन लागी कटि अब छुटि[1] की छलासी-
द्वैज चन्द की कला सी तन दीपति बढ़ै लगी।

नायिका के शरीर से जैसे-जैसे धीरे-धीरे बचपन के चिन्ह दूर होते जाते हैं, तैसे तैसे उसके लड़कपन की भोली बातें भी कम होती जाती हैं। उसकी आँखों में चंचलता और शरीर में यौवन की दीप्ति स्पष्ट दिखाई देने लगी है।

ज्ञात यौवना के उदाहरण में विहारी के निम्न लिखित दोहे भी बड़े सुन्दर हैं—

इतै उतै सकुचति चितै चलत डुलावति बाँह।
दीठि बचाई सखिन की छिनुक निहारति छाँह॥

× × ×

करि चन्दन की खौरि दै बन्दन बैंदी भाल।
दरप भरी दिन द्वैक ते दरपन देखति बाल॥

ज्ञात यौवना के भेद

ज्ञात यौवना नायिका के दो भेद किये गए हैं, १—नवोढ़ा और २—विश्रब्ध नवोढ़ा।

नवोढ़ा

अत्यन्त भय और लज्जा के कारण जो नव विवाहिता नायिका रति से दूर रहना चाहती है, उसे नवोढ़ा कहते हैं। यथा—

लावति न अंजन मँगावति न मृगमद,
कालिंदी के कूल न तमाल तरे जाति है।
हेरति घन न वन गहन बनक बैनी,
बाँधेई रहति नीली सारी न सुहाति है।
'गोकुल' तिहारी यह पाती बाँचि है गो कौन,
याहू में तो कारे अच्छरान ही की पाँति है।

१—बिजली।

जा दिन तें मिले बाग में री गूजरी सों कान,
ता दिन ते कारो रंग हेरे अनखाति है।

नायिका लज्जा और भय के कारण कृष्ण से ही दूर नहीं रहती बल्कि वह प्रत्येक काली वस्तु को देखकर बिदकती है। यहाँ तक कि काली स्याही से लिखा पत्र भी नहीं पढ़ती।

नवोढ़ा के उदाहरण में मतिरामजी का निम्नलिखित सवैया भी पढ़ लीजिए—

साथ सखी के नई दुलही को भयो हरि को हियो हेरि हिमंचल।
आय गए मतिराम' तहाँ घर जामें इकन्त अनन्द सों चंचल।
देखत ही नँदलाल कों बाल के पूरि रहे असुआन हगंचल।
बात कही न गई सु रही गहे हाथ दुहूं सों सहेला को अंचल।

नई दुलहिन सखी के साथ बैठी थी, इतने ही में वहाँ नन्दलाल आ गए। उन्हें देखते ही उसका हृदय एक दम बैठ सा गया, मुँह बन्द हो गया आँखों में आँसू झलक आए और वह दोनों हाथों से सहेली का आँचल पकड़े रह गयी। बिहारीलालजी की उक्ति भी सुन लीजिए—

ज्यों ज्यों परसै लाल तन त्यों-त्यों राखे गोइ।
नवल बधू हरि लाज तें इन्द्रबधू-सी होइ॥

नवोढ़ा पत्नी पति को देखते ही संकोच से सिकुड़-बटुर कर इन्द्र-वधू की भाँति बैठ जाती है।

विश्रब्ध नवोढ़ा

जिस नायिका को अपने पति पर कुछ विश्वास तथा प्रेम और रति में अनुराग होने लगता है, उसे विश्रब्ध नवोढ़ा कहते हैं।

विवाह होकर नई पत्नी जब घर में आती है, तब उस पर संकोच और भय का प्रभाव होता है कभी-कभी तो संकोच से उसके मुँह पर लालिमा झलकने लगती है। प्रेम जनित लज्जा से मुख पर लालिमा आ जाना स्वाभाविक-सा है। परन्तु ज्यों-ज्यों भय और लज्जा की मात्रा कम

होती जाती है, त्यों ही त्यों उसमें प्रेम-भाव और रति-अनुराग बढ़ता जाता है, वह नवोढ़ा से विश्रब्ध नवोढ़ा बनती दिखाई देती है। मनोवैज्ञानिक विकास का कैसा सुन्दर विश्लेषण है।

उदाहरण देखिए—

जाहि न चाह कहूँ रति की सु कछू पति को पतियान लगी है।
त्यों 'पदमाकर' आनन में रुचि कानन भौंह कमान लगी है;
देति पिया न छुवै छतियाँ बतियान में तो मुसक्यान लगी है।
पीतमै पान खवाइबे को परियंक के पास लौं जान लगी है।

नायिका पान देने के मिस पति के समीप जाने लगी है। अब उसे उतनी झिझक नहीं रही।

विश्रब्ध नवोढ़ा का नीचे लिखा उदाहरण भी पढ़ने योग्य है—

रैन में जगाई केलि करन न पाई इमि,
ललन सताई परियंक अंक महियाँ।
ससकि असकि कहरति ही बितीती निसा,
मसकि 'प्रवीन बैनी' कीनी चित्त चहियाँ।
भोर भए भौन के सकोन लगि गई सोय,
सखिन जगाइबे को आनि गही बहियाँ।
चौंकि परी चकि परी औचक उचकि परी,
बक परी जकि परी सक परी नहियाँ।

रात-भर की जागी हुई नायिका सवेरे घर के किसी कोने में सो गई। इसी बीच में सखियाँ वहाँ जा पहुँची और हाथ पकड़ कर उसे जगाने लगीं। हाथ छूते ही वह एक दम चौंक पड़ी और सकपका कर "नहीं नहीं" कहने लगी।

इन भेदों के अतिरिक्त साहित्य-दर्पणकार ने मुग्धा के पाँच भेद और किये हैं। अर्थात् १—प्रथमावतीर्ण यौवना, २—प्रथमावतीर्ण मदन विकारा, ३—रतिवामा (जिसे रति में झिझक हो), ४—मानमृदु (अचिर स्थायी मानवती) और ५—समधिक लज्जावती।

प्रथमावतीर्ण यौवन-मदन विकारा रतौवामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिक लज्जावती मुग्धा ॥

—साहित्य-दर्पण

स्वकीया के अन्तर्गत मध्या नायिका-वर्णन

जिस नायिका के हृदय में लज्जा और कामेच्छा दोनों समान रूप से भरी रहती हैं उसे मध्या कहते हैं।

मध्या नायिका में मुग्धा की तरह लज्जा की प्रबलता नहीं होती, जो वह प्रेम को प्रकट ही न होने दे। वह अपने पति के निकट आने पर शर्म से इधर-उधर छिपने की कोशिश नहीं करती, प्रत्युत उसके पास ही बैठ जाती है। उस समय वह झिझक के कारण रसीली बातों में आनन्द लेने में आना कानी नहीं करती। एक ओर प्रेम का प्रभाव उसे पति के पास से उठने नहीं देता, दूसरी ओर लज्जालुता स्पष्ट रूप से हृदगत भावों को प्रकट नहीं होने देती। प्रेम और लज्जा दोनों का पलड़ा समान बना रहता है, न पहला कम और न दूसरा ज़्यादा। यह अवस्था बहुत सूक्ष्म और अचिर स्थायिनी होती है।

कविवर तोषनिधि ने मध्या नायिका का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है। देखिए—

लाज बिलोकन देत नहीं रतिराज बिलोकन ही को दई मति।
लाज कहै मिलिये न कहूँ रतिराज कहै हित सों मिलिये पति।
लाजहु की रतिराजहु की कहै तोष' कछू कहि जाति नहीं गति।
लाल तिहारियै सौंह करों वह बाल भई है दुराज की रैयति।

हे लाल, तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहती हूं, आजकल वह बाला लाज और रतिराज दो राजाओं की रिआया बनी हुई है। कामदेव तो उसे तुमसे मिलने को प्रेरित करता है, परन्तु लाज की आज्ञा होती है कि हरगिज नहीं उनके पास भी न झांको। यहाँ नायिका पर लाज और कामेच्छा दोनों का समान प्रभाव है, अतः यह मध्या नायिका हुई।

और भी देखिए. कविवर व्रजचन्दजी क्या कहते हैं—

ललना लजीली उर काम हू तें कीली नीली—
सारी में लसै ज्यौं घटा कारी बीच दामिनी।
कहूँ 'व्रजचन्द' दुती संग में सहेलिन के,
हेरति हँसति बतराति हंसगामिनी।
तौलौं तहाँ गेह में सुनाह आयो नेह भरो,
बैठि गयौ ताकौं लखि बैठि गई भामिनी।
कन्त हेरे सामुहैं तो अन्त हेरे चन्द्रमुखी,
अन्त हेरे कन्त तब कन्त हेरे कामिनी।

यहाँ भी लाज और रतिराज दोनों का कामिनी पर समान प्रभाव है। वह नायक को देखना तो चाहती है, और देखती भी है, परन्तु ज्योंही नायक उसकी ओर देखने लगता है, त्योंही वह दूसरी ओर देखने लग जाती है। यही भाव नीचे लिखे दोहे में कैसी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है—

देखत बनैं न देखिबो, अनदेखे अकुलाहिं।
इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरज्यौ ही नाहिं॥

आँखें प्रियतम को बिना देखे अकुला उठती हैं और देखने का अवसर मिलता है, तो इनसे भले प्रकार देखा भी नहीं जाता। उस समय वे लज्जा से नीचे झुक जाती हैं।

मध्या के भेद

साहित्य-दर्पणकार ने मध्या के पाँच भेद माने हैं। अर्थात् विचित्र सुरता, प्ररूढ़ स्मरा, प्ररूढ़ यौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यम व्रीडिता। परन्तु हिन्दी साहित्य-ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं किया गया। हिन्दी वालों ने मध्या के धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन भेद माने हैं। ये धीरादि भेद प्रौढ़ा नायका में भी होते हैं, जिनका उल्लेख प्रौढ़ा के साथ किया जायगा।

मध्या धीरा

पति के परकीया के पास जाने पर उसके काम-केलि-सूचक चिन्हों को देखकर जो नायिका व्यंग्य द्वारा रोष प्रकट करती हुई भी पति के प्रति आदर-भाव नहीं त्यागती. वह मध्या धीरा कहाती है। यह नायिका नायक को उसकी अनुचित चेष्टा के लिये झिड़कती तो है. परन्तु बात-चीत में निरादर के भाव नहीं आने देती। वह अपने पति से जान बूझ कर पूछती है, "कहिये प्राणनाथ, आप रात कहाँ रहे। ऐसा क्या काम लग गया, जो घर की सुध-बुध ही भूल गए!" इस प्रकार की मीठी चुटकियों द्वारा एक प्रकार से वह पति को लज्जित कर देती है।

मतिरामजी ने मध्या धीरा का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है, देखिए—

तुम कहा करो कहूँ कामते अटकि परे,
तुम्हें कौन दोस सो तो आपनो ही भाग है।
आए मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही में,
अति हर बरिन बनाय बाँधी पाग है।
मेरे ही वियोग रहे जागत सकल रात,
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मन हू की जानी प्रान प्यारे 'मतिराम' इन
नैनन ही माहिं पाइयतु अनुराग है।

प्राणनाथ, रात ऐसे किस काम में फँस गए थे जो तमाम रात वहीं बिता दी! और अब इतने सबेरे ऐसी घबराहट में उठे चले आए हो कि पगड़ी भी ढंग से नहीं बाँधी! इन अलसाए गात से मालूम होता है कि मेरे वियोग में आपको रात भर नींद नहीं आई! आपके हृदय में मेरे प्रति जो अपार अनुराग का सागर लहरा रहा है, वह आँखों के रास्ते उमड़ा पड़ता है! मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आप मुझसे इतना हित करते हैं! इस पद्य में नायिका ने नायक की कैसी मीठी चुटकियाँ ली हैं।

नीचे लिखा अन्योक्तिपूर्ण पद्य भी मध्या धीरा का उत्कृष्ट उदाहरण है—

झिलि मिलि वृन्दन गुलाब अरबिन्दन के,
कुन्दन कुमोदनि के मोद अनुकूले हो।
कहूँ अनुकूले कहूँ डोले हौ सुबास बसि,
कहूँ रस लोभ के सुभाय लगि भूले हो।
सौरभ सुजाति अधराति मालतीन मिलि,
सरस सुहाग अनुराग अंग फूले हो।
कैसे वह सेवन सुगन्ध तजि मालती को,
कौन बन बेलिन भँवर आजु भूले हो।

यहाँ नायक को भौंरा मान कर उसे कैसे व्यंग्य-बाणों से बींधा गया है। और भी देखिए—

आवत जात के भौन के भीतर नींद भर्यौ रम्यौ बालम बाल सों।
मान को ठान कियो न सयान सो जानि लयो गुरु आनन चाल सों।
अंजन लीक लगी अधरान में, पीक कपोलन जावक भाल सों।
आब गुलाब लै सीरो कर्यौ मुखलाल को पौंछ्यो सफेद रुमाल सों।

नायक के अधरों में अजन-लीक, कपोलों में पान की पीक और मस्तक में जावक लगा देख, नायिका सारा रहस्य ताड़ गई! परन्तु उसने मान नहीं किया बल्कि वह सफ़ेद रूमाल से उसका मुँह पोंछने और गुलाब-जल छिड़क कर उसे शीतलता पहुँचाने लगी।

मध्या धीराधीरा

पति में परस्त्री के साथ की गई काम केलि के चिन्ह देख रो-रोकर व्यंग्य-वचनों द्वारा कोप प्रकाशित करने वाली नायिका मध्या धीराधीरा कहलाती है। नायक रूठी हुई नायिका (धीराधीरा) को मनाता है—उसके निहोरे करता है; परन्तु वह रोती ही जाती है और बार-बार व्यंग्य-बाण छोड़ती हुई कहती है—" मैं रोती हूँ तो रोने दो। मेरे रोने

से तुम्हें क्या ! मैं तुम्हारी कोई लगती थोड़े ही हूँ, जो तुम्हें मेरा कुछ ख़्याल होगा।" इस नायिका के कथन में कुछ प्रकट और कुछ गुप्त रोष होता है। उदाहरण में मतिरामजी का सवैया दिया जाता है—

आजु कहा तजि बैठी हो भूषन ऐसे ही अंग कछू अरसीले।
बोलति बोल रुखाई लियें 'मतिराम' सुने ते सनेह-रसीले।
क्यों न कहो दुख प्रान प्रिया अँसुआन रहे भरि नैन लजीले।
कौन तिन्हें दुख है जिनके तुमसे मनभावन छैल छबीले।

यहाँ रूठी हुई नायिका से नायक पूछता है—"कहो, क्या मामला है, आज आँखों में ये आँसू कैसे हैं। बातें भी कुछ रूखी सूखी करती हो। वस्त्राभूषण भी सब अस्त-व्यस्त दिखाई देते हैं। ख़ैर तो है? कोई तकलीफ़ हो तो बताओ!" नायक की उक्त सब बातों का नायिका अपने एक ही व्यंग्य में उत्तर दे उसे निरुत्तर कर देती है। वह कहती है—"आप भी क्या बहकी बातें करते हैं। भला जिसके आप जैसे छबीले छैल मनभावन हों, उसे भी कोई तकलीफ़ हो सकती है?"

इस प्रसंग में महाकवि पद्माकर का भी निम्नलिखित कवित्त पढ़ने लायक है। देखिए—

ए बलि, कहाँ हो किन? का कहत कन्त? अरी,
रोस तजि, रोस कै कियौ मैं का अचाहे को?
कहै 'पदमाकर' यहै तो दुख दूरि करो,
दोस न कछु है तुम्हैं नेह निरबाहे को।
तौ पै इत रोवति कहा हौ? कहाँ कौन आगे?
मेरेईजु आगे किये आँसुन उमाहे को।
को हौं मैं तिहारी? तू तो मेरी प्रान प्यारी,
अजू होती जो पियारी तब रोती कहौ काहे को!

अर्थ स्पष्ट है। इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक भी प्रसिद्ध है। सम्भव है, इसी का भाव लेकर पद्माकरजी ने उक्त कवित्त रचा हो।

वाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतम् ?
खेदोऽस्मासु. नमेऽपराध्यति भवान सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा ! कस्याग्रतो रुद्यते !
एतन्मम् ! काऽह तवास्मि ! दयिता ! नास्मीत्यतो रुद्यते ।

पद्माकरजी का एक उदाहरण और भी देखिए— ,

कीजियत प्यार आज तेरे पर तेरी सौंह,
तन मन धाम तोपै दीजियत बार-बार ।
कहै 'पदमाकर' सुदेख मृगनैनी दृग,
आँसू भरि आए बिन गुन के निहारि हार ।
नैनन ते आँसू ढरि परे ते कपोलन, क—
पोलन ते गिरे ते उरोजन पै बार-बार ।
बड़े-बड़े मोती मीन देत रजनीसै, रज—
नीस मनों देत संभु सीस पर ढार-ढार ।

मध्या अधीरा

मध्या अधीरा नायिका नायक में अन्य रति सूचक चिन्ह देखकर उससे एक दम रुष्ट हो जाती है, और उसे कटु भाषण पूर्वक बड़े अनादर से, भाँति भाँत की झिड़कियाँ देने लगती है। यथा—'जाओ, जाओ ! जिस कुलटा से लगन लगी है, उसी को प्रसन्न करो ! मेरे आगे इस प्रकार की मुद्रा बनाने और धूर्त्तता दिखाने की आवश्यकता नहीं ! जब तुम्हारे हृदय में मुझ जैसी के लिए कोई स्थान ही नहीं है, तब मेरे पैरों पर गिरने का नाटक दिखाने से क्या लाभ ! इत्यादि—

देखिये, कविवर मतिराम ने मध्या अधीरा का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है।

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम' रहौ तितही जितही मनभायो ।
काहे को सौंहैं हजार करौ तुमतो कबहूँ अपराध न ठायो ।

सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख यों ही कहा रसवाद बढ़ायो।
मान रह्यो ही नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायौ।

रूठी हुई अधीरा नायक के मनाने और सौगन्ध खाने पर कहती है—"तुम्हें रोकता कौन है, जहाँ तुम्हारा मन भावै वहाँ ख़ुशी से जाओ! तुम्हारा दोष कौन बताता है, तुम तो व्यर्थ ही बार-बार शपथ खाते हो। अच्छा, अब व्यर्थ विवाद न बढ़ाओ, मुझे सोने दो। मोहन! यहाँ मान तो है ही नहीं, यदि मानिनी होती, तो मनाए से मान जाती।" दूसरा अर्थ यह कि तुम्हारे हृदय में मेरा कुछ मान (आदर) तो रहा ही नहीं है। यह तो तुम्हारा दिखावटी नाटक है। यदि हृदय में आदर होता तो मैं मनाने से मान भी जाती।

एक उदाहरण और भी पढ़ लीजिए—

साँची कहौं जाकी मानत सौंहजू कौन के नेह रहे सरसे हो।
रैनि जगीं अँखियाँ तरजीं बिरुझीं अँग-अंगन सों परसे हो।
जैहो जहाँ मिलि आए तहाँ हमकों इन बातन सों पर से हो।
चन्द ह्वै कै कितहूं सरसे हमकों रवि ह्वै करिकै दरसे हो।

नायिका कहती है, चन्द्र बन कर तो किसी और जगह रस बरसाते रहे, अब सूर्य बनकर यहाँ दिखाई दिये हो। भाव यह कि चन्द्र रात्रि में दिखाई देता है, इसलिए चन्द्र बन कर यानी रात्रि में तो कहीं अन्यत्र रहे, और सूर्य दिन में उदय होता है—इसलिए सूर्य बन कर अर्थात् दिन में मेरे पास आए हो। दूसरा भाव यह भी कि चन्द्रमा शीतकर होने से प्रायः आल्हाद जनक होता है, और सूर्य प्रखर रश्मि होने से उत्ताप द्वारा प्रायः कष्ट ही देता है। इसी प्रकार आनन्द देने तो दूसरी जगह गए और जलाने के लिए अब यहाँ आए हो।

स्वकीयान्तर्गत प्रौढ़ा या प्रगल्भा

किंचित् लाज युक्त और सम्पूर्ण काम कला सम्पन्न नायिका प्रौढ़ा कहाती है। प्रौढ़ा भय, संकोच और लज्जा को त्याग कर, काम-केलियों

में काल बिताना ही अपना ध्येय बना लेती है। उसके तन, मन और बचन में सदैव मदन की दुन्दुभि बजती रहती है। रातों रति में रत रहने पर भी, प्रौढ़ा की कामवासना तृप्त नहीं होती।

कविवर कालिदास ने प्रौढ़ा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

प्रथम समागम के औसर नवेली बाल,
सकल कलानि करि प्यारे कों रिझायो है।
देखि चतुराई मन सोच भयो पीतम के,
लखि कै चरित्र मन सम्भ्रम भुलायो है।
'कालिदास' ताही समै निपट प्रवीन तिया,
काजर लै भीति ही पै चित्रक बनायो है।
ब्यात लिखी सिंहनी निकट गजराज लिख्यो,
गर्भ ते निकसि छौना मस्तक पै आयो है।

प्रथम समागम काल ही में नायिका की केलि-कुशलता देख, नायक को जो सम्भ्रम हुआ, उसे नायिका ने चित्र बनाकर तुरन्त दूर कर दिया। चित्र का भाव था कि जिस प्रकार सिंह का बालक गर्भ ही से हाथी पर आक्रमण करने का भाव लेकर और उसका प्रकार सीखकर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्त्रियों में भी केलि-कुशलता स्वाभाविक ही होती है। इसमें नायिका का प्रौढ़त्व पूर्णतया प्रकट होता है।

कविवर मतिराम ने "रसराज" में प्रौढ़ा का जो उदाहरण दिया है, उसे भी देखिए—

प्रान प्रिया मनभावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर केलि के पुंज हजार उघारे।
होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम सुंदरि के हिय में दुख भारे।
चन्द्र सो आनन दीपसी दीपति स्याम सरोज से नैन निहारे।

सारी रात रति में रत रहकर भी, प्रातःकाल प्रियतम को शैया से उठ जाने के लिए उद्यत देख नायिका को अत्यन्त दुःख हुआ,

और वह चन्द्र-समान मुख-मण्डल, दीप-शिखा जैसी देह-दीप्ति और नील कमल-से नेत्रों को देखने लगी। इससे नायिका का यह भाव था कि जब चन्द्रमा, दीपक और कुमुदिनी मौजूद हैं, तो निश्चय ही अभी रात्रि है, फिर नायक उठ कर क्यों जाना चाहता है।

प्रौढ़ा के भेद

प्रौढ़ा के धीरा आदि तीन भेद तो पहले ही बताए जा चुके हैं। उनके अतिरिक्त हिन्दी रीति-ग्रन्थों में रति-प्रीता और आनन्द-सम्मोहिता दो भेद और भी माने गये हैं। इनके लक्षण और उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

रति-प्रीता

जो नायिका रति में अत्यन्त निरत रहती है, उसे रति-प्रीता कहते हैं। रतिप्रीता नायक के बाहुपाश से एक क्षण के लिए भी अलग होना नहीं पसन्द करती। प्रातःकाल होने पर भी वह विविध बहाने बनाकर पति को यही भुलावा देना चाहती है कि अभी काफ़ी रात बाक़ी है, तुम अभी से उठने की क्यों चिन्ता करते हो।

कविवर कालिदास का नीचे लिखा पद्य रति-प्रीता का सुन्दर उदाहरण है, देखिए—

> रति-रन बिसै जे रहे हैं पति सनमुख
>
> तिन्हैं बकसीस बकसी है मैं बिहँसि कै।
>
> करन कों कंकन उरोजन कों चन्द्रहार,
>
> कटि कों सुकिंकिनी रही है कटि लसि कै।
>
> 'कालिदास' आनन कों आदर सों दीन्हों पान,
>
> नैनन कों कज्जल रह्यो है नैन बसि कै।
>
> एरी बीर, बार ये रहे हैं पीठि पाछे याते,
>
> बार-बार बाँधति हों बार बार कसि कै।

उक्त पद्य में नायिका का सखी से बातचीत करते हुए भी प्रणय-प्रसंग की ही चर्चा करना वर्णित है। इससे उसका रति में अत्यन्त निरत होना व्यक्त होता है, अतः वह रति-प्रीता हुई। इस प्रसंग में प्रवीणजी का भी यह पद्य पढ़ने लायक़ है—

कूर कुरकुट कोटि कोठरी निवारि राखौं
चुनि दै चिरैयन कों मूँदि राखौं जलियो।
सारंग में सारंग मिलाऊँ हो 'प्रवीन' राव,
सारंग दै सारग की जोत करौं थलियो।
तारा-पति तुम सों कहति, कर जोरि-जोरि,
भोर मति करियो सरोज मुद कलियो।
मोहि मिल्यौ इन्द्रजीत धीरज नरेन्द्रराज,
ए हो चन्द. आजु नेक मन्द गति चलियो।

यहाँ भी नायिका कुक्कुटों और चिड़ियों को इसलिए मूँद रखना चाहती है कि वे प्रभात होने की सूचना न दे सकें। वह चन्द्रदेव से भी यही प्रार्थना करती है कि प्रथम तो तुम आज सबेरा करना ही मत और यदि इतना न कर सको तो आज अपनी चाल तो अवश्य ही बहुत धीमी रखना, जिससे रात्रि अधिक देर तक रहे।

आनन्द-सम्मोहिता

रति के सुख से पैदा हुए आनन्द में निमग्न रहने वाली नायिका को आनन्द-सम्मोहिता कहते हैं। यह रति के आनन्द में इतनी विभोर हो जाती है कि इसे अपने तन बदन की भी सुध नहीं रहती। सम्भोग की अवस्था में सारा शृंगार जिस प्रकार अस्त-व्यस्त हो गया, उसी प्रकार दिखाई दे रहा है, परन्तु वह आँखें मूँदे सुरत-सुख की स्मृति में तल्लीन है। देखिए—

कुन्दन की छरी आबनूस की छरी सों मिली,
सोन जुही माल किधौं कुबलय हार सौं।

कैधौं चन्द्र-चन्द्रिका कलंक सौं कलित भई,
कैधौं रति ललित बालन भई मार सौं।
'कालिदास' मेघ माहि दामिनी मिली है कैधौं,
अनल की ज्वाल मिली कैधौं धूम धार सौं।
केलि समै कामिनी कन्हैया सों लपटि रही,
कैधों लपटानी है जुन्हैया अन्धकार सौं।

भाव स्पष्ट है। कृष्ण के साथ रति-निरत नायिका की कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हैं।

प्रौढ़ा (प्रगल्भा) धीरा

जो नायिका पति में पर स्त्री रति सूचक चिन्ह देख, रति-क्रिया में मान सहित उदासीन रहे, परन्तु पति के प्रति आदर-भाव ज्यों का त्यों बनाए रखे, उसे प्रौढ़ा धीरा या प्रगल्भा धीरा कहते हैं। यह नायिका प्रियतम की इच्छा पूरी न कर बात को बड़ी चतुराई से उड़ा देती है।

उदाहरण देखिए—

जगर-मगर दुति दूनी केलि मन्दिर में,
बगर-बगर धूप अगर बगार्‌यौ तू।
कहै 'पदमाकर' त्यौं चन्द ते चटकदार,
चुम्बन में चारु मुख चन्द अनुसार्‌यौ तू।
नैनन में बैनन में सखो और सैनन में,
जहाँ देखो तहाँ प्रेम पूरन पसार्‌यौ तू।
छिपत छिपाए तऊ छल न छबीली अब,
उर लागवे की बार हार न उतार्‌यौ तू।

नायिका ने केलि मन्दिर की सजावट भी खूब की है। वह बात-चीत में भी पूर्ण प्रेम प्रदर्शित कर रही है, परन्तु हृदय से लगने के समय गले का हार नहीं उतारती। इसी में उदासीनता दिखाती हुई आलिंगन क्रिया को टाल रही है। यही उसका धीरत्व है। कविवर मतिराम ने भी प्रौढ़ा धीरा का सुन्दर उदाहरण दिया है, उसे भी देख लीजिए—

वैसे ही चितै कै मेरे चित्त को चुरावति हौ,
बोलति हौ वैसेई मधुर मृदुबानी सों।
कवि 'मतिराम' अंक भरत मयंक मुखी,
वैसे ही रहति गहि भुज लातकानि सों।
चूमति कपोल पान करति अधर रस,
वैसे ही निहारी रीति सकल कलानि सों।
कहा चतुराई ठानियत प्रान प्यारी तेरो,
मान जानियत रूखी मुख मुसक्यानि सों।

यहाँ भी नायिका की सब क्रियाएँ पूर्व जैसी ही हैं। वह मधुर भाषण, चुम्बन आलिंगन आदि सब कुछ करती है, परन्तु उसकी मुस्कराहट में वह सरसता नहीं। सूखी हँसी स्पष्ट जता रही है, कि वह नायक से कुछ खिंची हुई है।

प्रौढ़ा (प्रगल्भा) धीराधीरा

प्रगल्भा धीराधीरा व्यंग्य-वचनों द्वारा नायक की मानपूर्ण चुटकियाँ लेने तथा उसके प्रति तर्जन ताड़न द्वारा कोप प्रकट करने में, तनक भी संकोच नहीं करती। कभी-कभी तो वह नायक से यहाँ तक कह डालती है—"अहा हा! कैसे सुन्दर मालूम देते हो। उसके नखक्षतों ने तो आज आपकी शोभा और भी बढ़ा दी है! क्या कहने हैं!!"

पद्माकरजी ने प्रौढ़ा धीराधीरा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

छवि अलकन भरी पीक पलकन त्यौं ही,
स्रम-जल-कन अलकन अधिकाने व्वै।
कहै 'पदमाकर' सुजान रूपखानि तिया,
ताकि-ताकि रही ताहि आपुही अजाने है।
परसत गात मनभावन को भावती की
गईं चढ़ि भौंहैं रही ऐसे उपमाने छ्वै।

मानो अरविन्दन पै चन्द्र को चढ़ाय दीन्हो,
मान कमनैत बिन रोदा की कमानें द्वै ।

नायक के शरीर में रति-चिन्ह देख कर पहले तो नायिका अनजान-सी देखती रही, परन्तु ज्यों ही प्रिय ने उसका शरीर छुआ, त्यों ही भावती की भौंहें चढ़ गईं ।

इस प्रसंग में कविवर मतिराम का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है । देखिये —

पीतम आए प्रभात प्रिया ढिग रात रमें रति-चिन्ह लिये ही ।
बैठि रही पलँगा पर सुन्दरि नैन नवायके धीर धरे ही ।
बाँह गहे 'मतिराम' कहे न रही रिस मानिनि के हठ कै ही ।
बोली न बोल कछू मतराय पै भौंहें चढ़ाय तकी तिरछैही ।

रति-चिन्हों से युक्त प्रियतम के प्रभात-समय अपने पास आने पर, प्रिया निगाह नीची किये चुपचाप पलँग पर बैठी रही । अन्त में प्रियतम ने उसका हाथ पकड़ा, तब भी वह बोली नहीं, केवल भौंहें चढ़ा कर टेढ़ी निगाह से देखती रही ।

इसी के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा भी कैसा सुन्दर है—

आवत उठि आदर कियो बोले बोल रसाल ।
बाँह गहत नँदलाल के भये बाल दृग लाल ।।

प्रौढ़ा (प्रगल्भा) अधीरा

प्रगल्भा अधीरा नायिका पति में परस्त्री के साथ की गई रति के चिन्हों को देखकर उसे मान से डाटती, डपटती और कभी-कभी उस पर प्रहार भी कर बैठती है । हाथ झटक तथा धक्का देकर वह नायक से कहती है—" खबरदार मेरा हाथ छुआ तो ! मैं तुम्हारी कौन हूं ! जो लगती हो, उसी के पास जाओ, और उसी के साथ रंग-रेलियाँ करो ।"

उदाहरण में पद्माकरजी का नीचे लिखा कवित्त देखिये—

रोस करि पकरि परौसते लियाई घरै,
पीकों प्रानप्यारी भुज लतनि भरै भरै।
कहै 'पदमाकर' ये ऐसो दोस कीनों फिरि,
सखिन समीप यों सुनावति खरै खरै।
प्यौछल छिपावै बात हँसि बहरावै, तिय
गदगद कण्ठ दृग आँसुन झरै झरै।
ऐसी धन धन्य धनी धन्य हैं सु ऐसो जाहि,
फूल की छरी सों खरी हनति हरै हरै।

नायिका नायक को पड़ौस में से 'रँगे हाथों' पकड़ लाई है, और सब सखियों के सामने उसे अनेक खरी-खोटी सुना रही है। प्रिय अपना दोष छिपाना और हँसी में बात टालना चाहता है, परन्तु नायिका उसे कब छोड़ने वाली है। वह फूल की छड़ी से धीरे-धीरे उसकी ताड़ना भी करती जाती है।

इसी भाव का मतिरामजी का पद्य भी पढ़ लीजिये—

जाके अंग-अंग की निकाई निरखत आली,
वारने अनंग की निकाई कीजियतु है।
कहै मतिराम' जाकी चाह ब्रज नारिन को,
देह अँसुआन के प्रवाह भीजियतु है।
जाके बिन देखे न परत कल तुम हू को,
जाके बैन सुनत सुधा-सी पीजियतु है।
ऐसे सुकुमार पिय नन्द के कुमार कौं यों,
फूलन की मालन की मार दीजियतु है।

यहाँ नन्दलाल पर भी फूल-मालाओं की मार पड़ रही है। ठीक है, दबी बिल्ली चूँहों से कान कटाती है।

मध्या और प्रौढ़ा के अन्य भेद

स्वभावानुसार मध्या और प्रौढ़ा के अन्य सुरत दुःखिता, गर्विता और मानवती ये तीन भेद और भी होते हैं।

अन्य सुरत दुःखिता

किसी दूसरी स्त्री के शरीर पर प्रिय सम्भोग-चिन्ह देखकर दुखी होने वाली नायिका अन्य सुरत दुःखिता कहाती है।

अन्य सुरत दुःखिता और खण्डिता में अन्तर यह है कि पहली किसी स्त्री के शरीर पर स्वपति के साथ की गई काम-केलि के चिन्ह देखकर अत्यन्त दुखी होती है, और दूसरी अपने पति के शरीर पर पर-स्त्री-सम्भोग-जनित चिन्ह देखकर मान करती है।

अन्य सुरत दुःखिता का उदाहरण कमला-पति ने इस प्रकार दिया है—

गुन एक अपूरन तो मे लख्यौ सुतौ सीखिवे की अभिलाष करौं।
'कमलापति' तोसी हितू है तुही, लखि कै सब भाँति अनन्द भरौं।
यहि हेत कहौ यह बात बलाय ल्यौं दूजौ उपाय न चित्त धरौं।
चित और को हाथ में लीवो बताय दे पाहुनी पायन तेरे परौं।

यहाँ नायिका पाहुनी के शरीर में रति-चिन्ह देखकर दुखी होती हुई, व्यंग्य-वचनों द्वारा उसे उपालम्भ दे रही है—"हे पाहुनी, पराया चित्त कैसे चुराया जाता है, इसकी विधि कृपा कर मुझे भी बता दे। मैं तेरे पैरों पड़ती हूँ।"

इस प्रसंग में पद्माकरजी का उदाहरण भी देखिये—

धोय गई केसरि कपोल कुच गोलन की,
पीक लीक अधर अमोलन लगाई है।
कहै 'पदमाकर' त्यों नैन हूँ निरंजन भे,
तज तन कम्प देह पुलकनि छाई है।
बाद मति ठानै झूठ वादिनि भई री अब,
दूतपनो छोड़ि भूतपन में सुहाई है।

आई तोहि पीर न पराई महा पापिनि तू,
पापी लों गई न कहूँ वापी न्हाइ आई है।

प्रियतम को बुलाने के लिए भेजी गई दूती जब लौटकर आई तो, नायिका ने उसकी दशा देखकर समझ लिया कि यह तो स्वयं ही गड़बड़ कर आई है। नायिका ने जब उससे पूछा कि "तेरे कपोलों और कुचों पर से केसर कैसे छूट गई और आँखों का काजल कहाँ उड़ गया" तो वह कहने लगी—मैं बावड़ी में स्नान कर आई हूँ। इस पर नायिका कुपित होकर कहती है—पापिन, क्यों झूठ बोलती है! तू बावड़ी नहा आई है! उस पापी तक नहीं गई? अन्य सुरत दुःखिता का कितना स्पष्ट उदाहरण है।

इसी भाव का एक संस्कृत श्लोक भी है। सम्भव है, पद्माकरजी ने उसी के आधार पर उपर्युक्त कवित्त लिखा हो। वह श्लोक इस प्रकार है—

निःशेष च्युत चन्दनं स्तनतटं निर्मृष्ट रागोऽधरः।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु॥
मिथ्यावादिनि दूति बाँधवजनस्याज्ञात पीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

इस प्रसंग में नीचे लिखा पद्य भी कितना उत्कृष्ट है—

चाख्यौ कै पियूख अभिलाख्यौ कै अनन्द उर
भाख्यौ ना बनत 'ईस' और जो कपट में।
धरत कहूँ को पाँय परत कहूँ को जाय,
करति कला तू भाय जैसी नाहिं नट में।
जान ना दुराव तू अजान ना दुराव भले,
मेरे जान आई आज कारे के झपट में।
कालिंदी के तीर तू अकेली तजी भीर वीर,
लैन गई नीर भरि लाई नेह घट में।

अरी, तू कितना ही क्यों न छिपा; परन्तु तेरी ये लटपटी चाल और अटपटी बातें साफ़ जाहिर कर रही हैं कि तू आज काले (कृष्ण) के

झपट्टे में आ गई ! तू गई तो थी भीड़ में बचकर अकेली जमना तट से पानी भरने, परन्तु भर लाई तू घट हृदय में प्रेम। यह क्या कर डाला ! छिपाती क्यों है, साफ़-साफ़ बता कि क्या माजरा है !

गर्विता

जो नायिका अपने रूप या प्रिय के प्रेम का गर्व करती तथा उसे वक्रोक्तियों द्वारा प्रकट करती रहती है, उसे गर्विता या वक्रोक्ति-गर्विता कहते हैं।

इस गर्विता या वक्रोक्तिगर्विता के दो भेद हैं। १—रूप-गर्विता और २—प्रेम-गर्विता। कुछ लोगों ने गर्विता का 'गुण-गर्विता' भेद भी माना है।

रूप-गर्विता

जो नायिका अपने रूप का गर्व करती है, उसे रूप-गर्विता कहते हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि शङ्कर का उत्कृष्ट उदाहरण देखिए—

आनन की ओर चले आवत चकोर मोर—
दौरि-दौरि बार-बार बैनी झटकत हैं।
झूमि-झूमि चखन को चूमि-चूमि चञ्चरीक,
लटकी लटन में लिपटि लटकत हैं।
बैठि-बैठि 'शङ्कर' उरोजन पै राजहंस,
मोतिन के तार तोरि-तोरि पटकत हैं।
आज इन बैरिन सों वन में बचावै कौन,
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं।

रूप गर्विता नायिका ने अपना सौन्दर्य कैसे सुन्दर ढंग से बयान किया है। वह यह नहीं कहती कि मेरा मुँह चन्द्रमा जैसा है, मेरी लटें नागिन सरीखी है, मेरी आँखें कमल के समान हैं, बल्कि इन्हीं बातों को वह बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त करती है। वह कहती है—न जाने चकोर क्यों मेरे मुँह की ओर दौड़-दौड़ कर आते हैं, इन मोरों को भी क्या हो

गया है, जो मेरी लटकी हुई लटों को पकड़ कर झटकते हैं। ये भौंरे भी बार-बार मेरी आँखों के पास आ-आकर न जाने क्यों मँडराते हैं।" अभिप्राय यह कि चकोर चन्द्रमा को बहुत चाहते हैं। नायिका के मुख की ओर उनके उड़-उड़ कर आने का मतलब यह कि उसके मुँह को देखकर उन्हें चन्द्रमा का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार भ्रमरों को उसकी आँखों से कमल का और वेणी से मोरों को सर्प का भ्रम होता है। कवि की क्या ही अनौखी सूझ है। नायिका ने कैसी वक्रोक्तियों द्वारा अपने रूप की प्रशंसा की है।

नीचे लिखा कवित्त भी रूप-गर्विता का बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

नैंक जो हँसो तो लाल माल होत हीरन की,
नैंक जो मुरों तो मेरी नील मनि झलकी।
अंजुरी भरी है मुख धोइवेकों झारी लैकै,
सखिन निहारी दुति राती होति जल की।
जो मैं रचों चीर तो कुचील जुरे जोबन न,
देखिबे को आँखें गुनधरहू की ललकी।
आँगन कढ़ों तो भौंर भीरन अँधेरो होत,
पाय जो धरों तो महि होत मखमल की।

उपर्युक्त छन्द में भी रूप-गर्विता नायिका ने अपना सौन्दर्य बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है।

प्रेम-गर्विता

पति-प्रेम पर इतराने वाली नायिका को प्रेम-गर्विता कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

आँखिन में पुतरी ह्वै रहैं हियरा में हरा ह्वै सबै रस लूटैं।
अंगन संग बसैं अँगराग ह्वै जीवते जीवन मूरिन टूटैं।
'देवजू' प्यारे के न्यारे सबै गुन सो मन मानिक तैं नहिं छूटैं।
और तियान तें तौ बतियाँ करैं मो छतियाँ ते छिनौ जब छूटैं।

यहाँ नायिका को अपने पति प्रेम का इतना विश्वास और गर्व है कि वह दृढ़ता पूर्वक कह सकती है—" और तियान तें तौ बतियाँ करें मो छतियाँ ते छिनौ जब छूटैं।" दूसरी स्त्रियों से तो वह तब ही न बातें करेंगे, जब मुझ से अलग होंगे। वह तो मुझसे क्षण-भर के लिए भी अलग नहीं होते। प्रेम-गर्विता का कितना सुस्पष्ट और सुन्दर उदाहरण है। नायिका ने वक्रोक्ति द्वारा किस प्रकार अपने प्रति पति-प्रेम की प्रगाढ़ता प्रदर्शित की है।

मानवती

पति के अपराध से अप्रसन्न होकर मान करने वाली नायिका को मानवती कहते हैं।

मानवती के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया देखिये—

ये घन घोर उठे चहुँ ओर इन्हें लखि का करिहै रिस ह्वै तू।
सौति पै जाय है जो 'कमलापति' पाइहै छाँह छिनैकन छ्वै तू।
जानि लई अब ही सिगरी कलपैहै सु हाथ के हीर को ख्वै तू।
पाँय परे हू न मानती री अब जाजनि ऐसी मिजाजिनि है तू।

किसी मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति है। सखी कहती है—'अरी बावली इन उमड़-घुमड़ कर घिर आने वाली, घन-घटाओं को तो देख। क्या इन्हें देखती हुई भी तू मान-मुद्रा नहीं तोड़ेगी। याद रख, अभी तो कुछ नहीं बिगड़ा, परन्तु यदि वह भी अकड़ गए और सौत के पास चले गए तो फिर तुझे उनकी परछाई भी देखने को न मिलेगी। अब तो तू जान बूझ कर अपने हाथ के हीरा को खोए दे रही है, पीछे पछतायगी। चल रहने दे! प्रिय के पैरों पड़ने पर भी नहीं मानती! ऐसा भी क्या रूँठना।

इसी सम्बन्ध में नीचे लिखा सवैया भी कितना सुन्दर है—

मानी न मानवती भयो भोर सु सोच तें सोय गए मनभावन।
तेहते सासु कही दुलही भई बार कुमार को जाव जगावन।

मान को रोस जगैवे की लाज लगी पगनूपुर पाटी बजावन ।
सो छवि हेरि हिराय रहे हरि कौन को रूसिवो काको मनावन ।

रात को बहुत रात तक मनभावन ने मानिनी को मनाया, पर वह न मानी । प्रातःकाल होने पर नायक को नींद आ गई वह सो गया । उसे सोता देख मानवती की सास ने उसे ही नायक को जगाने भेजा । अब वह मान के कारण पति को बोलकर जगा भी नहीं सकती, उधर सास की आज्ञा भी कैसे टाली जाय । अन्त में पैर के बिछुए पलँग की पाटी से खटखटा कर बजाने लगी । नायिका की उस चतुराई को देखकर हरि (नायक) भी 'हिराय' रहे ! फिर भला किसका रूठना और कैसा मनाना ।

स्वकीया के विशेष भेद

ज्येष्ठा और कनिष्ठा

यदि किसी नायक के कई स्त्रियाँ हों, तो उसकी सबसे अधिक प्यारी स्त्री ज्येष्ठा और शेष कनिष्ठा कहाती है । कविवर मतिराम ने अपने नीचे लिखे कवित्त में ज्येष्ठा और कनिष्ठा का कैसा सुन्दर वर्णन किया है । देखिये—

बैठीं एक सेज पै सलौनी मृग-नैनी दोऊ,
आनि तहाँ पीतम सुधा-समूह बरसै ।
कवि मतिराम' ढिंग बैठ्यो मनभावन के,
दुहूँ के हिये में अरविन्द मोद सरसै ।
आरसी दै एक सों कह्यौ यों निज मुख लखौ.
अरविन्द वारिज विलास कर दरसै ।
दरप सों भरी जौलों दरपन देखै तौलों,
प्यारे प्रान प्यारी के उरोज हरि परसै ।

भाव स्पष्ट है । नायक अपनी चतुराई से कनिष्ठा को दर्पण देखने में लगाकर ज्येष्ठा का आलिंगन करता है ।

इसी के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा कितना उत्कृष्ट है—

तीज परब सौतिन सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजी चीर॥

तीज के त्यौहार पर सभी सपत्नियों ने वस्त्रालङ्कारों से अपने-अपने शरीर अलंकृत किये। परन्तु उस मरगजे (मसले हुए) वस्त्रों वाली ने सबके मुख मरगजे (मर्दित)—से कर दिये।

साहित्य-दर्पणकार ने प्रौढ़ा नायिका के छह भेद और भी माने हैं, जिनके नाम ये हैं—

१—स्मरान्धा, २—गाढ़तारुण्या, ३—समस्त रति-कोविदा, ४—भावोन्नता, ५—दरव्रीड़ा और ६—आक्रान्त नायिका। हिन्दी रीति-ग्रन्थकारों ने प्रायः इन भेदों का उल्लेख नहीं किया, इसलिए हम भी यहाँ इनके लक्षण मात्र लिख देना ही पर्याप्त समझते हैं।

स्मरान्धा—काम-कला में अन्धी होकर सुध-बुध विसार देने वाली नायिका स्मरान्धा कहाती है।

गाढ़ तारुण्या—सविशेष तारुण्य युक्त नायिका गाढ़ तारुण्या कहाती है।

समस्त रति-कोविदा—समस्त काम-कलाओं—रति के आसनादिकों—को जानने वाली नायिका को समस्त रति-कोविदा कहते हैं।

भावोन्नता—भ्रू-कटाक्षादि संकेतों द्वारा रति विषयक मनोभाव प्रकट करने वाली भावोन्नता कहलाती है।

दरव्रीड़ा—जिसे काम-क्रीड़ाओं में नाम मात्र को लज्जा रह गई हो।

आक्रान्त नायिका—सुरत के पश्चात् बिगड़े हुए शृङ्गारादि सँवारने के बहाने से नायक को पुनः रति-क्रीड़ा में प्रवृत्त कर मुग्ध होने वाली।

परकीया नायिका

जो स्त्री छिप कर पर-पुरुष से प्रेम करती है, उसे परकीया कहते हैं।

उदाहरण में कविवर गोविन्दजी का एक पद्य उद्धृत किया जाता है। देखिए—

दिन अरु रैनि गृह-काज बिसराय गयो,
मूरति रसाल मेरे मन में अरति है।
जबहीं जसोदा सुत गैया लैके बन जाय,
मन्द मुसक्यानि मोकों नाहिं बिसरति है।
'गोबिन्द' गोपालजू की मूरति अनौखी देखि,
ज्ञान अरु ध्यान बुद्धि सबही जरति है।
मैंने समुझायो मन कोटि करि बार-बार,
उन्हें बिन देखे मोहि कल ना परति है।

गौएँ ले जाते हुए गोपाल की मोहनी मूर्ति देखकर, नायिका घर के सब काम-काज भूल गई! उसकी सारी सूझ-समझ भी बिसर गई। मोहन पर मुग्ध हुए मन को करोड़ों बार मना किया पर वह मदन गोपाल की मधुर मुसकान पर ऐसा मस्त है कि बिना उनके उसे कल ही नहीं पड़ती।

देखिये ग्वाल कवि ने परकीया का वर्णन कैसी सुन्दरता से किया है—

गोपी गति लोपी की सुनी मैं बात कैयन पै,
मोकों तो कुजातिनी कमीन कहि बोली वे।
आपने न औगुन गनत परपति पगी,
ऐसी बेसरम करें मोही सों ठठोली वे।
ग्वाल कवि छिपि-छिपि कै अँधियारी रातिन में,
सोये पति लागि कै किवार बन्द खोलीं वे।
वनन में बागन में जमुना किनारन में
खेतन खदान में खराब होत डोली वे।

परकीया के सम्बन्ध में आनन्दघनजी का उदाहरण भी देखिए—

क्यों हँसि हेरि हरयौ हियरा अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे को बोलै सुधा-सने बैननि नैननि में न सलाका चढ़ाई।

सो सुधि मो हिय ते 'घनआनँद' सालति क्यों हूँ कढ़े न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीति की पाटी इते पै न जानिये कौने पढ़ाई।

क्यों तो उसने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखकर मेरा मन मोह लिया, और न जाने क्यों प्रेम-पूर्ण व्यवहार करके अनुराग बढ़ाया। उसकी वाणी भी कैसी मधुर थी। बोलते समय कानों में सुधा-बिन्दु से पड़ते थे। उसकी इन सब बातों की मुझे रह-रह कर याद आती है। बहुतेरा भुलाना चाहता हूँ, परन्तु वे भूलती ही नहीं।

परकीया के भेद

परकीया नायिका के दो भेद हैं। १—ऊढा परकीया और २—अनूढ़ा परकीया। इन्हीं को विवाहिता और अविवाहिता भी कहते हैं।

ऊढा

जो विवाहिता स्त्री अपने पति से प्रेम न कर, गुप्तरूप से परपुरुष के प्रेम-पाश में फँसी रहती है, वह ऊढा परकीया कहाती है। उदाहरण देखिए—

सूखी-सी स्रमी-सी भ्रमी व्याकुल-सी बैठी कहूँ,
नजरि लगी है तृन तोरि-तोरि नाख्यौ मैं।
'बैनी कवि' भोर ही ते भौंरी भई डोलति हौं,
राज करो जाय यह काज अभिलाख्यौ मैं।
ललकै हमारो जीय बोलेना बिलोके क्यों हूं,
मुख आँखें मूँदि रही यातें दीन भाख्यौ मैं।
पलकें उघारों कैसे कढ़ि जाय आँखिन तें,
सोर ना करौरी चितचोर मूँदि राख्यौ मैं।

चित्त-चोर की छवि नायिका की आँखों में बस गई है। कहीं आँखें खोलने से वह छवि निकल न जाय, इसलिए वह उन्हें खोलना नहीं चाहती। सखी समझती है, न जाने इसे क्या हो गया है, जो न बोलती है

और न आँखें खोलती है। वह सबेरे से ही घबराई हुई-सी भागी फिरती है। नज़र लग जाने का सन्देह कर उसने टोना टन-मन भी बहुत किये हैं। पर यहाँ तो ऐसी नज़र लगी है, जो साधारण झाड़-फूँक से दूर नहीं हो सकती, उसका प्रतीकार तो स्वयं वह नज़र ही है।

कविवर पद्माकरजी ने ऊढ़ा का उदाहरण यों दिया है—

गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन-बीथिन में बढ़ि जैये।
त्यों 'पदमाकर' कुंज कछार बिहार पहारन में चढ़ि जैये।
है नँदनन्द गोविन्द जहाँ तहाँ नन्द के मन्दिर में मढ़ि जैये।
यों चित चाहत एरी भटू मनमोहनै लैकै कहूँ कढ़ि जैये।

यहाँ नायिका चाहती है कि सब घरबार और पुर-परिवार परित्याग कर मनमोहन को साथ ले, किसी निविड़ वन, कुञ्ज, कछार या गिरिगुहा में जा बैठें।

इस प्रसंग में मतिरामजी का भी यह उदाहरण देखने लायक़ है—

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नैंकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजे।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।

इस गाँव में जब किसी की ओर तनक देखने मात्र से कलंक लगता है, तब भला निर्वाह कैसे हो सकेगा। यहाँ भला निःशंक होकर मनमोहन की रूप-सुधा का पान कैसे किया जा सकेगा? अब तो इसका एक ही उपाय है, वह यह कि कहीं वन में जाकर कठिन तपस्या की जाय जिससे अगले जन्म में हम वनमाल या मुरली बन सकें। बस तभी निर्भयता पूर्वक मोहन के हृदय का आलिंगन या अधरामृत का पान किया जा सकेगा।

अनूढा

जो अपनी कौमारावस्था में ही गुप्त रूप से किसी पुरुष के प्रेम-पाश में फँस जाती है, उसे अनूढा (परकीया) कहते हैं। उदाहरण देखिए—

प्रीति पतिव्रत सों बल बैर कहौ केहि भाँति भटू भ्रम भागै।
काज सरै तो लजाति हौं लाजन लाज सरै तो बिदा हित माँगै।
ह्वै रही साँप-छछूँदर की गति काम अकाम हिये अनुरागै।
ऐसो उपाय बताय सखी हरि अंक लगै पै कलंक न लागै।

नायिका (अनूढा) बड़े असमंजस में पड़ी है, प्रीति निबाहती है, तो पतिव्रत' नष्ट होता है और 'पतिव्रत' रक्खा जाय तो प्रीति हाथ से जाती है। लाज रखे तो काज नहीं सरता और काज पूरा किया जाय तो लाज बिदा होती है। साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है। ऐसी विषम परिस्थिति में वह सखी से पूछती है—हे सखी, अब तू ही कोई ऐसा उपाय बता जो मोहन से मिलना भी हो जाय और कलंक भी न लगे।

इस प्रसंग में पद्माकरजी ने नीचे लिखा उदाहरण दिया है—

जाव नहीं कुल गोकुल में अरु दूनी दुहूँ दिसि दीपति जागै।
त्यौं 'पदमाकर' जोई सुनै जहाँ सो तहाँ आनँद में अनुरागै।
ए दई ऐसो कछू करि ब्यौंत जु देखैं अदेखिन के दृग दागै।
जामें निसंक ह्वै मोहन को भरिये निज अंक कलंक न लागै।

यहाँ भी दैव से ऐसा कोई उपाय सुझा देने की प्रार्थना की गई है, जिसमे मोहन को गले भी लगाया जा सके और लोकापवाद भी न हो; और भी देखिए—

गोप सुता कहै गौरि गुसाँइनि पाय परों बिनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नैसुक चित्त दया रस भीजै।
देहिं जो ब्याहि उछाह सों मोहनै मात-पिता हू के सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नन्दकुमार बसै उर जो बर सो बर दीजै।

यहाँ कुमारी (अनूढा) गोपबाला पार्वतीजी से प्रार्थना कर रही है, हे देवी, मेरे माता-पिता को ऐसी बुद्धि दो, जिमसे वे मोहन के साथ मेरा विवाह कर दें, क्योंकि वही मेरे हृदय में बसा हुआ है।

भेद

उपर्युक्त ऊढ़ा और अनूढा दोनों प्रकार की नायिकाओं के उद्बुद्धा और उद्बोधिता ये दो-दो भेद हैं।

उद्बुद्धा

जो स्वयं अपनी इच्छा से प्रेरित होकर उपपति से प्रेम करती है, वह उद्बुद्धा कहाती है।

यथा—

बिलखि बिसूरै छुन मौन ह्वै छली-सी अलि,
चौंकत चहूँधा हेरि ऐसी चोप चटकी।
काल्हि ही तैं कलप समान पल बीत्यौ रहि,
बान-सी हिये में तान बाँसुरी की खटकी।
कवि 'लछिराम' कल कनक लता लौं लकि,
लोटति अटारी पै नवेली बङ्क लटकी।
झाँझरी सौं औचक निहारी फहरानि आजु,
रसिक सिरोमनि, तिहारे पीत पटकी।

यहाँ नायिका झरोखे में होकर मोहन का पीत पट देख उन पर मुग्ध हो गई है। उसी समय से उसकी जो दशा हो रही है, उसका वर्णन उक्त पद्य में किया गया है।

उद्बोधिता

जो स्त्री उपपति द्वारा प्रेरित होकर प्रेम में प्रवृत्त होती है, वह उद्बोधिता कहाती है। उद्बोधिता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

पहले हम जाइ दयो कर में तिय खेलति ही घर में फरजी।
बुधिवन्त एकन्त पढ़ो तबहीं रतिकन्त के आनन लै लरजी।
बरजी हमैं औरै सुनाइबे कों कहि 'तोष' लख्यो सिगरी मरजी।
गरजी ह्वै दियो उन पान हमैं पढ़ि साँवरे रावरे की अरजी।

यहाँ नायक पत्र द्वारा नायिका से प्रेम प्रदान करने की प्रार्थना करता है। उसी पत्र को लेजाने वाली दूती नायक से कह रही है, नायिका ने आपका पत्र पढ़ लिया था, मुझसे कहीं किसी से उसकी चर्चा न करने के लिए भी कह दिया है।

परकीया के अन्य छह भेद

परकीया नायिका के सुरत गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता ये छह भेद और भी हैं।

सुरत गुप्ता

पर पुरुष के साथ की गई रति के चिन्हों को छिपाने वाली परकीया सुरत गुप्ता कहाती है। यथा—

भलो नहीं यह केवरो सजनी गेह अराम।
बसन फटै कंटक लगै निसिदिन आठौ याम। (मतिराम)

यहाँ नायिका प्रेमी के साथ की गई रंग-रेलियों में फटे वस्त्रों को, घर में लगे केवड़े के मत्थे मढ़ती हुई रति की बात छिपाती है। वह कहती है—" सखी, यह केवड़े का वृक्ष तो बड़ा ही दुःखदायी है। जब उसके पास होकर निकलो, तभी उलझकर कपड़े फटते हैं, और काँटे तो चौबीसों घंटे लगा करते हैं। देखो न मेरे वस्त्रों का क्या हाल होगया! काँटों के लगने से शरीर में जगह-जगह क्षत हो गए हैं।

सुरत गुप्ता के भेद

सुरतगुप्ता तीन प्रकार की होती है। १—भूत सुरत संगोपना, २—वर्तमान सुरत संगोपना और ३—भविष्यत् सुरत संगोपना।

भूत सुरत संगोपना

जो अपनी चतुराई से पिछली रति को छिपाती है, उसे भूत सुरत संगोपना कहते हैं। उदाहरण में नीचे लिखा पद्य देखिए—

मोतिन की माल तोरि चीर सब चीर डार्यौ,
फेर नहीं जैहौं आली दुरबिकरारे हैं।

'देवकी नँदन' कहै धोखे नाग छौनन के,
अलकें प्रसून तेऊ नोंचि निरवारे हैं।
जान मुख चन्दकला चोंच दीनी अधरन,
तीनों ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर-ठौर डोलत मराल मतवारे तैसें,
मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं।

यहाँ नायिका रति-क्रिया में टूटे मोतियों के हार, बिथुरी अलकों और अधर पर हुए दंश-चिन्हों को वन में मत्त होकर घूमने वाले मराल, मोर और चकोरों के मत्थे मढ़ कर भूत सुरत को छिपाती है।

कवि लछिरामजी का भी उदाहरण देखिए, कैसा सुन्दर है--

औघट अकेली नीर तीर जमुना के भरे,
जौलों कढी कहर कराल मग हाली तैं।
कवि 'लछिराम' तौलौं तीखन फनाली फन्द,
बार-पार फैली फूलि फुफकार लाली तैं।
गिरि गई गागरि बिगरि गई बैंदी सिर
फिरि गई पूतरी प्रकास पर माली तैं।
बूझि बनमाली सों लुटाव मुकताली, बड़े
भागन बची मैं भाजि विषधर काली तैं।

यहाँ भी नायिका गागर फूट जाने, बेंदी बिगड़ जाने तथा अन्य वेश-भूषा अस्त-व्यस्त हो जाने का कारण, विषधर काली की फुसकार से भीत होकर, भागना बताती है, और बनमाली को गवाह के रूप में पेश करती है।

इस प्रसंग में रहीम कवि का यह बरवै भी कितना उत्कृष्ट है—

अबनहिं तोहि पढ़ावों सुगना सार।
परिगो दाग अधरवा चोंचि तुचार॥

यहाँ नायिका केलि-क्रिया में हुए अधर-क्षत को 'सुगना' के ज़िम्मे डाल कर सुरत-संगोपन करती है।

वर्तमान सुरत संगोपना

वर्तमान रति को भी अपनी वाक्चातुरी और प्रत्युत्पन्न मति द्वारा छुपाने वाली नायिका सुरतसंगोपना कहाती है। जैसे नीचे लिखे पद्य में रतिक्रियानिरत नायिका सखियों द्वारा देखी जाने पर, चिल्लाने लगती है—"दौड़ो-दौड़ो मैंने दही का चुराने वाला आज बिलकुल मौके पर पकड़ लिया है!"

छूटि जाय गैया कै बिलैया चाटि चाटि जाय,
कौन दुख दैया दैया सोच उर धार्‌यौ मैं।
हौं ही जमवैया औ धरैया निज सैया तरे,
कहौ जो कहैया हास होयगो विचार्‌यौ मैं।
'ग्वाल' कवि हौलै कै अवैया निरदैया यही,
आज या समैया ओट पैया गई पार्‌यौ मैं।
भैया कों बुलाओ या कन्हैया को करैगो हाल,
दधि को चुरैया मैया पकरि पछार्‌यौ मैं।

और भी देखिये, यह दूसरी नायिका अपनी वर्तमान रति को किस युक्ति से छिपाती है—

आन तें न आयो यही गाँवरे को जायो माई-
बापुरे जियायो प्याय दूध बारे बारे को।
'रसखान' सो तौ पहचानियो न मानत है,
लोचन लजैया औ नचैया द्वारे द्वारे को।
बबा की सौं सोचु कछू मटुकी उतारे को न,
गोरस के ढारे को न चीर चीरडारे को।
यहै दुख भारी गहै डगर हमारी माँझ,
नगर हमारे ग्वार बगर हमारे को।

अब कविवर पद्माकर का भी एक पद्य पढ़ लीजिए। इस पद्य में

नायिका कृष्ण का होली खेलने में रपट कर अपने ऊपर गिरना बताकर असली बात छिपाती है।

ऊधम ऐसो मच्यौ ब्रज में सबै रंग-तरंग उमंगनि सीचैं।
त्यौं 'पदमाकर' छज्जनि छातनि छ्वै छिति छाजती केसरि कीचैं।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गुपाल गुलाल उलीचैं।
एक ही संग इहाँ रपटे सखी, वे भए ऊपर हौं भई नीचैं।

इसी प्रसंग में नीचे लिखा दोहा भी कितना सुन्दर है—

चढ़त घाट रपट्यौ सुपग भरी आनि इन अंक।
ताहि कहा तुम तकि रहीं यामें कौन कलंक॥

भविष्य सुरत संगोपना

भविष्य के प्रेम-रहस्य को प्रकट न होने देने वाली भविष्य सुरत संगोपना कहाती है, यथा—

ग्रीषम में वापी-कूप सरवर सूखे सब,
जल नदी झिरना तैं आवतु नगर में।
जहाँ जात-आवत लगत काँट झारन के
हौं न जैहौं हौं ही पानी पीवति हौं घर में!
अति दूरि ही तैं भरी गागरि लै आवति हौं,
छूटत पसीना काँपै अंग थर-थर में।
कहति हौं पुनि सासु नँनद झकै न मोपै,
जाऊँगी तो आऊँगी मैं भरि दुपहर में।

उक्त पद्य में नायिका पानी भरने के बहाने प्रिय से मिलकर लौटना चाहती है। विलम्ब से लौटने के कारण कोई उस पर सन्देह न करे. इसलिए वह पहले से ही उसकी पेशबन्दी करती है—"मैं साफ़-साफ़ बताए देती हूँ कि तुम कोई पीछे नाराज़ न होना। मुझे इतनी दूर पानी लेने भेजोगी तो मैं दोपहर तक लौट कर आऊँगी।"

इसी भाव को पद्माकरजी ने अपने एक कवित्त में इस प्रकार चित्रित किया है।

आजु तें न जैहौं दधि बेचन दुहाई खाउँ,
 भैया की कन्हैया उतै ठाढ़ो ही रहत है।
कहै 'पदमाकर' त्यों साँकरी गली है अति,
 इत उत भाजिवे को दाँव न लहत है।
दौरि दधिदान काज ऐसो अमनैक तहाँ,
 आली बनमाली आय बहियाँ गहत है।
भादों सुदी चौथ को लख्यौ री मृग अंक यातें,
 झूठ हू कलंक मोहि लागिवो चहत है।

भैया की सौगन्द खाती हूँ, आज से मैं तो उधर दही बेचने जाऊँगी नहीं। भला कोई बात है जो वनमाली, उस सँकरी गली में घेर कर, दही के लिये हमसे छीना-झपटी करते हैं। मैंने तो इस बार भादों सुदी चौथ का चन्द्रमा देख लिया है, सो मुझे तो वैसे ही हर वक्त डर लगा रहता है कि कहीं कोई कलंक सिर न लग जाय।

विदग्धा

चातुर्य और कौशल द्वारा छिपकर पर-पुरुष के साथ रति करने वाली नायिका विदग्धा कहाती है। यह दो प्रकार की मानी गई है। १—वचन-विदग्धा और २—क्रिया-विदग्धा।

वचन-विदग्धा

वाक्चातुरी से स्वकार्य साधने वाली वचन-विदग्धा कहाती है। वचन-विदग्धा और स्वयं दूतिका दोनों ही बातें बनाकर नायक को प्रेम-पाश में फाँसती हैं। भेद केवल इतना है कि वचन-विदग्धा जाने-पहचाने व्यक्ति से अपनी इच्छा प्रकट करती है, और स्वयंदूतिका अपरिचित पुरुष को समझा-बुझाकर राज़ी करती है। उदाहरण देखिए—

तोरत फूल कलीन नवीन गिर्‌यौ मुँदरी को कहूँ नग मेरो।
संग की हारीं हेराय गोपाल गई अरसाय उराम अँधेरो।
साँसति सासु की जाय सकों न अहो छिन एक न गैयन फेरो।
कुंजबिहारी तिहारी थली यह जात उतारी दया करि हेरो।

यहाँ नायिका कैसी चतुराई से, अपने अकेले रह जाने की बात बता कर, नग ढूँढने के बहाने अँधेरे कुंज में, गोपाल को बुलाती है।

कवि कालिदास का भी नीचे लिखा पद्य पढ़िये, इसमें नायिका लट में उलझी हुई बेसर सुलझाने के बहाने से ही, नन्दलाल को आकृष्ट करती है—

चूमों कर-कंज मंजु अमल अनूप तेरे,
रूप के निधान कान्ह मोतन निहारि दै।
कहै 'कालिदास' हँसि हेरि मेरे पास हरि,
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै।
कुँवर कन्हैया मुख चन्द की जुन्हैया चारु,
लोचन चकोरन की प्यास निरवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है प्यारे नन्दलाल,
लट उरझी है नैक बेसर सुधारि दै।

और भी देखिए; नीचे लिखे सवैया में नायिका पति के परदेश चले जाने के कारण किस प्रकार घर में अपना अकेला होना प्रकट करती है—

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तो कहूँ चित दैवौ करौ।
'पदमाकर' ये बछुरा अपने बछुरान के संग चरैबो करौ।
अरु औरन के घरसों हम तें तुम दूनी दुहावनी लैबो करौ।
नित साँझ सवेरे हमारी हहा हरि गैयाँ भला दुहिजैवो करौ।

इसी प्रकार नीचे लिखे पद्य में भी नायिका घर का सूनापन बताकर, अधिक रात में गाय दुहने के बहाने आने के लिये कृष्ण से संकेत करती है—

धाय रिसाइ गई घर आपने तीरथ न्हान गए पितु भैया।
स्यामै सुनाय कहै के दुहैगो लगै निसि आधिक में यह गैया।
दासियौ रूसि गई कितहूँ सजनी यह कौन सुनैं दुखदैया।
दै पट पौढ़ि रहौंगी भटू परियंक पै मेरीऊ जानै बलैया।

नीचे लिखे दोहे भी वचन-विदग्धा के सुन्दर उदाहरण हैं—

कनकलता श्रीफल फरी रही बिजन बन फूल।
ताहि तजत क्यों बावरे अरे मधुप मति भूल॥

× × ×

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुञ्ज।
जमुना तीर तमाल-तरु मिलति मालती कुञ्ज॥

क्रिया-विदग्धा

क्रिया-चातुरी द्वारा कार्य साधने वाली क्रिया-विदग्धा कहाती है। यथा नीचे लिखे पद्य में नायिका गुरुजनों के समीप प्रकट रूप से लालन की रूप-सुधा का पान न कर 'माल के लाल' में प्रतिविम्बित उनके चित्र को देखती है।

बैठी तिया गुरु लोगन में रति तें अति सुन्दर-रूप बिसेखी।
आयो तहाँ 'मतिराम' सो जामें मनोभव तें बढ़ि कान्ति उरेखी।
लोचन रूप पियोइ चहैं अरु लाजन जाति नहीं छबि पेखी।
नैन नवाय रही हिय माल में लाल की मूरति लाल में देखी।

और देखिए—

दोऊ अटान चढ़े 'पदमाकर' देखि दुहूँ के दुओ छबि छाई।
त्यौं ब्रजबालै गुपाल तहाँ बनमाल तमालहिं[1] की दरसाई।
चन्द्रमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मनभाई।
अंचल खैंचि उरोजन तैं नँदलाल कों मालती[2] माल दिखाई।

१—तमाल से अँधेरी रात का संकेत किया। २—मालती-माल से चाँदनी राति का अभिप्राय सूचित किया।

यहाँ भी व्रजबाल और गोपाल स्पष्ट रूप से अपने मन की बात न कह कर, उसे संकेतों द्वारा प्रकट करते हैं।

लक्षिता

जिस परकीया का प्रेम-प्रसंग लक्षणों द्वारा लक्षित हो जाय, उसे लक्षिता कहते हैं। उदाहरण देखिये—

सीस सारी सकुरति अलकें मुकर रहीं,
झलक कपोलन अनूप छबि छाई है।
बदन बदलि गयो खौर सिर चन्दन की,
अंजन की रेख देख बिथुर सुहाई है।
'देव' जो सुहाग भाग अनुराग उमगत,
कंचुकी दुहर कैसे दुरत दुराई है।
करि रतिरंग मनमोहन सों साधे राधे,
आजु मधुबन तें बिहान होत आई है।

सिकुड़ी हुई सारी, बिथुरी अलकें, मीड़ी हुई कंचुकी आदि चिन्हों तथा उसके रात-भर मधुवन में रह कर वहाँ से प्रातः समय आने आदि लक्षणों से राधिका का मोहन के साथ रति-रंग करना लक्षित होगया; अतः वह लक्षिता हुई।

इस विषय में मतिरामजी का उदाहरण भी पढ़ने लायक़ है। देखिए—

आई हौ पायँ दिवाय महावर कुंजन ते करि कै सुख सैनी।
साँवरे आजु सँवारो है अंजन नैननि को लखि लाज तरैनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करिये वह भौंह तनैनी।
मूदि न राखति प्रीति अली यह गूँदी गुपाल के हाथ की बैनी।

बहन, तुम बात पूछने पर भले ही भौंहें चढ़ाओ, परन्तु यह जो कुंज में से पैरों में महावर और आँखों में अंजन लगाकर आई हो, इनसे आख़िर

रहस्य प्रकट हो ही जाता है, और यह गोपाल के हाथ की गुही बैनी तो तुम्हारे प्रेम-प्रसंग को बिलकुल ही स्पष्ट किये दे रही है।

अन्त में कविवर पद्माकरजी का भी एक पद्य पढ़ लीजिए—

ब्रजमंडली देखि सबै 'पदमाकर' ह्वै रही यों चुपचापरी है।
मनमोहन की बहियाँ में छुटी उपटी यह बैनी दिखापरी है।
मकराकृति कुण्डल की झलकै इतहू भुज-मूल पै छापरी है।
इनकी उनसौं जुलगीं अँखियाँ कहिये तो हमें कछू का परी है।

मकराकृति कुण्डल की छाप नायिका के भुज-मूल में झलकती देख कर ज्ञात होगया कि इसकी मोहन से आँखें लग गई हैं!

लक्षिता के भेद

कुछ लोगों ने लक्षिता के दो भेद किये हैं, १—हेतु लक्षिता और २—सुरत लक्षिता।

हेतु लक्षिता में परकीया का उपपति के साथ प्रेम ही लक्षित होता है, परन्तु सुरत लक्षिता में काम-केलि के चिन्हों की भी स्पष्ट प्रतीति होती है, जिनके द्वारा लाख छिपाने पर भी सारा भेद खुल जाता है। उदाहरण देखिए—

तू इत जोबन रूप भरी उतहू मन लाल को लालचहा है।
तेऊ कछू बिनती-सी करी, उनहू बड़ी बेर लौं खाई ह-हा है।
देखि दुहूँ को दुहूँ पर प्यार भयो जिय में सुख मोहि महा है।
प्रीति बढ़े दिन ही दिन दूनी दुरावती काहे को होत कहा है।

यहाँ एक दूसरे की विनती करना आदि प्रेम का हेतु मात्र लक्षित होता है, अतः यह हेतु लक्षिता का उदाहरण हुआ। सुरतलक्षिता के उदाहरण में पूर्वोल्लिखित लक्षिता के सभी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कुलटा

जो बहुत से नायकों से सुरत करके भी असन्तुष्ट रहती है, वह कुलटा

कहाती है। इसी को व्यभिचारिणी भी कहते हैं। कुलटा और वेश्या दोनों ही बहुत से नायकों को चाहती हैं, भेद केवल इतना है कि कुलटा का लक्ष्य अपनी कामवासना की तृप्ति पर होता है, और वेश्या का धन प्राप्ति पर।

नीचे तीन पद्य उद्धृत किये जाते हैं। ये तीनों ही कुलटा के स्पष्ट उदाहरण हैं। व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

पहले पद्माकरजी का पद्य पढ़िए—

यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चली कै चली।
त्यौं 'पदमाकर' एकन के उर में रस बीजनि ब्वै चली ब्वै चली।
एकन सों बतराइ कछू छिन एकन कौ मन लै चली लै चली।
एकन कों तकि घूंघट में मुख मोरि कनैखिन दै चली दै चली।

देखिये, मतिरामजी क्या कहते हैं—

अंजन दै निकसी मति नैननि मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग में पगही के अँगूठा अनौट सुधारै।
यौवन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिन लोग निहारै।
जात चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकें अँचरा न सँभारै।

और भी देखिए—

गैल में छैलन आवत जानि कै झाँकि झरोखन रीझ रिझावै।
चंचल अंचल डारे रहै अँगिराय अनूप सरूप दिखावै।
मोहति है मुरिकै मुसकान में कोयल ज्यों कल बैन सुनावै।
लाइ टिको ललचाय चितै अटकी नट की गति मैन चलावै।

अनुशयाना

जो परकीया संकेत-स्थान नष्ट होने के कारण दुखी होती है, वह अनुशयाना कहाती है। यह अनुशयाना तीन प्रकार की मानी गई है। १—संकेतविघट्टना, २—भावी संकेतनष्टा और ३—रमणागमना।

इन्हीं को क्रमशः प्रथमानुशयाना, द्वितीयानुशयाना और तृतीयानुशयाना भी कहते हैं।

संकेत-विघट्टना या प्रथमानुशयाना

जो वर्तमान संकेत-स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखित होती है, उसे संकेत-विघट्टना या प्रथमानुशयाना कहते हैं। यथा नीचे लिखे पद्य में नायिका अपने वर्तमान संकेत-स्थान बन बागों को काटकर वहाँ पर तालाब बन जाने से दुखी होती है। देखिए—

लेत सुखै बिसराय सबै पथ-पन्थि जहाँ सुनिकै सुख पावैं।
भाँति अनेक बिहंगम सुन्दर फूले फले तरु ते मन भावैं।
कोऊ सुनै न कहै इनसों कहिकै हित बैन नहीं समुझावैं।
कैसे हैं या पुर के जन ये बन बागन त्यागि तड़ाग बनावैं।

एक उदाहरण और भी देखिए—

मानती री मालिनि कहै ते क्यों न मेरी बात,
काहे ते लतानन की लौंद झकझोरतीं।
कहै 'सिरताज' फुलवारी की बहार देखि
करि अनुराग अनमोले सुख रोरतीं।
फूलेरी गुलाब गुलदावदी गहबदार,
बेला औ चमेलिन की बेलिन बिथोरतीं।
कारन कहा है इन मालिन को बाग बीच,
नाहक प्रसून ये अनारन के तोरतीं।

यहाँ मालिनों द्वारा बाग़ की लताएँ झकझोरे और अन्यान्य वृक्षों के फूल तोड़े जाने से नायिका दुखी होती है। क्योंकि लताओं को झकझोरने से पत्ते झड़कर उनकी सघनता नष्ट हो जाती है, जिससे फिर वे संकेत-स्थान की ओट का काम नहीं दे सकतीं।

इस विषय में पद्माकरजी का भी नीचे लिखा दोहा पढ़ने लायक़ है—

सौति सँयोग न रोग कछु नहिं वियोग बलवन्त।
ननँद दूबरी होति क्यों लागत ललित बसन्त॥

यहाँ भी ननद के दुबली होने का कारण वसन्त द्वारा पतझड़ होकर संकेत-स्थान नष्ट हो जाना ही है।

भावी संकेतनष्टा या द्वितीयानुशयाना

जो भावी संकेत-स्थान नष्ट होने की आशंका से दुःखित रहती है, उसे भावी संकेतनष्टा या द्वितीयानुशयाना कहते हैं। यथा—

बेलिन सों लपटाय रही है तमालन की अवली अति कारी।
कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँद वारी।
सोच करै जनि होहु सुखी 'मतिराम' प्रवीन सबै नरनारी।
मंजुल बंजुल कुंजन के घन-पुंज सखी ससुरारि तिहारी।

ससुराल में कोई संकेत-स्थान होगा या नहीं, इस प्रकार सोच करने वाली नायिका से उसकी सखी कह रही है। चिन्ता मत करो, तुम्हारी ससुराल में बड़े-बड़े सघन लता-कुंज हैं। और देखिए—

छाय रही बहु फूलन की रज मानो मनोज बितान तने हैं।
सीरे समीर सुधा हू तें सौगुने डोलत मन्द सुगंध सने हैं।
गुंजत पुंज हैं भौरन के तहाँ होत कपोत के घोस घने हैं।
सोच कहा जु न ज्वार जमी ये तमाल के कुंज तो बेई बने हैं।

यहाँ भी खेत में ज्वार न उगने के कारण चिन्ता करती हुई नायिका से उसकी सखी कहती है—"ज्वार नहीं जमी तो न सही, तमाल के कुंज तो कहीं नहीं चले गए।" निम्नलिखित दोहे का भी यही भाव है—

केलि करें मधु मत्त जहँ घन मधुपन के पुञ्ज।
सोचु न कर तुव सासुरे सखी सघन बन-पुञ्ज॥

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में भविष्य के लिये संकेत-स्थान की चिन्ता करती हुई नायिकाओं का वर्णन है।

रमणगमना या तृतीयानुशयाना

जो परकीया प्रियतम के संकेत-स्थान पर पहुँच जाने का प्रमाण पा या अनुमान कर, स्वयं वहाँ न पहुँच सकने के कारण दुखी होती है, उसे रमण गमना या तृतीयानुशयाना कहते हैं। कविवर मतिरामजी ने रमण गमना का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

साँझ के समै में 'मतिराम' काम बस बँधी,
बंसीवट तट में बजाई जाइ बाँसुरी।
सुमिरि सहेट वृषभानु की कुमरि उर,
दुख अधिकानों भयो सुख को बिनासु री।
सर सौ समीर लाग्यौ सूल सी सहेलीं सब,
विष सौ बिनोदु लाग्यौ बन सौ निवासुरी।
ताप चढ़ि आई तन पीरी बढ़ि आई मुख
आँखिन में ऊपर उमड़ि आए आँसुरी।

नायिका बंशीवट में बंशी बजती सुन समझ गई कि मोहन तो 'सहेट' में पहुँच गए, परन्तु वह स्वयं नहीं पहुँच सकी, इसलिए उसे अत्यन्त दुःख हुआ।

एक उदाहरण और देखिए—

लपटें सुगन्धन की आवैं गंध बन्धन में,
भ्रमत मदन्ध भौंर सरस विराव के।
परत पराग पुंज साँवरे बदन पर,
मंजु छवि छैलने छबीले भूरि भाव के।
समय की चूक हूक सालति प्रबीनन कौं,
मौसर न आवै बैन औसर जवाब के।
चखन चुबन लाग्यो प्यारी के गुलाब नीर,
देखि बलवीर सीस सुमन गुलाब के।

नायक के वस्त्रों से वन-पुष्पों की गन्ध आती है, अंगों में पराग लगा है, जिसके कारण मधुमत्त भौंरे मधुर गुंजार करते हुए उसके आस-पास मँडरा रहे हैं। शिर पर उसने गुलाब का फूल भी धारण कर रखा है। इन सब चिन्हों को देख नायिका ने जान लिया कि वह संकेत-स्थान में होकर आया है। इससे नायिका को बहुत दुःख हुआ, और उसकी आँखों में आँसू छल-छला आए।

नीचे लिखा दोहा भी रमणगमना का सुन्दर उदाहरण है—

छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की हाल।
कुम्हिलानी उर साल धरि फूल माल-सी बाल ॥

मुदिता

जो नायिका मनचाही साज-सज्जा और गति-विधि देखकर, अपनी अभिलाषा-पूर्ति के विचार से मन ही मन मुदित होती है, वह मुदिता कहाती है। यथा—

मोहन सों कछु द्यौसनि ते 'मतिराम' बढ्यौ अनुराग सुहायो।
बैठी हुती तिय मायके में ससुरारिक काहू संदेस सुनायो।
नाह के ब्याह की चार सुनी हिय माहि उछाह छबीली के छायो।
पौढ़ि रही पट ओढि अटा दुख कौ मिसुकै सुख बाल छिपायो।

नायिका ने पीहर में यह समाचार सुना कि ससुराल में किसी का विवाह है, तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा क्योंकि अब उसे शीघ्र ही ससुराल जाने और प्रिय से मिलने का अवसर मिलेगा।

जा सँग नेह निरन्तर हो अति हास बिलासन मोद बढ़ायो।
खेलत खेल 'गुलाब' कहै नित ही चित चाह कियो मनभायो।
सास रिसाति रही तबहूँ कबहूँ सपनेहु न कोप जनायो।
सो ननदी ससुरारि सिधारत कारन कौन बधू सुख पायो।

जिस ननदी से इतना प्रेम था, उसके ससुराल चले जाने पर नायिका को बिछोह-जन्य दुःख होना चाहिए, पर वह उलटी प्रसन्न हो रही

है। इसका कारण यह है कि ननद के न रहने से प्रिय-मिलन में सुविधा होगी।

> बिछुरत रोवत दुहुन को सखि यह रूप लखै न।
> दुख अँसुआ पिय नैन हैं सुख अँसुआ तिय नैन ॥ 'मतिराम'

उपर्युक्त दोहे में बिछुड़ते समय 'पिय' की आँखों से दुःख के आँसू और 'तिय' की आँखों से सुख के आँसू निकलने का वर्णन है। पति-पत्नी से बिछुड़ने के कारण दुखी है, और पत्नी इसलिए प्रसन्न है कि अब उसे उपपति से मिलने का अवसर मिलेगा।

मुदिता का एक उदाहरण और भी देखिए—

> माइके के विरह मयंक मुखी दुखी देखि,
> भेद ताके सासुरे की मालिनि बतायो है।
> मोपै ठकुराइनि हुकुम करिबोई करो,
> खिजमत करिबो हमारे बाँट आयो है।
> भौन में तिहारे बाग ताकों हों ही सेवती हौं,
> तामें तहखानो सूनो अति ही सुहायो है।
> ताकी कोठरीन की अँध्यारी भारी सुनि कै सु
> दुलही दुलारी के महा री मोद छायो है।

जब दुलही ने ससुराल की मालिन के मुँह यह सुना कि वहाँ जो मकान उसके रहने को मिलेगा, उसमें एक बाग़ है, और बाग़ के बीच एक सुन्दर तहख़ाना है, तथा उस बाग़ की देख-भाल भी उसी मालिन के सुपुर्द है, तो यह जानकर वह (दुलहिन) अत्यन्त प्रसन्न हुई।

सामान्या अथवा गणिका

गणिका या सामान्या वह स्त्री है, जिसके जीवन का मुख्य लक्ष्य अपना रूप और यौवन बेचकर धनसंग्रह करना होता है। ये गणिकाएँ न जाने कितने प्रेमियों को अपने प्रपंच-पाश में फँसाती रहती हैं। उदाहरण देखिए—

नाचति है गावति है रीझति रिझावति है,
लीवेही की घात बात सुनति न पिय की।
तनकों सिंगारै नैन कज्जल सुधारै अति-
बार-बार वारै प्रान ऐसी रीति तिय की।
'गूँधर' सुकवि हेतु धन ही के बारबधू
और न विचारै कछू यहै बात जिय की।
लाल चाहै जिय सों कै बाल मेरे हिय लागै,
बाल चाहै हिय सों कै माल लीजै पिय की।

यहाँ लाल (नायक) तो इस चेष्टा में है कि बाल (नायिका) मेरे हृदय से लगे, परन्तु नायिका इस प्रयत्न में है, कि जैसे बने वैसे नायक के गले में पड़ी हुई मणि-माला झटकनी चाहिये।

इसी भाव का एक उदाहरण और देखिए। इस पद्य में भी नायिका नायक से रक़म वसूल करने का प्रपंच रचती हुई कहती है—"मेरे शिर पर जो मोतियों की झालर लटक रही है, इसके बीच-बीच में लाल-मणि और होते, तो वह बड़ी अच्छी लगती।" पद्य पढ़िए—

ढिंग आय कै बैठि सिंगार सजे नख ते सिख लौं मुकतालरियाँ।
मुसिक्याय कै नैन नचाय कै गाय कियो बस बैन गुलाबरियाँ।
दरसावति लाल को बाल नई सु सजे सिर भूषण झालरियाँ।
छबि होती भली गज मोती के बीच जो होतीं बड़ी-बड़ी लालरियाँ।

इस विषय में नीचे लिखा दोहा भी पढ़िए—

तन सुबरन-सुबरन बसन सुबरन उकति उछाह।
धनि सुबरन में है रही सुबरन ही की चाह॥

कुछ लोगों ने गणिका दो प्रकार की मानी है, १—जननी-अधीना और २—स्वतन्त्रा। किन्हीं किन्हीं ने 'नियमा' नाम से इसका तीसरा भेद भी किया है।

जननिअधीना गणिका उसे कहते हैं, जो माता के अधीन रह कर अपना व्यापार करती है। स्वतन्त्रा से मतलब उस गणिका से है, जो

स्वतन्त्र रह कर अपना पेशा करे। और नियमा उस गणिका को कहते हैं, जो धन के लिए किसी के घर में बैठ गई हो।

प्रकृति के अनुसार नायिका-भेद

प्रकृति अनुसार नायिका तीन प्रकार की होती है। १—उत्तमा, २—मध्यमा और ३—अधमा।

उत्तमा

जो धर्म-भावना-युक्त उदार स्त्री पति द्वारा अपना अहित किये जाने पर भी, उसका हित नहीं त्यागती और उसके दोषों को देख कर भी रोष नहीं करती, बल्कि उन दोषों को छिपाती है, तथा सदैव पति की सेवा में संलग्न रहती है, उसे उत्तमा कहते हैं। उदाहरण देखिए—

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविन्द कों,
श्रीयुत सलौने स्याम सुखनि सने रहो।
कहै 'पदमाकर' तिहारी छेम छिन-छिन,
चाहियतु प्यारे मन मुदित घने रहो।
विनतीं इती है कै हमेश हूँ उहैं ते निज—
पायन की पूरी परिचारिका गने रहो।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगन लगाय मन मगन बने रहो।

यहाँ उत्तमा नायिका पत्र द्वारा पति देव से निवेदन करती है कि आप मुझे छोड़ कर वहाँ चले गए है, मुझे इसमें भी सन्तोष है। मैं तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्न हूँ। परन्तु इतनी प्रार्थना अवश्य है कि वहाँ रह कर भी आप मुझे अपने चरणों की पूरी सेविका ही समझते रहैं।

एक उदाहरण और भी देखिए—

नैनन कों तरसैये कहाँ लों कहाँ लों हियो बिरहागि में तैये।
एक घड़ी न कहूँ कलपैये कहाँ लगि प्रानन कों कलपैये।

आवै यही अब जी में विचार सखी चलु सौति हु के घर जैये।
मान घटै तो कहा घटि है जु पै प्रान पियारे कों देखन पैये।

यहाँ नायिका पति के दर्शनार्थ सपत्नी के भी घर जाने के लिए तैयार है। वह कहती है—"सौत के घर जाने से मेरा मान घटेगा, सो भले ही घट जाय, पर प्राणप्रिय के दर्शन तो हो ही जायँगे।" उत्तमा नायिका की कैसी भद्र भावना है। वह सौत के घर चले जाने पर न तो पति से अप्रसन्न होती है, और न सौत से डाह करती है। उसे तो केवल पति के दर्शन इष्ट हैं, जिन्हें वह अपमानित होकर भी प्राप्त करना चाहती है।

नीचे लिखा दोहा भी उत्तमा नायिका का कैसा उत्तम उदाहरण है, नायिका पतिदेव से कहती है—

जाको जावक सिर धर्‌यौ प्यारे सहित सनेह।
हमको अञ्जन उचित है तिन चरनन की खेह॥

प्राणनाथ, जिसके पैरों में लगा हुआ जावक (महावर) आप अपने मस्तक में लगाते हैं, मुझे तो उसके चरणों की धूलि आँखों में आँजनी चाहिये। क्यों, है न ठीक?

मध्यमा

जो स्नेहशीला किन्तु शंकिता स्त्री प्रियतम के दोष देखकर कुछ कोप करती हुई उसे व्यंग्योक्तियाँ सुनाती और दुखी होती है, तथा प्रिय के साथ व्यवहार-नीति बर्तती है, उसे मध्यमा कहते हैं।

नाट्यशास्त्रकार के मत से मध्यमा का लक्षण इस प्रकार है। जो परपुरुष की कामना करे, अथवा परपुरुष मुझे चाहे ऐसी इच्छा रखे, कामकला में कुशल हो, अचिर क्रोध करे, एवं क्षण में प्रसन्न हो जाय, ऐसी स्त्री मध्यमा कहाती है।

पद्माकरजी ने मध्यमा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

मन्द मन्द उर पै आनन्द ही के आँसुन की,
बरसैं सु बुन्दें मुकुतान ही के दाने सी।

कहै 'पदमाकर' प्रपंची पंचबान के सु
कानन के मान पै परी त्यों घोर घानें सी।
राजी त्रिवलीन में बिराजी छबि छाजी सबै,
राजी रोमराजी करि अमित उठानें सी।
सौंहै देखि पीको बिहँसौंहै भए दोऊ दृग,
सौंहैं सुनि भौंहैं गईं उतरि कमानें सी।

नायिका कुपित होकर, पति से न बोलने का विचार कर, भौंहें चढ़ाए बैठी थी, परन्तु ज्योंही प्रिय समीप आया, त्योंही उसकी आँखों में बरबस प्रसन्नता झलकने लगी, और पति के शपथ खाने पर तो उसका कोप काफ़ूर ही हो गया! इस प्रसंग में मतिरामजी का नीचे लिखा पद्य भी देखने लायक़ है—

आयो प्रानपति राति अनतै बिताइ बैठी
भौंहनि चढ़ाइ रँगी सुन्दरि सुहाग की।
बात न बनाइ पर्‌यौ प्यारी के पगनि आइ,
छल सों छिपाइ छैल छबि रति-दाग की।
छूटि गयो मान लगी आपही सँवारन को,
खिरकी सुकवि 'मतिराम' पिय पाग की।
रिस ही के आँसू भए आनँद के आँखिन में,
रोष की ललाई सो ललाई अनुराग की।

प्राणपति के कहीं दूसरी जगह रात बिताकर आने पर, नायिका के नेत्र रोष से लाल हो गए, और उनमें आँसू उमड़ आए। पर जैसे ही नायक नायिका को बातों में बहलाकर उसके पैरों में गिरने लगा, तैसे ही मानिनी की आँखों में भरे दुःख के आँसू आनन्द के आँसू बन गए, और कोप की लालिमा अनुराग की अरुणिमा में बदल गई। वह अपने हाथों से पति की बिखरी हुई पगड़ी के पेच सँभालने लगी। यहाँ प्रिय के अपराध करने पर नायिका का क्रुद्ध होना और उसके पैरों पड़ने पर प्रसन्न हो जाना यही व्यवहार-नीति हुई।

इस प्रसंग में नीचे लिखा दोहा भी देखने योग्य है—

रह्यौ मान मन को मनहिं सुनत कान के बैन।
बरजि बरजि हारी तऊ रुके न गरजी नैन॥

पति के शब्द सुनते ही नायिका का मान मन का मन ही में रह गया। उसने अपनी आँखों को बहुतेरा रोकना चाहा, पर भला वे क्यों रुकने लगी थीं। वे तो दर्शनों की गरज़ मन्द थीं।

अधमा

जो स्त्री अपने प्रियतम के प्रेम-पूर्ण व्यवहार के बदले में भी उसका अहित तथा अपमान करती है, वह अधमा कहाती है।

नाट्य-शास्त्रकार ने अकारण क्रोध करने वाली, दुष्ट प्रकृति, कटु-भाषिणी, गुरुमानवती, पति से विरुद्धाचरण करने वाली स्त्री को अधमा कहा है। उदाहरण देखिये—

दबक्यौ रहै नाह गुनाह बिना गुन गावै सदा मुख आखर में।
अति सज्जन साधु महा मनकौ जु बिना अपराध धरे भर में।
सपनेहू न आन तिया सुमिरै तबहूँ नहिं सेज में नीकी रमें।
तरपै नित बिज्जुलि-सी पिय पै झरपै झझनाय सबै घर में।

अधमा नायिका के डर के मारे नायक बिना अपराध किये भी छिपा रहता है। वह बेचारा इतना सीधा-सादा है कि हर समय पत्नी के ही गुण गाया करता है, कभी स्वप्न में भी परस्त्री का ध्यान नहीं करता, तो भी नायिका उस पर झल्लाती-झुँझलाती ही रहती है। बेचारे को कभी प्रेम-दृष्टि से देखती तक नहीं।

कविवर लछिरामजी अधमा के सम्बन्ध में क्या कहते हैं, देखिये—

बसन सँवारे ते झमकि झहराति ढाढ़ी,
बाढ़ी रोष सरि मन बौरतै रहति है।
सौरभ सुधारे ते अकेली ह्वै उचकि जाति,
भूषण हवेली तें बिथोरतै रहति है।

कवि 'लछिराम' ऐसी बाम मैं न देखी बाम,
धीरज तिरीछे नैन तोरतै रहति है।
ज्यों-ज्यों करजोरि कै निहोरत किसोर त्यों-त्यों,
मोरि मुख भौंहनि मरोरतै रहति है।

बेचारा पति नायिका के वस्त्र सँभालता है, तो वह उस पर झुँझलाती है। आभूषण सँभाल कर रखता है, तो उन्हें इधर-उधर बखेर देती है। ऐसी उलटे स्वभाव की स्त्री है, कि ख़ुशामद करने पर भी उसका मुँह सीधा नहीं होता, जब देखो तब टेढ़ी निगाह से ही पति के प्राण सुखाती रहती है।

जाति के अनुसार नायिका-भेद

जाति के अनुसार नायिका के चार भेद माने गये हैं। १—पद्मिनी, २—चित्रिणी, ३—शंखिनी और ४—हस्थिनी।

पद्मिनी

जो स्त्री अत्यन्त सुन्दरी, सुकुमारी और अल्प रोमवती हो, जिसके शरीर में पद्म-पुष्प की-सी गन्ध आती हो, तथा संगीत मे जिसे अधिक अनुराग हो, उसे पद्मिनी कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

तन सुबास दृग सलज सुभ-मन सुचिकरम पुनीत।
इन सुबरन बरनी लई जगत निकाई जीत॥

चित्रिणी

नाचने-गाने एवं हँसी-मज़ाक में रुचि रखने वाली, शीलवती, अल्प लज्जा युक्त विचित्र प्रकृति स्त्री को चित्रिणी कहते हैं। इसका मुख मखमल चित्र के समान, शरीर मझोला, नाक तिल के फूल जैसी और नेत्र नील कमल-सदृश होते हैं।

उदाहरण—

मित्र नाहिं चितवत कहीं चित्र रही चितलाय।
पत्री हेरति है कोऊ पत्री सनमुख पाय॥

शंखिनी

जिस स्त्री का शरीर कृश, स्वभाव निर्लज्ज, घमण्डी और क्रोधी होता है, उसे शंखिनी कहते हैं। इसका कण्ठ शंख के समान तीन रेखा युक्त होता है। निम्नलिखित दोहे से शंखिनी का लक्षण और भी सुस्पष्ट हो जाता है—

देह छीन, मोटी नसें, कुच लघु निलज-निसंक।
कोपवती नख दन्त रुचि शंखिनि पीके अंक॥

उदाहरण देखिये—

सनख हियो लखि लाल को यह मन होत सँदेह।
नखन खोदि चाहति कियो लालन के हिय गेह॥

प्रिय के हृदय पर नखक्षत देखकर ऐसा सन्देह होता है, मानो नायिका नखों से खोदकर नायक के हृदय में घर करना चाहती है।

हस्तिनी

जो स्त्री स्थूल, अधिक रोमों वाली, क्रोधिन, उग्र स्वभावा और हाथी के समान झूम-झूम कर चलने वाली होती है, उसे हस्थिनी कहते हैं, जैसा कि निम्नलिखित दोहे में भी बताया गया है—

थूल अंग लोमन छयो गोरी भूरे केस।
गजगौनी दुरगंधिनी भनी हस्तिनी भेस॥

हस्थिनी का उदाहरण देखिए—

रँगनि मोटी गोरटी जोबन मद एँड़ाति।
सखिन संग गजगामिनी चली ठवनि सों जाति॥

कुछ साहित्यकारों ने वर्णानुसार नायिका के निम्नलिखित भेद और

भी किये हैं। १—दिव्य अर्थात् देवतिय। २—अदिव्य यानी नरतिय। ३—दिव्यादिव्य अर्थात् संसार में जन्मी हुई देवतिय।

नायिकाओं के अन्य दश भेद

अवस्था (परिस्थिति) के विचार से नायिकाओं के दश भेद किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं। १—प्रोषितपतिका, २—खण्डिता, ३—कलहान्तरिता, ४—विप्रलब्धा, ५—उत्कण्ठिता, ६—वासकसज्जा, ७—स्वाधीनपतिका, ८—अभिसारिका, ९—प्रवत्स्यत्पतिका और १०—आगतपतिका।

साहित्य-दर्पणकार ने अवस्था के विचार से केवल आठ ही भेद माने हैं। उन्होंने प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका इन दो नायिकाओं का उल्लेख नहीं किया। नाट्य शास्त्रकार भरत मुनि भी साहित्य-दर्पणकार की भाँति आठ ही भेद मानते हैं।

उपर्युक्त भेद स्वकीया १—मुग्धा, २—मध्या, ३—प्रौढ़ा परकीया और सामान्या नायिकाओं में होते हैं।

प्रोषितपतिका

जो नायिका पति के परदेश चले जाने के कारण, विरह-व्यथित हो, केश-प्रसाधनादि शृंगार न करती हो, वह प्रोषितपतिका कहाती है। वह पाँच प्रकार की होती है—मुग्धा प्रोषितपतिका, मध्या प्रोषितपतिका, प्रौढ़ा प्रोषितपतिका, परकीया प्रोषितपतिका और सामान्या प्रोषितपतिका।

मुग्धा प्रोषितपतिका

इस नायिका में मुग्धा और प्रोषितपतिका दोनों के लक्षण मिलते हैं। पद्माकरजी का उदाहरण देखिए,

माँगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोविन्द तिय,
सौ दिन समान छिन जान अकुलावै है।
कहै 'पदमाकर' छपा कर छपाकर तें,
बदन छपाकर मलीन मुरझावै है।

बूझत जू कोऊ कै कहा री भयो तोहिं तब—
और ही की और कछू बेदना बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सकोच बस आलिन में
उलही विरह-बेलि दुलही दुरावै है।

× × × ×

नायिका अपनी विरह-जन्य वेदना को छिपाती रहती है, उसका शरीर सूख कर काँटा-सा बनता जाता है। वह सखियों पर अपना यह रहस्य प्रकट नहीं करना चाहती, इसी लिए बड़ी मुश्किल से उनके आगे अपने आँसू रोक पाती है।

देखिये, द्विजदेव की नायिका किस प्रकार मनोज के हवाले पड़ी हुई है—

पति प्रीत के भारन जाती उनै मति ख्वै दुख भारन साले परी।
मुख बात तें होतौ मलीन सदा सोई मूरति पौन के पाले परी।
'द्विजदेव अहो करतार ! कछू करतूति न रावरी आले परी।
वह नाहक गोरी गुलाब कली-सी मनोज के हाथ हवाले परी।

देखते हो, विरह-ताप से उस नायिका की क्या दशा हो रही है ! कामदेव के क़ाबू में पड़ कर वह गुलाब कली-सी कमनीय कान्ता किस तरह भस्म हुई जाती है ! हा दुर्दैव ! तेरी विचित्र गति जानी नहीं जाती !

× × × ×

इसी प्रसंग में नीचे लिखा दोहा देखिये—

वे ही कदम कलिन्दजा वे ही केतिक कुंज।
सखि, लखिए घनस्याम बिन सब में पावक-पुंज ॥

मध्या प्रोषितपतिका

इस नायिका में मध्या और प्रोषितपतिका दोनों के लक्षणों का मिश्रण होता है। उदाहरण देखिए—

चन्द कौ उदोत होत नैन चन्द कान्त कन्त—
छायो परदेस देह दाहनि दहतु है।

उसीर गुलाब नीर करपूर परसत
बिरहा अनल ज्वाल जालनि जगतु है।
लाजनि ते कछु न जनावै काहू सखिन सों,
उर को उदारि अनुरागि उमगतु है।
कहा कहौं मेरी वीर उठि है अधिक पीर,
सुरभि-समीर सीरो तीर सो लगतु है।

क्या किया जाय, विरहताप के मारे नाक में दम है। सारे शीतल उपचार व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं, सुगंधित समीर जिससे शान्ति मिलनी चाहिए, शरीर में तीर के समान लग रहा है।

पद्माकरजी ने मध्या प्रोषितपतिका का उदाहरण इस प्रकार दिया है—
ऊबत हौ डूबत हौ, डगत हौ, डोलत हौ,
बोलत न काहे प्रीति रीति न रितै चले।
कहै 'पदमाकर' त्यों उससि उसासनि सों
आँसू है अपार आय आँखिन इतै चले।
औधि ही के आगम लों रहते, बनैं तो रहो,
बीच ही क्यों बैरी बद बेदना बितै चले।
एरे मेरे प्रान प्रानप्यारे की चलाचल में,
तब तो चले न, अब चाहत कितै चले।

जब प्राणनाथ परदेश गये तब तो मेरे प्राण निकले नहीं, परन्तु अब उनके पीछे उन्होंने चलने की ठानी है। अरे भलेमानसो, उनके आने तक तो ठहरो, उनकी अवधि तो पूरी हो जाने दो!

प्रौढ़ा प्रोषितपतिका

नीचे लिखे कवित्त में गुलाब कविजी ने प्रौढ़ा प्रोषितपतिका का कैसा विचित्र चित्र खींचा है, देखिए—
छै है बकमण्डली उमंड़ि नभ-मण्डल में
जुगुनू घुमंडि ब्रज नारिन जरैहैं री।

दादुर मयूर झीने झींगुर मचैहैं सोर,
दौरि दौरि दामिनी दिसा न दुख दैहैं री।
सुकवि 'गुलाब' ह्वै हैं किरचि करेजनि की,
चौंकि चौंकि चोपन सों चातक चिचैहैं री।
हंसन सों हंस उड़ि जैहैं ऋतु पावस में,
ऐ हैं घनस्याम घनस्याम जो न ऐ हैं री।

अरी सखी, वर्षा ऋतु में श्याम घन तो उमड़-घुमड़ कर आवेंगे ही गे, पर यदि घनश्याम (कृष्ण) न आए तो सच समझना, ब्रज-नारियों के हंस (प्राण) हंसों की भाँति उड़ जायँगे। जिस समय पावस की काली रात में जुगुनूं चमकेंगे, मोर मटक-मटक कर नाचेंगे, झींगुर झिंगारेंगे, और पापी पपीहा पीउ-पीउ पुकारेंगे, भला उस समय विरहिणी ब्रज-बालाओं के हृदय टुकड़े-टुकड़े हुए विना रह सकेंगे ?

नीचे लिखा कवित्त प्रोषितपतिका का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है—

कंचन में आँच गई चूनि चिनगारी भई,
भूषन भए हैं सब दूषन उतारि लै।
बालम बिदेस ऐसे बैस में न लागि आगि,
बरि बरि हियो उठै बिरह बयारि लै।
एरी पर घर कित माँगन को जैहै आजु,
आँगन में चन्दा ते अँगार चारि झारि लै।
साँझ भए भौन सँझवाती क्यों न देति आली !
छाती ते छुवाय दीया-बाती क्यों न बारि लै।

कोई प्रोषितपतिका अपनी सखी से कहती है - सखी, मेरे शरीर के ताप से सोने के आभूषण इतने गरम हो गए हैं कि उनमें लगी हुई चुन्नी (नग) चिनगारी बन गई हैं। अरी तू आग लेने के लिए पराए घर क्यों जाती है, चन्द्रमा में, से चार अँगारे क्यों नहीं झार लेती। वह भी तो आज खूब दहक रहा है। और चन्द्रमा में से भी अँगारे झार

कर क्या करना है, दीपक ही तो जलाना है? सो वह तो मेरी छाती से छुवाने पर ही जल उठेगा!

परकीया प्रोषितपतिका

इसके लक्षण नाम से ही स्पष्ट हैं। उदाहरण में मतिरामजी का नीचे लिखा सवैया देखिए—

हाँ मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँद भारी।
तेई लता-द्रुम देखत दुःख भये अँसुवा अँखियान ते जारी।
आवति हौं यमुना-तट को नहिं जानि परै बिछुरे गिरधारी।
जानति हौं सखि आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंजबिहारी।

अभिसार-स्थान देख कर नायिका को केलि की स्मृति हो आई, और उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वहाँ उसे ऐसा अनुभव होने लगा, मानो अभी इधर-उधर के किसी कुंज में से निकल कर कुंजविहारी आते हैं।

इस प्रसंग में कविवर घनानन्दजी का उदाहरण भी देखने योग्य है—

एरे बीर पौन तेरो चहुँ ओर गौन यासों,
तेरे सम कौन मेरे बैन सुन कान दै।
जगत के प्रान बड़े-छोटे को समान घन—
आनँद निधान सुखदान दुखियान दै।
रूप उजियारे गुनवारे वे सुजान प्यारे
अब है अमोही बैठे पीठि कै अयान दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
हा-हा तिन पायन की धूरि नेक आन दै।

अरे पावन पवन, और नहीं तो प्राणप्यारे के पैरों की धूलि ही उड़ाकर मेरी आँखों में डाल दे। इसी से मुझे बड़ा सन्तोष मिलेगा। इस धूल को ही मैं विरह-व्यथा की ओषधि समझूंगी।

मतिरामजी का नीचे लिखा दोहा भी कितना उत्कृष्ट है, देखिए—

लाज छुटी गेहौ छुट्यौ, मुख सों छुट्यौ सनेह।
सखि, कहियो व निठुर सों रही छूटिवे देह॥

हे सखी, उस निठुर नायक से नेह जोड़ कर लाज से हाथ धोए, घर-बार छोड़ा, अब उसके परदेश चले जाने से प्रेम भी छूट गया! अब तो बस देह छूटनी ही और शेष रह गई है।

खण्डिता

जो नायिका अन्य नारी संभोग-जनित रति-चिन्हों युक्त पति को प्रातः समय घर आया देखकर उससे कुपित होती है, उसे खण्डिता कहते हैं।

नाट्य शास्त्रकार खण्डिता की परिभाषा इस भाँति करते हैं—जो नायिका वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर पति के आगमन की प्रतीक्षा में बैठी हो, परन्तु पति अन्य स्त्री पर आसक्त होने के कारण, उसके पास न आवे, उस समय दुखी होने वाली नायिका खण्डिता कहाती है।

खण्डिता भी मुग्धा, प्रौढ़ा आदि भेदों से पाँच प्रकार की होती है। इन सब में अपने-अपने लक्षणों के साथ खण्डिता के लक्षण मिश्रित रहते हैं। नीचे पाँचों प्रकार की खण्डिताओं के उदाहरण दिये जाते हैं—

मुग्धा खण्डिता

बाल सखिन की सीखते मान न जानति ठानि।
पिय बिन आगम भौन में बैठी भौंहें तानि॥

मतिरामजी कहते हैं कि बेचारी मुग्धा खण्डिता स्वयं तो मान करना जानती ही नहीं, सखियों के सिखाने पर भी उसे मान करना नहीं आता। जब सखियाँ उसे बहुत सिखाती-पढ़ाती हैं, तो वह पति की अनुपस्थिति में ही—शून्य घर में भौंहें चढ़ा कर बैठ जाती हैं।

मुग्धा खण्डिता के उदाहरण में पद्माकरजी के नीचे लिखे पद्य पढ़ने योग्य हैं—

खाये पान-बीरी-सी बिलोचन बिराजें आज,
अंजन अँजाये अधराधर अमीके हैं।
कहै 'पदमाकर' गुनाकर गोविन्द देखो,
आरसी लै अमल कपोल किन पीके हैं।
ऐसो अवलोकिबेई लायक मुखारबिन्द,
जाहि लखि चन्द्र अरबिन्द होत फीके हैं।
प्रेम रस पागि जागि आये अनुराग माते,
अब हम जानी कै हमारे भाग नीके हैं।

आप प्रेम-रस में पग और रात-भर जग कर अब सुबह यहाँ आए हैं। बड़ी ख़ुशी की बात है! पधारिए, अच्छा है, आपने आकर मेरे सौभाग्य-सूर्य को चमका दिया!!

और देखिए—

मुँदिगो मयंक परियंक पै परी है कहा,
आजुकी घरी को यह आनँद निहारै किन।
कहै 'पदमाकर' त्यौं रंग में रंगीलेई—
छबीले छैल ऊपर फबीले चौर ढारै किन।
एहो सुखदान प्रान प्यारे को बखान करो,
प्यारी पलकनि तें पगनु धूरि झारै किन।
मंगलामु ी के बँगला तें प्रात आए रंग—
लालन कौ देखि मंगलारती उतारै किन।

अरी बावली, तू अभी पलँग पर ही पड़ी है। उठ, देख चन्द्र छिप गया, सवेरा होगया, इधर मंगलामुखी के बँगले से लालन भी आगए, इनकी छबीली रंगत तो देख ले। ख़ैर, ला झटपट आरती का सामान ला, इनकी आरती तो उतार लें।

मध्या खण्डिता

मध्या खण्डिता के सम्बन्ध में मतिरामजी का उदाहरण देखिए—

जावक लिलार ओठ अंजन की लीक सोहै,
पैयन अलीक लोक लीक न बिसारिये।

कवि 'मतिराम' छाती नखच्छत जगमगे,
डगमगे पग सूधे मग में न धारिये।
कस कै उधारत हौ पलक पलक यातें,
पलका में पौढ़ि स्नम राति को निवारिये।
अटपटे बैन कछु बात न कहत बनै,
लटपटे पेच सिर पाग के सुधारिये।

जाइये वह पलँग पड़ा है, उस पर सोकर थकावट दूर कर लीजिए! उल्टी-सुल्टी पगड़ी को तो सँभालिए, आखिर यह आपकी हालत क्या हो रही है!

कवि गोकुलजी का भी नीचे लिखा कवित्त मध्या खण्डिता का सुन्दर उदाहरण है—

आए उठि प्रात अँगिरात है जम्हात जात,
पंकज से नींद भरे लोचन झपकि रहे।
मरगजे बागे, लागो अंजन अधर भाल—
जावक, सुमन-हार हियरे चपकि रहे।
'गोकुल' सनेह-भरे हिये तेह तपनि के,
आखर फुलिंग ऐसे ओठन लपकि रहे।
देखि छबि बोलति न लाज भरी घूँघट में,
बड़ी-बड़ी आँखिन तें अँसुआ टपकि रहे।

अन्यत्र केलि कर के आये हुए नायक की दशा देखकर नायिका बड़ी दुःखित होती है, और उसकी आँखों से आँसू टपक पड़ते हैं।

कोऊ करै कितेक हू तजौ न टेक गोपाल।
निसि औरन के पग परौ दिन औरनि के लाल।—'मतिराम'

हे नन्दलाल, तुमसे चाहे कोई कितना ही क्यों न कहे, पर तुम अपनी आदत नहीं छोड़ते। रात में तो ग़ैरों के पैरों में जाकर पड़ते हो, और दिन में औरों के।

अब पद्माकरजी का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

ख्याल मन भाए कहूँ करिकै गोपाल घरै,
आए अति आलस भरेई बड़े तरके।
कहै 'पदमाकर' निहारि गज-गामिनी के,
गज मुकुतान के हिये पै हार दरके।
एतें पै न आनन है निकरै बधू के बैन,
अधर उराहने सु-दीबे काज फरके।
कंधन तें कंचुकी भुजान तें सु-बाजूबन्द,
पौंचन ते कंकन हरेई हरे सरके।

जब रात-भर मनमानी मौज मार के अलसाए हुए मोहन बड़े सवेरे घर आए, तो उन्हें देखकर नायिका मन में अत्यन्त दुखी हुई, परन्तु उसके मुँह से उलाहना देने के लिए एक शब्द भी न निकला! केवल ओठ हिल कर रह गए।

प्रौढ़ा खण्डिता

नीचे प्रौढ़ा खण्डिता का एक सुन्दर उदाहरण दिया जाता है। देखिए—

कानन ते भोर भए आए हो सुजान कान्ह,
आनन की आभा आनि भाँति पेखियतु है।
बिन गुन माल उर उघरी गुपाल लाल,
लाल लाल आँखें कौन लेखे लेखियतु है।
सुन्दर अधर पर पीक की लसति लीक,
बीच कारे काजर की रेख रेखियतु है।
एते पर कहत कि देखो तब कहो ये जू,
आगि लगी कोऊ का दिया लै देखियतु है।

सारे चिन्हों से तो प्रतीत होता है कि तुम केलि कर के आए हो, फिर भी कहते हो कि देख लो तब कहना! स्पष्ट तो देख रही हूँ, और कैसे

देखा जाता है। क्या कहीं आग लगने पर उसे दीपक लेकर देखा करते हैं।

कविवर बैनी प्रवीनजी का नीचे लिखा सवैया भी प्रौढ़ा खण्डिता का सुन्दर उदाहरण है—

भोर ही न्योति गई ती तुम्हैं वह गोकुल गाँव की ग्वालिनि गोरी।
आधिक राति लौं 'बैनी प्रवीन' कहा ढिग राखि करी बरजोरी।
आवै हँसी हमें देखत लालन ! भाल में दीनी महावर घोरी।
एते बड़े ब्रज-मण्डल में न मिली कहूँ माँगे हू रंचक रोरी।

अन्य स्त्री के साथ केलि कर आए हुए नायक के माथे पर महावर का दाग़ देखकर नायिका व्यंग्य से कहती है, इतने बड़े ब्रजमण्डल में क्या तुम्हें कहीं ज़रा-सी भी रोरी नहीं मिली, जो उस निगोड़ी ने महावर से तिलक किया है !!

परकीया खण्डिता

परकीया खण्डिता के उदाहरण में नीचे लिखा बैनी प्रवीनजी का कवित्त देखने लायक है—

कहा कहौं प्यारे कछू कहिबे की बात नाहिं,
बातन बनाइ मन धीर लाइयतु है।
आठहू पहर हरि हहरि हिये में हम,
रावरे 'प्रवीन बैनी' गुन गाइयतु है।
थाह जो नदी है तामें नाव को उपाव कहाँ,
अथाह नदी में पैरि पार पाइयतु है।
आपनी हमारी यह समुझ न देखो बूझि,
जहाँ रैनि चाहै तहाँ भोर आइयतु है।

वाह, मैं तो हर वक्त तुम्हारी प्रशंसा के ही गीत गाती रहती हूँ, तुम्हारी ही रटना लगाये रहती हूँ, और तुम्हारा यह हाल कि जहाँ रात को आना चाहिए वहाँ तुम सुबह आते हो !!

द्विजदेवजी ने परकीया खण्डिता का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

बाँके संक हीने राते कंज छवि छीने माते,
झुकि-झुकि झूमि-झूमि काहू को कछू गनैन।
'द्विजदेव' की सों ऐसी बनक बनाइ बहु—
भाँतिन बगारे चित चाह न चहूँधा चैन।
पेखि पेर जात जौ पै गात न उछाह भरे,
बार-बार तातें तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो व्रजराज! मेरे प्रेम धन लूटिबे को,
बीरा खाइ आए किते आपके अनोखे नैन।

कहो व्रजराज, मेरे प्रेम-धन को लूटने के लिए आपकी आँखों ने कहाँ बीरा खाया है! अर्थात् वह किसके साथ रास-रंग करते हुए रात-भर जागने के कारण लाल हो रही हैं!

कलहान्तरिता

जो स्त्री प्रिय का अपमान करके पीछे पछताती है, उसे कलहान्तरिता कहते हैं।

नाट्य शास्त्रकार ने—जिसका प्रियतम ईर्ष्या अथवा कलह के कारण उसके पास न आता हो, ऐसी क्रोधावेश के कारण सन्तप्त रहने वाली स्त्री को कलहान्तरिता कहा है।

यह भी मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या भेद से पाँच प्रकार की है।

मुग्धा कलहान्तरिता

जिसमें मुग्धा और कलहान्तरिता दोनों के लक्षण पाए जायँ वह मुग्धा कलहान्तरिता होती है। उदाहरण देखिए—

वा दिन वा मँडवा के तरे जेहि के संग भाँवरि आनि सो खेली।
आय अचानक ही अँखिमीचनो ताहि रच्यो लिएँ साथ सहेली।

मेरे ही संग छिप्यौ चाहै कुंज रिसाय कै मैं भई तासौं अकेली।
आयौ यही पछितायौ अली गयौ आजु को खेलिवौ कुंज चमेली।

उस रोज़ मंडप के नीचे जिसके साथ भावरें फिरी थीं, वही नायक आज आँखमिचौनी खेलते समय मेरे साथ ही छिपना चाहता था, पर मैं नाराज़ होकर उससे अलग हो गयी। परन्तु हाय, मेरे ऐसा करने से आज उसके साथ चमेली कुंजों में खेलना ही गया!

नीचे लिखा सवैया भी मुग्धा कलहान्तरिता का सुन्दर उदाहरण है—

लखि लाल लजाय रही ललना कहि सुन्दर वैठि अलींगन में।
हरि हारे बुलाय न बोली जबै, तब तेऊ गए उठि के बन में।
करते इतनी तो करी पहलें पुनि कैसी तची है तिया तन में।
कहिकैं न सकै सखिहू सों कछू पछताति महा मन ही मन में।

पहले तो ललना लाल को देखते ही लज्जित होगई और सखियों में जा बैठी। जब हरि के बार-बार बुलाने पर भी न आई तो वह भी उठकर बन की ओर चले गए। भोली बाला करते तो यह कर बैठी, परन्तु पीछे मन ही मन पछताती है। अपनी मुग्धता के कारण बेचारी मन की व्यथा सखियों से भी नहीं कह सकती।

इसी प्रसंग में देव कवि का नीचे लिखा पद्य भी पढ़ने लायक़ है—

सखी के सँकोचे गुरु सोच मृगलोचनि—
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसि छुवो गात।
'देव' वै सुभाय मुसुक्याय उठि गए, इहिं—
सिसकि-सिसकि निसि खोय रोय पायो प्रात।
कौन जानै बीर, बिन बिरही बिरह बिथा,
हाय-हाय करि पछिताति न कछू सुहात।
बड़े-बड़े नैननि तैं आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात।

पहले तो नायक के ज़रा शरीर छू लेने पर नायिका आगबबूला हो गयी, और अब पछताकर रोती है। मारे दुःख के बेचारी नेत्रों से

अविरल अश्रुधारा बहा रही है। उसकी आँखों से लगातार आँसू बहते देख ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसका गोरा मुख-मण्डल एक बड़ा-सा ओला है, जो पिघल-पिघल कर आँसुओं के रूप में बहा जाता है।

महाकवि मतिराम का दोहा भी देखिए—

आई गौने काल्हि ही सीखे कहा सयान।
अबहीं ते रूसन लगी अबहीं ते पछितान॥

मध्या कलहान्तरिता

इसमें मध्या और कलहान्तरिता दोनों के चिन्ह रहते हैं। देखिए, कवि रघुनाथ इसका कैसा सुन्दर उदाहरण देते हैं—

सुरति के चिन्ह भावते के भाल-उर लखे,
कोप भरे जोबन के ओप भरे तन में।
केलि के महल सों बहानो करि बैठी आय,
एहो 'रघुनाथ' है उदास गुरुजन में।
कहा कहौं भटू उठी इतने में घन-घटा,
बकन की पाँति सो दिखाई दीन्ही घन में।
तब तो अयान बस कीन्हे मान गुन गौरि,
अब सुखदानि पछितान लागी मन में।

पहले तो अपने यौवन और सौन्दर्य के अभिमान में, नायक से उदासीन होकर, केलि-भवन छोड़कर चली आई—मान कर बैठी, परन्तु अब जब काली-काली घन-घटाएँ उमड़-घुमड़ कर घहराने लगीं और उनमें श्वेत बलाकाओं की पाँति उड़ने लगीं, तब प्रिय का वियोग अखरने लगा। पहले तो अज्ञानवश मान किया, परन्तु अब वह मान मिट्टी में मिल गया! और नायिका मनही मन पछताने लगी।

कवि मतिरामजी का निम्न लिखित सवैया भी मध्या कलहान्तरिता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

पाँयन आय परे तो परे रहे, केती करी मनुहारि सुहेली।
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम' गुमान में ऐसी भई अलबेली।
प्यारो गयो दुख मानि कहौ अब कैसे रहौं इहि राति अकेली।
आपु तें ल्याउ मनाइ कन्हाई कों मेरो न लीजियो नाम सहेली।

नायक ने मेरे पैरों में पड़ कर मुझे मनाना चाहा, बड़ी मिन्नत-खुशामद की; परन्तु मैंने उस समय अपना मान नहीं छोड़ा। अब वह रूठ कर कहीं चला गया, अरी सखी! तू ही उसे बुला ला, देख मेरा नाम न लेना, नहीं तो वह हरगिज़ न आवेगा।

प्रौढ़ा कलहान्तरिता

हनुमान कवि ने प्रौढ़ा कलहान्तरिता का उदाहरण यों दिया है—

बैठी रति-मन्दिर में सुभग बनाए बेस,
जाके रूप आगे रति-रूप हू निदरिगो।
आयो तहाँ लाल तासों बोली नाँहिं बाल,
नेक ऐसो कछू अकस अखारौ आनि अरिगो।
एते माँझ रूसि 'हनुमान' मनभावन गो,
लागी पछितान प्रेम-पुंज यों पसरि गो।
कानन ते पैठि हिय बसौ हो जु मान सोई—
हाय इन आँखिन ते आँसू है निकरिगो।

नायिका सब तैयारी किये रति-मन्दिर में बैठी थी, परन्तु जब नायक वहाँ आया, तो बाला उससे बोली नहीं। यह देख नायक भी रूठ कर चला गया। अब तो नायिका पछताने लगी, और जो मान कानों के रास्ते होकर हृदय में घुस बैठा था, वही अब आँखों के रास्ते आँसू बनकर निकल पड़ा, अर्थात् नायिका रोने लगी!

देव कवि का नीचे लिखा सवैया प्रौढ़ा कलहान्तरिता का उत्कृष्ट उदाहरण है। देखिए—

वैरिनि जीभहिं काटि करौं मन द्रोही को मीजिकै मौन धरौंगी।
जाने को 'देव' कहा भयो मोहिं लरी कहैं लोक में लाज मरौंगी।
प्रानपती सुख सर्वस वे उन सौं गुन रूप को गर्व करौंगी!
अंजुलि जोरि निहोरि गरे परिहौं हरि प्यारे के पायँ परौंगी।

अब अपनी ज़बान पर क़ाबू रखूँगी, और उनसे कभी ऐसी-वैसी बातें न कहूँगी। मैं उन्हें हाथ जोड़ कर—निहोरे करके जैसे भी बनेगा मनाऊँगी। भला मैं अपने सर्वस्व मे रूप-यौवन का गर्व करूँगी! नहीं, कभी नहीं।

इसी प्रसंग में निम्न लिखित बरवै भी देखने लायक़ है।

रसना, मति इन नयना निज गुन लीन।
कर! तैं पिय झिझकारे अजुगुति कीन॥

प्रौढ़ा कलहान्तरिता पश्चात्ताप करती हुई कहती है—अरे, इस 'रसना' ने प्रियतम से कठोर शब्द कहे तो अपने अनुरूप ही कार्य किया, क्योंकि इसका नाम ही 'रस ना' है। इससे तो सरस व्यवहार की आशा ही व्यर्थ है। ऐसे ही 'मति' (बुद्धि पक्ष में नहीं) और 'नय-ना' (नेत्रों) ने जो उनके साथ रूखा व्यवहार किया, उन्होंने भी अपने गुणों के अनुरूप ही किया परन्तु हे 'कर' (हाथ) तूने प्रिय को झिड़का यह बहुत बुरा किया! तेरा तो नाम कर है। तुझे तो उनका आदर करना चाहिए था।

परकीया कलहान्तरिता

इसका लक्षण भी इसके नाम के अनुरूप ही समझना चाहिए। देव कवि ने नीचे लिखा सवैया इसके उदाहरण में दिया है—

प्रेम-समुद्र पर्‌यौ गहिरे अभिमान के फेन रह्यौ गहिरे मन।
कोप-तरंगन तें बहिरे अकुलाय पुकारत क्यों बहिरे मन।
'देवजू' लाज-जहाज तें कूदि भज्यौ मुख मूँदि अजौं रहि रे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन।

नायिका पश्चात्ताप पूर्वक कहती है—अरे मन, कभी तू प्रीति जोड़ता है, और कभी तोड़ता है। अब इस जोड़-तोड़ की नीति का दुःखद परिणाम भी तुही भोग, घबराता क्यों है!

इस प्रसंग में महाकवि पद्माकरजी का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक़ है—

> कासे कहा मैं कहौं दुख यों मुख सूखतई है पियूख पिये तें।
> त्यौं 'पद्माकर' या उपहास को त्रास मिटै न उसास लिये तें।
> ब्यापै बिथा यह जानि परी मनमोहन मीत सों मान किये तें।
> भूलि हू चूक परै जो कहूँ तिहि चूक की हूक न जाति हिये तें।

मनमोहन से मैंने मान करके जो भयंकर भूल की है, उसके दुःख को मैं ही जानती हूँ। सच है, कभी-कभी भूल से भी जो ग़लती हो जाती है, तो उसकी कसक दिल में बराबर बनी रहती है।

विप्रलब्धा

जो स्त्री अपने प्रियतम को संकेत-स्थान में न पाकर दुखी होती है, उसे विप्रलब्धा कहते हैं। इसके भी मुग्धा आदि पाँच उपभेद हैं।

मुग्धा विप्रलब्धा

जिसमें मुग्धा और विप्रलब्धा दोनों के लक्षण हों, वह मुग्धा विप्रलब्धा होती है। कविवर मतिराम ने इसका उदाहरण नीचे लिखे प्रकार दिया है—

> आलिन के सुख मानिवे को पिय प्यारे की प्रीति गई चलि बागै।
> छाय रह्यौ हियरो दुख सों जब देख्यौ न हाँ नँदलाल सभागै।
> काहू सों बोल कछू न कहै 'मतिराम' न चित्त कहूँ अनुरागै।
> खेल सहेलिन में पर खेल नवेली कों खेलनि जेल सी लागै।

यहाँ नायिका को संकेत-स्थान पर प्रियतम के न मिलने के कारण घोर उपताप हो रहा है, उसका किसी काम में मन नहीं लगता। उसे तो खेल भी जेल जैसा प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में नीचे लिखा कवित्त भी कैसा सुन्दर है—

केलि के बगीचा तें अकेली अकुलाय आई,
नागरि नवेली बेली देखत इहर परी।
कुंज के अवास तहाँ गुंजरत भौंर-पुञ्ज,
सीतल समीर सीरे नीर की नहर परी।
देव तिहिं काल गूँदि ल्याई माल मालिनि यों,
देखत बिरह-बिख-व्याल की लहर परी।
छोह भरी छरी सी छबीली छिति माँहि फूल—
छरी सी छुवत फूल छरी सो छहर परी।

नायिका प्रथम तो संकेत-स्थान में प्रिय को न पाकर वहाँ से वैसे ही अकुलाई हुई लौटी थी, उसी समय मालिन हार बनाकर ले आई। बस फिर क्या था, माला को देखकर तो नायिका के शरीर में सर्प-विष की-सी लहर दौड़ गई और वह क्षोभ में भरी हुई, छड़ी की भाँति भूमि पर गिर पड़ी!

इस सम्बन्ध में निम्न लिखित पद्य भी पढ़ने योग्य हैं—

लख्यो न कन्त सहेट में लख्यो नखत को राय।
नवल बाल कौ कमल सौ गयौ बदन कुम्हिलाय॥

× × ×

ल्याई लिवाय सखीं सब साथ की सौंहन खाय कै सुन्दरि को है।
कुंज के भीतर सूनो चितै करि बैठि रही है नवाय कै भौंहै।
लाल भई दुति कोयन की चमकै पुतरी अति दीठि लजौंहैं।
लोहित कंजन मध्य मनो रस चाखत लोल मधुव्रत सोहैं।

इस सवैये में भी सहेट में नायक के न मिलने के कारण उत्पन्न हुए दुःख का वर्णन है। उस समय लज्जा और निराशा के कारण हुई लाल कोयों में काली पुतलियाँ इस प्रकार चल रही हैं, मानो लाल कमलों में घुस कर भौंरे मकरन्द-पान कर रहे हों। कैसी सुन्दर सूझ है!

मध्या विप्रलब्धा

निम्नलिखित कवित्तों में अभिसार-स्थान में प्रियतम के न मिलने के कारण मध्या विप्रलब्धा नायिका की सखेद अवस्था का वर्णन है—

आई काम-कामिनी-सी कन्त पै एकन्त तहाँ,
ताहि न बिलोक्यो अति व्याकुल ह्वै गौन की।
ता समै तिया को तन ताप तेज ताती छुवै,
छाती[1] सब सीतलता सरिता के पौन की।
स्वास के समीरन उसास भौंर भीर नहीं,
तीर रहे ठाढ़ी मति धीर ऐसी कौन की।
डरपि-डरपि चलीं साथ की सहेलीं सब,
झरपि-झरपि गईं बेली रंगभौन की।

× × ×

रति को तमासो सुनो सोये गुरुजन जब,
कीन्हें अभिसार तब साधि कै रमल सो।
'रघुनाथ' मन में मनोरथ की सिद्धि जानि,
नूपुर बजन लागे पाइँ में दमल सो।
केलि के महल बीच प्यारे सों न भेंट भई,
ऐसी दशा भई मानों खायो है अमल सो।
भोर के समै को ऐसो प्यारी को बदन रह्यो,
एरी भटू फेरि भयो साँझ के कमल सो।

प्रौढ़ा विप्रलब्धा

इसके उदाहरण में कविवर मतिराम का नीचे लिखा कवित्त पढ़िए—

सकल सिंगार साजि संग लै सहेलिन को,
सुन्दरि मिलन चली आनँद के कन्द को।

१—नष्ट हो गई।

कवि 'मतिराम' बाल करति मनोरथनि,
देख्यो परयंक पै न प्यारे नँदनन्द को।
नेह तें लगी है देह दाहन दहत गेह,
बाग के बिलोक द्रुम बेलिन के बृन्द को।
चन्द को हँसत तब आयो मुख चन्द अब—
चन्द लाग्यो हँसन तिया के मुख चन्द को।

संकेत-स्थान में प्रियतम को न पाकर नायिका का चेहरा फीका पड़ गया, उसे घोर निराशा हुई! संकेत-स्थान में आते समय तो उसने अपने चन्द्रानन से चन्द्रमा को फीका कर दिया था, क्योंकि वह प्रफुल्ल-बदन थी, परन्तु वहाँ से लौटते समय चन्द्रमा ने उसके मुख-मण्डल की हँसी उड़ाई। अर्थात् निराशा-जन्य दुःख के कारण नायिका का मुँह और शरीर कुम्हला गया—उदास और फीका पड़ गया!

कविवर बेनी प्रवीनजी प्रौढ़ा विप्रलब्धा का उदाहरण इस प्रकार देते हैं—

उरज उतंग अभिलाषी सेत कंचुकी है,
राखी ना कछूक चित चोप रंग रेजे में।
मोतिन की माल मलमल बारी सारी सजै,
झलमल जोति होति चाँदनी अमेजे में।
बिहँसि बदन बिमलासी सो अटा पै गई,
देखे ना 'प्रबीन बेनी' पिय सुख सेजे में।
गरद[1] भई है वह दरद बतावै कौन,
सारद मयंक मारी करद करेजे में।

उस दिन उस चाँदनी रात में प्रियतम को पर्यङ्क पर न पाकर नायिका शिथिल हो गयी। अब उसकी विरह-व्यथा का कौन वर्णन करे। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो शरद चन्द्रमा ने उसके कलेजे में अपनी किरणों की कटारी मारी।

१—शिथिल।

परकीया विप्रलब्धा

रघुनाथ कवि ने परकीया विप्रलब्धा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

भादवँ की राति अँधियारी घेरे घन घटा,
बरसै मुसलधार मोद भरै मन में।
ऐसी समै भीजत कुँवर कान्ह जू के लीन्हे,
कुँवरि नवेली गई पागी प्रेम पन में।
जौन थल मिलन बतायो तहाँ पायो नाहिं,
'रघुनाथ' मदन सतायो ताही छन में।
जेई बूँदें नीर की सुखद लागे धीर छूटै,
तेई बूँदें तीरसी तिया के लागीं तन में।

भादों की अँधेरी रात में, भीगती हुई नायिका संकेत-स्थान पर पहुँची, परन्तु वहाँ प्रियतम न पाया तो वह विरह-विकल हो उठी। आते समय वर्षा की जो बूँदें उसके शरीर को आनन्ददायिनी प्रतीत होती थीं वे ही अब उसके शरीर में तीर के समान लग रही थीं।

इस प्रसंग में कवीन्द्र कवि का नीचे लिखा कवित्त भी देखने योग्य है—

कैसी ही लगन जामें लगन लगाई तुम,
प्रेम की पगनि के परेखे हिये कसके।
केतिको छपाय के उपाय उपजाय प्यारे,
तुम तें मिलाय के बढ़ाये चोप चसके।
भनत 'कविन्द' केलि-कुंज में बुलाय कर,
बसे कित जाय दुख दे हमें अवस के।
पगनि में छाले परे नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

वाह! ऐसी घोर वर्षा में हमें तो संकेत-स्थान में बुला लिया, परन्तु कन्हैयाजी स्वयम् ग़ायब हो गये! नदी-नाले लाँघकर ज्यों-त्यों हम यहाँ पहुँच पायीं, चलते-चलते पाँवों में छाले पड़ गये, परन्तु तो भी लाल के दर्शनों के लाले ही पड़े हुए हैं!

उत्कण्ठिता

जो नायिका संकेत-स्थान में पहुँच नायक को न पाकर उसके आने की प्रतीक्षा करती हुई चिन्तित होती है, उसे उत्कण्ठिता या विरहोत्कण्ठिता कहते हैं। इसके भी मुग्धा आदि पाँच उपभेद हैं।

मुग्धा उत्कण्ठिता

मुग्धा उत्कण्ठिता के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया देखने योग्य है—

ज्यों-ज्यों चलैं सजनी अपने घर त्यों-त्यों मनों सुख-सिन्धु में पैठे।
ज्यों-ज्यों वितीतति है रजनी उठि त्यों-त्यों उनीदे से अंगनि ऐंठे।
आवत बात न कोऊ हिये चित कैसे तजै कुल कानि अकैठे।
ज्यों-ज्यों सुनै मग पायन की धुनि सेज पै त्यों-त्यों लली उठि बैठे।

मुग्धा उत्कण्ठिता नायिका की उत्कण्ठा कितनी बढ़ी हुई है। ज्यों ही वह किसी के पावों की आहट सुनती है, त्यों ही पलँग पर उठकर बैठ जाती है कि शायद प्रियतम आए हों।

मतिरामजी का नीचे लिखा सवैया भी मुग्धा उत्कण्ठिता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

बीति गई जुग जाम निशा 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई।
जानति हों कहुँ और तिया सों रहे रस में रमि के रसराई।
सोचति सेज परी यों नवेली सहेली सों जात न बात सुनाई।
चन्द चढ्यौ उदयाचल पै मुखचन्द पै आनि चढ़ी पियराई।

नायिका के दुःख का ठिकाना नहीं है, ज्यों-ज्यों रात बीतती जाती है, और चन्द्रमा ऊँचा चढ़ता जाता है, त्यों ही त्यों निराशा के कारण चन्द्रमुखी का मुख फीका पड़ता जाता है।

मध्या उत्कंठिता

मध्या उत्कण्ठिता के उदाहरण में मतिरामजी का निम्नलिखित सवैया देखिये—

बारहिँ बार विलोकति द्वारहिँ चौंकि परै तिन के खरके हूँ।
सेज परी 'मतिराम' विसूरति आई अहौं अबही लखि मैं हूँ।
संग सखीन के खेलत हीं अज हूं रजनी पति के अथये हूँ।
लालन बेगि न जाहु घरै फिरि बाल न मानिहै पाँय परे हूँ।

नायक से सखी कहती है—नायिका तुम्हारी प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता के साथ कर रही है। जल्दी घर जाओ, अगर वह रूठ गयी तो फिर पाँव पड़ने पर भी न मानेगी।

इसी के उदाहरण में पद्माकरजी का भी सवैया पढ़िये—

आये न कन्त कहाँ धौं रहे भयो भोर चहै निसि जाति सिरानी।
त्यौं 'पद्माकर' बूझो चहै पर बूझि सकै न सँकोच की सानी।
धारि सकै न उतारि सकै सु निहारि सिँगार हिये हहरानी।
सूल से फूल लगे फर पै तिय फूल छरी सी परी मुरझानी।

पति की प्रतीक्षा में रात्रि समाप्त होने पर आ गयी, नायिका बड़े असमंजस में पड़ी है कि क्या करे, शृंगार को धारे रहे अथवा उतार दे। इस समय उसके शरीर में फूल शूल की तरह चुभ रहे हैं।

कविवर बिहारी का नीचे लिखा दोहा भी मध्या उत्कण्ठिता का उत्तम उदाहरण है—

नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आए वनमाली न॥

प्रौढ़ा उत्कण्ठिता

प्रौढ़ा उत्कण्ठिता का उदाहरण वैनी प्रवीनजी ने इस प्रकार दिया है—

कान्ह रूपवती में रमे हैं लोभी लालची है,
ललकत डोलें बोलें तजत सुभाए ना।
काहू संग सखिन के रंग मढ़ि रहे कै धौं,
कै धौं उर उद्वि कै अनंग-बान लाए ना।

कौन असमंजस 'प्रवीन बैनी' यातें और,
भोर होत आली! नभ लाली तैं बताए ना।
अथवत[1] इन्दु अरबिन्द-बन बिकसत,
गुंजत मिलिन्द हैं गोबिन्द गेह आए ना।

चन्द्रमा अस्त हो गया, पौ फटगयी, कमल विकसित हो गये, भौंरे गुंजारने लगे परन्तु गोविन्द अब तक घर नहीं आये, न जाने सारी रात कहाँ बिता दी!

और भी देखिए—

लखु चाँदनी चारु मलीन भई गन तारन के पियरान लगे।
चिरियाँ चहुँ ओर करें चरचा चकई चकवा नियरान लगे।
सिगरी निसि मैन मरोरनि में ये सिंगार कछू जियरान लगे।
मनमोहन तो हियरा न लगे नथ के मुकता सियरान लगे।

उपर्युक्त सवैया में भी 'उत्कण्ठा' में रात बीत कर प्रातःकाल हो जाने का वर्णन है।

परकीया उत्कण्ठिता

परकीया उत्कण्ठिता के उदाहरण में कवि लीलाधरजी ने निम्न-लिखित कवित्त लिखा है—

डर भौ नगर कै धौं काहू सों झगर कै धौं,
बीच ही बगर आन बधू बिरमायो है।
'लीलाधर' गैल में कि भूल्यौ तम रैल में—
कि धौं सुकाहू खेल में सखान अरुझायो है।
दूती ही सों दोष भौ कि मोही सों सरोष भौ,
कि कलह परोस भो सुघर हरि धायो है।
केलि की न चाह धौं, हिये न कै उछाह धौं,
सु कौन हेतु नाह धौं सहेट नाँहि आयो है।

1—अस्त होते हैं

नाना प्रकार की आशङ्काएँ करके नायिका पूछती है कि क्या कारण हुआ जो नायक 'सहेट' में नहीं आया।

मतिरामजी का नीचे लिखा पद्य भी परकीया उत्कण्ठिता का सुन्दर उदाहरण है—

> जमुना के तीर भये सीतल समीर जहाँ
> मधुकर, मधुर करत मन्द सोर हैं।
> कवि 'मतिराम' तहाँ छबि सों छबीली बैठि,
> अंगनि तैं फैलत सुगन्ध के झकोर हैं।
> पीतम बिहारी के निहारिबे को बाट ऐसी,
> चहुँ ओर दीरघ दृगनि करि दौर हैं।
> एक ओर मीन मानो एक ओर कंज-पुंज,
> एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।

नायिका चारों ओर चकित होकर देख रही है। कभी उसकी आँखें मछली-सी हो जाती हैं, कभी कमल-सी 'कभी खंजन-सी' और कभी चकोर-सी। यहाँ पर मछली आदि की उपमाओं द्वारा नायिका के हृदय में उत्पन्न होने वाले, उत्सुकता, हर्ष, रोष आदि भावों की ओर संकेत है।

वासकसज्जा

सुसज्जित भवन में, सखियों द्वारा सजकर, संभोग-सामग्री सहित समागम के लिए समुद्यत होने वाली नायिका वासकसज्जा कहाती है। इसके भी पाँच उपभेद हैं।

मुग्धा वासकसज्जा

जिसमें मुग्धा और वासकसज्जा दोनों के चिन्ह परिलक्षित हों उसे मुग्धा वासकसज्जा कहते हैं। उदाहरण देखिए—

> छूट्यो डर भावती को जानि परी एरी भटू,
> देखु चोराचोरी आजु लागी है टहल में।

मायके की सखी सों मँगाय फूल मालती के,
चादर सों ढाँके छाय तोसक-पहल में।
'रघुनाथ' भावते के पानदान भरि बीरी,
भरी धरी पोथी कोऊ कथा की रहल में।
अतर गुलाब को छिरकि हेत सौरभ के,
चहल पहल कीन्हे रति के महल में।

नायक से मिलने के लिए महल में खूब चहलपहल हो रही है। बड़े-बड़े सामान जुटाये जा रहे हैं, परन्तु सब गुप्त रूप से—छिपे-छिपे। आखिर मुग्धा ही तो ठहरी !

और भी देखिए—

फूल सी आप ही आपने हाथन फूल के गूँथति हार नवीने।
आप ही आपने हाथ दुकूल कियो चहै केसरि के रँग भीने।
भेद कहै न सखीनहु सों, हरखे हिय में पिय आयबो कीने।
प्यारी कछू मिसि कै मग देखति द्वार की देहरी में दग दीने।

नायिका चुपचाप अपने हाथ से ही अपना शृंगार कर रही है। सखियों को भी भेद नहीं बताती। तरह-तरह के बहाने बना कर बार-बार देहली की ओर देखती है।

निम्नलिखित दोहा भी मुग्धा वासकसज्जा का सुन्दर उदाहरण है—

साजि सेज भूषन बसन सब की नजर बचाइ।
रही पौढ़ि मिस नींद के, दग दुवार सों लाइ॥

मध्या वासकसज्जा

जिसमें मध्या और वासकसज्जा दोनों के लक्षण मिलें वह मध्या वासकसज्जा कहाती है। उदाहरण देखिए—

फटकि सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कैसो अधिकाई उमगै अमन्द।

बाहर तैं भीतर लौं भीतिन दिखैये 'देव'

दूध कैसो फेनु फैल्यौ आँगन फरस बन्द।

तारा सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलिमिलि होति,

मोतिन की ज्योति मिल्यो मल्लिका के मकरन्द।

आरसी से अम्बर में आभा सी उज्यारी लागै,

प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सौ लगत चन्द।

उक्त पद्य में मध्या वासकसज्जा के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। नायिका की सजावट बड़ी सुहावनी हुई है, उसका शृंङ्गार अभूतपूर्व है। उस समय चन्द्रमा उसके मुख-मण्डल का प्रतिबिम्ब (परछाईं)-सा प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में कवि रघुनाथजी का भी नीचे लिखा कवित्त बड़ा सुन्दर है—

मनिमय भूषन पहिरि नख-सिख प्यारी,

बैठी पीठि पीछे आसरो कै परियंक को।

कहै 'रघुनाथ' पिय प्यारे की बिलोकै गैल,

ही में कछू कछू ऐल सौतिन के संक को।

जानिबे को निसि दिसि ऊरध कौं देख्यो ज्यों ही,

त्योंही फैल्यौ आनन-प्रकास ऐसे अंक को।

भौंर लौं उड़त एक रहिगो कलंक बाकी,

छपि गयो ब्योम बीच मंडल मयंक को।

नायिका रात में शृङ्गार किये बैठी रही, परन्तु नायक के दर्शन न हुए। अन्त में उसने आसमान की ओर मुँह उठाकर यह जानना चाहा कि कितनी रात और शेष है, तो देखती क्या है कि चन्द्रमा तो ब्योम-मण्डल में विलीन हो गया है, परन्तु उसका कलङ्क-रूप (काला धब्बा) भौंरा गुंजारता फिरता है। भौंरे का गुंजारना प्रातःकाल होने का स्पष्ट प्रमाण है। कवि ने कैसी सुन्दरता और विलक्षणता से रात का समाप्त होना व्यक्त किया है।

प्रौढ़ा वासकसज्जा

जो प्रौढ़ा नायिका नायक से मिलने के लिए साजसज्जा सजाती है, उसे प्रौढ़ा वासकसज्जा कहते हैं। उदाहरण में मतिरामजी का सवैया देखिए—

बारनि धूपि अँगारन धूप कै धूम अँध्यारी पसारी महा है।
आनन चन्द समान उग्यो मृदु मंद हँसी जनु जोन्ह छटा है।
फैलि रही 'मतिराम' जहाँ तहाँ दीपति दीपन की परभा है।
लाल तिहारे मिलाप को बाल सु आजु करी दिन ही में निसा है।

यहाँ नायिका ने धुआँ के घटाटोप से दिन में ही रात का दृश्य उपस्थित कर दिया, नायिका का मुख इस अलौकिक रात का चन्द्रमा और उसकी मुस्कराहट चाँदनी है। दीप्ति रूपी दीपक भी जहाँ-तहाँ झिलमिला रहे हैं।

नीचे लिखा दोहा भी प्रौढ़ा वासकसज्जा का सुन्दर उदाहरण है—

सब सिँगार सुन्दरि सजे बैठी सेज बिछाय।
भयो द्रौपदी को बसन बासर नाहिं बिलाय।।

भाव स्पष्ट ही है। सुन्दरी सब शृंगार सजाकर तैयार बैठी है, परन्तु दिन द्रौपदी का चीर बन गया है, वह समाप्त ही नहीं होता।

परकीया वासकसज्जा

कवि लछिरामजी ने परकीया वासकसज्जा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

खेल मिस मोहिनी सहेलिन सों दुरि द्यौस,
आई कुंज-बन परिहरि कै नगर को।
'लछिराम' सौरभित सकल सिँगार सजे,
सुमन सँवार्यो छैल आनँद बगर[1] को।
मंजुल मजेजदार[2] बंजुल झरोखनि तें,
झारै भूमि गुंजरत भौंर की रगर को।

१—फैलाना। २—मजेदार।

केलि बेलि गुंजन में मालती निकुंजन में,
नौल तरु-पुंजन में परखै डगर को।

नवेली नायिका सुसज्जित होकर घर से 'कुंज-वन' में आ गयी है, और वहाँ नवल तरु-पुंजों में बैठ नायक की प्रतीक्षा कर रही है।

नीचे लिखा कवित्त भी परकीया वासक सज्जा का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

पायन पलोटि पोटि साँझ तें सुआई सासु,
कहत कहानी देवरानी नींद घिरकी।
ननद पठाई राति जागिबे परोसिनि के,
मूंदि के किवार बैनी गूँदि राखी सिर की।
सारी-सुक-पींजरा पै पँवई गिलाफ डारि,
भीतर धरावति हिये में प्रीति थिरकी।
चन्द सो वदन ढाँकि झाँकति झरोखा बैठि,
मंद करि दीपक कमन्द डारि खिरकी।

परकीया वासक सज्जानायिका ने सास को तो पैर दबा-दबा कर शाम से ही सुला दिया, छोटी देवरानी कहानी सुनते-सुनते सो गई। बाक़ी रही ननद, सो उसे पड़ौसिन के घर रतजगे में भेज दिया। तोता और मैना के पिंजड़ों पर गिलाफ़ डाल-डाल कर उन्हें भीतर टँगवा दिया। इस प्रकार सब ओर से निश्चिन्त हो, सब शृङ्गार सजा, दीप-ज्योति धीमी कर, खिड़की में कमन्द लटका कर झरोखे में बैठी प्रतीक्षा करने लगी।

स्वाधीनपतिका

जिसके रति-गुणों से वशीभूत होकर प्रियतम उसका संग नहीं छोड़ता, वह विचित्र विलासयुक्त नायिका स्वाधीनपतिका कहाती है। इसके भी पाँच उपभेद हैं।

मुग्धा स्वाधीनपतिका

जो मुग्धा अपने पति को वश में कर ले उसे मुग्धा स्वाधीनपतिका कहते हैं। उदाहरण में मतिरामजी का सवैया पढ़िए—

आपने हाथ सों देत महावर आपहि बार सिंगार तनी के।
आपन ही पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौलसिरी के।
हौं सखि लाजन जात मरी 'मतिराम' स्वभाव कहा कहौं पी के।
लोग मिले घर घेर करैं अबही तें ये चेरे भये दुलही के।

मेरा प्रियतम अपने हाथ से ही मेरा सारा शृंगार करता है, क्या कहूँ, मैं तो मारे शर्म के मरी जाती हूँ। यह सब देखकर लोग ठीक ही कहते हैं कि ये तो अभी से अपनी स्त्री के गुलाम बन गये।

इस प्रसंग में नीचे लिखा कवित्त भी क्या ही सुन्दर है, देखिए—

केलि-कोठरी तें कढ़ै बाहिर घरीक हू न,
छोड़ि खेल संग के सखान को दियो है री।
गेह के उचित जन हास-परिहास करें,
तऊ चित्त में न नेंकु सकुच छियो है री।
परिपूर जोबन न झलक सरीर आई,
उर अबही तें यहि भावहि लियो है री।
जादिन तें आई गौनिहाई बाल तादिन तें,
साँवरे सलौने पर टौना सो कियो है री।

अलबेली बाला ने गौने को आते ही लाल पर जादू-सा कर दिया है, जिससे वह घड़ी-भर के लिये भी घर से बाहर नहीं निकलता। उसने सखाओं के साथ खेलना भी छोड़ दिया। संगी-साथी मज़ाक बनाते हैं, पर उसे ज़रा भी संकोच नहीं होता।

× × × ×

इस सम्बन्ध में नीचे लिखे दोहे भी पढ़ने लायक़ हैं—

तुव अयानपन लखि भट्ट लट्टू भये नँदलाल।
जब सयानपन पेखि हैं तबधौं कहा हवाल॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यौ आगे कवन हवाल॥

मध्या स्वाधीनपतिका

जिस मध्या में स्वाधीनपतिका के गुण विद्यमान हों वह मध्या स्वाधीन-पतिका कहाती है।

नीचे दिया गया मतिरामजी का कवित्त स्वाधीनपतिका का सुन्दर उदाहरण है—

जगमगे जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी रंभा-सी रमासी बिसराइये।
देखिबे को प्रान प्यारी पास खरो प्रान प्यारो,
घूँघट उठाइ नेक बदन दिखाइये।
तेरे अंग-अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
'मतिराम' सुकवि प्रगट यह पाइये।
नायक के नैनन में नाइये सुधासी सब,
सौतिन के लोचन न लोन सो लगाइये।

उक्त पद्य में नायिका के रूप-लावण्य का वर्णन है। सखी कहती है कि अरी नायिका तू सौतों की आँखों में तो अपने लावण्य का लवण बुरक दे, और प्रियतम को रूप-सुधा का पान करा दे।

कविवर दिनेशजी का भी नीचे लिखा सवैया पढ़ने लायक है—

तेरियै कीरति कान सुनै अरु तेरोई रूप सदा दृग देखैं।
तेरियै बात कहै रसना अरु भूलि हूँ और की ओर न पेखैं।
तू जिय में हिय में पिय के पिय तो बिन जात घरी जुग लेखैं।
जानि 'दिनेस' किये बस तैं कि भये हरि आपुही हाथ की रेखैं।

नायक को तेरे सिवा न तो किसी की बात अच्छी लगती है, और न सूरत। वह हर वक्त तेरी ही चर्चा किया करता है. मालूम नहीं उन्हें तैने

बस में कर लिया है, अथवा स्वयम् ही उसने तेरी ऐसी अधीनता स्वीकार कर ली है।

प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका

प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका में प्रौढ़ा और स्वाधीनपतिका दोनों के गुण पाए जाते हैं।

नीचे उदाहरण में कविवर सेनापति का कवित्त दिया जाता है। देखिए—

फूलन सों बाल की बनाय गुही बेनी लाल,
भाल दीनी बेंदी मृग-मद की असित है।
अंग-अंग भूषन बनाए ब्रजभूषन जू,
बीरी निज कर सों खवाई करि हित है।
ह्वै कै रस बस जब दैबे को महावर को,
'सेनापति' स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि कर प्यारे को लगाइ रही आँखिन सों,
एहो प्रानप्यारे यह अति अनुचित है।

नायक नायिका पर इतना अनुरक्त है कि वह उसका शृंगार तक अपने हाथों से करता है। सारा शृंगार कर चुकने पर जब नायक नायिका के पावों में महावर देने लगा, तब नायिका ने उसके हाथ चूमते हुए कहा—प्राणनाथ, यह आप क्या करते हैं, ऐसा करना तो अत्यन्त अनुचित है। भला आप मेरे पाँव छुएँगे ?

और भी उदाहरण देखिए—

बारिद बार सही 'रघुनाथ' कहै जनु चारु किये हग मोर हैं।
ईछन कंज सही सुथरे, जिन लोचन भौंर किये बरजोर हैं।
बोलनि जो सो सही मुकता जिन आँखिन को किये हंस किशोर हैं।
प्यारी को आनन इन्दु सही जिहिं कीन्हे गुबिन्द के नैन चकोर हैं।

उक्त सवैया में भी नायक की नायिका में अनन्य अनुरक्ति का वर्णन किया गया है। नायिका के बाल क्या हैं, काले बादल हैं, जिन्हें देखने

के लिए नायक की आँखें मदमत्त मयूर की भाँति नाच उठती हैं। इसी प्रकार उसके कमल समान लोचनों पर नायक के नेत्र मधुलुब्ध मधुपों की भाँति मँडराया करते हैं। नायिका जब बोलती है तो मानों उसके मुख से मोती झरते हैं, जिन्हें नायक की आँखें हंस बन कर चुगा करती हैं। नायिका का मुखमंडल तो पूर्ण चन्द्रबिम्ब समान है ही, जिसे नायक के नयन-चकोर निर्निमेष होकर देखते रहना चाहते हैं।

परकीया स्वाधीनपतिका

परकीया स्वाधीनपतिका के उदाहरण में कमलापति कवि का नीचे लिखा सवैया पढ़िए—

चढ़ि ऊँची अटा पर बाँसुरी लै अब नाम हमारो बजाइये ना।
सुनि चौचँदहाई चवाव करैं यह बात कबौं बिसराइये ना।
'कमलापति' साँची कहौं इतनी सुनि कोह कछू मन लाइये ना।
बिनती परि पाँय तिहारी करौं कुल कानि हमारी गँवाइये ना।

× × × ×

निम्नलिखित सवैया भी परकीया स्वाधीनपतिका का सुन्दर उदाहरण है—

हौं हू समै लखि कै उत आय कह्यौ करिहौं सब रावरे जी को।
बारही बार न ऐये इतै यह मेरो कछू है परोस न नीको।
चाह भरे घँसि चन्दन लावत हार बनावत मौलसिरी को।
कोऊ कहूँ यह जानि जो जाय तो होय लला मोहिं लील को टीको।

अभिसारिका

जो स्त्री काम के वशीभूत हो, लज्जा त्याग कर, संकेत-स्थान पर नायक को बुलाती अथवा स्वयं वहाँ जाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं।

इसके भी मुग्धा आदि पाँच उपभेद हैं।

मुग्धा अभिसारिका

जो मुग्धा अभिसरण करती है, उसे मुग्धा अभिसारिका कहते हैं। उदाहरण देखिए—

दाबि दाबि दन्तन अधर छतवन्त करे,
आपने ही पायन की आहट सुनत स्रौन।
'द्विजदेव' लेति भरि गातन प्रसेद अलि,
पात हू की खरक जु होती कहूँ काहू भौन।
कंटकित होती अति उससि उसासनि तें,
सहज सुबासन सरीर मंजु लागै पौन।
पंथ ही में कन्त के जौ होत यह हाल तौ पै,
लाल की मिलनि ह्वै है बाल की दसा धौं कौन।

उक्त-पद्य में अभिसरण को जाती हुई मुग्धा का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है। जब अभिसार को जाते हुए मार्ग ही में उसकी यह दशा है तब लाल से मिलकर तो न जाने क्या हालत हो जायगी।

मध्या अभिसारिका

कविवर द्विजदेवजी ने मध्या अभिसारिका का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

पायलन डारै कटि किंकिनी उतारै कहूँ,
हाथनि तें झारि भीर टारति मिलिन्द की।
भूषन चमक तैं चमकि लगै पायन में
'द्विजदेव' आँखिन बचाय अलिबृन्द की।
भौन तें दमकि दामिनी लौं दुरै दूजे भौन,
त्यागि गरबीली गति गौरव गयन्द की।
या बिधि तैं जाति चली साँवरी उमाहै सखी,
आजु भई चाहै भाग उदित गोबिन्द की।

गज की-सी धीमी-धीमी चाल छोड़कर, नायिका चपला की तरह चंचलता पूर्वक अपने घर से निकल कर दूसरे घर में छिप गयी।...आज गोविन्द के भाग उदय होना चाहते हैं।

इस प्रसंग में दत्त कवि का नीचे लिखा कवित्त भी क्या ही सुन्दर है, देखिए—

सखिन समाज तें उठाय अरविन्द- नैनी,
'दत्त कवि' कहै जाव बीती जानि रतियाँ।
भूखन बनाय पहराय जरतारी सारी,
हीरन किनारी दै सँवारी हंस-गतियाँ।
किंकिनी की नीकी जोति झलर-मलर होति,
लाज ते नवेली के कढ़ै न मुख बतियाँ।
नूपुरन दाबि-दाबि भूपर धरति पग,
दन्त दाबि अधर हथेरी दाबि छतियाँ।

'अब आओ, रात काफ़ी चली गई' सखी द्वारा यह कहे जाने पर अभिसारिका वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित हो चल देती है। उस समय लज्जा के कारण उसके मुँह से बात तक नहीं निकलती। चलने में कहीं नूपुर बजने न लगें इसलिए वह दबे पाँव जा रही है, फिर भी यदि कभी कोई भूषण बज उठता है, तो वह अपने ओठों को दाँतों से और छाती को दोनों हाथों से दबा लेती है।

प्रौढ़ा अभिसारिका

कवि भुवनेशजी ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

अधखुले नैन कंज खंजन अचैन करैं,
सैन करैं छुन्दन छुरा को छोर छरकत।
कवि 'भुवनेस' छबि केस की कहाँ लौं कहै,
माखि-माखि मोरि मन मारैं मनि मरकत।
ओजित[1] मनोज ओज उरज सरोज सोहैं,
पग मग परत मजीठ-माठ ढरकत।
मुख मंजु चन्द भास[2] उदित अमन्द हास,
जाति नँदनन्द पास बन्द-बन्द फरकत।

भाव स्पष्ट है।

× × × ×

१—बलवान। २—प्रकाश।

पद्माकरजी का नीचे लिखा सवैया भी प्रौढ़ा अभिसारिका का उत्कृष्ट उदाहरण है—

कौन है तू कित जाति चली बलि बीती निसा अधराति प्रमाने।
हौं 'पदमाकर' भावती हौं निज भावते पै अबही मुहि जाने।
तू अलबेली अकेली डरे किन? क्यौं डरौं मेरी सहाय के लाने।
है सखि संग मनोभव सो भट कान लौं बान सरासन ताने।

अरी सखी, तू इस आधी रात में अकेली कहाँ जा रही है? मैं अपने मनभावन से मिलने जा रही हूँ। तू चिन्ता मत कर मैं अकेली नहीं हूँ, मेरे साथ कामदेव रूपी योद्धा है, जिसने कान तक शरासन तान रक्खा है।

परकीया अभिसारिका

नीचे लिखा कवित्त परकीया अभिसारिका का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है—

सोये लोग घर के बगर के किवार खोलि,
जानी मन माँहि निज गई जुग जामिनी।
चुप चाप चोरा चोरी चौंकत चकित चली,
प्रीतम के पास चित चाह भरी भामिनी।
पहुँची सँकेत के निकेत संभु सोभा देत,
ऐसी बन-बीथिन बिराजि रही कामिनी।
चामीकर चोर जान्यौ चंपलता भौंर जान्यौ,
चन्द्रमा चकोर जान्यौ मोर जान्यौ दामिनी।

रात्रि में चुपचाप अकेली जाती हुई अभिसारिका को चोरों ने (उसकी कान्ति के कारण) स्वर्ण समझा, भौरों ने देह-दीप्ति के कारण चंपलता जाना, चकोरों ने चन्द्रमा और मोरों ने दामिनी समझा।

अभिसारिका के अन्य भेद

उपर्युक्त पाँच उपभेदों से अतिरिक्त समय के विचार से अभिसारिका

के—शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका और दिवाभिसारिका ये तीन भेद और किये गए हैं।

शुक्लाभिसारिका

चाँदनी रात में चाँदनी रात के अनुरूप श्वेत वस्त्र धारण कर अभिसार को जाने वाली अथवा नायक को संकेत-स्थान में बुलाने वाली शुक्लाभिसारिका कहाती है। यथा—

अंगन में चन्दन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीर फेन ऐसी आभा उफनाति है।
राजतरु चिर सुचि मोतिन के आभरन,
कुसुम कलित केस सोभा सरसाति है।
कवि 'मतिराम' प्रान प्यारे को मिलन चली,
करि कै मनोरथनि मृदु मुसिकाति है।
देति न लखाई निसि चन्द की उज्यारी मुख—
चन्द की उज्यारी तन छाहौं छिपिजाति है।

× × ×

दूसरा उदाहरण देखिये—

कनक बरन बाल नगन जटित माल,
मोतिन की माल उर सोहै भली भाँति है।
चन्दन चढ़ाये चारु चन्दमुखी चाँदनी-सी,
निकसि अबास तें सिधारी मुसकाति है।
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै 'मुमारखजू',
ढाँपि नख सिख लौं अधिक सकुचाति है।
चन्द्र में लपेटि कै समेटि कै नक्षत्र मानो,
द्यौस कों प्रनाम किये राति चली जाति है।

अब बिहारीलालजी का भी नीचे लिखा दोहा देखिये—

जुवति जोन्ह में मिलि गई नैंकु न परति लखाय।
सौंधे के डोरन लगी अली चली सँग जाय॥

शुक्लवसना नायिका चाँदनी में इतनी मिल गई है कि पहचानी भी नहीं जाती। केवल उसके शरीर की सुगन्ध से जाना जाता है कि वह आ रही है।

कृष्णाभिसारिका

जो नायिका अँधेरी रात में (अँधेरे के अनुरूप) काले या नीले वस्त्र धारण कर अभिसार को जाती अथवा नायक को संकेत-स्थान पर बुलाती है, उसे कृष्णाभिसारिका कहते हैं। यथा—

कारो नभ कारी निसि कारियै डरारी घटा,
भूकन बहत पौन आनंद को कन्द[1] री।
'द्विजदेव' साँवरी सलौनी सजी स्याम जू पै,
कीन्हों अभिसार लखि पावस अनन्द री।
नागरी गुनागरी सु कैसे डरै रैनि उर,
जाके संग सोहैं ये सहायक अमन्द री।
बाहन[2] मनोरथ उमाहे संगवारी सखी,
मैन मद सुभट मसाल मुख चन्द री।

जिस कृष्णाभिसारिका नायिका के साथ मनोरथ की सवारी, कामदेव संरक्षक और मुखचन्द्र रूपी मशाल मौजूद है, उसे कारी अँधियारी में किसका डर है।

शंकरजी का भी नीचे लिखा कवित्त कृष्णाभिसारिका का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

साजि कै सिंगार शंकरारि बस नारि कर
आरती को थार लै तयार भई जान को।
रैनि अँधियारी बरसत बहु बारी नारी,
पकरै किवारी ठाढ़ी सोचति बिधान को।

१—मूख। २ - सवारी।

मावस की राति कारी पावस की घात भारी,
ना बस की बात हारी कैसे मिलूँ कान को।
बोली बदरान सों बुझै न बीजुरी की आगि,
बीजुरी न मारै बजमारे बदरान को।

शंकरारि (कामदेव) के वशीभूत हुई नायिका, शृङ्गार सजाकर हाथ में आरती की थाली ले, अभिसार के लिए जाने को तैयार हुई। परन्तु अंधेरी रात और पानी बरसता देख द्वार के किवाड़ पकड़े खड़ी रह गई। वह मन ही मन मावस की अँधेरी रात और उस पर वर्षा की घात को सोचती हुई कहती है—ऐसे में मैं किस प्रकार कृष्ण से जाकर मिलूँ। इन बजमारे बादलों पर बिजली भी तो नहीं गिरती जो ये इस प्रकार बेमौके बरस रहे हैं।

दिवाभिसारिका

जो नायिका दिन में, दिन के अनुरूप वस्त्र पहनकर, अभिसरण करती या नायक को संकेत-स्थल पर बुलाती है, उसे दिवाभिसारिका कहते हैं। यथा—

चण्डकर[1]-मण्डल प्रचण्ड नभ मण्डल तैं,
घुमड़ी परत अली अलिगन लहरी।
केहरि कुरंग इक संग बर बैर तजि,
काहिल कलित परे सोहैं तरु छहरी।
ऊरध उसासन तें सूखत अधर एरी,
हेरि-हेरि छतियाँ हमारी जाति हहरी।
गाढ़ी प्रीति कौन की हिये में आइ बाढ़ी जाइ,
ठाढ़ी सिर लेति ऐसी जेठ की दुपहरी।

और भी देखिए—

सारी जरतारीकी झलक झलकत तैसी,
केसरि को अंगराग कीन्हों सब तन में।

१—सूर्य।

तीखन तरनि की किरनि हूँ तें दूनी दुति,
जगत जवाहिर जटित आभरन में।
कवि 'मतिराम' आभा अंगन अँगार कैसी,
धूम कैसी धार छवि छाजति कचन में।
ग्रीषम दुपहरी में पिय को मिलन जाति,
जानी जाति नारि न दवारी जाति बन में।

नायिका ने जैसी जरी की साड़ी पहनी हुई है, वैसा ही केसर का अङ्ग-राग भी लगा लिया है। सुनहरी आभूषणों की द्युति सूर्य की किरणों से दुगनी दिखाई देती है। नायिका के प्रत्येक अंग से अग्नि की-सी आभा झलक रही है, जिसमें उसके केश-पाश धूम-धार-से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वेश-भूषा से सजकर, ग्रीष्म की दुपहरी में अभिसार को जाती हुई नायिका, ऐसी जान पड़ती है मानो वन में दवाग्नि चली जा रही हो।

अभिसार के स्थान—साहित्य-दर्पणकार ने अभिसार के निम्नलिखित स्थान बताए हैं—खेत, बगीचा, टूटा देवालय, दूती-गृह, वन, शून्यस्थान, श्मशान, नदी आदि का तट अथवा अन्धकारावृत कोई भी जगह।

इसी प्रसंग में कविवर विश्वनाथजी ने भिन्न भिन्न प्रकार की नायिकाओं के अभिसार करने का ढंग भी बताया है। वह इस प्रकार—

यदि कोई कुलीन कामिनी अभिसरण करेगी, तो वह अपने शरीर को भले प्रकार वस्त्रों से ढक कर घूंघट काढ़ लेगी, और लजाती हुई दबे पैरों चलेगी, जिससे आभूषणों का शब्द न होने पावे।

यदि वेश्या अभिसरण करेगी, तो वह वस्त्रालङ्कारों से अच्छे प्रकार सुसज्जित हो, आभूषणों को झनकारती और आनन्द से मुस्कराती हुई आयगी।

यदि कोई दासी अभिसरण करेगी, तो मारे प्रसन्नता के उसके दोनों नेत्र विकसित हो रहे होंगे, तथा नशे के कारण वह अटपटी बातें करती एवं लटपटी चाल चलती हुई आयगी।

प्रवत्स्यत्पतिका

जो नायिका अपने प्रियतम के परदेश जाने का समाचार सुनकर व्याकुल हो उठती है, उसे प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं। इसके भी मुग्धादि पाँच भेद माने गए हैं।

मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका

उदाहरण में कविवर मतिरामजी का नीचे लिखा पद्य पढ़िए—

जा दिन तें चलिवे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है।
कहै 'मतिराम' छोड़े भूषन बसन पान,
सखिन सों खेलनि हँसनि बिसराई है।
आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित,
ऐसे में चलो तो लाल रावरी बड़ाई है।
सोवति न रैनि-दिन रोवति रहति बाल,
बूझें ते कहति सुधि मायके की आई है।

नायक के परदेश जाने की चर्चा सुनते ही नायिका ने रोना शुरू कर दिया, वह साफ़-साफ़ नहीं कहती कि मैं प्राणनाथ के परदेश जाने के कारण रोती हूँ, बल्कि इस भाव को छिपाकर यह बहाना बनाती है कि मुझे तो अपने मा-बाप, भाई-बहन की याद आ रही है, इसीलिए मेरी आँखों से आँसू बह रहे हैं।

और भी देखिए, प्रवत्स्यत्पतिका के उदाहरण में निम्नलिखित दोहे कितने सुन्दर हैं—

बोलत बोल न बलि बिकल थरथरात सब गात।
नव जोबन के आगमन सुनि प्रिय-गमन प्रभात॥

मुग्धा नायिका प्रातः प्रिय-गमन की चर्चा सुन कुछ भी नहीं बोलती, केवल विकल होकर काँपती है।

× × × ×

आज सखी हौं सुनति हौं, पौ फाटे पिय गौन।
पौ में औ में होड़ है, पहले फाटे कौन॥

देखूँ पहले पौ फटती है, या मेरा हृदय विदीर्ण होता है। देखिये—
इसी प्रसंग का दूसरा दोहा

सजन सकारे जायँगे, नैन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर, भोर कभू ना होय॥

सुना है, कि सबेरे प्राण-पति परदेश चले जायँगे. हे विधाता! ऐसी 'रैन' कर दे कि भोर कभी न हो। यानी रात ही बनी रहे, जिससे प्राणपति परदेश न जा सकें।

नीचे लिखा ग्वाल कवि का कवित्त मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका का कैसा अनूठा उदाहरण है। देखिए—

ससिमुखी सूक गई तब ते बिकल भई,
बालम बिदेसहु को चलिबो जबै कयो।
दूध दही श्रीफल रुपैया धरि थारी माँहि,
माता सुत-भाल जबै रोरी को टीको दयो।
ताँदुर बिसरि गयो, बधू सों कह्यौ लै आउ—
तब तें पसीना छुट्यो मन, तन कों तयो।
ताँदुर लै आई तिया आँगन में ठाढ़ी रही,
करके पसारिवे में भात हाथ में भयो।

पति के विदेश जाने की तैयारी देख नायिका संभावित विरह-ताप से जलने लगी। उसके शरीर से पसीना छूट निकला। माता ने पुत्र के मस्तक पर विदाई का तिलक लगाया, तो देखा कि थाली में चावल ही न थे। बहू से चावल लाने को कहा गया। वह मुट्ठी में चावल लेकर आई, परन्तु सास के पास पहुँचते-पहुँचते हाथ के पसीना और विरह-ताप की गर्मी से मिल कर चावलों का भात होगया। विरह-जन्य ताप का कितना अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है।

मध्या प्रवत्स्यत्पतिका

गंग कवि ने मध्या प्रवत्स्यत्पतिका का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है—

बैठि है सखिन संग पिय को गमन सुन्यौ,
सुख के समूह में वियोग आगि भरकी।
'गंग' कहै त्रिविध सुगंध लै बह्यौ समीर,
लागत ही ताके तन भई बिथा ज्वर की।
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पै सु—
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई,
जल जरि गयौ पंक सूख्यौ भूमि दरकी।

इस नायिका ने तो अपनी विरहाग्नि से जल, थल, पृथ्वी-पवन सबही को भस्मसात् करने की ठान ली। जीव-जन्तुओं का ख़ातमा ही कर दिया!

इस प्रसंग में दास कवि का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक़ है—

बात चली यह है जब तें तब तें चले काम के तीर हजारन।
नींद औ भूख चली तन तें अँसुआ चले नैनन तें सजि धारन।
'दास' चली कर तें बलया[1] रसना[2] चली लंक तें लागी अबार न।
प्रान के नाथ चले अनतैं[3] तनतें नहिं प्रान चले केहि कारन।

नायिका कहती है, प्राणनाथ तो परदेश को जाने लगे, परन्तु मेरे प्राण शरीर से क्यों प्रयाण नहीं करते!

प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्पतिका

उदाहरण में मतिरामजी का कवित्त देखिए—

मलय समीर लागे चलन सुगंध सीर,
पथिकन कीन्हें परदेसनि तें आवने।
'मतिराम' सुकवि समूहन कुसुम फूले,
कोकिल मधुप लागे बोलन सुहावने।

१—कंकण या चूड़ी। २—कौंधनी। ३—अन्यत्र—विदेश।

आयो है बसन्त भये पल्लवित जलजात,
तुम लागे चलिबे की चरचा चलावने।
रावरी तिया को तरुवर सरबरन के,
किसलै कमल ह्वै हैं बारक बिछावने।

कैसी सुन्दर सुखद वसन्तश्री दिखायी दे रही है, ऐसे आनन्दमय समय में जो लोग परदेश में थे, वे भी अपने घर वापस आ रहे हैं, परन्तु मेरे प्राणनाथ! तुमने बाहर जाने की तैयारी कर दी!! है कि नहीं अन्धेर की बात!

इस प्रसंग में देव कवि का भी नीचे लिखा कवित्त पढ़ने योग्य है—

नील पट तन पै घटान सी घुमाइ राखौं
दन्त की चमक सों छटासी बिचरति हौं।
हीरनि की किरनै लगाइ राखौं जुगनू सी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों ढरति हौं।
कीच अँसुवान की मचाऊँ कवि 'देव' कहै,
पिया को विदेस हीं सिधारिवो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसर कसति आजु,
रहुरे बसन्त तोहि पावस करति हौं।

ठहर वसन्त, ठहर! तुझे अभी वसन्त से पावस बनाती हूँ। इस अद्भुत पावस में मेरे शरीर की नीली साड़ी घन-घटा का रूप धारण करेगी, दाँतों की दमक बिजली की तरह चमकेगी, हीरों की किरणें जुगनू की-सी जगमगाहट पैदा कर देंगी, और मेरा मृदुभाषण पपीहा की बोली का काम करेगा। आँसुओं की वर्षा से सर्वत्र कीच ही कीच हो जायगी। फिर देखना है, प्राणनाथ कैसे परदेश जाते हैं! भला पावस में भी कोई घर से बाहर जाया करता है।

और भी देखिए—

सोने के परागन सों रागन रचत भौंर,
ह्वै गए हैं बौरे आम बागन झुके परैं।

प्रगट पलासन हुतासन सो सुलगत,
बन और मन देत अंग अंग पै जरैं।
कहै कवि 'सिव' अब आयो ऋतुराज ब्रज,
ऐसे में वियोग बातें कोऊ हियरे धरैं।
देखो नए पल्लव पवन लागे डोलैं मानो,
चलत विदेसन विदेसिन मना करैं।

प्राणनाथ, देखते नहीं हो, कैसी सुन्दर वसन्त-श्री छायी हुई है। ऐसे में कौन परदेस जाता है। तरु, गुल्म, लताओं के ये नये-नये पत्ते इधर-उधर हिल-हिल कर मना कर रहे हैं कि ऐसे सुखमूल समय में किसी को घर छोड़ कर न जाना चाहिये।

परकीया प्रवस्यत्पतिका

मतिरामजी ने परकीया प्रवत्स्यत्पतिका का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है। देखिये—

मोहन लला को सुन्यो चलन बिदेस भयो,
बाल मोहनी को चित्त निपट उचाट में।
परी तालाबेली तन मन में छबीली राखै,
छिति पर छिनक छिनक पाँव खाट में।
पीतम नयन कुबलयन कों चन्द धरी,
एक में चलेगो 'मतिराम' जिहि बाट में।
नागरि नवेली रूप आगरि अकेली रीती
गागरि लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट में।

जब परकीया को अपने प्रिय के परदेश जाने का समाचार मिला, तो वह हक्की-बक्की रह गयी। उस समय उसे और तो कुछ सूझा नहीं, रास्ते में रीता घड़ा लेकर आ खड़ी हुई, जिससे शकुन बिगड़ जाय और प्यारा विदेश जाने का विचार त्याग दे।

यहाँ पद्माकरजी का निम्नलिखित सवैया भी देखने योग्य है—

जो उर झार नहीं झरसी मृदु मालती माल बहै मग नाखै।
नेहवती जुवती 'पदमाकर' पानी न पान कछू अभिलाखै।
झाँकि झरोखे रही कब की दबकी वह बाल मनै मन भाखै।
कोऊ न ऐसो हितू हमरो जु परौसिनि के पिय कों गहि राखै।

क्या करे बेचारी, विवश होकर छिपी-छिपी इधर-उधर झरोखों में झाँखती फिरती है, खान-पान त्याग दिया है, उसकी यही एकान्त अभिलाषा है कि कोई ऐसा हो जो इस "परौसिन के पिय" अर्थात् मेरे प्यारे को परदेश जाने से रोक दे।

आगतपतिका[1]

जिस नायिका का हृदय प्रियतम के प्रवास से लौटने पर आनन्द से भर जाता है, वह आगतपतिका कहाती है। इसके भी मुग्धा आदि पाँच भेद किये गए हैं।

मुग्धा आगतपतिका

वादि[2] ही चन्दन चारु घिसै घनसार घनो घँसि पंक बनावत।
वादि उसीर समीर चहै दिन-रैनि पुरैनि[3] के पात बिछावत।
आपु ही ताप मिटी 'द्विज देव' सुदाघ निदाघ की कौन कहावत।
बावरी तू नहिं जानति आज मयंक लजावत मोहन आवत।

अरी सखी, व्यर्थ ही तू ये घिसापिसी कर रही है! अब चन्दन और कपूर की क्या ज़रूरत है, ख़स और कुमुदिनी के पत्तों को क्या करेगी। अब तो अपने आप सब ताप मिट जायगा, शायद तुझे मालूम नहीं कि आज प्राणनाथ घर आ रहे हैं।

नीचे लिखा सवैया भी मुग्धा आगतपतिका का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

१—किसी-किसी ने आगतपतिका को आगमिष्यतपतिका नाम से लिखा है। २—व्यर्थ। ३—कुमुदिनी।

कानि करै गुरु लोगन की न सखीन की सीखन ही मन लावति।
एँड़ भरी अँगराति खरी कत घूंघट में नए नैन चलावति।
मञ्जन कै, हग अञ्जन आँजति अंग अनंग उमंग बढ़ावति।
कौन सुभावरी तेरौ पर्यौ खिन आँगन में खिन पौरि में आवति।

पति के आने पर मुग्धा नायिका ऐसी आनन्द-विह्वल हो गई है कि उसे गुरुजनों का भी संकोच नहीं रहा। वह चाहे जहाँ खड़ी अँगड़ाइयाँ लेने लगती है। कभी स्नान करके नेत्रों को अञ्जनादि से अलंकृत करती है, कभी आँगन में आती है और कभी दौड़ कर पौरी में जाती है।

मध्या आगतपतिका

उदाहरण में मतिरामजी का सवैया पढ़िए—

चन्द्रमुखी सजनीन के संग हुती पति अंगनि में मनु फेरत।
ताहि समै पिय प्यारे की आगम प्यारी सखी कह्यौ द्वारते टेरत।
आय गए 'मतिराम' जबै तब देखत नैन अनंद भये रत।
भौन के भीतर भाजि गई हँसि कै हरुवे हरि को फिर हेरत।

पति के आने का शुभ संवाद सुनकर नायिका सखियों का साथ छोड़ कर खिलखिलाती हुई घर के भीतर भाग गयी। भला इस प्रसन्नता का भी कुछ ठिकाना है!

कविवर पद्माकरजी ने भी इस प्रसंग में क्या ही अच्छा कहा है—

नँदगाउँ ते आइगौ नन्दलला लखि लाड़िली ताहिं रिझाय रही।
मुख घूँघट घालि सकै नहिं मायके मायके पीछे दुराय रही।
उचके कुच कोरन की 'पदमाकर' कैसी कछू छबि छाय रही।
ललचाय रही सकुचाय रही सिर नाय रही मुसिक्याय रही।

नायिका मायके में थी, नायक भी वहीं पहुँच गया। मायके में भला बेटी घूँघट कैसे काढ़े, अतः उसने अपना मुँह मा की पीठ के पीछे छिपा लिया।...एक ओर पति के आने की प्रसन्नता थी, दूसरी ओर मायके का संकोच—दोनों भावों का मिश्रण बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हुआ।

इसी प्रसंग में कविवर प्रवीनराय का भी नीचे लिखा पद्य पढ़ने लायक़ है—

सीतल समीर ढार मंजन कै घनसार,
अमल अँगौछे आछे मन तें सुधारि हौं।
दै हौं ना पलक एक लागन पलक पर,
मिलि अभिराम आछी तपनि उतारि हौं।
कहत 'प्रवीनराय' आपनी न ठौर पाय,
सुन बाम नैन! या वचन प्रतिपारि हौं।
जब ही मिलेंगे मोहि इन्द्रजीत प्रान प्यारे,
दाहिनो नयन मूँदि तोही सों निहारि हौं।

नायिका की बाईं आँख फड़क-फड़क कर उसे प्रिय-आगमन की सूचना दे रही है। इसीलिए वह कहती है, कि प्राणनाथ के आने पर मैं बाएँ नेत्र से ही पहले उन्हें निहारूँगी—उस समय सीधी आँख मूँद लूँगी। बाएँ नेत्र से इसलिए कि उसने ही उनके आने की सर्व प्रथम सूचना दी। इससे उपहार के तौर पर उसे ही पहले प्राणनाथ के दर्शन का अवसर दूँगी।

यह प्रसिद्ध बात है कि स्त्रियों की बाईं आँख या बायाँ अङ्ग फड़कना शुभ होता है।

इसी सम्बन्ध में कविवर तोष की भी उक्ति सुनिए, कैसी सुन्दर है—

पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोने तैं मढ़ाइ दै हौं,
कर पर लाइ पर रुचि सौं सुधरिहौं।
कहै कवि 'तोष' छिन अटक न लैहौं कबौ,
कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरिहौं।
ऐरे कारे काग तेरे सगुन संजोग आज,
मेरे पति आवें तो बचन तैं न टरिहौं।
करती करार तौन पहिले करौंगी सब,
अपने पिया कों फिरि पाछे अंक भरिहौं।

महाकवि बिहारी का भी नीचे लिखा दोहा कैसा उत्कृष्ट है—

बाम बाहु फरकत मिलै जो हरि जीवन मरि ।
तौ तोही सों भेटि हौं, राखि दाहिनी दूर ॥

प्रौढ़ा आगतपतिका

देखिए, प्रौढ़ा आगतपतिका के उदाहरण में प्रह्लाद कवि क्या कहते हैं—

आजु आली माथे तें सु बेंदी गिरे बेर-बेर,
मुख पर मोतिन की लरी लरकति है ।
धरत ही पग कील चूरे की निकरि जाति,
जब तब गाँठि जूरे हू की भरकति है ।
जानि न परत 'प्रहलाद' परदेस पिउ,
उससि उरोजन सों आँगी दरकति है ।
तनी तरकति कर चूरी करकति अंग—
सारी सरकति आँखि बाँई फरकति है ।

अरी सखी, आज बड़े अच्छे-अच्छे शकुन हो रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि अब प्राणनाथ बहुत जल्द दर्शन देने वाले हैं । तू देखती नहीं कि माथे से बार-बार बिंदी गिरना, मुँह पर मोतियों की लड़ियों का लटक आना आदि सभी शुभ शकुन दिखायी दे रहे हैं ।

नीचे लिखा देवजी का कवित्त भी प्रौढ़ा आगतपतिका का कैसा सुन्दर उदाहरण है, देखिये—

धाई खोरि-खोरि तें बधाई पिय आगम की,
सुख कर कोरि-कोरि भाँवरें भरति है ।
मोरि-मोरि बदन निहारति विहारी भूमि—
भोरि-भोरि आनँद घरी सी उघरति है ।
'देव' कर जोरि-जोरि बन्दत सुरन गुरु-
लोगन के लोटि-लोटि पायन परति है ।

तोरि-तोरि मोतिन के हार पूरे चौकन—

निछावर कों छोर-छोर भूखन धरति है।

अरी सखी, प्रियतम के आगमन की सूचना पाते ही, उस नायिका के हर्ष का ठिकाना न रहा, मारे खुशी के वह अनेक बहानों से बार-बार प्रियतम के पास चक्कर काटने लगी। कभी वह गर्दन मोड़-मोड़ कर पति के मुख को निहारती, कभी लालन के सानन्द घर वापस आने के हर्ष में देवताओं की वन्दना करती और कभी बड़ी-बूढ़ियों के पैर पर लोटती। अरी बहन, वह तो ऐसी आनन्द विभोर होगई कि अपने हार तोड़-तोड़ कर मोतियों से चौक पूरने लगी तथा निछावर करने के लिए आभूषण उतार-उतार कर रखने लगी।

परकीया आगतपतिका

कविवर 'बैनी प्रबीनजी' ने परकीया आगतपतिका का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

इक आली गई कहि कान में आय परी जहँ मैन मरोरि गई।
हरि आए विदेश तें 'बैनी प्रबीन' सुने सुख सिन्धु हिलोरि गई।
उठि बैठि उतायल चाव भरी, तन में छन में छबि दौरि गई।
जेहि जीवन की न रही हुती आस सँजीवन सी सु निचोरि गई।

नायिका पति-वियोग से व्यथित होकर अपने जीवन से निराश हो चुकी थी, इतने ही में एक सखी ने अचानक आकर प्रिय के परदेश से आने की सुख-सूचना सुनाई। फिर क्या था, मुर्दा जिस्म में जान पड़ गयी। अथवा दुःखित हृदय में हर्ष की हिलोरें उठने लगीं। जिस जीवन की आशा ही न थी उसे संजीवनी-सुधा प्राप्त होगयी!

इसी प्रसंग में कविवर महेशजी का भी उदाहरण देखिए—

सुनि बोल सुहावने तेरे अटा यह टेक हिये में धरौं पै धरौं।
मढ़ि कंचन चोंचि पँखौवन में मुकुताहल गूँदि भरौं पै भरौं।
सुख पींजरे पालि पढ़ाइ घने गुन औगुन कोटि हरौं पै हरौं।
बिछुरे हरि मोहि 'महेश' मिलैं तुहि कागते हंस करौं पै करौं।

अट्टालिका पर सुबह ही सुबह कौआ बोल रहा है। सबेरे कौए का बोलना किसी प्रिय के आगमन की सूचना देता है। नायिका कहती है—अरे काग, अगर मेरा बिछुड़ा प्रिय मुझे मिल गया तो मैं तेरी चोंच सोने में मढ़ा दूँगी और पंखों में मोती गूँथ दूँगी। निश्चय ही उस समय तू काग से हंस बन जायगा! ज़रा उन्हें आने तो दे।

उपर्युक्त दश भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और परकीया में ही होते हैं। किसी किसी ने सामान्या में भी इन भेदों को माना है, परन्तु सामान्या में उक्त दश भेद मानना उचित नहीं जान पड़ता, इसीलिए हमने सामान्या के उदाहरण नहीं दिए।

नायिकाओं के सात्विक अलङ्कार

अङ्गज अलङ्कार-वर्णन

भाव

यौवनावस्था में नायिका के मुख अथवा शरीर के दूसरे अंगों में उत्पन्न होने वाले विविध विकारों को सात्विक भाव या सात्विक अलंकार कहते हैं। ये अलंकार तीन प्रकार के माने गए हैं—१ अंगज, २ अयत्नज और ३ स्वाभाविक।

भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज अलंकार कहाते हैं।

शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य, ये सात अयत्नज अलंकार कहाते हैं, क्योंकि ये यत्न द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते।

लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चित, विभ्रम, ललित, मोट्टायित, कुट्टमित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये अठारह स्वभावसिद्ध होने से स्वाभाविक अलंकार कहाते हैं। परन्तु इन्हें यत्न पूर्वक भी प्राप्त किया जा सकता है।

स्वाभाविक अलंकारों में से पहले के दश पुरुषों में भी हो सकते हैं, परन्तु इन सबके द्वारा चमत्कार स्त्रियों में ही उत्पन्न होता है।

नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने केवल प्रथमोक्त दश अलंकार ही माने हैं।

बाल्यावस्था के अन्त और तारुण्य के प्रारम्भ-समय निर्विकार मन में जब पहले पहल काम-विकार उत्पन्न होता है, तब उसे 'भाव' कहते हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने वाणी, अंग, मुख, सत्व और अभिनय द्वारा अन्तर्गत मनोविकार प्रकट करने को 'भाव' कहा है।

भाव के सम्बन्ध में मतिरामजी का उदाहरण देखिए—

गहि हाथ सों हाथ सहेली के साथ में आवति ही वृषभानु लली।
'मतिराम' सु वात ते आवत नीरे निवारति भौंरन की अवली।
लखि के मनमोहन सों सकुची, कह्यौ चाहति आपनि ओट लली।
चित चोरि लियो, दृग जोरि तिया, मुख मोरि कछू मुसक्याति चली।

यहाँ वृषभानुलली के निर्विकार मन में पहले-पहल मनमोहन के प्रति प्रीति के अंकुर उत्पन्न हुए हैं, जिससे वह सकुचा गई और मुँह मोड़ कर मुस्कराने लगी। मानो नन्दनन्दन ने आँखें मिलाकर राधिका का चित्त चुरा लिया।

इस प्रसंग में संस्कृत का भी एक उदाहरण दिया जाता है, देखिए—

स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते॥

वही वसन्त ऋतु है, वही मलयानिल और वही यह रमणी है, परन्तु आज उसका मन कुछ और ही दिखाई देता है।

यहाँ भी तारुण्य उदय होने पर, वसन्त ऋतु के कारण रमणी के मनोभाव कुछ और ही दिखाई देते हैं।

हाव

भृकुटी तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से संभोगादि की इच्छा प्रकाशित करने वाले भाव जब अल्प मात्रा में लक्षित होते हैं, तब उनकी 'हाव' संज्ञा होती है। अथवा यों कहिये कि रति-समय में नायिका की स्वाभाविक भावभंगि को हाव कहते हैं। हाव और भाव में यह अन्तर है कि भाव मन में रहते हैं, और हाव भ्रूनिक्षेप आदि चेष्टाओं द्वारा बाहर प्रदर्शित होने लगते हैं।

हिन्दी में हेला, लीला, विलास आदि अलङ्कार हाव के अन्तर्गत ही माने गए हैं, परन्तु साहित्यदर्पणकार ने उन्हें अलग रखा है। लक्षण

दोनों ने एक से ही किये हैं। संयोग शृङ्गार में ही इनका उपयोग होता है, अन्य रसों में नहीं।

रसतरंगिणीकार स्त्रियों की स्वाभाविक शृङ्गार-चेष्टा को हाव कहते हैं। उन्होंने भी लीला, विलास आदि दश स्वाभाविक अलंकारों को हाव के अवान्तर भेद माना है। इनमें से लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम और ललित इन पाँचों को शारीरिक हाव; मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक और विहृत इन चारों को मानसिक हाव तथा किलकिञ्चित को संकीर्ण हाव बतलाया है।

नीचे लिखा संस्कृत का श्लोक हाव का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

विवृण्वती शैल-सुतापि भावम्—
अङ्गैः स्फुरद्बाल कदम्ब कल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ,
मुखेन पर्यस्त विलोचनेन॥

इन्द्र के कहने से कामदेव ने हिमालय में भी अपना मोहक माया-जाल फैलाया, जिससे पार्वती को देखकर महादेवजी का चित्त चलायमान हो उठा। उस समय विकासोन्मुख कदम्ब-कुसुम की भाँति (रोमाञ्चयुक्त) कोमल अंगों द्वारा अपना मनोभाव व्यक्त करती हुई पार्वती, तिरछी चितवन युक्त वदनारविन्द से सुशोभित, कुछ तिरछी-सी खड़ी रहीं।

यहाँ पार्वती जी के शरीर का रोमाञ्चयुक्त होना तथा तिरछी चितवन से देखते हुए तिरछा खड़े रहना, उनके मनोगत भावों का परिचायक है।

हेला

जब भाव पूर्ण स्फुटता से परिलक्षित होता है, तब उसकी 'हेला' संज्ञा होती है।

भरत मुनि के मत में शृङ्गार रस से उत्पन्न हुआ हाव जब ललित अभिनय युक्त होता है, तब उसे 'हेला' कहते हैं।

हेला के उदाहरण में पद्माकरजी का सवैया देखिए—

फाग की भीर अभीरिनि में गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मींड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसुकाइ लला फिरि आइओ खेलन होरी।

यहाँ गोपियों ने गोविन्द के साथ होली खेल कर ख़ूब मनमानी की! कपोलों से गुलाल मल दिया तथा उनका पीताम्बर छीन लिया, और अन्त में वे विदा देते हुए आँखें नचाकर मुस्कराती हुई बोलीं—अच्छा लला, ज़रा फिर होली खेलने आना!

उपर्युक्त भाव, हाव और हेला तीनों अङ्गज अलंकार उत्तरोत्तर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं—अर्थात् भाव से हाव और हाव से हेला की उत्पत्ति मानी गई है।

अयत्नज अलंकार-वर्णन

शोभा

रूप, यौवन, लालित्य, सुखभोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता को 'शोभा' कहते हैं। शोभा-सम्पन्न शरीर विना आभूषणों के भी सुन्दर प्रतीत होता है।

शोभा के उदाहरण में हरिऔधजी के नीचे लिखे दोहे कैसे सुन्दर हैं—

छन छन नवता लहत है छवि छलकति अवदात।
चन्द सरिस सुन्दर बदन मृदुल सलोनो गात॥

× × ×

तिल बनि जाति तिलोत्तमा काम कामिनी छाम।
है ललाम ताको निलय ललना रूप ललाम॥

उपर्युक्त दोहों में तारुण्य-जनित शोभा का कैसा अच्छा वर्णन किया गया है। इसी सम्बन्ध में, अब ज़रा किसी संस्कृत के कवि की कल्पना भी देखिए—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टे—
रनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्प-व्यतिरिक्तमस्त्रं,
बाल्यात्परं साऽथ वयः पपेदे॥

जो अङ्गलता का विना गढ़ा हुआ (अकृत्रिम) भूषण है, जो आसव (शराब) न होकर भी मद उत्पन्न करने वाला है, जो पुष्प न होकर भी कामदेव का अस्त्र है, उसी बाल्यावस्था के पश्चात् आने वाले यौवन को पार्वतीजी ने प्राप्त किया।

कान्ति

काम-विलास द्वारा अत्यधिक बढ़ी हुई, अथवा जिसके द्वारा अत्यधिक कामोद्दीपन हो, ऐसी शोभा को 'कान्ति' कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

काम कलामय है लसति हरति कल्पना क्रान्ति।
विकसे अभिनव कुसुम सी कान्तिमयी की कान्ति॥

× × ×

बिलसै अबला अंग में काम कला की जोति।
चामीकर से गात की चमक चौगुनी होति॥

तरुणी के अंग में, काम-कला की ज्योति विकसित होने के कारण सोने-से शरीर की कान्ति ही कुछ और हो गई है। स्वर्ण-सुगन्ध संयोग इसे ही कहते हैं।

कान्ति के सम्बन्ध में संस्कृत का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

नेत्रे खञ्जन गञ्जने सरसिज प्रत्यर्थि पाणिद्वयम्।
वक्षोजौ करि-कुम्भ-विभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः।
कान्तिः काञ्चन-चम्पक-प्रतिनिधिर्वाणी सुधा स्पर्द्धिनी,
स्मेरेन्दीवर-दाम सोदर वपुस्तस्याः कटाक्षच्छटाः॥

उस सुन्दरी की आँखें खञ्जन पक्षी को परास्त करने वाली हैं। दोनों कोमल कर कमलों से प्रतियोगिता कर रहे हैं। स्तन करि-कुम्भ की भाँति अत्यन्त उन्नत हो रहे हैं, उसके देह की कान्ति सुवर्ण और चम्पा के फूल की तरह है, तथा मधुर वाणी सुधा-रस बरसाने वाली है। उसके कटाक्षों की छटा विकसित कमल-पुष्पों की माला के समान सुशोभित है।

दीप्ति

अत्यधिक मात्रा में बढ़ी हुई कान्ति को ही 'दीप्ति' कहते हैं, यथा—

दीपावलि तन दुति निरखि दबकी सी दिखराति।
विविध जोति उजरी फिरति जरी बीजुरी जाति॥

× × ×

विलसत यौवन में अहै वाको भाव अनूप।
लोक विकासक काम को दुति है विकसित रूप॥

सुन्दरी की तन-द्युति देखकर दीपावली छिपी जाती है, और बिजली जलने लगी है।

× × × ×

सुन्दरी की द्युति को लोक-विकासक काम का विकसित रूप समझना चाहिये।

दीप्ति के सम्बन्ध में कविराज विश्वनाथ का भी निम्नलिखित उदाहरण पढ़ने योग्य है—

तारुण्यस्य विलासः समधिक लावण्य सम्पदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजन-मनसो वशीकरणम्॥

वाह! चन्द्रकला तो मानो यौवन का विलास तथा बढ़ी हुई लावण्य-सम्पत्ति का मधुर हास है। इतना ही क्यों, यदि उसे पृथिवी का आभूषण और नवयुवकों के मन को आकृष्ट करने वाला वशीकरण मन्त्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

माधुर्य

प्रत्येक दशा में रमणीय होना ही 'माधुर्य' कहाता है।

माधुर्य के उदाहरण में आगे लिखे गए दोहे कितने सुन्दर हैं, देखिए—

अधर पान की पीक तें अधिक ललाम लखात।
मिसी मले नवला दसन नव नीलम बनि जात॥

× × ×

तिरछे चलि लहि बंकता करि चंचलता मान।
अधिक मधुमयी बनति हैं ललना की अँखियान॥

मिस्सी मलने से नवला के दाँत 'नव नीलम' की पंक्ति के समान दमक रहे हैं।

× × ×

तिरछी चितवन से तो ललना की सहज आकर्षक आँखें और भी अधिक मदमाती बन गई हैं।

माधुर्य के उदाहरण में संस्कृत के किसी कवि का निम्नलिखित पद्य भी पढ़ने योग्य है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम॥

राजा वल्कल-धारिणी तपस्विनी शकुन्तला को देख कर कहते हैं—अहा! सिवार से लिपटा हुआ भी कमल (इसका शरीर) कैसा अच्छा मालूम देता है। चन्द्रमा में काला चिन्ह भी उसकी शोभा बढ़ाता है। सच है, सब ही चीज़ों से मधुर आकृतियों की छबि बढ़ने लगती है।

प्रगल्भता

रति-क्रिया में निर्भय होने का नाम 'प्रगल्भता' है। इसमें रमणियाँ

आलिंगनादि के बदले में, स्वयं भी उन्हीं व्यापारों को करके प्रियतम को दास बना लेती हैं।

उदाहरण देखिए—

साँझहिते रति की गति जेतिक कोक के आसन जे गिरा गावति।
वारिज नैननि बारहिबार न चूमिवे के मिस मोर छुपावति।
केलि कला के तरंगन सों हठि मोहनलाल कों ज्यौं ललचावति।
अंक में बीति गई रतियाँ हैं तऊ छतियाँ हिय छोड़ि न भावति।

× × ×

दोऊ आलिंगन करहिं दोऊ करहिं कलोल।
पिय कौ तिय तिय कौ पिया चूमत अधर कपोल।

उपर्युक्त पक्तियों में निर्भय होकर रति करने का वर्णन है।

औदार्य

प्रत्येक दशा में विनीत रहने को 'औदार्य' कहते हैं, यथा—

मधुर बोलि सनमान करि सब को हित उर धारि।
करति सदन कों सुर-सदन सुर-ललना-सी नारि।

सब की शुभ कामना करती हुई, देव-तिया-सी ललना, मीठी बोली बोल कर अपने घर को 'सुर-सदन' के समान बना देती है।

औदार्य के सम्बन्ध में नीचे लिखा श्लोक भी कैसा सुन्दर है—

न ब्रूते परुषं गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सामे स्फुटेऽप्यागसि।
कान्ता गर्भ गृहे गवाक्ष-विवर व्यापारिताक्ष्या बहिः,
सख्या वक्तृमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने॥

मेरा स्पष्ट अपराध होने पर भी, वह कामिनी कठोर शब्द नहीं कहती, न भौंहें चढ़ाती है और न क्रोध के कारण आभूषणों को उतार-उतार कर फेंकती है। हाँ, वह झरोखों में होकर सजल नेत्रों से अपनी सखी की ओर ताकने अवश्य लगती है।

धैर्य

आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल स्वाभाविक मनोवृत्ति का नाम 'धैर्य' है।

धैर्य के सम्बन्ध में तोष कवि का नीचे लिखा सवैया देखिए—

कुल के डर सों, परलोक सों लोक सों हौं न डरौं बु डरो सुडरो।
कवि 'तोष' कहै मनमोहन सों वह मो मन मूढ़ ढरो सु ढरो।
मोहि देखि जरो सो जरो जग में औ, मरौसों मरो औ लरौ सो लरो।
करि कौल करार टरौं न कबौं करि कौल करार टरो सो टरो।

नायिका को न कुल-कानि का डर है और न लोक-लाज का। वह अपने 'कौल' पर बड़ी दृढ़ता में डटी हुई है। इसी अचञ्चल मनोवृत्ति का नाम धैर्य है।

और भी उदाहरण देखिए—

नव प्रसून नावक बनें पावक मलय समीर।
परम धीर अनुरागिनी ह्वै है नाहिं अधीर॥

भले ही नव विकसित प्रसून प्राण-घातक बन जायँ, और मन्द मलय-समीर प्रचण्ड पावक का रूप धारण करले; पर अनुरागिनी कदापि धैर्य न छोड़ेगी।

पिय मुख चन्द्र चकोरिका जोहै पंथ निहारि।
सुधा बिन्दु होवे गरल बरसै इन्दु अँगार॥

सुधा चाहे अपना स्वभाव छोड़ कर विषम विष-बिन्दु बन जाय, इसी तरह सुधाकर भी चाहे अँगारे बरसाने लगे—अपने कर्त्तव्य से विचलित हो स्वभाव के प्रतिकूल कार्य करने लगे, परन्तु परम धीरा अनुरागिणी नायिका प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में उसकी बाट जोहती रहेगी।

इसी प्रसंग में संस्कृत का भी नीचे लिखा उदाहरण देखने लायक़ है—

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्ड-कलः शशी,
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ?

मम तु दयितः श्लाध्यस्तातो जनन्यमलान्वया।
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो नच जीवितम्॥

काम पीड़िता विरहिणी कहती है,—चन्द्रमा रोज़ रात्रि को अँगारे बरसावे—चिन्ता नहीं, कामदेव जितना भी जला सके, जलाता रहे, वह आख़िर मार ही तो डालेगा, इससे अधिक तो कुछ नहीं कर सकता। इस अस्थिर शरीर और प्राणों के लिए मैं अपने पति के और पिता के पवित्र कुलों को कलंकित न करूँगी अर्थात् पतिव्रत धर्म से विचलित न होऊँगी। कितना उच्च आदर्श है, धर्म में कितनी अटल दृढ़ता है। शास्त्रों में कहा भी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्-
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यो जीवितं चाप्यनित्यं,
देहोऽनित्यो हेतुरस्याप्यनित्यः॥

स्वाभाविक अलङ्कार-वर्णन

लीला

अत्यन्त अनुराग के कारण, अंग, वेश, अलंकार और प्रेम-भरे वचनों द्वारा नायक-नायिका के परस्पर अनुकरण करने को 'लीला' कहते हैं। इसमें प्रायः नायक-नायिका दोनों अनुरागवश होकर एक साथ ही, एक दूसरे की वेश-भूषा धारण कर परस्पर प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं।

लीला के उदाहरण में भुवनेशजी का निम्नलिखित सवैया देखिए—

रूप रच्यौ हरि राधिका को उनहू हरि रूप रच्यौ छबि छावत।
गावत तान तरंग दुहूँ दुहूँ भाव बताय दुहूँन रिझावत।
त्यौं 'भुवनेश' दुहूँन के नैन दुहूँन के आनन पै टक लावत।
छाइ रही छबि वैसई री सुनी जो हुती चन्द चकोर कहावत।

भाव स्पष्ट ही है। इसी सम्बन्ध में देवजी का भी सवैया नीचे दिया जाता है, उसे भी पढ़ लीजिये।

काल्हि भटू बनसीबट के तट खेल बड़ो इक राधिका कीन्हो।
साँझ निकुञ्जनि माँझ बजायो.जु स्याम को बेनु चुराइ के लीन्हो।
दूरि तें दौरत 'देव' गए सुनि कै धुनि रोस महा चित चीन्हो।
संग की औरै उठीं हँसि कै, तब हेरि हरै हरिजू हँसि दीन्हो।

हे सखी, कल राधिका ने बड़ा तमाशा किया। उसने मोहन की बाँसुरी चुरा ली, और वंशीवट जाकर वह उसे बड़ी बेतकल्लुफ़ी से बजाने लगी। वंशी की धुन सुनते ही कृष्ण भी कुंजों में दौड़ आए। उन्हें देख सब गोपियाँ हँस पड़ीं! यह कौतुक देख कन्हैयाजी भी मुस्कराने लगे!

लीला के उदाहरण में मतिरामजी का भी नीचे लिखा सवैया बड़ा सुन्दर है—

प्यार पगी पगरी पियकी घर भीतर आपन शीश सँवारी।
एते में आँगन ते उठिकै तहँ आय गये 'मतिराम' बिहारी।
देखि उतारन लागी प्रिया, प्रिय सौंहन सों बहुर्‌यो न उतारी।
नैननि बाल लजाय रही मुसक्याइ लई उर लाइ पियारी।

पति ने पत्नी को मर्दाना वेश बनाते देख लिया, इससे सारा मज़ा मिट्टी में मिल गया। पत्नी पगड़ी-वगड़ी उतार फेंकने को उद्यत होगई, परन्तु पति ने शपथ दिलाकर उसे ऐसा न करने दिया। इस पर पत्नी ने शर्म से आँखें नीची कर लीं! इस प्रकार प्राणप्रिया को लज्जित देखकर पतिदेव ने मुस्कराते हुए उसे हृदय से लगा लिया।

इसी प्रसंग में संस्कृत का भी एक उदाहरण देखिए—

मृणाल व्याल वलया वेणी बन्ध कपर्दिनी।
हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत्॥

कमल-नाल के नकली सर्प को कंकण की जगह में धारण किए, और वेणी (केश-पाश) का जटा-जूट बनाकर शङ्कर का स्वाँग भरने वाली पार्वती जगत् की रक्षा करें।

विलास

संयोग-समय में बैठने, उठने, चलने आदि की विशेषता तथा मुख-नेत्र आदि की कटाक्ष आदि चमत्कारपूर्ण विलक्षण चेष्टाओं को 'विलास' कहते हैं। इसमें कुछ विचित्र चेष्टाओं से युक्त; स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्विक विकारों से पूर्ण, धैर्य रहित, लोकोत्तर काम-कौशल प्रकट होता रहता है।

विलास के उदाहरण में कविवर बेनी प्रवीनजी लिखते हैं—

आछे उरोज लची सी परै कटि मत्त गयन्दनि की गति डोलनि।
रूप अनूपम आनँद सों अलि पीतम मोल लिए बिन मोलनि।
को बरनै कवि 'बैनी प्रवीन' रही छवि त्यों फवि गोल कपोलनि।
पैनी चितौनि रसीले विलोचन, मंद हँसी मृदु माधुरी बोलनि।

उपर्युक्त पद्य का भाव स्पष्ट है। इसी प्रसंग में पद्माकरजी का सवैया भी पढ़ लीजिए—

आई है खेलन फाग इहाँ वृषभान पुरा तें सखी संग लीन्हे।
त्यों 'पदमाकर' गावती गीत रिझावती भाय बताय नवीने।
कञ्चन की पिचकी कर में लिये केसरि के रँग सों अँग भीने।
छोटी सी छाती छुटी अलकें अति वैस की छोटी बड़ी परवीने।

× × ×

देखिए मतिरामजी विलास के उदाहरण में क्या कहते हैं—

किंकिनि कलित कल नूपुर ललित रव,
गौन तेरो देखि कै सकति करि गौन को।
मृदु मुसक्यानि मुखचन्द चाँदनी सों राखि,
कै उज्यारो धाम नाम राम हारा भौन को।
सहज सुभावन सों मोहन के भावन सों,
हरति है कवि 'मतिराम' मन रौन को।

रूप मद छकी अति छवि सों छबीली देति,
तिरछी चितौनि मैन बरछी सी कौन को।

× × ×

विलास के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने योग्य है—

तेरी चलति चितौनि मृदु मधुर मन्द मुसक्यानि।
छाय रही लखि लाल की रखियन मिस अँखियानि॥

× × ×

विच्छित्ति

सौन्दर्य को बढ़ाने वाले थोड़े-से भी शृंगार का नाम 'विच्छित्ति' है। एक प्रकार से विच्छित्ति को कला-पूर्ण सुघरी हुई सादगी का रूप समझना चाहिए। सच्चे सौन्दर्य के लिये विशेष बनावट-सजावट की आवश्यकता नहीं होती। किसी ने ठीक ही कहा है—"नहीं दरकार ज़ेवर की जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी।" वास्तविक सौन्दर्य तो थोड़ा साफ़-सुथरा रहने, या नाममात्र को कुछ शृङ्गार कर लेने से ही दमक उठता है। परन्तु जहाँ सौन्दर्य नहीं होता, वहाँ कितना ही शृंगार क्यों न कीजिए कुछ भी सुहावनापन नहीं दिखाई देता।

पद्माकरजी ने विच्छित्ति का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है, देखिए—

मानो मयंकहि के परियंक निशंक लसै सुत बंक मही को।
त्यों 'पदमाकर' जागि रह्यो जनु भाग हिये अनुराग जु पीको।
भूषण भार सिंगारन सों सजी सौतिन कौ जु करै मुख फीको।
जोति को जाल विसाल महा तिय भाल पै लाल गुलाल को टीको।

यहाँ भाल के लाल टीके मात्र ने भूषणों के भार से लदी हुई सपत्नियों के मुँह फीके कर दिये हैं।

नीचे लिखा सवैया भी विच्छित्ति का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है, देखिए—

प्यारी की ठोड़ी को बिन्दु 'दिनेस' किधौं बिसराम गोविन्द के जी कौ।
चारु चुम्यौ कनिका मनि नील को कैधौं जमाव जम्यो रजनी कौ।
कैधौं अनंग सिंगार को रंग लिख्यो वर मन्त्र बसीकर पीकौ।
फूले सरोज में भौंरी बसी किधौं फूल ससी में लग्यौ अरसी कौ।

यहाँ ठोड़ी की काली बूँद ने वही काम कर दिखाया, जो ऊपर के सवैये में गुलाल के टीके ने किया है। अर्थात् इस ज़रासी काली बूँद ने ही नायिका की सुन्दरता में चार चाँद लगा दिए हैं।

विच्छित्ति के सम्बन्ध में मतिरामजी का भी उदाहरण देख लीजिए। उनकी नायिका को लाल टीके या काले तिल की ज़रूरत नहीं। उसने तो सफ़ेद साड़ी धारण करके ही श्याम पर अपना रंग जमा लिया है। यद्यपि यह बात निश्चित है, कि काले रंग पर कोई रंग नहीं चढ़ता, परन्तु मतिरामजी ने अपने कौशल से नायिका की श्वेत साड़ी का रंग श्याम (कृष्ण) पर चढ़ा दिया है। ख़ूब !

वारने सकल एक रोरी ही की आड़ पर,
हा-हा न पहरि आभरन और अंग में।
कवि 'मतिराम' जैसे तीछन कटाच्छ तेरे,
ऐसे कहा सर है अनंग के निषंग में॥
सहज सरूप सुघराई रीझो मनु मेरो,
लुभि रह्यौ रूप अदभुत की तरंग में।
स्वेत सारी ही सों सब सों तो रँग्यौ स्याम रंग,
स्वेत सारी ही में स्याम रंग लाल रंग में।

× × ×

अब विच्छित्ति के सम्बन्ध में संस्कृत के महाकवि माघ का उदाहरण भी देख लीजिए—

स्वच्छाम्भः स्नपन विधौतमङ्गमोष्ठ—
स्ताम्बूल द्युति विशदो विलसिनीनाम्।

वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्विवतीयान्—
श्राकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥

विलासवती रमणियों के लिये शृङ्गार की आवश्यकता नहीं। उनके लिये निर्मल जल से स्नान करना, पान खाकर ओठों को रचा लेना और स्वच्छ एवं सादे वस्त्र पहन लेना ही पर्याप्त है। बशर्ते कि यह थोड़ी-सी वेश-रचना कामोत्तेजक शक्ति से शून्य न हो !

विव्वोक

अत्यन्त गर्व के कारण संयोग-काल में, प्रिय या इष्ट वस्तु के अनादर करने का नाम विव्वोक है। इस निरादर में प्रेम की ही प्रधानता रहती है। इसमें मन में निरादृत वस्तु या व्यक्ति के गुणों पर मुग्ध रहते हुए भी वाणी द्वारा केवल उसके दोष ही बताए जाते हैं। अत्यन्त अभिमत वस्तुओं के लिये भी स्वीकृति व्यञ्जक निषेध ही किया जाता है। अर्थात् अभिलषित वस्तु को सीधी तरह स्वीकार न कर निषेध पूर्वक ही स्वीकार किया जाता है।

विव्वोक के उदाहरण में मतिरामजी का सवैया देखिए—

मानहुँ आयो है राज कहूँ चढ़ि बैठ्यों है ऐसे पलास के खोढ़े।
गुंज गरे सिर मोरपखा 'मतिराम' हू गाय चरावत छोढ़े।
मोतिन को मेरे हार गहे अरु हाथनि सों रही चूनरि ओढ़े।
ऐसे ही डोलत छैल भये तुम्हें लाज न आवति कामरि ओढ़े।

छैल तो बनते हो, परन्तु कम्मल ओढ़े फिरते हो, भले आदमी तुम्हें शर्म नहीं आती !! कैसी मीठी भर्त्सना है।

विव्वोक के उदाहरण में तोषनिधिजी का भी कवित्त देखिए—

ए अहीर वारे तोसों जोरि कर कोरि कोरि,
विनय सुनावों बलि बाँसुरी बजावै जनि।
बाँसुरी बजावै तो बजाउ मो बलाय जाने,
बड़ी बड़ी आँखिन ते एक टक लावै जनि।

लावे है तो लाव टक 'तोष' मो सों कहा काम,
परिनाम दौरि दौरि मेरी पौरि आवै जनि।
आवै है तो आव हम आइवो कबूलो पर,
मेरे गोरे गात में असित गात छ्वावै जनि।

अरे अहीर वाले, तू बाँसुरी मत बजा। अच्छा, बाँसुरी बजाना नहीं छोड़ता तो मत छोड़, मगर मेरी ओर इन बड़े-बड़े दीदों से घूरता क्यों है ? घूरता है, तो घूराकर ! इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, परन्तु तैने मेरी देहरी की धूल क्यों ले रक्खी है। अगर मेरे दरवाज़े पर आना भी नहीं छोड़ता तो मत छोड़, मगर ख़बरदार ! अपना काला हाथ मेरी गोरी देह से मत लगाना। इस बात को तो मैं हरगिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकती।

यहाँ पर बाँसुरी मत बजाओ, टकटकी बाँध कर मेरी ओर मत देखो, दौड़-दौड़ कर बार-बार मेरे घर मत आओ और मेरे गोरे शरीर से अपनी काली देह मत छुआओ, इन सभी निषेधों में विधि की व्यञ्जना है। अर्थात् इस नहीं-नहीं के रूप में गोपी कहती है कि ये सब काम करो और बार-बार करो।

और भी देखिये—

फूलन की माल मो सों कहत मुलाम ऐसी,
फूलन की माल मेलि राखत न क्यों गरें।
मेरे दृग रोज ही बतावत सरोज ऐसे,
लै लै कै सरोज रोज मन में न क्यों भरें।
हौं तो री न जैहौं आजु बनमाली पास वोई,
पिय आय पास पाय इतको न क्यों धरें।
मेरो मुख चन्द-सौ बतावें ब्रजचन्द रोज,
कहौ ब्रजचन्द जू सों चन्द देखिवो करें।

गोपिका कहती है—ब्रजचन्द्र से कह देना, वह मेरा मुख चन्द्रमा-सा बताया करते हैं, यदि ऐसी बात है, तो वह चन्द्रमा को ही क्यों नहीं

देखते रहते। इधर-उधर से ताक-झाँक कर मेरे आनन पर क्यों दृष्टि डाला करते हैं।

यहाँ भी नायिका मन में तो मनमोहन की ताक-झाँक से प्रसन्न होती है, वह जो उसे फूल-माला के समान मृदु और उसके नेत्रों को कमल के समान सुन्दर बताते हैं, इससे उसके हृदय में गुदगुदी उत्पन्न होती है, परन्तु ऊपर से दिखाने के लिये वह रूखी-रूखी बातें सुनाती हैं।

अब इस प्रसंग में रसखानजी की उक्ति भी सुन लीजिये—

दानी भए नए माँगत दान हौ, जानि हैं कंस तौ बंधन जैहौ।
टूटे छरा बछरादिक गोधन जो धन है सो सबै घन दैहौ।
रोकत हौ बन में 'रसखानि' चलावत हाथ घनो दुख पै हौ।
जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकैहौ।

हे गोपाल, यह जो रास्ते में रोककर तुम गोपियों से छेड़-छाड़ करते हो, इसका नतीजा अच्छा नहीं होगा। जानते हो, अगर किसी गोपी का कोई भूषण टूट गया या जाता रहा तो उसकी सारी ज़िम्मेदारी तुम्हीं पर होगी। उसका मूल्य कहाँ से दोगे? तुम यदि स्वयं बिक कर भी मूल्य चुकाना चाहोगे तो तुम्हारी क़ीमत तो गोपी के एक छल्ले के बराबर भी न होगी!

किलकिञ्चित

प्रिय-समागम से उत्पन्न हुई प्रसन्नता के कारण कुछ मुस्कराने, झूठ मूठ रोने, हँसने, भय, त्रास, क्रोध, श्रम आदि के आंशिक मिश्रण को किलकिञ्चित कहते हैं। इसमें नायिका मधुर मुस्कराहट के साथ, प्रिय को झिड़की देती है और सुख होने पर भी बनावटी रोना रोने लगती है।

उदाहरण देखिये—

वह साँकरी कुञ्ज की खोरि अचानक राधिका माधव भेंट भई।
मुसक्यानि भली अँचरा की अली त्रिवली की वली पर दीठि गई।
झहराइ झुकाइ रिसाइ 'ममारख' बाँसुरियाँ हँसि छीनि लई।
भृकुटी मटकाइ गुपाल के गाल में आँगुरी ग्वालि गड़ाइ दई।

प्रेम-पूर्ण क्रोध के कारण ग्वालिन का मुस्कराकर वंशी छीन लेना और गोपाल के गाल में उँगली गड़ा देना किलकिञ्चित है।

किलकिञ्चित के उदाहरण में मतिरामजी का सवैया कितना सुन्दर है, देखिये—

लालन बाल के द्वै ही दिना में परी मन आइ सनेह की फाँसी।
काम कलोलनि में 'मतिराम' लगी मनों बाँटन मोद की आसी।
पीतम के उर बीज भयो दुलही के विलास मनोज की गाँसी।
स्वेद बढ्यौ तन कम्प उरोजनि आँखिन आँसू कपोलनि हाँसी।

लाल के प्रेमातिरेक के कारण ललना के कपोलों से तो मुस्कराहट झलक रही है, परन्तु आँखों से आँसू निकल रहे हैं। अर्थात् हृदय में तो वह प्रसन्न है, परन्तु प्रकट में क्रोध सा दिखा रही है।

निम्नलिखित दोहे भी किलकिञ्चित के सुन्दर उदाहरण हैं—

कहति। नटति रीझति खिझति मिलति खिलति लजि जात।
भरे भौन में करत है नैनन ही सों बात॥

× × ×

चढ़त भौंह धरकत हियो हरषत मुख मुसिक्यात।
मद छाकी तिय को जु पिय छवि छकि परसत गात।

× × ×

इसी प्रसंग में संस्कृत का उदाहरण भी देख लीजिये—

पाणि रोधमविरोधित वाञ्छं,
भर्त्सनाश्च मधुरस्मित-गर्भाः।
कामिनःस्म कुरुते करभोरु—
हीरि शुष्क रुदितञ्च सुखेऽपि॥

सुन्दरी सुख-समय में भी पति को मधुर मुस्कराहट पूर्वक झिड़कती और सूखा-बनावटी रोना रोती है।

विभ्रम

प्रिय-आगमन आदि के समय, प्रेम और प्रसन्नता के कारण, जल्दी-जल्दी घबराहट में क्रिया और अलङ्कार-धारण में विपर्यय कर डालने—अर्थात् किसी अलङ्कार की जगह कोई अलङ्कार, या किसी वस्त्र के स्थान में कोई वस्त्र धारण कर लेने एवं कुछ करने के बदले कुछ करने लगने का नाम 'विभ्रम' है। इससे प्रिय के प्रति प्रेम-विह्वलता के कारण उतावलापन प्रकट होता है।

विभ्रम के उदाहरण में मतिरामजी क्या कहते हैं, सुनिये—

सकल सहेलिन के पीछे पीछे डोलति है,
मन्द मन्द गौन आजु आप ही करतु है।
सनमुख पिय मुख होत 'मतिराम' जबै,
पौन लागे घूँघट को पट उघरतु है।
यमुना के तट बंसीबट के निकटनन्द-,
लाल पै सकोचनि ते चाह्यौ न परतु है।
तन तो तिया को वर भाँवरें भरतु मन—
साँवरे बदन पर भाँवरें भरतु है।

× × ×

साँझहि ते चली आवत जात जहाँ तहाँ लोगनि हूँ न डरौगी।
पीतम सों रति ही यह रूप हैं धोये कहाँ अब अङ्क भरौगी।
जानति हौ 'मतिराम' तऊ चतुराई की बात न हीय धरौगी।
किंकिनि के उर हार किये तुम कौन सों जाय विहार करौगी।

कोंधनी को हार की जगह धारण कर तुम किससे विहार करने जा रही हो? क्या सचमुच तुम्हारी अक़्ल मारी गई है।

देवजी का भी नीचे लिखा सवैया विभ्रम का कैसा सजीव उदाहरण है, देखिये—

स्याम सों केलि करी सिगरी निसि सोवत प्रात उठी थहराय कै।
आपने चीर के धोखे बधू पहिरो पट पीत भटू भहराय कै।
बाँधि लई कटि सों बनमाल न किंकिनी बाल लई ठहराय कै।
राधिका की रस रंग की दीपति संग की हेरि हँसी हहराय कै।

केलि के पश्चात् राधिकाजी ने अपने वस्त्र पहनने के बदले कृष्ण का पीताम्बर धारण कर लिया। उनकी वनमाला कमर में बाँध ली और अपनी कौंधनी (किंकिणी) वहीं छोड़ दी। यह देख सखियाँ ठहाका मार कर हँस पड़ीं!

संस्कृत के रीति ग्रन्थकारों ने इस प्रसंग में नीचे लिखा उदाहरण दिया है।

श्रुत्वाऽऽयान्तं बहि कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः॥

प्रिय का आगमन सुन शृङ्गार करती हुई नायिका ने व्यग्रता के कारण मस्तक में कुंकुम-बिन्दु की जगह काजल लगा लिया और जो लाक्षा-राग ओष्ठों पर लगाना चाहिए था, वह आँखों में आँज लिया। इसी प्रकार मस्तक में लगाने का कुंकुम-बिन्दु कपोलों पर लगा लिया। विभ्रम का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है।

ललित

संयोग समय में सरस शृङ्गार द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों को सजाए रखना, तथा उन की (अंगों की) क्रिया में सुकुमारता और चञ्चलता पैदा कर देना 'ललित' कहाता है। इस भाव द्वारा बोलने, चलने, देखने, मुस्कराने आदि में सुन्दरता उत्पन्न की जाती है।

ललित के सम्बन्ध में पद्माकरजी का उदाहरण देखिये—

सजि ब्रजचन्द पै चली यों मुख चन्द जाको,
चन्द चाँदनी को मुख मन्द सो करत जात।

कहै 'पदमाकर' त्यों सहज सुगन्ध ही के,
पुंज बन कुंजन में कंज से भरत जात।
धरत जहाँ ही जहाँ पग है पियारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात।
बारन ते हीरा सेत सारी की किनारिन ते
हारन ते मुकता हजारन झरत जात।

उपर्युक्त कवित्त में अंगों की सजावट और सुकुमार सौन्दर्य का वर्णन है। × × × नायिका जहाँ-जहाँ चलती है, वहाँ-वहाँ पगों की लाली से ज़मीन लाल हो जाती है। उसके बालों से मानों हीरा और हारों से हज़ारों मोती झड़ते जाते हैं। यही ललित है।

इसी आशय का नीचे लिखा मतिरामजी का सवैया भी पढ़ लीजिये—

मन्द गयन्द की चाल चलै कटि किंकिनि नूपुर की धुनि बाजै।
मोती के हारनि सों हियरा हरिजू के विलास हुलासनि साजै।
सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख संग किनारी की यों छवि छाजै।
पूरन चन्द पियूख मयूख मनों परिवेख की रेख विराजै।

शङ्करजी का निम्नलिखित कवित्त भी ललित का क्या ही ललित उदाहरण है। देखिये—

मंगल करन हारे मंगल चरन चारु,
मंगल से मान मही-गोद में धरत जात।
पंकज की पाँखुरी-सी आँगुरी अँगूठन की,
जाया पंचवानजी की भाँवरी भरत जात।
'शंकर' निरख नख नग-से नखत स्नेनी,
अम्बरसों छूटि-छूटि पायन परत जात।
चाँदनी में चाँदनी के फूलन की चाँदनी पै,
हौले-हौले हंसन की हाँसी-सी करत जात।

चलते समय भूमि पर पड़ते हुए नायिका के अरुण वर्ण चारु चरण ऐसे जान पड़ते हैं, मानों वह महीसुत-मंगल को (मंगल ग्रह का लाल वर्ण होता है, और वह पृथिवी का पुत्र माना जाता है) मही की गोद में रखती जा रही है। वाह! क्या अनूठी सूझ है!

साहित्यदर्पण में ललित का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

गुरुतर कल नूपुरानुनादं,
सुललित वर्तित वाम पाद पद्मा।
इतरदनति लोलमादधना,
पदमथ मन्मथ मन्थरं जगाम॥

नूपुर की मधुर ध्वनि करती, सुकुमारता से बाँए पैर को नचाती और दूसरे को भी धीरे से रखती हुई वह हँसगामिनी कामिनी मन्द-मन्द गति से गई।

मोट्टायित

प्रियतम के रूप, गुण, कर्म, स्वभावादि की चर्चा अथवा प्रशंसा सुनने में अनुरागपूर्वक दत्तचित्त होने पर भी बनावटी अन्यमनस्कता प्रकट करने का नाम 'मोट्टायित' है।

रसतरंगिणीकार ने, कोई दूसरा न जान सके ऐसे ढंग से बार-बार प्रियदर्शन की स्पृहा को 'मोट्टायित' कहा है।

साहित्यदर्पण में प्रियतम की कथा आदि सुनने में अनुराग से व्याप्त-चित्त होने पर भी कामिनी के कान खुजाने आदि की चेष्टा द्वारा असली भाव छिपाने को मोट्टायित संज्ञा दी है।

मोट्टायित के उदाहरण में पद्माकरजी का निम्नलिखित सवैया देखिये—

रूप दुहूँ को दुहून सुन्यौ सु रहैं तबतें मनो संग सदा हीं।
ध्यान में दोऊ दुहून लखैं हरषैं अँग अंग अनंग उछाहीं।
मोहि रहे कब के यों दुहूँ 'पदमाकर' और कछू सुधि नाहीं।
मोहन को मन मोहिनी में बस्यौ मोहिनी को मन मोहन माहीं।

दोनों परस्पर एक दूसरे के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। मोहन के हृदय में मोहिनी बस गई है और मोहिनी के हृदय में मोहन ने डेरा डाल दिया है।

इसी का संस्कृत का उदाहरण भी देख लीजिये—

सुभग ! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूति लालसा।
उज्जृम्भ वदनाम्भोजा भिनत्यङ्गानि साङ्गना ॥

हे सुन्दर, तुम्हारी बात छिड़ने पर वह कामिनी कान खुजाने लगती है, और जम्हाई तथा अंगड़ाई लेती हुई अपनी उगलियाँ चटकाने लगती है। (यह उदाहरण साहित्यदर्पणकार ने अपने लक्षणानुसार दिया है)

कुट्टमित

प्रियतम द्वारा केश, स्तन, अधर आदि का स्पर्श किये जाने पर हृदय में प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से बनावटी घबराहट या अनिच्छा के साथ हाथ, शिर, नेत्रादि अंगों के विशेष ढंग से चलाने अथवा सीत्कार करने को कुट्टमित कहते हैं। इस प्रकार का नकली रोष-प्रदर्शन प्रायः प्रेम या रति की वृद्धि के लिये किया जाता है।

दास कवि ने कुट्टमित के सम्बन्ध में कैसा सुन्दर सवैया लिखा है, देखिये—

मोहि न देखो अकेलिय 'दासजू' घाट हू बाट हू लोग भरै सो।
बोलि उठोंगी वरे ते लै नाउँ तो लागि है आपुनो दाँव अनैसो।
कान्ह कुबानि सम्हारे रहो निज, वैसी न हैं तुम जानत जैसो।
आओ इतै करौ लैन दही को, चलैबो कहूँ को कहूँ कर कैसो।

मोहन तुम मुझे जैसी समझते हो, मैं वैसी नहीं हूँ। तुम दही लेने आए हो, या कहीं का हाथ कहीं चलाने। ज़रा होश में रहो, नहीं तो मैं ज़ोर से नाम लेकर चिल्ला उठूँगी।

कविवर मतिरामजी का भी नीचे लिखा कवित्त पढ़ने लायक़ है—

सोने की सी बेली अति सुन्दर नवेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।

'मतिराम' आँखिन सुधा की बरसा सी भई
गई जब दीठि वाके मुखचन्द पहियाँ।
नैकु नेरे जाय करि बातन लगाय करि,
कछु मन पाय हरि आय गहीं बहियाँ।
सैननि चरचि लई, गातनि थकित भई,
नैननि में चाह करै बैननि में नहियाँ।

मोहन ने बातों ही बातों में अलबेली बाला की बाहें पकड़ लीं। ऐसा करने से वह गोपी मन में तो बड़ी खुश हुई, परन्तु मुँह से झूठमूठ नहीं-नहीं करती रही।

निम्नलिखित दोहे भी कुट्टमित के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं—

कर ऐंचत आवति इँची तिय आपुहि पिय ओर।
झूठहि रूसि रहै छिनक, छुवत छरा को छोर॥

× × ×

पीतम को मनभावती मिलत प्रेम उत्कण्ठ।
बाँहीं छुटै न कण्ठ ते नाहीं छुटै न कण्ठ॥

गले से बाँह भी नहीं छूटती और कण्ठ से 'नाहीं-नाहीं' निकलना भी बन्द नहीं होता। ख़ूब!

नीचे संस्कृत का भी एक उदाहरण दिया जाता है—

पल्लवोपमिति साम्य सपक्षं दष्टवत्यधरविम्बमभीष्टे।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तार लोलवलयेन करेण॥

कान्त द्वारा कान्ता का अधर-पल्लव दँष्ट होने पर उसका क्वणित-कङ्कणादि युक्त पाणिपल्लव मानो पीड़ा से झनझना उठा। अभिप्राय यह कि अधरोष्ठ दंशन किये जाने पर तरुणी हाथ से प्रियतम को हटाने लगी। इस क्रिया में धारण किये हुए कंकण आदि आभूषण बज उठे। उसी के लिए कवि कल्पना करता है—क्योंकि अधरपल्लव और पाणि-पल्लव नाम साम्य होने के कारण दोनों एक पक्ष के हैं। जब अपने पक्षीय

अधरों पर कष्ट पड़ा, तो उस कष्ट को अनुभव कर हाथ (कंकणादि का शब्द होने के रूप में) रो उठे।

विहृत[1]

लज्जा आदि के कारण कहने के समय भी बात के न कहने, अथवा अभिलाषा की असन्तुष्टि का नाम 'विहृत' है।

द्विजदेवजी ने विहृत का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

बोलि हारे कोकिल बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखीं सब जुगुति नई-नई।
'द्विजदेव' की सौं लाज बैरिन कुसंग इन—
अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई।
हाय! इन कुंजन में पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुख दायिनि भई री लाज,
चलन समै में चल पलन दगा दई।

यहाँ दुःखदायिनी लज्जा के कारण कुंजों में पधारे हुए श्याम के दर्शन कर सकने की अभिलाषा का मन ही में रह जाना, विहृत है।

इसी सम्बन्ध में पद्माकरजी का उदाहरण भी पढ़िये—

सुन्दरि कों मनि मन्दिर में लखि आप गुबिन्द बने बड़ भागे।
आनन ओप सुधाकर सी 'पदमाकर' जीवन जोति के जागे।
औचक ऐंचत अञ्चल के पुलके अँग अंग हिये अनुरागे।
मैन के राज में बोलि सकी न भटू ब्रजराज सों लाज के आगे।

यहाँ भी नायिका मैन (कामदेव) का पूर्ण प्रभाव होने पर भी 'लाज' के कारण ब्रजराज से दो बातें भी न कर सकी। मन की मन में ही रह गई!

१—साहित्यदर्पणकार ने इसे 'विकृत' नाम से लिखा है।

नीचे लिखा दोहा भी विहृत का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

आज सखी मोहित भये मोहन मिले निकुंज।
बन्यो न कछु मुँह बोलिबो अड़्यो लाज को पुंज ॥

इस दोहे में भी—दो बातें करने का अवसर मिलने पर भी, बीच में, लाज का अड़ंगा लग गया। कम्बख़्त शर्म भी कैसी है, जो कहीं कुछ कहने ही नहीं देती। मानों इसकी दुनिया में लब हिलाना भी संगीन जुर्म है!

विहृत सम्बन्धी संस्कृत का उदाहरण भी नीचे दिया जाता है—

दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित्।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम् ॥

परदेश से लौटने पर नायक ने कुशल पूछी, तो नायिका ने कुछ न कहा। हाँ उसने आँसू अवश्य ढलका दिए जिनसे मन का सारा हाल मालूम हो गया।

यहाँ प्रिय के पूछने पर भी संकोचवश, मुख से कुछ न कहना विहृत है।

मद

सौभाग्य, सौन्दर्य, यौवन आदि के गर्व से पैदा हुए मनोविकार को 'मद' कहते हैं।

तोषनिधिजी ने मदका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

आनि कढ्यौ कहुँ खोरि में लाल यों लाडिली पौरि ते पौरि कढ़ी है।
सीस खुले कटि में कसे अंचल कंचुकी आछे उरोज मढ़ी है।
नैक टरै न दुरै सो अरै है, अहीरिनि के ढिग भीर बढ़ी है।
गूँग न बैन सुनै न कहै, उँगरै उहि मैन की जुंग चढ़ी है।

कामदेव की जुंग चढ़ने से नायिका का कैसा हाल हो गया है। न वह किसी की सुनती है और न अपनी कहती है। इधर-उधर हटती भी नहीं,

एक जगह अड़कर खड़ी है। उसे देखने के लिये दर्शकों की भीड़ लगी हुई है।

यहाँ यौवन या सौभाग्य-जनित मद के कारण नायिका किसी को कुछ समझती ही नहीं, तभी तो वह किसी के पूछने-गछने की कुछ परवा नहीं करती।

नीचे लिखे दोहे भी मद के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं—

खलित बचन अधखुलित दृग ललित स्वेदकन जोति।
अरुन बदन छवि मद छकी खरी छबीली होति॥

× × ×

कौन अहै गुन आगरी रसिक जियत केहि जोहि।
अरी नागरी ही सकति नागर नर कों मोहि॥

× × ×

वे किन में हैं बावरी है जिनमें रस नाहिं।
मधु न होत तो मधुप क्यों जात माधवी पाहिं॥

तपन

प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग से उत्पन्न हुई चेष्टाओं का नाम 'तपन' है।

तपन के उदाहरण में हरिऔधजी के दोहे कितने सुन्दर हैं—

सीरे सीरे लेप सब बनत दीप के नेह।
नव वियोग तप तापतें तयो भई तिय देह॥

× × ×

कबहुँ रुकत कबहूँ बहत कबहूँ होत अथाह।
सोच सकोचन में पर्‌यौ लोचन वारि प्रवाह॥

विरह-जनित व्याकुलता का कैसा अच्छा वर्णन है, 'लोचन-वारि-प्रवाह' का 'सोच-सकोच' के फेर में पड़कर कभी रुकना, कभी बहना, और कभी बाढ़ रूप में परिवर्तित होजाना, कैसी सुन्दर कल्पना है।

तपन के उदाहरण में संस्कृत के एक कवि क्या कहते हैं, उसे भी सुन लीजिये—

श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुंठति, त्वन्मार्गमालोकते।
दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यतइतः क्षामां भुजावल्लरीम्॥
किञ्च प्राण समान! कांक्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमम्।
निद्रां वाञ्छति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि।

तुम्हारे वियोग में वह बाला लम्बे-लम्बे साँस ले रही है—पृथ्वी पर पड़ी है। तुम्हारी प्रतीक्षा में आँसू बहा-बहा कर हाथों को इधर-उधर पटकती रहती है। वह चाहती है, स्वप्न में ही तुम्हारा समागम हो जाय, परन्तु निर्दय विधाता नींद आने दे तब तो! तपन का कैसा सुन्दर उदाहरण है।

मौग्ध्य

प्रियतम के आगे जानी-सुनी वस्तुओं या बातों के सम्बन्ध में भी अनजान बनकर पूछना 'मौग्ध्य' कहाता है। इसे भोलापन कह सकते हैं। कहीं-कहीं भोलापन भी शोभा का अंग माना गया है।

मौग्ध्य के उदाहरण में नीचे लिखे दोहे देखिये—

ढोरी लाई सुनन की कहि गोरी मुसक्यात।
थोरी-थोरी सकुच सों भोरी-भोरी बात॥

× × × ×

तिय बतरावहु बोलिकै मधुर अमी से बैन।
खिले कमल से है किधों मुंदे कमल से नैन॥

इसी प्रसंग में संस्कृत का उदाहरण भी देखिए—

के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः,
नाथ! मत्कंकण-न्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम्?

हे नाथ, मेरे कंकणों में जो मुक्ताफल जड़ा हुआ है, वह किस पेड़ का फल है ? ये पेड़ कौन से गाँव में, किसने लगाए हैं ?

विक्षेप

प्रियतम के समीप अधूरे भूषण धारण कर अकारण ही इधर-उधर देखना तथा चुपके से कोई रहस्य की बात कह डालना विक्षेप कहाता है।

उदाहरण में हरिऔधजी के दोहे देखिये—

इत उत चितै कबौं कछू धीरे कहि हँसि देति।
पहिरि अधूरे आभरन मन पूरो करि लेति ॥

× × ×

पहिरै द्वै-द्वै चूरियाँ इत उत चितवति जाति।
बतियाँ कहि कहि भेद की भेदभरी मुसुकाति ॥

संस्कृत कवियों ने विक्षेप का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

धम्मिल्लमर्धमुक्तं कलयति तिलकं तथा शकलम्।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वगवलोकते तन्वी ॥

वह रमणी अपना केश-पाश आधा ही सजाती है, और तिलक भी अधूरा ही लगाती है तथा कुछ रहस्यमयी बातें कहती हुई चकित भाव से इधर-उधर देखती जाती है।

कुतूहल

रमणीय वस्तु देखने के लिये चञ्चल और उत्सुक होना कुतूहल कहाता है। यह औत्सुक्यपूर्ण चञ्चलता नायक की प्रसन्नता का हेतु होती है।

उदाहरण में हरिऔधजी के दोहे देखिये—

जाकी कलित कथान को तू भाखति कथनीय।
सो कित को है कौन है कैसो है कमनीय ॥

अरी सखी, तू जिसकी ऐसी प्रशंसा करती रहती है, आखिर वह कौन है, कैसा है और कहाँ रहता है?

अली जहाँ है बजि रही मुरली सब रस मूल।
चलि चलि अवलोकन करें सो कालिन्दी कूल॥

अरी बहन, जमुना किनारे कैसी मधुर वंशी बज रही है, चल वहाँ चलकर उसे देखें। यहाँ देखने की उत्सुकता ही कुतूहल है।

संस्कृत काव्य में कुतूहल का उदाहरण इस प्रकार दिया है—
प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपाद माक्षिप्य काचिद्रव रागमेव।
उत्सृष्ट लीला गतिरागवाक्षादलक्त काङ्क्षां पदवीं ततान॥

कोई युवती महावर लगाने वाली के हाथ से अपना गीला पैर झटक कर झरोखों में से रघुकुमार अज की बरात देखने के लिये दौड़ आई। जिसके कारण सारा स्थान लाक्षा-राग से रंग गया।

बरात देखने के लिए उत्सुकता पूर्वक भाग उठना ही कुतूहल है।

हसित

यौवन-विकास से उत्पन्न हुए अकारण हास को हसित कहते हैं। इससे मानसिक प्रसन्नता प्रकट होती है।

हसित के उदाहरण में देवजी का नीचे लिखा कवित्त देखिये—

दुहूँ मुख चन्द ओर चितवें चकोर दोऊ,
चितैचितै चौगुनो चितौनों ललचात है।
हाँसनि हँसति बिन हाँसी बिहँसति मिलै,
गातनि सों गात बात बातनि में बात है।
प्यारे तन प्यारी पेखि पेखि प्यारी पियतन,
पियत न खाति नैक हू न अनखात है।
देखि न थकति देखि देखि न सकति 'देव',
देखिवे की घात देखि देखि न अघात है।

यहाँ एक दूसरे के मुख-चन्द्र को देख कर प्रसन्न होना और अकारण ही बार-बार हँसना हसित है।

इस सम्बन्ध में विहारीजी का भी नीचे लिखा दोहा कैसा सुन्दर है—

नैंकु हँसौही बानि तजि लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी दीठि॥

× × ×

संस्कृत के किसी कवि का उदाहरण भी देखिए—

अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति॥

रमणी के अचानक और अकारण हँस पड़ने से प्रतीत होता है कि निश्चय ही उसके मन-मन्दिर पर मनोज का आधिपत्य स्थापित हो गया है।

चकित

प्रियतम के आगे अकारण ही डरने या घबराने को चकित कहते हैं। भीरुता भी स्त्रियों की शोभा मानी जाती है, क्योंकि इससे हृदय की कोमलता का बोध होता है। स्त्रियाँ तो प्रायः विना कारण ही डर जाती हैं, कारण उपस्थित होने पर तो कहना ही क्या।

संस्कृत काव्यग्रन्थों में चकित का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

त्रस्यन्ती चल शफरी विघट्टितोरु—
वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो! विनापि हेतो–
र्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः॥

स्नान करते समय जंघाओं में चञ्चल मछली के टकरा जाने के कारण रमणी मारे डर के तड़प गई! यहाँ पर यह भीरुता भी भोलेपन की सूचक है।

केलि

कान्त के साथ विहार करते समय कामिनी की क्रीड़ाओं का नाम केलि है।

केलि के उदाहरण में कविवर विहारी का नीचे लिखा दोहा देखिए—

नाक मोरि नाहीं ककै नारि निहोरे लेय।
छुवत ओठ पिय आँगुरिन बिरी बदन तिय देय॥

अँगुलियों से ओठ छूकर नायिका नायक के मुँह में पान की गिलोरी देती है। इस सम्बन्ध में नीचे लिखे दोहे भी देखने लायक़ हैं—

सजि सजि सुमन समूह सों बनि बसन्त की बेलि।
पुलकि पुलकि ललना करति निज लालन तें केलि॥

× × ×

हँसि ओठनि बिच कर उचै किये निचौहे नैन।
खरे ओर पिय के तिया लगी बिरी मुख दैन॥

इसी प्रसंग में नीचे लिखा श्लोक भी पढ़ने लायक़ है—

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलै—
रपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणो रसि काचिदुन्मनाः,
प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥

नायक के नेत्रों पर लगे हुए पुष्प-पराग को, पीन पयोधरा नायिका ने अपने उरोजों के धक्के मार-मार कर उसकी छाती पर गिराया। यानी जो काम फूँक मारने से हो सकता था, उसे कौतुकवश नायिका ने स्तनों के धक्कों से किया। यही केलि है।

बोधक

किसी-किसी ने बोधक नाम से एक और अलङ्कार माना है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया है—

जिसमें नायक-नायिका अभीष्ट अभिप्राय प्रकट करने के लिये परस्पर कुछ निश्चित संकेत करते हैं, उसे बोधक कहते हैं।

उदाहरण देखिए—

दोऊ अटान चढ़े 'पदमाकर' देखें दुहूँ को दुवो छबि छाई।
त्यौं ब्रजबाल गुपाल तहाँ बनमाल तमालहि की दरसाई।
चन्द्रमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मन भाई।
अञ्चल खेंचि उरोजन तें नन्दलाल को मालती माल दिखाई।

यहाँ नायक-नायिका ने परस्पर तमाल और मालती की मालाएँ दिखा कर अपना अभीष्ट प्रकट किया है। यही बोधक हुआ।

बोधक में क्रियाविदग्धा नायिका के समान ही संकेत आदि से इष्ट-साधन किया जाता है। उदाहरण दोनों के एक ही हैं। क्रियाविदग्धा नायिका में बोधक अलंकार होना आवश्यक है। उसमें बोधक अलंकार होगा तभी वह क्रियावैदग्ध्य द्वारा अपना कार्य साधन कर सकेगी। क्रिया-विदग्धा और बोधक अलंकार में केवल इतना अन्तर है कि बोधक अलंकार द्वारा नायक-नायिका अपना भावी पुरोगम (प्रोग्राम) निश्चित करते है, और क्रियाविदग्धा का कार्य उसी समय सम्पन्न हो जाता है।

उद्दीपन विभाव

जिनके द्वारा रस उद्दीप्त होता है, वे उद्दीपन विभाव कहाते हैं। नायक-नायिका की चेष्टाएँ, सखा, सखी, दूती तथा रूप, भूषण, चन्द्रमा, चाँदनी, चन्दन, कोकिल-कूजन, भ्रमर-गुंजन, ऋतु, पवन, वन, उपवन, पुष्प, पराग, राग, रागिनी, कविता आदि की गणना उद्दीपनविभावों में की गई है। इनमें से सखा, सखी, दूती, वन, उपवन, षड्ऋतु, चन्द्र, पवन, चन्द्रिका, चन्दन, कुसुम और पराग ये बारह मुख्य माने गए हैं। काव्यों में प्रायः इन्हीं बारह का वर्णन किया गया है।

सखा, सखी, दूती आदि की गणना उद्दीपन विभावों में इसलिये की गई है कि ये नायक-नायिकाओं को मिलाने तथा उनके हास-विलास और आमोद-प्रमोद में सहायक होते हैं।

सखी और दूती में यह अन्तर है कि सखी नायिका के समकक्ष होती है और वह नायिका के लिए जो कुछ करती है, केवल सख्य-भाव से प्रेरित होकर, उसके हित के लिए करती है ; और दूती प्रायः अपने अर्थ-लाभ के लिए दूत-कर्म किया करती है। सखी स्वकीया नायिका की होती है और दूती की आवश्यकता परकीया को पड़ती है।

अब आगे मुख्य-मुख्य उद्दीपन विभावों के लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं—

सखा

जिसका शील और व्यसन नायक के समान हो और जो सुख-दुःखादि में उसका सच्चा सहायक रहे, ऐसा पुरुष सखा कहाता है।

दास कवि के नीचे लिखे सवैया में दूध और पानी का दृष्टान्त देकर

सखा या सख्य भाव का कैसा सुन्दर विश्लेषण किया है। देखिये—

'दास' परस्पर प्रेम लख्यौ, गुन छीर को नीर मिले सरसातु है।
नीरै बेचावत आपने मोल जहाँ जहाँ जाइ कै छीर बिकातु है।
पावक जारन छीर लगै तब नीर जरावत आपुनो गातु है।
नीर बिना उफनाइ कै छीर सु आगि में जातु, मिलें ठहरातु है।

सखा के भेद

सखा चार प्रकार के होते हैं। १—पीठमर्द, २—विट, ३—चेट और ४—विदूषक।

पीठमर्द

जो सखा मानवती नायिकाओं को मना कर प्रसन्न करने में समर्थ हो, उसे पीठमर्द कहते हैं। साहित्यदर्पणकार ने नायक के (दानी कृती आदि) सामान्य गुणों से कुछ न्यून गुणों वाले, तथा नायक के सुदूर-वर्ती कार्यों में सहायक होने वाले सखा को पीठमर्द कहा है। पीठमर्द का उदाहरण देखिये—

लाल अपने पै अलि एती ना रिसैये बलि,
कहा भयो बातें हँस्यौ नेंकु नँदनन्द है।
बैठि बोलियत हिलि-मिलि खेलियत कहा,
'सुन्दर' यों कीजियत हिये दुख द्वन्द है।
हाहा देखि सौंहैं तोहि कोटि कोटि सौंहैं करो,
ऐसे समै मान ! तेरी ऐसी मति मन्द है।
कैसो नीको नायक सकल सुखदायक सो,
कैसी नीकी चाँदनी औ कैसो नीको चन्द है।

भाव स्पष्ट ही है। पीठमर्द नायिका को मनाकर प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।

और भी उदाहरण देखिये—

घोर घटा उँमड़ी चहुँ ओर तैं ऐसे में मान नकीजै अजानी।
तूतो बिलम्बति है बिन काज बड़े-बड़े बूँदन आवत पानी।
' सेख ' कहै उठि मोहन पै चलि को सब राति कहैगो कहानी।
देखुरी ये ललिता सुलता अब तेऊ तमालन सों लपटानी।

चारों ओर से उमड़-घुमड़ कर घन-घटाएँ घिरी आ रही हैं। बावली! ऐसी सुहावनी ऋतु में तू मान करने बैठी है! अरी, आज-कल तो ये लताएँ भी उमँग-उमँग कर तमाल-तरुओं से लिपटती जा रही हैं, ज़रा आँखें खोल कर तो देख!

विट

जो सखा सब प्रकार की कलाओं में कुशल हो, उसे विट कहते हैं। साहित्यदर्पणकार ने विट का लक्षण इस प्रकार किया है—

भोग-विलास में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति स्वाहा कर डालने वाला, नृत्यगीतादि कलाओं में कुछ दख़ल रखने वाला, वेश्याओं के साथ व्यवहार करने में कुशल, बातचीत करने में चतुर, मधुरभाषी धूर्त्त विट कहाता है।

विट मौक़ा देख कर मानिनी नायिका के आगे ऐसी बात कहता है, जिसे सुन उसे मान त्यागते ही बनता है। जैसा कि नीचे लिखे पद्य से प्रकट होगा। इस छन्द में रूठी नायिका के आगे किसी अन्य सुन्दरी के रूप-यौवन का वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है, जिससे उसे सुन कर नायिका यह सोचने लगे कि मेरे हठ को देख कर कहीं नायक इस सुन्दरी की ओर आकृष्ट हो गया, तो फिर वह मुझे पूछेगा भी नहीं।

आज रूप-आगरी विलोकी ब्रज-नागरी मैं,
अंग-अंग रूप की तरंग उमगति है।
'कृष्ण' प्राण प्यारे बरनत न बनत केहूँ'
जोबन की जोति जगा जोति सी जगति है।

को है ऐसी और तिय सुरपुर नागपुर,
वाके आगे जाकी जोति दृगनि पगति है।
जाके लौने तन की ललित परछाहीं आगे,
सरद जुन्हाई परछाई-सी लगति है।

और देखिये, नीचे लिखे सवैया में विट रूठी नायिका को, वसन्त के आगमन का ज्ञान करा कर, उसका मान भंग करना चाहता है—

पीत पटी लकुटी 'पद्माकर' मोर पखा लै कहूँ गहि नाखी।
यौं लखि हाल गुपाल को ताछिन बाल सखा सु-कला अभिलाखी।
कै कल कोकिल कैसो कुहू कुहू कोमल कोक की कारिका भाखी।
रूसी हुती ब्रज बाल के सामुहें लाय रसाल की मंजरी राखी।

यहाँ कोयल की बोली बोल और रसाल-मंजरी दिखा कर विट ने नायिका को वसन्तागमन की सूचना दी है, जिससे वह इस सुहावनी ऋतु में मान करके उसे व्यर्थ न खोती रहे।

चेट या चेटक

अपनी चतुराई से नायक-नायिका को यथावसर मिला देने वाला सखा चेट या चेटक कहाता है। चेट की चतुराईपूर्ण उक्ति सुनिये—

तुमने चुराई कहा बाँसुरी गोपालजू की,
जो सुनि हमारो हियो आगि भयो जात है।
सदा के जो चोर हैं सो ताही को कहत चोर,
आजु लों न सुनो ऐसो अजस अघात है।
कहैं 'चिरजीवी' तातें तो सों हों कहत प्यारी,
सुनि कै हमारी उठौ औसर नसात है।
चलि कै न पूछौ इतै जड़-सी खड़ी हो कहा,
पूछे बिन बात केती साँची भई जात है।

उक्त पद्य में चेट रूठी नायिका पर चोरी का इलज़ाम लगा उसके

स्वाभिमान को उत्तेजित करता है, जिससे वह मान त्याग कर अपनी सफ़ाई देने के लिये नायक के पास चली जाय।

चेट अवसर को खूब समझता है, और वह समय पर कभी नहीं चूकता। देखिये, नीचे लिखे पद्य में नायक-नायिका को परस्पर बात-चीत करने का मौक़ा देने के लिए कितने ठीक समय पर, और कैसे बहाने से टल जाता है।

दैव संयोग तें आनि जुरे दोऊ कुंज में कान्हर राधिका रानी।
खेलें न बोलि सकें कहि 'सुन्दर' सोऊ त्यों बैठि रहे चुप ठानी।
मेरो सकोच कियो इन दोऊन चातुर चेटक यों जब जानी।
या मिस आपु उहाँ ते उठ्यो जमुना तट जात हौं पीवन पानी।

नीचे लिखे दोहे में चेटक नायिका के सूने घर में नायक के पहुँच जाने की सूचना कैसी चतुराई से देता है।

उतै ग्वालि तू कित चली ये उनये घन घोर।
हौं आयौ लखि तुव घरै पैठत कारो चोर॥

अरी ग्वालिन, तू कहाँ जा रही है, देख तो सामने से कैसी काली-काली घटाएँ उठती आ रही हैं। और उधर मैं अभी तेरे घर में काले चोर को घुसते देख आया हूँ।

यहाँ चेट घटाओं की ओर संकेत कर के, नायिका को सुहावनी पावस ऋतु का स्मरण कराता है, और फिर घर में काले चोर के घुसबैठने की सूचना देता है। काले चोर का यहाँ कितना सुन्दर प्रयोग हुआ है। अर्थात् चेटक उस चोर का नाम स्पष्ट नहीं बताना चाहता और व्यंग्य मे प्रकट भी कर देता है कि वही काला (कृष्ण) चोर (माखन चोर) तेरे घर में बैठा है। चोर शब्द का प्रयोग इसलिए भी किया कि नायिका तुरन्त घर को लौट जाय।

विदूषक

अपनी विकृत क्रियाओं तथा विचित्र वेश-भूषा, भाषा, चेष्टा आदि द्वारा नायक-नायिकाओं को हँसाने तथा मनाने वाला व्यक्ति विदूषक

कहाता है। वह अपने हास्य-विनोद द्वारा नायक-नायिकाओं के विरह-जन्य दुःख भी कम करता रहता है।

उदाहरण देखिये—

आप ही कुञ्ज के भीतर पैठि सुधारि कै सुन्दर सेज बिछाई।
बातें बनाय अनेकन भाँति की माधौ सों आनि कै राधा मिलाई।
आली कहा कहौं हाँसी की बात विदूषक जैसी करी है ढिठाई।
जाय रह्यौ पिछवार उतै फिर बोलि उठ्यौ वृषभान की नाई।

साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त पीठमर्दादि को शृंगार के सहायक कहा है। उन्होंने नायक के सहायकों के और भी कितने ही भेद किये हैं, यथा अन्तःपुर के सहायक—बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ (जंगली), अहिर, शकार (रखेली स्त्री का भाई) कुबड़े आदि। दण्ड के सहायक—मित्र, राजकुमार, वन में घूमने वाले पासी आदि ; वीर राजा लोग, सैनिक इत्यादि। धर्म के सहायक—ऋत्विक्, पुरोहित, वेदवेत्ता तपस्वी आदि।

सखी

जिस सहचरी से नायिका कोई भेद नहीं छिपाती, अर्थात् जो उसके काम-कला सम्बन्धी सब मर्मों को जानती है, उस सुख-दुःख में सच्ची हितकारिणी और सहायिका को सखी कहते हैं। यथा—

पूरब ते फिरि पश्चिम ओर कियो सुर आपगा धारन चाहै।
तूलन तोपि कै ज्यों मतिमन्द हुतासन दण्ड प्रहारन चाहै।
'दास' जू देखि कलानिधि कालिमा छूरिन सों छिलि डारन चाहै।
नीति सुनाय कै मो मन तैं नँदलाल को नेह निवारन चाहै।

सखी का नीत्युपदेश सुनने के पश्चात् किसी नायिका की उक्ति है। सखी ने नायिका को पर पुरुष से प्रेम न करने की शुभ सम्मति दी है, उसके उत्तर में नायिका कहती है—सखी का यह प्रयत्न, उतना ही हास्यास्पद है जितना कि किसी का गङ्गा के प्रवाह को पश्चिम की ओर

फेरने की चेष्टा करना अथवा शरीर से रूई लपेट कर दण्ड-प्रहार द्वारा आग बुझाने की कोशिश करना इत्यादि ।

सखी के भेद

सखी चार प्रकार की होती हैं, १—हितकारिणी, २—व्यंग्य-विदग्धा, ३—अन्तरंगिणी और ४—बहिरंगिणी ।

हितकारिणी

जो सखी निश्छल भाव से नायिका की सेवा करती है, वह हितकारिणी कहाती है ।

उदाहरण में नीचे लिखे दोहे देखिये—

छनिक न छोड़ति सुन्दरी सखी हितू को संग ।
सखी बढ़ावति रहति त्यों सुन्दरि हिये उमंग ॥

× × ×

चित चाहत अलि अंग तुव लहि दीपक परिमान ।
लै लै जनम पतंग को सदा वारिये प्रान ॥

× × ×

सुख सों सुख मानति सदा दुख देखे दुख मानि ।
अर्पन कीन्हे प्रान अलि सुकुमारी के पानि ॥

व्यंग्यविदग्धा

जो सखी व्यंग्य-वचन कह कर कार्य-साधन करती है, उसे व्यंग्य-विदग्धा कहते हैं । उदाहरण में कविवर गोविन्द का नीचे लिखा पद्य पढ़िये । इसमें व्यंग्यविदग्धा सखी अपने व्यंग्य-वचनों द्वारा, नायक रूपी भौंरे पर, उसके किसी एक नायिका (चमेली) पर ही मुग्ध रहने के कारण कैसी फबतियाँ कसती है ।

फूल्यौ बन देखि कै न काहू फूल प्रीति करैं,
देखत न और केहू तरु अरु बेलि को ।

सेवती सुहाई माऊँ नेकहूँ न मन देत,
सेवत सदा ही नाँहि जूथिका नवेली कों।
'गोविन्द' गँवार कहा जानै और फूल जाति,
कबहूँ न चाहत हैं, कंजबन केली कों।
बार-बार गूंजि-गूंजि चारों ओर फेरा देत,
भौंरे मतवारे सब चाहत चमेली कों।

इस सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने लायक़ है, देखिये कितना मधुर व्यंग्य है—

गुंज लैन तू आज कत कुंज गई यह काल।
कंटक छत नख चाहिकै चखन चाहिकै बाल॥

अन्तरंगिणी

जो सखी नायिका के प्रत्येक आन्तरिक रहस्य को भली भाँति जानती और उसे भली भाँति छिपाए रखती है, उसे अन्तरंगिणी कहते हैं।

चिरजीवी कवि ने अन्तरंगिणी सखी का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

बान लग्यौ है परोसिनी दीठिको तातें कहा भए कान्ह हैं रीते।
यों जब पूछी प्रिया सखिसों, तब बोली सखी तिय तें भयभीते।
है 'चिरजीवी' न बान बिंध्यौ अब कीजै कृपा उन पै निज हीते।
बान को दूसरो शब्द युगाक्षर दीजिये लालै विलोम के जीते।

और भी देखिये—

मनमोहन ल्यावति नहीं सोहन ल्यावति धाय।
कारे याहि डस्यौ नहीं, कारे डस्यौ बनाय॥

बहिरंगिणी

जो सखी अपने समस्त कार्य स्पष्ट रूप से करती और नायिका की केवल बाहरी बातें जानती है, उसे बहिरंगिणी कहते हैं। यह सखी अपना

काम स्पष्ट बात कह कर करती है। उदाहरण में नीचे लिखे दोहे देखिये—

पिय देखत ही काम तें गरयौ कंप तिय आय।
सीत जानि अलि अग्नि कों ल्याई वेगि जराय॥

और भी

सरद निसा में मानि है कैसे सखी अनन्द।
कन्त बिना लखि कामिनी होत कसाई चन्द॥

सखी के कार्य

सखी के मुख्य चार कार्य माने गए हैं, अर्थात् १—मण्डन २—शिक्षा, ३—उपालंभ और ४—परिहास।

मण्डन

नायिका को वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित करना, पैरों में जावक, नेत्रों में अञ्जन लगाना, केश सँभालना इत्यादि शृंगार-सम्बन्धी कार्य मण्डन कहाते हैं। यथा—

मज्जन कै दृग अञ्जन दै मृग खञ्जन की गति देखत हूली।
'बैनी प्रबीन' अभूषन अम्बर और ऊ अङ्गन कै अनुकूली।
राधे कों आजु सिंगारयौ सखी न तिलोक की कोऊ तिया सम तूली।
सोने की बेलि सुगन्ध-समूह मनो मुकुतामनि फूलन फूली।

इसी के उदाहरण में नीचे लिखे दोहे भी पढ़ने योग्य हैं—

सखी तिया की देह में सजे सिंगार अनेक।
कजरारी अँखियान में भूल्यौ काजर एक॥

× × × ×

कहा करों जो आँगुरिन अनी घनी चुभि जाय।
अनियारे चख लखि सखी काजर देति डराय॥

प्रायः कवियों ने मण्डन के अन्तर्गत ही नख-शिख-वर्णन माना है।

शिक्षा

नायिका को विलास सम्बन्धी बातें बताने तथा नायक को रिझाने की विधि सिखाने का नाम शिक्षा है, उदाहरण देखिये—

याहि मति जानो है सहज कहै 'रघुनाथ'
अति ही कठिन रीति निपट कुढंग की।
याहि करि काहू काहू भाँति सों न कल पायो,
कलपायो तन मन मति बहु रंग की।
और हू कहौं सो नैकु कान दैकै सुनि लीजे,
प्रगट कही है बात वेदन के अंग की।
तब कहूँ प्रीति कीजै पहले ही सीखि लीजै,
बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की।

और देखिये निम्नलिखित सवैया भी कैसे सुन्दर हैं—

आगे तो कीन्हीं लगा-लगी लोयन कैसे छिपै अजहू जो छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति।
कौन सकोच रह्यौ है 'नेवाज' जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावरी जो पै कलङ्क लग्यौ तो निसंक ह्वै काहे न अंक लगावति।

× × ×

झाँखति है का झरोखा लगी लग लागिबे को इहाँ झेल नहीं फिर।
त्यौ 'पदमाकर' तीखे कटाछन की सर कौ सर सेल नहीं फिर।
नैनन ही की घलाघल के घने घावन कों कछु तेल नहीं फिर।
प्रीति पयोनिधि में धँसिकै हँसि कै कढ़िबो हँसी-खेल नहीं फिर।

इस सम्बन्ध में महाकवि विहारी की भी उक्ति सुनिए—

मोहि भरोसो रीझि है उझकि झाँकि इक बार।
रूप रिझावन हार वह ये नैना रिझवार॥

उपालम्भ

सखी का नायक-नायिका को उनकी हितकामना से उलाहना देना उपालम्भ कहाता है। यथा—

पान की कहानी कहा पानी को न पान करे,
आहि कर उठत अधिक उर आधि कै।
कवि 'मतिराम' भई बिकल बिहाल बाल,
राधिकै जिवाव रे अनंग अवराधि कै।
या ही को कहायो ब्रजराज दिन चारि ही में,
करी है उजारि ब्रज ऐसी रीति नाधि कै।
जैसे तैने मोहन बिलोक्यो वाकी ओर तै सें,
बैरी हूँ सो बैरी न विलोकै वैसे साधि कै।

और भी देखिये—

ब्रज बहि जाय न कहूँ यों आय आँखिन तें,
उमड़ि अनोखी घटा बरसति मेह की।
कहै 'पदमाकर' चलावै खानपान की को,
प्रानन परी है आनि दहसति देह की।
चाहिये न ऐसी वृषभानु की किसोरी तोहि,
आई दै दगा जो ठीक ठोकर सनेह की।
गोकुल की कुल की न गैल की गुपाले सुधि,
गोरस की रस की न गौअन की गेह की।

उपालम्भ का नीचे लिखा पद्य भी पढ़ने लायक़ है:—

दया करि चितै चित हित को चुराय लियो,
फिरि हित चितए न यही सोच नित है।
दिलदार जन पर बस में बसे जे तिन्हैं,
नेसुक न चाव निसि-वासर चकित है।

देखे टक लागे अनदेखे पलको न लगै,
देखे अनदेखे नैना निमिख रहत है।
सुखी हो जू कान्ह तुम्हें काहू की न चिन्ता वह,
देखेहू दुखित अनदेखेहू दुखित है।

परिहास

नायिका के मनोविनोद या आनंद के लिये, सखी जो बात कहती अथवा चेष्टा करती है, उसे परिहास कहते हैं। यथा—

कल कंचन-सी वह अंग कहाँ कहाँ रंग कदम्बिनि तें तनु कारो।
कहाँ सेज कली विकली वह होय कहाँ तुम सोय रहौ गहि डारो।
नित दासजू ल्याव ही ल्याव कहौ कछू आपनो वाको न बीच विचारो।
वह कौल सी कोरी किसोरी कहाँ औ कहाँ गिरिधारन पानि तिहारो।

यहाँ सखी नायक से नायिका की तुलना करती हुई कहती है, "कहाँ वह सुवर्ण वर्ण कुसुम-कली सदृश कोमलाङ्गिनी जो पुष्प-शैया पर भी विकल रहती है; और कहाँ तुम काले-कलूटे कठोर काय, जो पेड़ की डाल पर भी खर्राटे भरने लगते हो। अपना और उसका अन्तर भी विचारते हो, या यों ही उसे लाने को आग्रह करते हो। अरे, उसके पद्म-प्रसून सदृश मृदुल पाणि पल्लव और अपने पहाड़ उठाने वाले कठोर करों का जरा मिलान तो करो।" यहाँ सखी परिहास के लिये नायक-नायिका की इस प्रकार तुलना कर रही है।

परिहास का एक उदाहरण और भी देखिये—

बृन्दावनचन्द अहो आनन्द के कन्द तुम,
माधव मुकुन्द हो आनन्द छवि जोरी के।
नन्दजू के नंद बलदेव के सहोदर—
सखान में सराहे घनश्याम मति भोरी के।
फागुन के औसर फजीहत बजाय ढोल,
कहत कहाये वृषभान की किसोरी के।

गायन के रहुआ गुलाम ब्रज गोपिन के,
हो-हो हरि भड़ुआ हज़ार दार होरी के।

यहाँ नन्दलाल को होली का भड़ुआ बताकर उनसे परिहास किया गया है। नीचे लिखा दोहा भी परिहास का सुन्दर उदाहरण है।

लाय बिरी मुख लाल के खैंच लई जब बाल।
लाल रहे सकुचाय तब हँसी सबै दै ताल॥

दूती

नायक-नायिका का संयोग कराने के लिये प्रयत्न करने वाली, तथा सन्देश ले जाने और समयोपयोगी वचन-रचना में निपुण स्त्री को दूती कहते हैं। यह दूती कलाओं में कुशल, उत्साह-सम्पन्न, आज्ञाकारिणी, दूसरों के हृदय की बात ताड़ने में चतुर, अच्छी स्मरण शक्ति वाली, मधुर-भाषिणी, विनम्र और वाक्पटु होनी चाहिये।

कवि रघुनाथ ने दूती का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

सौंह करि कहति हों एहो प्यारे रघुनाथ,
आवति कराएँ वादो उनही के घर सों।
जैसे बने तैसे द्यौस आज को बितीत कीजै,
अब अकुलाइये न पागे प्रेम वर सों।
जा पर गुलाल मूठि डारी सो मिलैगी काल्हि,
मारी पिचकारी बाल प्यारी तौन परसों।
खेलत में होरी रावरे के करवर सों जो,
भीजी ही अतर सों सो आय है अतरसों।

दूती के भेद

दूती तीन प्रकार की होती है, १—उत्तमा, २—मध्यमा और ३—अधमा।

उत्तमा दूती

केवल अपनी जुक्ति सों रचना करति विचित्र।
बरनत उत्तम दूतिका कविजन परम पवित्र ॥

जो दूती विना सिखाए-पढ़ाए, अपने आप मधुर भाषण द्वारा तत्परता-पूर्वक अपने भेजने वाले का कार्य सिद्ध करती है, उसे उत्तमा दूती कहते हैं। उदाहरण देखिये।

सुन्दर सुदेस मध्य मूठी में समात जाको,
प्रगट न गात बेस बदन सँवारी है।
कहै कवि 'दूलह' सु रमनी नेवाज औ,
छटाँक भरी तोल मानो साँचे कैसी ढारी है।
पेटी है नरम अति लीजिये गोविन्द गहि
निपट नवेली पै समर सुर वारी है।
रीझै गुनमान गोसे गोसे सों मिलैगी मुल-
तान की कमान के समान प्रान प्यारी है।

उक्त पद में दूती ने नायक के समक्ष नायिका की प्रशंसा कैसे सुन्दर ढंग से की है।

ठाकुर कवि का नीचे लिखा पद्य भी उत्तमा दूती का सुन्दर उदाहरण है—

हिल-मिल लीजिये प्रवीनन सों आठौ जाम,
कीजिये अराम जासों जिय को अराम है।
लीजिये दरस जाको देखिबे की साध होय,
कीजिये न जाँच संग नाम बदनाम है।
'ठाकुर' कहत ठीक मन में विचारि देखो,
मान औ गुमान को रखैया एक राम है।
रूप-सो रतन पाय जोबन-सो धन पाय,
नाहक गँवाइवो गँवारिन को काम है।

और भी देखिये—

पिय के हिय के हनन कों भयो पञ्चसर बीर।
बाल तुम्हैं बस करन कों रहे न तरकस तीर॥

मध्यमा दूती

सिखई बातन में मिलै जो तिय करति बसीठ।
है वह मध्यम दूतिका रहति बचाए दीठ॥

जो दूती भेजने वाले के सिखाने-पढ़ाने में कुछ अपनी ओर से भी नमक-मिर्च मिलाकर उसका कार्य साधन करती है, उसे मध्यमा दूती कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

भूमि पै पाँव धरे कबहूँ नहिं सूरज देखि सकै नहिं जा को।
मानस की चरचा का चलाइये, चन्द सकै न चितै पुनि वा को।
औचक झाँकि झरोखन में जसवन्त विलोकत ताकी प्रभा को।
लाउँ कहौ किहि भाँति कन्हाई हवाल हवा लों न जानति जा को।

कविवर मतिरामजी ने मध्यमा दूती का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

चरन धरे न भूमि बिहरै जहाँ की तहाँ,
फूले हैं सु फूलनि बिछायो परियंक है।
मारके डरनि सुकुमारि चारु अंगन में,
करति न अंगराग कुंकुम को बंक है।
कवि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप मलिन होत बदन मयंक है।
कैसे वह बाल लाल बाहर बिजन आवै,
बिजन बयारि लागे लचकति लंक है।

और भी—

बेगि आय सुधि लेहु यह अली कह्यौ घनश्याम।
मैं देख्यौ वह चातकी रटति तिहारो नाम॥

अधमा दूती

केवल सिखई बात को निस-दिन करति बखान।
अधम दूतिका कहत हैं ताको सुमति सुजान ॥

जो दूती जैसा उसे सिखाया जाय वैसा ही कह दे, उसमें अपनी ओर से घटत-बढ़त कुछ न करे, उसे अधमा दूती कहते हैं। यह दूती समयोचित बातें करने में सर्वथा असमर्थ होती है, साथ ही यह बात-चीत करने में कुछ कटूक्तियाँ भी कह जाती है। जैसे—

ऐहै न फेर गई जु निसा तन यौवन है घन की परछाँहीं।
त्यों 'पदमाकर' क्यों न मिलै उठि, यों निबहैगो न नेह सदाँहीं।
कौन सयान जो कान्ह सुजान सों ठानि गुमान रही मन माँहीं।
एक जु कन्ज कली न खिलै तो कहा कहुँ भौंर को ठौर है नाँहीं।

एक दोहा और देखिये, इसमें नायिका दूती से कह रही है—

कैसी धौं तेरी अरी परी बान यह आन।
जैसी यै मो ते कढ़त तैसी करति बखान ॥

दूती के कर्म

इन तीनों दूतियों के संघट्टन और विरह-निवेदन मुख्यतया ये दो कार्य हैं। कुछ आचार्यों ने विनय, स्तुति, निन्दा, प्रबोध, संघट्टन और विरह-निवेदन ये छह कर्म माने हैं। विचार से देखा जाय तो विनय, स्तुति आदि पाँचों ही संघट्टन के साधन मात्र हैं। अधिकांश कवियों ने संघट्टन और विरह-निवेदन इन दो का ही वर्णन किया है। प्रत्येक प्रकार की दूती के कर्मों में दूती के गुणानुसार अन्तर आ जाता है। दूती के छहों कर्मों के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं।

विनय

अपने कार्य-साधन के लिए, दूती नायक-नायिका से जो विनम्र विनती करती है, उसे विनय कहते हैं। जैसे—

हा-हा बदन उघारि दृग सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन के परे हँसी ससी की होय॥
हँसी ससी की होय देख मुख तेरो प्यारी।
विधना ऐसी रची आपने हाथ सँवारी॥
कह पठान सुलतान मेटु उर अन्तर दाहा।
करु कटाच्छ इहि ओर मोर विनती सुन हाहा॥

दूती हा हा खाती हुई, नायिका के सौंदर्य का वर्णन कर उसे बढ़ावा देती है—"अरी, तू ज़रा घूँघट तो खोल, तेरे मुँह उघारते ही कमल-वन में रोने पड़ जायँगे, चन्द्रमा मन्दप्रभ हो जायगा और दर्शक तुझे देखकर अपने नेत्र सफल कर लेंगे।

स्तुति

अपने कार्य-साधन के लिये दूती नायक अथवा नायिका की जो प्रशंसा करती है, उसे स्तुति कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

अंग तेरो केसर-सो करिहाँ केसरी कैसो,
केसन की सरि कैसे करि सकै तो तमैं।
कहैं कवि 'गङ्ग' आछे छबि के छबीले नैन,
नीलेऊ नलिन ऐसे नाहीं देखे होत मैं।
अहे हे अहीरी तू धौं इहौ कछू जानति है,
काके भागि औतरी है तो सी तेरे गोत मैं।
तरुनी-तिलक नन्दलाल त्यौं तिलक ताकि,
तो पर हौं वारौं तिल-तिल कै तिलोत्तमै।

दूती नायिका की प्रशंसा करते-करते, तिलोत्तमा को भी उस पर वार कर फेंक देना चाहती है। अतिशयोक्ति की हद कर दी।

आगे लिखे दोहे भी स्तुति के सुन्दर उदाहरण हैं—

दिपति देह छबि देह की किहि विधि बरनी जाय।
जिहिं लखि चपला गगनते छिति पर फरकति आय॥

यहाँ नायिका की देह-दीप्ति देखकर बिजली भी मारे शर्म के (आकाश से गिर) ज़मीन में गड़ जाती है।

× × ×

मुख ससि निरखि चकोर अरु तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर होत नयन रस लीन॥

यहाँ नायिका के मुख-चन्द्र को देख चकोर ; तन-पानिप को देख मीन और पद-पंजक को निहार कर भौंरे मुग्ध हो जाते हैं।

निन्दा

स्वकार्य-सिद्धि के लिए नायक या नायिका के आगे दूती जो उनकी बुराई करती है, उसे निन्दा कहते हैं। जहाँ विनय या स्तुति द्वारा दूती को कार्य-सिद्धि की आशा नहीं होती, वहाँ वह निन्दा द्वारा नायक-नायिका के स्वाभिमान को उत्तेजित कर सहज ही में अपना काम बना लेती है। उदाहरण देखिये—

खेलति फाग सुहाग भरी सुथरी सुर अंगना ते सुकुमारि है।
जैये चले अठिलैये उतै इतै कान्ह खड़ी वृषभानु-कुमारि है।
'संभु' समूह गुलाब के सीसन ढारि कै केसरि गार बिगारि है।
पामरी पाँवड़े होति जहाँ-तहाँ को लला कामरी पै रँग डारि है।

जाओ-जाओ ! चल दिये राधिकाजी के साथ होली खेलने। भला तुम्हारे इस काले कम्मल पर अपना केसरिया रंग डाल कर कौन उसे (रंग को) ख़राब करेगी।

और देखिये—

कंज से सम्पुट हैं ये खरे हिय में गड़ि जात ज्यौं कुन्त के कोर हैं।
मेरु हैं पै हरि हाथ न आवत चक्रवती पै बड़ेई कठोर हैं।

भावती तेरे उरोजन के गुन 'दास' लखे सब औरई और हैं।
संभु हैं पै उपजावें मनोज सुवित्त हैं पै परचित्त के चोर हैं।

नीचे लिखा कवित्त भी निन्दा का सुन्दर उदाहरण है—

सील भरी खरी करि आपने कहे में आँखें,
घरी-घरी घर ही में घूँघट सँभारिलै।
गोकुल में बसि कुल-कानि न कहाय प्यारी,
आनन छुपाय दृग नीचे कै निहारिलै।
कहै कवि 'कासीराम' सीता इन्दुमती अरु,
सती पारवती कै-सो पातिब्रत धारिलै।
जो लौं तेरी दीठि न परै री नन्दलाल तौ लौं,
गरबीली गूजरी गँवारी गाल मारिले।

प्रबोध

नायक-नायिका का समझाने का नाम प्रबोध है।

उदाहरण देखिये—

कंचन की ककई कर लै हरे हेर हँसौहे कही यह नाइन।
रात के सोवत का सपनों अपनो सुन लीजिये मेरी गुसाइन।
पै न चलाइये बात कहूँ सुनि पावै न कोऊ कहूँ की चबाइन।
नौखे वे ठाकुर नन्दकिसोर अनौखी बनी तू नई ठकुराइन।

संघट्टन

दूती के जिस उद्योग द्वारा नायक-नायिका का संयोग होता है, उसे संघट्टन कहते हैं। जैसे—

नव कुंजन बैठे पिया नँदलालजू जानत हैं सब कोक-कला।
दिन में तहाँ दूती भोराय कै ल्याई महा छवि धाम नई अबला।
जब धाय गही 'हरिचन्द' पिया तब बोली अजू तुम मोहि छला।
हमैं लाज लगै बलि पाय परौं दिन ही ह-हा ऐसी न कीजे लला।

और भी देखिये—

गोरी कों जु गुपाल कों होरी के मिस लाय।
विजन साँकरी खोरि में दोऊ दिये मिलाय॥

× × ×

रमनी रमन मिलाप यों दूती रहति बराय।
घन दामिनि कों जोरि कै ज्यों समीर बहिजाय॥

विरह-निवेदन

दूती जिन शब्दों द्वारा नायक-नायिका की विरह-व्यथा एक दूसरे पर प्रकट करती है, उसे विरह-निवेदन कहते हैं।

नीचे लिखे दोहे विरह-निवेदन के कैसे सुन्दर उदाहरण हैं। देखिए—

कहा कहौं वाकी दसा जब खग बोलत राति।
पीय सुनत ही जियति है, कहाँ सुनत मरिजाति॥

× × ×

तें दीनों लीनों सुकर छुवत छुनकि गो नीर।
लाल तिहारो अरगजा उर है लग्यौ अबीर॥

× × ×

जब तें आई तड़ित लौं नीलाम्बर में कौंधि।
तब तें हरि चकृत भए लगी चखनि चकचौंधि॥

× × ×

विरह-निवेदन में बिहारी का नीचे लिखा दोहा भी देखने लायक़ है—

जो वाके तन की दसा देख्यो चाहत आप।
तो बलि नेकु विलोकिये चलि औचक चुपचाप॥

यदि तुम विरहिणी की वास्तविक विकलता देखना चाहते हो, तो चुपचाप अचानक चल कर देखो; क्योंकि तुम्हारे आने की यदि उसे

पहले से सूचना मिल गई तो प्रसन्नता के कारण उसकी दशा सुधर जायगी। जैसा कि किसी उर्दू शायर ने भी कहा है—

उनके देखे से जो आजाती है रौनक़ मुँह पर-
वे समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

वियोगिनी नायिका के दिनोंदिन कृश होने का वर्णन किसी संस्कृत कवि ने क्या ही उत्तमता से किया है। वह कहता है—

महिला सहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
प्रतिदिनमनन्यकर्मा अङ्ग तनुकमपि तनू करोति॥

अर्थात् सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में स्थान न पा सकने के कारण वह नायिका सब काम छोड़ कर अपनी दुबली-पतली देह को और भी अधिक कृश बना रही है। जिससे वह इतनी नायिकाओं के होते हुए भी आसानी से तुम्हारे हृदय में स्थान पा सके।

ऊपर दिये उदाहरण साधारणतः सभी दूतियों के समझिये। आगे तीनों प्रकार की दूतियों के केवल संघट्टन और विरह-निवेदन के उदाहरण दिये जाते हैं।

उत्तमा-संघट्टन

आय आय बादर रहे हैं नभ छाय छाय,
अधिक अँधेरी भई जैसे निसि कारी में।
बोलि बोलि दादुर करत घन घोर सोर,
तड़िता तरपि बुन्द परत कियारी में।
कहै ' कमलापति ' बखानत बनै न मो तैं,
जैसी जाय देखी अबै सोभा फुलवारी में।
बारी बैस बारी कही मानि लै हमारी आज,
को न हरि यारी करै ऐसी हरियारी में।

उत्तमा-विरह-निवेदन

एक हती खीनी पर एते पै न एते मान,
भई अति दूबरी बिरह ज्वाल जरती।
पास धरो चन्दन सुवास ही तें बाढ़ै ताप,
हो तो जो समीर तो उसासें न उसरती।
चन्दन की रेख रही आभा अवशेष सुतो,
देखतै बनत पै न कहत बनै रती।
ल्यावती गोबिन्द अरबिन्द की कली में राखि,
जो न मकरन्द बीच डूबिवे के डरती।

मध्यमा-संघट्टन

दौरि दूरि तें मैं आई कहिबे तिहारे पास,
देखि मनमोहिनी के मोहन अनूप बेस।
ताकी 'कमलापति' सुसील सुन्दराई बारी,
समता न पावै रचै रूप रति हू हमेस।
सीरे नैन कीजै चलि बलि जमुना के तीर,
भूषन सों भूषित विलोकि औरै नखतेस।
फूली फूल बेली सी नबेली बाल झूलति है,
फूल के हिंडोरे आजु फूलन सों गूँथे केस।

मध्यमा-विरह-निवेदन

* सेज परी है छरी-सी भरे तन ताप सों जात छुवा न दई है। *
डोलति बोलति है न कछू दृग खोलिवे की सुधि भूलि गई है।
गोकुल जाति घुरी अँसुवानिसों लीक लखीसी विलोक लई है।
बाल की लाल दसा सुनिये वह बारि बिहीन की मीन भई है।

अधमा-संघट्टन

है उत नागर नन्दकुमार औ तूही इतै वृषभानलली है।
जोरी बनी है दुहूँ की अपूरब पूरब पुन्य की बेलि फली है।
जोवत हैं कब के मग ठाढ़े अकेले जहाँ वह कुञ्ज थली है।
बेगि न जाति लजाति कहा यह जाति जुन्हाई की राति चली है।

अधमा-विरह-निवेदन

दूरि ही तें देखति दसा मैं वा वियोगिनी की,
आई दौरि भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवेगी।
कहै 'पदमाकर' सुनो हो घनस्याम ताहि,
चेतत कहूँ जो एक आह कढ़ि आवेगी।
सर सरितान को न सूखत लगैगी बेर,
एती कछू जुलमिनि ज्वाल कढ़ि आवेगी।
ताकी विरहागि की कहों मैं कहा बात मेरे—
गात ही छुए तें तुम्हैं ताप चढ़ि आवेगी।

स्वयं दूती

जब नायिका अपनी कार्यसिद्धि के लिए स्वयं दूती का कार्य करती है, तब उसकी स्वयंदूती संज्ञा होती है। यथा—

सहर मँझारत पहर एक लागि जैहै,
छोर में नगर के सराय है उतारे की।
कहत 'कविन्द' मग माँझ ही परैगी साँझ,
खबर उड़ानी है, बटोही द्वैक मारे की।
घर के हमारे परदेस कों सिधारे यातें,
दया कै विचारें हम रीति राह बारे की।

उतरो नदी के तीर बर के तरेई तुम,
चौंको जनि चौकी तहाँ पाहरू हमारे की।

× × ×

नीचे लिखा दोहा भी स्वयं दूती का सुन्दर उदाहरण है। देखिए

बसौ पथिक या पौरि में यहाँ न आवै और।
यह मेरो यह सासु को यह ननदी को ठौर॥

यहाँ स्वयं दूती नायिका पथिक से 'पौरि' में (पौली में) ठहरने की प्रार्थना करती हुई उसे बातों ही बातों में अपने सोने का स्थान भी बता देती है। इसी भाव का एक संस्कृत का उदाहरण भी बड़ा सुन्दर है। नीचे उसे भी पढ़ लीजिये।

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवस एव प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥

अर्थात् इस जगह तो मेरी सास (निमज्जति) खूब गहरी नींद में सोती है, और यहाँ मैं सोती हूँ। हे (रात्र्यन्धक) रतौंधी वाले पथिक दिन में ही ध्यान से देख लो। ऐसा न हो कि रात में कहीं मेरी खाट पर गिर पड़ो।

स्वयंदूती-संघट्टन

घटा घहरात तामैं बीजुरी न ठहरात,
सीतल समीर त्योंही लाग्यौ मेह झरु है।
पौरियै रतौंधी आवै सखी सबै सोय रहीं,
जागत न कोऊ परदेस मेरो वरु है।
ननद नियारी सास मायके सिधारी देखि—
भारी अँधियारी तामें सूझत न करु है।
सावन की सूनी अधराति निसि जागि जागि,
जागि रे बटोही इहाँ चोरन को डरु है।

स्वयंदूती-विरह-निवेदन

आपुस में हमको तुमको लखि जो मन आवत सो कहती हैं।
बातें चबाव-भरी सुनि कै रिस लागति पै चुप ह्वै रहती हैं।
ये बरहाई लुगाई सबै निसि-द्यौस 'नेवाज' हमें दहती हैं।
प्रान पियारे! तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं।

षड्ऋतु

गर्मी, सर्दी तथा वर्षा की दृष्टि से, वर्ष के छह विभाग किये गए हैं, जिन्हें ऋतु कहते हैं। सूर्य की गति के अनुसार पूरा वर्ष बारह भागों में विभक्त किया गया है, जिन्हें राशि कहते हैं। अर्थात् मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन ये बारह राशियाँ हैं। क्रान्त वृत्त के मार्ग में जो नक्षत्र हैं, उनके आकारों की कल्पना करके ही उपर्युक्त नाम रक्खे गए हैं। क्रान्त वृत्त के मार्ग में जो महा विषुव बिन्दु है, उसी से राशियाँ शुरू होती हैं। जब मीन और मेष राशि पर सूर्य होता है, (अर्थात् मार्च-अप्रैल में) तब वसन्त ऋतु होती है। हमारे यहाँ वसन्तागमन की सूचना देने के लिए वसन्त पञ्चमी का त्यौहार मनाया जाता है। होली भी वसन्त ऋतु का त्यौहार है। अँगरेज़ी का एप्रिल शब्द भी एफ्रोडाइट (कामदेव) से ही निकला है। जब वृषभ और मिथुन राशि पर सूर्य होता है, (अर्थात् मई-जून में) तो उसे ग्रीष्म ऋतु कहते हैं। इस ऋतु में बड़ी गर्मी पड़ती है, लू चलती है, शर्बत बरफ़ ठंडाई आदि पीना अच्छा लगता है। जब सूर्य कर्क और सिंह राशि पर होता है, (अर्थात् जुलाई-अगस्त में) तब उसे वर्षा ऋतु कहते हैं। इस ऋतु में ख़ूब मेह बरसता है। कन्या और तुला राशि पर सूर्य आने पर (अर्थात् सितम्बर-अक्टूबर में) शरद ऋतु होती है। इस ऋतु में चन्द्रमा बड़ा सुहावना और आनन्ददायक दिखाई देता है। वर्षा ऋतु के कारण वायु-मण्डल निर्मल हो जाने से, आकाश बड़ा सुन्दर हो जाता है। वृश्चिक और धनराशि में सूर्य आने पर (अर्थात् नवम्बर-दिसम्बर मास में) हेमन्त ऋतु आती है और उसके पीछे शिशिर ऋतु। इसमें सूर्य मकर और कुम्भ राशि पर होता है। इस समय अंगरेज़ी महीने जनवरी और फ़रवरी होते हैं।

संस्कृत-कवियों ने प्रायः शिशिर को पहली ऋतु मानकर उसी से ऋतु-वर्णन आरम्भ किया है, परन्तु हिन्दी वालों ने वसन्त को पहली ऋतु माना है, अतः उनका ऋतु-वर्णन वसन्त से ही आरम्भ होता है। वसन्त में होली का भी बड़ा महत्त्व है। प्राचीन समय में वसन्त और होली किस प्रकार मनाये जाते थे, उसका कुछ परिचय निम्नलिखित पंक्तियों से प्राप्त हो सकेगा।

वसन्त और होली

प्राचीन भारत में ऋतु सम्बन्धी उत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाए जाते थे। वसन्तोत्सव को मनाते समय तो हर्ष का पारावार ही न रहता था। शरद ऋतु में कौमुदी उत्सव मनाया जाता था। संस्कृत-काव्य-साहित्य इस प्रकार के उत्सव सम्बन्धी वर्णनों से भरा पड़ा है। होलिकोत्सव वसन्तोत्सव का ही एक भेद है, जो विकृत रूप में आज भी मनाया जाता है। फाल्गुन और चैत्र दोनों में मदनोत्सवों की धूम रहती थी। मदनोत्सव के मनाने का वर्णन सुप्रसिद्ध सम्राट् श्री हर्षदेव की रत्नावली में बड़े सुन्दर और सजीव ढंग से किया गया है। विद्वद्वर पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के "मधुकर" में प्रकाशित एक लेख में उसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—मदनोत्सव के दिन दोपहर के बाद सारा नगर पुरवासियों की करतल-ध्वनि, मदन-संगीत और मृदंग के गम्भीर घोष से मुखरित हो उठता था। नगर के लोग मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सब से ऊपर वाली चन्द्रशाला में बैठकर नगरवासियों के आमोद-प्रमोद को देखा करते थे। नगर की कामिनियाँ मधु-पान करके ऐसी मतवाली हो जाती थीं, कि उनके सामने जो कोई पुरुष पड़ जाता उस पर पिचकारी (शृंगक) के जल की बौछार करने लगती थीं। बड़े-बड़े रास्तों के चौराहे मर्दल नामक बाजे के गम्भीर घोष और चर्चरी की ध्वनि से शब्दायमान हो उठते थे। ढेर का ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओं में इतना उड़ता रहता था, कि दिशाएँ रंगीन हो जाती थीं। जब नगर-वासियों का आमोद पूरे चढ़ाव पर आ जाता तो नगरी के सारे राजपथ

केशरमिश्रित अबीर से इस प्रकार भर उठते थे, मानो उषा की छाया पड़ रही हो। लोगों के शरीर पर शोभायमान अलंकार और सिर पर पहने हुए अशोक के लाल फूल इस लाल-पीले सौन्दर्य को और भी अधिक बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था, कि नगरी के सभी लोग सुनहरे रंग में डुबो दिये गए हैं। राजकीय प्रासाद तथा अन्य समृद्धिशाली भवनों के आँगनों में निरन्तर फ़व्वारा छूटा करता था, जिससे अपनी-अपनी पिचकारी में जल भरने की होड़-सी मची रहती थी। इस स्थान पर पौर युवतियों के बराबर आते रहने से उनकी माँग के सिन्दूर और गाल के अबीर झरते रहते थे। सारा आँगन लाल कीचड़ से भर जाता था और फ़र्श सिन्दूर-मय हो उठता था।

उस दिन वेश्याओं के मुहल्ले में सबसे अधिक हुर्दंग दिखाई देता था। रसिक नागरिक पिचकारियों में सुगन्धित जल भर कर वेश्याओं के कोमल शरीरों पर फेंका करते थे जिससे वे सीत्कार करके सिहर उठती थीं। वहाँ इतना अबीर उड़ता था कि सारा मुहल्ला अन्धकारमय हो जाता था।

अन्तःपुर की रसिका परिचारिकाएँ हाथ में आम्रमञ्जरी लिए हुए द्विपदी खण्ड का गान करती नृत्य करने लगती थीं। इस दिन इनका आमोद मर्यादा की सीमा पार कर जाता था। वे मधुपान से मत्त हो उठती थीं। नाचते-नाचते उनके केशपाश शिथिल हो जाते थे। कबरी (जूरा) को बाँधने वाली मालती-माला खिसक कर न जाने कहाँ ग़ायब हो जाती थी। पैरों के नूपुर झटकन-मटकन के वेग को न सम्हाल सकने के कारण दुगने ज़ोर से झनझनाने लगते थे। नगरी के भीतर और बाहर सर्वत्र आमोद और उल्लास की प्रचण्ड आँधी चलने लगती थी।

वसन्तोत्सव प्राचीन भारत में किस प्रकार मनाया जाता था, उसका कुछ वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में महाकवि भवभूति की शक्तिशालिन लेखनी

के आधार पर दिया गया है। इससे आजकल की होली से कुछ तुलना की जा सकती है। वसन्तोत्सव मनाते समय कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी पूजा की जाती थी। प्राचीन ग्रन्थों में वसन्त के निम्नलिखित उत्सव मनाए जाने का उल्लेख हैं—

अष्टमीचन्द्र, शक्रार्चा या इन्द्र पूजन, वसन्त या सुवसन्तक, मदनोत्सव, वकुल और अशोक-वृक्षों के पास विहार और शाल्मलीविनोद। पण्डित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त लेख में लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतार के दिन को कहते हैं, अर्थात् जिस दिन प्रथम बार वसन्त पृथिवी पर उतरता है। इस तरह आजकल के हिसाब से यह दिन वसन्त पञ्चमी को पड़ना चाहिये। इसी दिन मदन की पहली पूजा विहित है। इसी दिन उस युग की विलासिनियाँ कण्ठ में कुवलय की माला और कानों में दुष्प्राप्य नव आम्रमंजरी धारण करके ग्राम को जगमग कर देती थीं। पुराने गर्म कपड़ों को फेंककर लाक्षारस या कुंकुम के रंग से रंजित और सुगन्धित कालागुरु से सुवासित हलकी लाल साड़ियाँ पहनती थीं। कोई-कोई कुसुम्भी दुकूल धारण करती थीं और कोई-कोई कानों में नवीन कर्णिकार का फूल, नील अलकों में लाल अशोक के फूल और वक्षःस्थल पर उत्फुल्ल नव मल्लिका की माला धारण करती थीं।

उन दिनों वसन्त ऋतु की उद्यान-यात्रा और वनयात्राएँ काफ़ी मजेदार होती थीं। कामसूत्र में लिखा है कि निश्चित दिन को दोपहर के पूर्व ही नागरिक-गण सजधज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ़कर वे किसी दूरस्थित उद्यान या वन की ओर—जो एक-दो दिन में ही लौट आने योग्य दूरी पर होता था—जाया करते थे। कभी-कभी इनके साथ वेश्याएँ भी होती थीं, और कभी-कभी अन्तःपुर की गृह-देवियाँ।

इन उद्यान-यात्राओं या पिकनिक पार्टियों में हिन्दोल-लीला, समस्या-पूर्ति, आख्यायिका, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि खेल होते थे।

वसन्त-वर्णन

देखिये, 'मदन महीप के बालक' वसन्त के कैसे ठाठ हैं—

डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झँगूला सोहैं तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावें 'देव'
कोकिला हलावै हुलसावै करतारी दै।
पूरित पराग सों उतारौ करे राई-लौन,
कंज कली नायिका-लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।

और सुनिए, ऋतुराज के आगमन की सूचना पाकर प्रकृति में, उनके स्वागत के लिए, कैसी चहल-पहल दिखाई दे रही है—

कूकि उठीं कोकिला सु गूँजि उठी भौंर भीर,
डोलि उठे सौरभ समीर तरसावने।
फूलि उठीं लतिका हैं लोंगन की लोनी लोनी,
झूमि उठीं डालियाँ कदम्ब सरसावने।
चहकि चकोर उठे करि करि सोर उठे,
टेरि उठीं सारिका विनोद उपजावने।
चटकि गुलाब उठे लटकि सरोज पुंज,
खटकि मराल ऋतुराज सुनि आवने।

अब ज़रा पद्माकरजी का भी वसन्त-वर्णन सुन लीजिए—

कूलन में केलि में कछारन में कुञ्जन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है।
कहै 'पदमाकर' पराग में सु पौन हू में,
पातन में पीकन पलासन पगन्त है।

द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपति दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगर्‌यौ बसन्त है।

कोई वियोगिनी गोपी जल-भुन कर वसन्त का ऐसा विचित्र वर्णन करती है कि उसने वसन्त का नकशा ही बदल दिया है। देखिये—

पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जैवे लरजत लुञ्ज हैं।
कहै 'पदमाकर' बिसासी या बसन्त के सु,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुञ्ज हैं।
ऊधौ यह सूधौ सो सँदेसौ कहि दीजौ भले-
हरि सों, हमारे ह्याँ न फूले बन कुञ्ज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुञ्ज हैं।

ऊपर के पद्य में तो विरहिणी ने 'किंसुक, कचनार और अनार' की डालियों पर 'अंगारों के पुञ्ज' ही डुलाए थे, परन्तु नीचे के सवैया में तो कवि ने सारे वन-बागों में ही आग लगा दी है। देखिए—

आयौ बसन्त तमालन ते नव पल्लव की इमि जोति जगी है।
फूलि पलास रहे जित ही तित पाटल राते ही रंग रँगी है।
मौर के अम्बन सार भई तिहि ऊपर कोकिल आनि खगी है।
भागन भाग बचो बिरही जनु बागन बागन आग लगी है।

निम्नलिखित सवैया में पद्माकरजी वसन्तागमन की ओर ध्यान दिला कर ब्रजचन्द से उस वन में जाने के लिए आग्रह करते हैं, जिसमें बेचारी ब्रजबालाएँ बावली-सी बनी घूम रही हैं। सुनिये—

ए ब्रजचन्द चलौ किन वा ब्रज लूकैं बसन्त की ऊकन लागी।
त्यौं 'पदमाकर' पेखौ पलासन पावक-सी मनौं फूकन लागी।

वै ब्रजवारी विचारीं बधू बन बावरी लौं हिय हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइने पै सु कूहू कुहू कैलिया कूकन लागी।

और देखिये, विरहिणी बाला वसन्त के भरोसे कितने धैर्य के साथ वियोगव्यथा के बरदाश्त कर रही है। उसे दृढ़ विश्वास है कि वसन्त के आते ही कन्त घर आए विना न रहेंगे। देखिए—

फूलन दे अबै टेसू-कदम्बन अम्बन बौरन छावनदै री।
री मधुमत्त मधूवन पुंजन कुंजन सोर मचावनदै री।
क्यों सहि है सुकुमार 'किसोर' अरी कल कोकिलै गावनदै री।
आवत ही बनि है घर कन्तहि वीर बसन्तहि आवनदै री।

पूर्ण कवि ने वसन्त के आते ही सन्तों के निष्काम और निर्विकार मन में भी काम उत्पन्न कर दिया है, देखिये—

बाटिका बिपिन लागी छावन छबीली छटा,
छिति तें सिसिर के कसालो भयो न्यारो है।
कूजन किलोल कै लगो है कुल पंछिन के,
'पूरन' समीरन सुगन्ध के पसारो है।
लागत बसन्त नव सन्त मन जागो मैन,
दैन दुख लागो बिरहीन बरियारो है।
सुमन निकुञ्जन में कुंजन के पुञ्जन में,
गुञ्जत मिलिन्दन को वृन्द मतवारो है।

जहाँ वियोगियों ने वसन्त के बुरा-भला कहा है, वहाँ संयोगियों ने उसे आशीर्वाद भी खूब दिया है। सुनिये—

मिलि माधवी आदिक फूल के व्याज विनोद लवा बरसायो करै।
रचि नाच लतागन तानि बितान सबै विधि चित्त चुरायो करै।
द्विज देव जू देखि अनौखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करै।
चिरजीवो बसन्त सदा द्विजदेव प्रसूनन की भरि लायो करै।

अब साधारण वसन्त-वर्णन का एक कवित्त और पढ़ लीजिए—

खेलन को होरी चले प्रथमहि स्यामा स्याम,
बौरे नव आम फूल सरसों समन्त है।
पञ्चमी बसन्त रति कन्त को जनम दिन,
फैली रितु कन्त जू की सुषमा अनन्त है।
'गिरधर दास' करें कोकिला सरस सोर,
चारों ओर भौंरन की भीर दरसन्त है।
फाग में बसन्त लाल पाग में बसन्त,
बाल राग में बसन्त बाग बाग में बसन्त है।

अब ज़रा होली के हुर्दंग की बानगी भी देख लीजिए—

घूमि देखो घरिक धमारन की धूम देखो,
भूमि देखो भूषित छवावै छवि छवि कै।
कहै 'पदमाकर' उमंग रंग सींच देखो,
केसरि की कींच जो रह्यौ है ग्वाल गविकै।
उड़त गुलाल देखो तानन की ताल देखो,
नाचत गुपाल देखो लै हौ कहा दबि कै।
झेलि देखो झरिफ सकेलि देखो ऐसो सुख,
मेलि देखो मूँठि खेलि देखो फाग फवि कै।

इस प्रकार मचते हुए होली के हुल्लड़ में एक मनचली गोपी कृष्ण से कहती है—

खेलो मिलि होरी घोरी केसरि कमोरी फेंको—
भरि-भरि झोरी लाज जिय में बिचारौ ना।
डारो बहु रंग संग चंग हू बजाओ गावो,
सबहिं रिझावो सरसावो संक धारौ ना।
जोरि कर कहती निहोरो 'हरिचन्द' प्यारे,
मोरी बिनती है एक ताहि तुम टारौ ना।

नैन हैं चकोर मुख-चन्द सों परैगी ओट,
यातें इन आँखिन गुलाल लाल डारौ ना।

परन्तु वहाँ ऐसे विनय की कौन परवा करता है। आख़िर कृष्ण ने एक मूठ अबीर उसी समय गोपी के मुँह पर मार दी। फिर क्या था अबीर और अहीर-'कृष्ण' दोनों एक साथ ही उसकी आँखों में घुस गए। बेचारी उन्हें निकालने के लिए बड़ी छटपटाई—अनेक प्रयत्न किये। ज्यों त्यों कर अबीर तो आँखों से निकल गया, पर अहीर नहीं निकल पाया! इससे बेचारी बड़ी परेशान हो गई, उसकी परेशानी उसी की ज़बानी सुन लीजिए—

एकै संग धाए नन्दलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगन गए जो भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोय-धोय हारी 'पदमाकर' तिहारी सौंह,
अब तो उपाव कोऊ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करों कहाँ जाउँ कासों कहों कौन सुनै,
कोऊ तो निकासौ जासों दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन सों,
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं।

अन्त में गोपी ने भी बदला लेने के विचार से अपनी सखियों को साथ लेकर नन्दलाल पर हल्ला बोल दिया। देखिए—

डरौ ना अहीरन सों अतर अबीरन सों,
चार चार जनी चार ओरन ते धावो री।
एक हाथ ओड़ो पिचकारी की अपार मार,
एक हाथ ओट चोट आँखिन बचावो री।
कवि 'सरदार' आयो बड़ो खेलवारो ताहि,
खेल के सवाद अंग-अंगन बतावो री।
कीरति कुमारी कहैं हेरिकै कुमारी कोऊ,
हौ री गुनवारी बनवारी बाँधि लावो री।

गोपी ने सखियों को आज्ञा दे दी—चारों ओर से घेर कर नन्दलाल को बाँध लाओ, पर देखो, अपनी आँखें बचाए रखना, सावधान! ठीक भी तो है, बेचारी भुगते हुए भी तो थी। अस्तु—

उधर नन्दलाल ने जो इस मण्डली को अपनी ओर आते देखा तो वे भी ग्वालों की टोली लेकर मैदान में डट गए। फिर क्या था—

लै बलबीर अबीर की मूठि दई अलबेली लली दृग दूपर।
त्यौं बनमाली पै आली चलावती लाल गुलाली की है रही भूपर।
लै पिचकारी बिहारी तहाँ अधिकारी करी ब्रजवारी बधू पर।
पीन पयोधर ते उचटी सो परी सब केसर लाल के ऊपर।

जिस समय यह गोप-गोपिकाओं का हुल्लड़ मचा हुआ था, उस समय की शोभा का वर्णन किसी कवि ने क्या ही अच्छा किया है—

खेलत फाग गुलाल भरे इत ग्वालि, उतै घनश्याम उमंग सों।
कंचन की पिचकारिन धार खुली अलकें मुकतावलि अंग सों।
भीजि कपोलनि गौ लगि अंचल कंचुकी चारु उरोज उतंग सों।
केसरि रंग सों अंग रँग्यो कि रही रँगि केसरि अंग के रंग सों।

दर्शकों को भ्रम हो रहा है कि गोपी का शरीर केसर-रंग से रँगा है या अंग के रंग से केसर का रग इतना गहरा हो गया है।

इस तरह ख़ूब अबीर-गुलाल और रंग की वर्षा हुई, दोनों ओर से ख़ूब कुमकुमे चलाए गए। अन्त में एक बार गोपियों का दाव लग गया।

फाग के भीर अभीरन त्यों गहि गोबिन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीन पितम्बर कम्मर ते सु बिदा दई मींजि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

इस प्रकार गोपी और नन्दलाल ख़ूब मनभाई करके अपने-अपने घर

सिधार गए। घर पहुँचकर गोपी कपड़े बदलने में लगी। उस समय गोपी की सहेली अपनी साथिन से कहती है—

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगन्धन झकोरै है।
कहै 'पदमाकर' इकन्त चालै चौकी चढ़ि,
हारन के बारन तें फन्द बन्द छोरै है।
घाँघरे की घूमन सु उरुन दुबीचै दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारी मुख मोरै है।
दन्तन अधर दाबि दूनर भई सी चापि,
चौबर पचौबर कै चूनरि निचोरै है।

× × ×

गोपी कपड़े बदल कर बैठी थी, इतने में उसके संग की और भी हुरिहारिन नहा-धोकर आ गईं। और परस्पर हास-परिहास होने लगा। नन्दलाल की दुर्गति बनाने की चर्चा चली। एक कहने लगी—बहन, उस समय तुम्हारे सामने आकर वे (नन्दलाल) कैसी भीगी बिल्ली बन गए थे। मालूम होता है, तुमने उन पर अपना जादू डाल दिया था। सखी, सच-सच बताना, तुम्हारी किस बात में ऐसा जादू था जो नन्दलाल इस तरह तुम्हारे वश में होगए।

फाग में कि बाग में कि भाग में रही है भरि,
राग में कि लाग में कि सौंहे खान जूठी में।
चोरी में कि जोरी में कि रोरी में कि मोरी में कि,
झूमि झकझोरी में कि झोरिन की ऊठी में।
'ग्वाल' कवि नैन में कि बैन में कि सैन में कि,
रंग लैन दैन में कि आँगुरी अँगूठी में।
मूठी में गुलाल में कि ख्याल में तिहारे प्यारी,
का में भरी मोहिनी जो भयो लाल मूठी में।

अब उर्दू के मशहूर कवि नज़ीर का भी होली-वर्णन देख लीजिए—

जब फागुन रंग झमकते हों, तब देख बहारें होली की।
और डफ़ के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की।
परियों के रंग दमकते हों, तब देख बहारें होली की।
ख़ुम शीशे जाम झलकते हों तब देख बहारें होली की॥

× × ×

कपड़ों पर रँग के छींटों से ख़ुश रंग अजब गुलकारी हो,
मुँह लाल गुलाबी आँखें हों, और हाँथों में पिचकारी हो।
उस रंग भरी पिचकारी को अँगिया पर तक कर मारी हो,
सीनों से रंग ढलकते हों, तब देख बहारें होली की।

ग्रीष्म ऋतु-वर्णन

जो प्रकृति वसन्त में शोभा और सरसता का स्रोत बनी हुई थी, उसे निर्दय निदाघ ने झुलसाकर कैसा बुरा बना दिया, ज़रा मुलाहिज़ा फ़रमाइए—

ग्रीषम में भीषम है तपत सहसकर,
वापी सर नारे नद नदी सूखि जात हैं।
झरपि झरपि झकझोरि झूरे तप्त पौन,
धूरि धार धूसरे दिगन्त ना दिखात हैं।
श्रीपति सुकवि कहै आली बनमाली बिन,
खाली जग मोहि कैसे बासर बिहात हैं।
तावा सो अजिर पग लावा से तचत घर
भयो गिरि आवा से पजावा से धुँआत है।

अभी क्या है, अभी तो—

प्रबल प्रचण्ड चण्डकर की किरनि देखो,
बेहर उदण्ड नव खण्ड घुमिलत हैं।

अवनि कराही कैसो तेल रतनाकर सो,
'नैन कवि' ज्वाला की लहर झलकत हैं।
ग्रीषम की ज्वाल जाल कठिन कराल यह,
काल ज्वालामुखी हू की देह पिघलत है।
लुका भयो आसमान भूधर भभूका भयो,
भभकि भभकि भूमि दावा उगिलत है।

जब रत्नाकर भी कड़ाही के तेल की भाँति खौलने लगा, तब कूप-तड़ागादि का तो कहना ही क्या। वह तो सूख-साख कर सिकतामय हो गए। देखिए—

जैये बिना जीरन सो जलकी जिकिर जीभ,
जर्‌यौ जात जगत जलाकन के जोर तैं।
कूप सर सरिता सुखाय सिकतामै भए,
धाई धूरि धौरन धराधर के छोर तैं।
'बेनी कवि' कहत अनातप चहत सब,
अगिन सो आतप प्रकास चहुँ ओर तैं।
तवा सो तपत धरामण्डल अखण्डल औ,
मारतण्डमण्डल दवा सो होत भोर तैं।

इधर जलाशयों का तो यह बुरा हाल है, उधर प्यास के मारे दम निकला जाता है। बार-बार पानी पीने पर भी प्यास नहीं बुझती—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति थापिनी।
भीजे खस बीजन झलैहूँ न सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात दावा सी डरापिनी।
'ग्वाल कवि' कहै कोरे कुम्भन तें रूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पीयो तब पीयो अब पीयो फेर अब,
पीवत हूँ पीवत बुझै न प्यास पापिनी।

ग्रीष्म की प्रचण्ड गर्मी से जलाशय ही सूख गए हों, सो नहीं, काँच और पत्थर भी पिघल-पिघल कर बहने लगे हैं। देखिये, गिरधर कवि क्या कहते हैं—

तपत प्रचण्ड मारतण्ड महिमण्डल में,
ग्रीषम की तीखन तपन आर पार हैं।
'गिरधर' कहै काच कीच सो बहन लाग्यो,
भयो नद-नदी-नीर अदहन धार हैं।
झपट चहूँहन तैं लपट लपेटी लूह,
सेस कैसी फूक पौन झूकन की झार हैं।
तावा सी अटारी तपी आवासी अवनि महा-
दावा से महल औ पजावा से पहार हैं।

परन्तु जिन सौभाग्यशालियों के यहाँ ग्रीष्म का घमण्ड घटाने के लिए आवश्यक साधन-सामग्री मौजूद है, उनकी तो बात ही निराली है—वे तो ऊष्माविरोधी उपचार कर कुछ शान्ति प्राप्त कर ही लेते हैं, देखिए—

अवर अतर तर चन्द्रक चहल तन,
चन्द्रमुखी चन्दन महल मैनसाला से।
खासे खसखाने तहखाने तरताने तने,
ऊजरे बिताये छुए लागत हैं पाला से।
दत्त कहै ग्रीषम गरम की भरम कौन,
जिनके गुलाब आब हौज भरे ताला से।
झाला से झरत झर झाँपन सी वारा बाँधे,
धारा बांधे छूटत फुहारा मेघमाला से।

और भी देखिए, पद्माकरजी इस प्रसंग में क्या कहते हैं—

फहरैं फुहारे नीर नहरें नदी सी बहैं,
छहरें छबिन छाम छीटिन की छाटी हैं।

कहै 'पदमाकर' त्यौं जेठ की जलाकें तहाँ—
पावें क्यों प्रबेस बेस बेलिन की बाटी हैं।
बार हूँ दरीन बीच बारहु तरफ तैसो
बरफ बिछाई तापै सीतल सुपाटी हैं।
गजक अँगूर की अँगूर सो ऊँचो है कुच
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी हैं।

ग्वाल कवि की ग्रीष्म-विलास-सामग्री की सूची नीचे लिखे अनुसार है, उसे भी पढ़ लीजिये—

जेठ को न त्रास जाके पास ये विलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछर्‌यौ करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के बरक भरे,
बैठे पाग केबरे में बरफ पर्‌यौ करै।
'ग्वाल कवि' चन्दन चहल में कपूर चूर,
चन्दन अतर तर बसन खर्‌यौ करै।
कंज मुखी कंज नैनी कंज के बिछौनन पै,
कञ्जन की पंखी कर कञ्जन कर्‌यौ करै।

ग्रीष्म के सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने योग्य है—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की छाँहौ चाहति छाँह॥

और देखिये, सुन्दरी के चेहरे से टपकते हुए पसीने का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु गई बन कुंज सखीन के भूल सों।
घामते कामलता मुरझानी बयारि करैं घनश्याम दुकूल सों।
कम्पति औ, प्रगटै पर स्वेद उरोजन दासजू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरबिन्द कलीन पै मानों झरै मकरन्द गुलाब के फूल सों।

पावस-वर्णन

ग्रीष्म की प्रचण्ड ऊष्मा का वर्णन पढ़ते-पढ़ते आपका हृदय अवे या पजावे की भाँति दहक उठा होगा। अब आइये, पावस की नन्हीं-नन्हीं फुहारों और हृदयाह्लादकारिणी हरियाली से ज़रा उसे हराकर लीजिये। देखिये, अब तो—

बीत गयो ग्रीसम बितीत भयो ताप-दाप,
बार-बार सीतल समीर तरजै लगे।
पथिक पधारे निज गेह में सनेह भरे,
हरे-हरे पात वारे तरु लरजै लगे।
दमकि दिमाक तें दुरति दुति दामिनि की,
मुदित मयूर मन मौन बरजै लगे।
घरी-घरी घेरि-घेरि घुमड़ि घमंड भरे,
घाघ से घनेरे घन घोर गरजै लगे।

और देखिये—

कोकिल कदम्बन की डार पै कुहूकै कल,
कुंजन में बौरन के पुंज दरसै लगे।
बिसद बलाकन की पाँति भाँति-भाँति चारु,
चाहि चित चातक पियासे तरसै लगे।
मञ्जुल कलापिन की मण्डली भली हैं बनी,
सुखद सुसीतल समीर सरसै लगे।
चारों ओर चपला चमाकै चख चोरि-चोरि,
मन्द-मन्द बारिद के वृन्द बरसै लगे।

वर्षा की इस विलक्षण बहार को देख कर प्रकृति-परी आनन्द-मग्न हो गई है, और कोकिल, मयूर आदि हर्षावेष से नाच उठे हैं, देखिये—

मेचक चिकुर मेघ मण्डित मयंक मुख,
बिलसै बलाक हार हरि कुच कोर हैं।

झनकार नूपुर गरजि घहरात घन,
बन की छटान छहरत छिति छोर हैं।
सौरभ सुरति स्वेदबुन्द बरसत बारि,
बसुधा सुधान सींचि मोदत अथोर हैं।
प्रमदा परम परमा की पाय पावस कों
कूकि उठे कोकिल कुहूकि उठे मोर हैं।

और देखिये, नीचे लिखे पद्य में पावस और प्रमदा की कैसे सुन्दर ढंग से तुलना की गई है।

उत घनस्याम इत बाम पट सोहै स्याम,
वह अभिराम ये सुकाम सरसाकी है।
कहै 'नवनीत' रसनीति की तरंग इतै,
उतै मदमेघ इतै चंचला चलाकी है।
झुकि-झुकि झूमैं-झूमैं गरज अरज भरे,
पुरवा मचाकी इतै लंक लचका की है।
घुमड़ि घटान ही ते उमड़ि अनंग आयो,
दोऊ ओर दीसत बहार बरसा की है।

इसी भाव का कविवर तोषजी का भी पद्य पढ़ लीजिये—

जुगुनू उतै हैं, इतै जोति है जवाहिर की,
झिल्ली झनकार उतै इतै घुँघरू लरैं।
कहै कवि 'तोष' उतै चाप इतै बंक भौंह,
उतै बक पाँति इतै मोतीमाल है गरैं।
धुनि सुनि उतै सिखी नाचैं सखी नाचैं इतै,
पी करै पपीहा उतै इतै प्यारी सी करैं।
होड़ सी परी है मानों घन घनश्यामजू सों,
दामिनी कों कामिनी कों दोऊ अंक में भरैं।

जो वर्षा चराचर प्रकृति को जीवन-दान देती है, वही वर्षा विरहिणी नायिकाओं के प्राण हर लेती है। देखिये, नीचे के पद्य में व्रजगोपियाँ वर्षा के सम्बन्ध में क्या कहती हैं—

बरसत मेह नेह सरसत अंग-अंग,
झरसत देह जैसे जरत जवासौ है।
कहै 'पदमाकर' कलिन्दी के कदम्बन पै,
मधुपन कीन्हों आय महत मवासौ है।
ऊधौ यह ऊधम जताय दीजो मोहन सों,
व्रज कौ सुवासौ भयौ अगिनि अवा सौ है।
पातकी पपीहा स्वाँति बूँद कौ न प्यासो काहू
विथित वियोगिनि के प्रानन को प्यासौ है।

और देखिये, यह दूसरी वियोगिनी तो वर्षा का सारा व्यापार ही बन्द कर देना चाहती है।

आई ऋतु पावस न आए प्रान प्यारे यातें,
मेघन बरज आली गरजन लावैं ना।
दादुर हटकि बकि बकि कै न फोरैं कान,
पिकन पटकि मोहि सबद सुनावैं ना।
बिरह बिथातें हौं तो ब्याकुल भई हों 'देव'
चपला चमकि चित चिनगी उड़ावैं ना।
चातक न गावैं मोर सोर ना मचावैं घन—
घुमड़ि न छावैं जौलों लाल घर आवैं ना।

और तमाशा देखिए, अगर ये सब मना करने पर भी नहीं मानेंगे, तो फिर नायिका इन्हें बल पूर्वक रोकेगी। सुनिये–

पीव पीव करत मिलें जो मोहि आज पीव,
सोने चोंच चातक मढ़ाऊँ अति आदरन।

कठिन कलापिन के कण्ठन कटाइ डारों,
देत दुख दादर चिराय डारों दादरन।
'मोतीराम' झिल्लीगन मन्दिर मुदाइ डारों,
बधिक बुलाइ बधों बक की बिरादरन।
बिरहा की ज्वालन सों जिरह जराय डारों,
स्वासन उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरन॥

नीचे लिखे पद्य में कविवर मुबारक ने पावस का कितना सुन्दर वर्णन किया है। देखिये—

बाजत नगारे घन ताल देत नदी नारे,
झिंगुरन झाँझ मेरी भृंगन बजाई है।
कोकिल अलापचारी नीलग्रीव नृत्यकारी,
पौन बीन धारी चाटी चातक लगाई है।
मनिमाल जुगुनू 'मुबारक' तिमिर थार,
चौमुख चिराग चारु चपला जराई है।
बालम बिदेस नए दुख को जनम भयो,
पावस हमारे लायो बिरह-बधाई है॥

अब जरा पावस के अन्धकार का वर्णन भी सुनिए—

'सेनापति' उनये नये जलद पावस के,
चारि हूँ दिसान घुघरत भरे तोय के।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहू भाँति,
आए हैं पहार मानो काजर के ढोय के।
घन सों गगन छायो तिमिर सघन भयो,
देखि ना परत गयो रवि नभ खोय के।
चार मास भरि घोर निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय के।

काजल के पहाड़ जैसे काले-काले बादलों ने आकाश में घिर कर, सूर्य-मण्डल को ढाँप दिया, जिससे दिन में भी रात्रि का भ्रम होने लगा। सेनापति कहते हैं—सम्भवतः बरसात के घोर अन्धकार को रात समझ कर ही देवगण चार मास के लिए सो जाते हैं। वर्षा कालीन अन्धकार के सम्बन्ध में कविवर बिहारी का यह दोहा भी पढ़ने लायक है—

पावस निसि अँधियार में रह्यौ भेद नहिं आन।
राति द्यौस जाने परत लखि चकई चकवान॥

देखिये शङ्करजी ने पावस का वर्णन कितना स्वाभाविक और सुन्दर किया है। साथ ही पावस से हमें जो-जो शिक्षाएँ मिलती हैं, उनका भी उल्लेख आप करते गए हैं।

भूधर से जब श्याम धवल धाराधर धाये,
घूम घूम चहुँ ओर घिरे गरजे झर लाये।
वारिप्रवाह अनेक चले अचला पर दीखे,
इस विधि कुल्या कूल बहाना हम सब सीखे।
झावर झील तड़ाग नदी नद सागर सारे,
हिलमिल एकाकार हुए पर हैं सब न्यारे,
सब के बीच विराज रहा पावस का जल है,
व्यापक इसकी भाँति विश्व में ब्रह्म अचल है।

× × ×

उलहे पादप पुंज पाय सुख रस चौमासा,
केवल आक अचेत पड़े जल गया जवासा,
समझे जो प्रतिकूल सलिल मारुत पाता है,
रहता है वह रुग्ण त्याग तन मर जाता है।
अधिक अँधेरी रात झमक झींगुर झिंगारें
तिलका[1] तान उड़ाय रहे निशि अलि[2] गुञ्जारें,

१—एक चित्तीदार कीड़ा।

२—बड़ा गुबरीला।

यदि ये गाल फुलाय राग अविराम न गाते।
तो बरुआ स्वर साथ वेणु बँसुरी न बजाते।
पिस्सुक मच्छर डाँस, कूतरी खटमल काटैं,
दिन में रहैं अचेत रातभर खाल उपाटैं,
यों अविवेक प्रधान महातम की बनि आई,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह अटके दुखदाई।
दीपक पै कर प्यार प्रताप पतङ्ग दिखाते,
त्याग त्याग तन प्राण प्रीति रस रीति सिखाते,
जाना अविचल प्रेम निठुर से जो करते हैं,
वे उस प्रिय के रूप, अग्नि में जल मरते हैं।

कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का वर्षा-वर्णन भी पढ़ने लायक है।

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लग्यो बसुधा लगी सुषमा लहन॥
लहलही लहरान लागीं सुमन-बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन बृच्छ मंजुल बिपुल॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्रबधून अवली छटा मानिक बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुकुतावली।
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली॥
नील नीरद सुभग सुरधनु ललित सोभा धाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम॥
कूप कुण्ड गंभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥
रटन दादुर बिबिध लागे रुचन चातक बचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गर्जत मनहु पावस भूप को दल सकल।
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥

उर्दू के मशहूर शायर 'नज़ीर' ने बरसात का कैसा अच्छा वर्णन किया है।

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे हैं,
झड़ियों की मस्तियों से धूमें मचा रहे हैं।
पड़ते हैं पानी हरजा जल-थल बना रहे हैं,
गुलज़ार भीगते हैं सब्ज़े नहा रहे हैं॥
सब्ज़ों की लहलहाहट कुछ अब्र की सियाही,
और छा रही घटाएँ सुर्ख और सफ़ेद काही।
सब भीगते हैं घर घर ले माहताब माही,
यह रंग कौन रंगे तेरे सिवा इलाही॥
कोई तो झूलने में झूले की डोर छोड़े,
या साथियों से अपने पाँवों से पाँव जोड़े।
बादल खड़े हैं सर पर बरसे हैं थोड़े-थोड़े,
बूँदों से भीगते हैं लाल और गुलाबी जोड़े॥
गिरकर किसी के कपड़े दलदल में हैं मोअत्तर,
फिसला कोई किसी का कीचड़ में मुँह गया भर।
एक-दो नहीं फिसलते कुछ बस में आन अक्सर,
होते हैं सैकड़ों के सर नीचे पाँव ऊपर॥

हिंडोला

वर्षा-वर्णन के अन्तर्गत कवियों ने हिंडोला (झूला) वर्णन भी किया है। उसके सम्बन्ध में भी कुछ पद्य पढ़ लीजिये—

सावन की तीजें पिया भीजें वारिबुन्दन सों,
अंग अंग ओढ़नी सुरंग रंग बोरे की।
गावत मलारें धुरवान की धुकारें कहूँ,
झिल्ली झनकारें झनकरत झकोरे की।

करत बिहार दोऊ अति ही उदार भरे,
'बीर' कहै मंद सोभा पौन के झकोरे की।
झमक झरी की त्यों चमक चारु चपला की,
घमक घटा की तामें रमक हिंडोरे की॥

कवि तोषजी हिंडोले का वर्णन और ही ढंग से करते हैं, देखिए—

दोऊ मखमूल झूलि झूलें मखतूल झूला,
लेत सुख मूल कहि 'तोष' भरि बरसात।
छूटि-छूटि अलकें कपोलन पै छहरात,
फहरात अंचल उरोज द्वै उघरि जात॥
रहो-रहो नाहीं-नाहीं अब ना झुलावो लाल,
बबाकी सों मेरे ये जुगल जानु थहरात।
ज्यों ही ज्यों मचत लचकत लचकीलो लंक,
संकन मयंकमुखी अंकन लपटि जात॥

ऊपर के पद्य में तो झोटों के डर से मयंकमुखी का अंग थर-थर काँपने लगता है और वह लाल की अंक में लिपट जाती है, परन्तु नीचे के पद्य में देखिये 'भावती' कैसी निर्भीकता से पैंग बढ़ा रही है जिसे देख प्रिय दाँतों तले उँगली दबाने लगता है—

रहसि रहसि हँसि हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
लेति खरी पंगें छबि छाजै उकसन में।
उड़त दुकूल उघरत भुजमूल बढ़ी,
सुखमा अतूल केसफूल की खसन में।
अति सुकुमारि देख भये अनिमेख स्याम
रीझत बिसूर स्रमसीकर लसन में।
ज्यों ज्यों लचकीलो लंक लचकत भावती को,
त्यों-त्यों उत प्यारो गहै आँगुरी दसन में॥

अब कविवर पद्माकरजी का हिंडोला-वर्णन देख लीजिये—

तीर पर तरनितनूजा के तमाल तरे,
तीज की तयारी ताकि आई तखियान में।
कहै 'पद्माकर' सु उमंगि उमंग उठे,
मेंहदी सुरग की तरंग नखियान में॥
प्रेम रंग बोरी गोरी नवल किसोरी तहाँ,
झूलति हिंडोरे यों सुहाई सखियान में।
काम झूले उर में उरोजन में दाम झूले,
स्याम झूले प्यारी की अन्यारी अँखियान में॥

और भी देखिये—

भौंरन को गूँजिवो बिहार बन कुंजन में,
मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै 'पद्माकर' गुमान हू में मान हू में,
प्रान हू ते प्यारो मनभावनो लगत है।
मोरन को सोर घन घोर चहुँ ओरन,
हिंडोरन को बृन्द छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में,
सावन में झूलिवो सुहावनो लगत है॥

झूला के वर्णन में नीचे लिखा पद्य भी कितना सुन्दर है—

सावन तीज सुहावन को सजि सोहैं दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पदमाकर' देखे बनै कहते न बनै अनुराग अगाधा।
प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसें बरसें रस रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलत राधा॥

हिंडोले का वर्णन प्रायः सभी कवियों ने शृंगार रस में किया है, जिसके उदाहरण भी ऊपर दिये गए हैं। अब एक पद्य कविवर 'शंकर' का पढ़ लीजिये, जिसमें हिंडोले का वर्णन बीभत्स रस में किया गया है।

लम्बे लम्बे झोटन सों झूलत ही सौतिनि की,
बिरवा की डारन में पटली अटक गई।
लागत ही झटका उखर गयो आसन सो,
ताड़का सी डोरिन को पकरे लटक गई।
'शंकर' छिनार पट्ट पाथर पै छूट परी,
फाटो पेट फूटी नर पिलही पटक गई।
छूटि गई नारी सीरी पर गई सारी आज—
मर गई दारी मेरे मन की खटक गई॥

सपत्नी (सौत) के झूले पर से गिर जाने के कारण नायिका कैसी प्रसन्न हो रही है। उसके हर्ष का पारावार नहीं है। वह अपने मन की 'खटक' जाती रहने से फूली अङ्ग नहीं समा रही।

शङ्करजी का एक सवैया और देखिए, इसमें नायिका के शरीर पर ही उन्होंने पावस का प्रादुर्भाव का दिया है—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी, रजनी अँधियारी।
माल मनोहर मोतिन की उरझी उर पै कि बही सरिता री॥
दो कुच हैं, कि दुकूलन पै चकई-चक भोग रहे दुख भारी।
स्वेद चुचात कि पावस तोहि बनाय गयो घनश्याम बिहारी॥

इस प्रसंग में कृष्ण कवि का भी एक सवैया देखिए—

अम्बुद आनि दिसा विदिसा सगरे तमही को वितान सों तान्यो।
मेचक रंग बसे जगमें अति मोद हिये निसिचारिन मान्यो।
पावस के घन के अँधियार में भेद कछू न परै पहिचान्यो।
द्यौस निसा को बिबेक सु तो चकई चकवान के बोलत जान्यो॥

चकई-चकवा बोलते हैं, तभी जान पड़ता है कि अब रात है या दिन, नहीं तो पावस के उस घोर घन घटा टोप में रात-दिन का भेद ही नहीं दिखाई देता।

शरद-वर्णन

मनुष्य परिवर्तन-प्रिय प्राणी है। वह लगातार अधिक समय तक अच्छी से अच्छी चीज़ को भी देखना, सुनना या बर्तना पसन्द नहीं करता। ग्रीष्म की उत्तप्त लूओं और झुलसती भूभल जैसे धूल धक्कड़ से ऊब जाने के कारण उस समय वर्षा ऋतु कितनी सुहावनी लगती थी, परन्तु अब आप उसी वर्षा की लगातार रिमझिम और कीचड़, मच्छड़ आदि के कारण उकता गए होंगे। अच्छा अब शरद का सुहावना दृश्य देखिये—

शरद का जैसा सर्वांग पूर्ण वर्णन कविवर तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस में किया है, वैसा अन्यत्र कम मिलेगा। पहले उसे ही देखिये—

वरषा विगत शरद ऋतु आई, लक्ष्मण देखहु परम सुहाई।
फूले कास सकल महि छाई, जनु वर्षा ऋतु प्रगट बुढ़ाई।
उदित अगस्त पंथ जल सोखा, जिमि लोभहि सोखइ सन्तोषा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा, सन्त हृदय जस गत मद मोहा।
रस रस सूखि सरित सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।
जानि शरद ऋतु खञ्जन आए, पाय समय जिमि सुकृत सुहाए।
पंक न रेनु सोह अस धरनी, नीति निपुन नृप की जस करनी।
जल संकोच विकल भए मीना, विविध कुटुम्बी जिमि धन हीना।
बिनु घन निर्मल सोह अकासा, जिमि हरिजन परिहरि सब आसा।
कहुँ कहुँ वृष्टि शारदी थोरी, कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।

× × ×

फूले कमल सोह सर कैसा, निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा।
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा, सुन्दर खग रव नाना रूपा।

× × ×

चातक रटत तृषी अति ओही, जिमि सुख लहइ न शंकर द्रोही।
शरदातप निशि शशि अपहरई, सन्त दरस जिमि पातक टरई।

× × ×

भूमि जीव संकुल रहे गए शरद ऋतु पाय।
सद्‌गुरु मिले नसाहिं जिमि संशय भ्रम समुदाय॥

नीचे लिखे पद्य में भी शरद के स्वरूप का कैसा चित्रण किया गया है—

आई रितु सरद गगन विमलाई छाई,
खंजन की राजी कुंज कुंजन बसै लगी।
हरित हरित पथ पथिक सिधारे पथ,
अकथ 'मुरारि' ओज जग बिलसै लगी।
सुमन सरासन के सुमन सरासन तें,
छूटि कै सुमन सर आलिहिं गसै लगी।
तालन कमल फूले कमल बितूले अलि,
अलि पर पीतिमा पराग की लसै लगी॥

शरद के आते ही वर्षा के कारण जहाँ-तहाँ रुके हुए पथिकों ने अपना रास्ता पकड़ा। महा कवि तुलसीदास के कथनानुसार 'अगस्त' ने उदय होकर 'पंथजल' सुखा दिया, जिससे चारों दिशाओं के मार्ग कीचड़ रहित हो हरियाली से हरे भरे लगने लगे। कविवर विहारी ने यही बात थोड़े शब्दों में इस प्रकार कही है—

घन घेरो छुटिगो हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग सरद सूर नरनाह॥

शरद रूपी परम प्रतापी राजा के शासन-सूत्र हात में लेते ही बादलों के दल छिन्न-भिन्न हो गए, जगत् में सर्वत्र शान्ति विराजने लगी और चारों दिशाओं के मार्ग खुल गए। लोग प्रसन्नतापूर्वक व अपने-अपने व्यापार में लग गए।

शरद में सर-सरिताओं का नीर निर्मल हो जाता है, आकाश के निरभ्र हो जाने से चन्द्रिका अपनी पूर्ण प्रभा से चमकने लगती है। वर्षा से धुल जाने के कारण वन उपवन सब सुहावने दिखाई देने लगते हैं। सरोवरों में कमलवन फूलने और उन पर मधु-लोभी मधुकर गुंजारने लगते हैं। इन्हीं सब बातों में से एक-एक को लेकर अधिकांश कवियों ने शरद का वर्णन किया है। देखिये नीचे के पद्यों में शारदी चंद्रिका का कितना सुन्दर वर्णन है—

ग्रीषम को घाम है न घाम घनस्याम यातें,
छ्वै गई सुवान स्वेत ह्वै गई जरद की।
बीचन दरीचन के आभा है मरीचन की,
कामने निकारी कोर तीखन करद की।
फैल फैल गैलन नवीन विष फैल भरी
दोषत दुखिन दुति पारद वरद की।
गरद करी हौं दिन दरद भरी हौं सखी,
सरद परी हौं लखि चाँदनी सरद की।

और देखिये—

फूले आस पास काँस विमल विकास बास
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
राजत कमल दल ऊपर मधुप मैन,
छाप सी दिखाई छवि बिरह फरद की।
'श्रीपति' रसिक लाल आली बनमाली बिन,
कछू ना जुगुति मेरे जीय के दरद की।
हरद तमाम तन भयो है जरद अब,
करद सी लागति है चाँदनी सरद की।

देखिये कविवर पद्माकरजी शरच्चन्द्रिका का वर्णन कैसे सुन्दर ढंग से करते हैं—

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
बृन्दावन बीथिन बहार बंसीवट पै।
कहै 'पदमाकर' अखण्ड रासमण्डली पै,
मण्डित उमण्डि महा कालिन्दी के तट पै।
छिति पर छान पर छाजत छतान पर,
ललित लतान पर लाड़िली के लट पै।
आई भले छाई वह सरद जुन्हाई जिहि,
पाई छवि आजु ही कन्हाई के मुकट पै।

कविवर 'पूर्ण' जी ने शरत्कालीन निर्मल नील नभ में छिटके हुए तारकवृन्द का कितना सुन्दर वर्णन किया है। देखिये—

सरद निसा में व्योम लखि के मयंक बिन,
'पूरन' हिये में इमि कारन बिचारे हैं।
विरह जराइ अबलान को दहत चन्द,
ताते आज तापे विधि कोपे दया वारे हैं॥
निशिपति पातकी कों तम की घटान बीच,
पटकि पछारि अंग निपट बिदारे हैं।
ताते भयो चूर चूर उछिटे अनन्त कन,
छिटके सघन सो गगन मध्य तारे हैं॥

चन्द्र-शून्य आकाश में, तारों को चमकते देख कवि कल्पना करता है—"जान पड़ता है विधि ने विरहिणी बालाओं पर अत्याचार करने के अपराध में, निर्दय निशाकर को निर्मल नील नभ रूपी काले पत्थर की चट्टान पर पटक कर चूर-चूर कर डाला है। उसी के असंख्य कण जो नभोमण्डल में इधर उधर उछट गए हैं, वे ही मानो तारे हो गए हैं।"

शरद् में कवियों ने कृष्ण की रासलीला वन-विहार आदि पर भी बहुत कुछ लिखा है। रासलीला-वर्णन के भी कुछ पद्य देख लीजिये—

खनक चुरीन की त्यों ठनक मृदंगन की,
रुनुक झुनुक स्वर नूपुर के जाल को।
कहै 'पदमाकर' त्यों बाँसुरी की धुनि मिलि,
रह्यौ बँधि सरस सनाको एक ताल को।
देखत बनत पै न कहत बनत है री,
बिविध बिलास त्यों हुलास यह ख्याल को।
चन्द छबि रास चाँदनी को परिगास राधि-
का को मन्द हास रास मण्डल गोपाल को।

और देखिये रासमण्डल को देखकर चन्द्रमा भी इतना मुग्ध हो गया है कि उसने चलना तक स्थगित कर दिया—

भूल्यो गति मति चन्द चलत न एक पैंड,
प्यारे मुरलीधर मधुर कल गान की।
फूली कुसुमावलि बिविध नव कुंजन में,
सौरभ सुगन्ध छाई जात ना बखान की।
बाजत मृदंग ताल झाँझ मुँहचंग बीन,
उठत सँगीत जहाँ अति गति तान की।
आज रस रास में अनूप रूप दोऊ नचैं,
नन्दलाल लाड़िली किशोरी वृषभान की।

हेमन्त-वर्णन

हेमन्त ऋतु में शीत का प्रभाव बढ़ता जाता है, धूप और आग प्रिय लगने लगती हैं। दिन छोटे होते और रात बढ़ने लगती है। कवियों ने प्रायः इन्हीं बातों का वर्णन हेमन्त में किया है।

देखिये, कवि गिरधरदासजी हेमन्त के विषय में क्या लिखते हैं—

सूर ऐसे सूर को गरूर रूरो दूर कियो,
पावक खिलौना कर दियो है सबन को।

बातन की मार ही तें गात की भुलात सुधि,
कांपत जगत जाकी भय आन मन को।
'गिरधरदास' रात लागे काल रात की सी,
नाहीं सी लगत भूमि राखत चरन को।
आयो है हिमन्त भूमि कन्त तेजवन्त दीह
दन्तन पिसावत दिगन्त के नरन को।

हेमन्त ने सूर्य जैसे शूरवीर का भी गरूर चूर-चूर कर डाला और अग्नि सब के लिए खिलौना-सा बना दिया है। हवा लगते ही शरीर शून्य-सा हो जाता है। रात काल रात्रि जैसी प्रतीत होती है. भूमि पर पैर रक्खो तो जान पड़ता है, भूमि है हा नहीं। हेमन्त के ऐसे अत्याचार देख लोग दाँत कट-कटाकर रह जाते हैं, पर उसका कुछ प्रतीकार नहीं कर पाते। मनुष्यों की तो शक्ति ही क्या हेमन्त के भय से परम प्रतापशाली मार्तंड भी धन (स्त्री) की बगल में जा घुसा है। देखिये

बरसै तुसार बहै सीतल समीर नीर,
कम्पमान उर क्यों हू धीर ना धरत है।
राति न सिराति सरसाति बिथा बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।
'सेनापति' स्याम हौं अधीन हौं तिहारी सौंह
मिले बिन मिले सीत पार न सरत है।
और की कहा है सविता हू सीत रितु जानि,
सीत को सतायो धन[1] पास ही रहत है।

हेमन्त से त्राण पाने के लिए लोग प्रायः पाँच तकारों अर्थात् तरणि तेज (धूप) तेल, तूल. (रूई) तरुणी और ताम्बूल का सहारा लेते हैं। देखिये कविवर पद्माकर ने इसी भाव को कैसे सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है।

१—धन स्त्री और धन राशि।

अगर की धूप मृग मद को सुगन्धबर—
बसन बिसाल लाल अंग ढाँकियतु है।
कहै 'पदमाकर' सु पौन को न गौन जहाँ,
ऐसे भौन उमंगि उमंग छाकियतु है।
भोग औ, संयोग हित सुरति हिमन्त ही में,
एते और सुखद सुहाये वाकियतु है।
तान की तरंग तरुनापन तरनि तेज,
तेल तूल तरुनी तमोल ताकियतु है।

जिन लोगों को उपर्युक्त 'पंच तकार' उपलब्ध नहीं, वे बेचारे आग जलाकर उसे ही अपनी छाती से लगाए रहते हैं। भला जब शीत से भीत होकर गर्मी भी घरों के कोनों में जा छिपे, अनल निर्बल पड़ जाय और सूर्य भी ठंडा होने लगे, तब बेचारे निर्धन मनुष्यों के लिए अग्नि की शरण में जाने के अतिरिक्त अपनी रक्षा का और साधन ही क्या शेष रह जाता है।

सीत को प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ़्यो दल,
निर्बल अनल गयो सूर सियराय कै।
हिम के समीर तेई बरसें बिसम तीर,
छिपी है गरम भौन कौनन में जाय कै।
धूम नैन बहै लोग होत हैं अचेत तऊ,
हिय सौं लगाइ रहैं ंकु सुलगाइ कै।
मानों भीत जानि महा सीत तें पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यो पावक छिपाय कै।

जान पड़ता है, शीत से भीत हो शरण में आए पावक को, दरिद्र-नारायण ने अपनी छाती से चिपटा लिया है। खूब! सेनापतिजी की कैसी अनोखी कल्पना है।

हेमन्त ऋतु में रातें बड़ी क्यों हो जाती हैं, इस पर एक संस्कृत कवि की उक्ति सुन लीजिए।

अयि दिनमणिरेषः क्लेशितः शीत-सङ्घै—
रथ निशि निजभार्यां गाढमालिङ्ग्य दोर्भ्याम्।
स्वपिति पुनरुदेतुं सालसाङ्गस्तु तस्मात्,
किमु न भवतु दीर्घा हैमिनी यामिनीयम् ॥

शीत का सताया सूर्य रात्रि-समय अपनी पत्नी को गाढ़ आलिङ्गन कर सो जाता है, प्रातः उठने (उदय होने) का समय होने पर भी जाड़े के मारे अलसाया हुआ रज़ाई में लिपटा पड़ा रहता है, उठना ही नहीं चाहता। यही कारण है कि हेमन्त की रातें लम्बी हो जाती हैं।

शिशिर-वर्णन

शिशिर ऋतु में शीत अपने पूर्ण यौवन पर होता है, अतः उस समय उसका प्रभाव हेमन्त की अपेक्षा बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ा दिखाई पड़ता है। इस समय सूर्य भी चन्द्रमा का रूप धारण कर लेता है और दिन में भी रात की-सी झलक दिखाई देने लगती है। देखिये कविवर सेनापति शिशिर के सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

सिसिर में ससि को सरूप पावै सविता हू,
घाम हू में चाँदनी की दुति दमकति है।
'सेनापति' सीतलता होति है सहस गुनी,
दिन हू में रजनी की झाँई झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तचि धीर धसकति है।
चन्द के भरम मोह होत है कुमोदिनि कों,
ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकति है॥

शिशिर में सूर्य भी चन्द्र जैसा प्रतीत होने से, चक्रवाक दिन को भी रात ही मानकर अहर्निश वियुक्त ही रहे आते हैं। कुमोदिनी दिन में मुस्कराने लगती है और पंकजिनी दिन में भी नहीं खिल पाती। शिशिर-

कालीन शीत के कारण जब प्रकृति में भी इतना विपर्यय हो जाता है तो मनुष्यों की तो बात ही क्या। उनके लिये तो—

सीसा के महल बीच कहल हिमाँचल की,
पहल दुलाई बर्क चहल कसाला में।
चन्दन सौ लागत कुरंगसार अंगन में,
अनल अँगीठी जिमि बारि हौद साला में।
लागत गलीचा ऊन सीतल सिवार तूल,
दीपक नखत रघुनाथ रसथाला में।
बाला उर बीच जात माला सी जुड़ात अरु—
पाला सम लागत दुसाला सीत काला में॥

भला जिसमें कस्तूरी-लेप भी चन्दन जैसा शीतल जान पड़े, ऊनी गद्दे-गलीचे सिवार सदृश ठंडे प्रतीत हों, और दुशाला भी पाला जैसा लगे, ऐसो कड़ाके की ठंडी रात में किसका साहस है, जो रज़ाई में से निकल कर बाहर पेशाब करने भी जा सके। लेकिन आफ़त तो यह है कि जाड़ों में पेशाब की हाजत भी बहुत लगती है और उसका त्याग करने के लिए खाट से उठना ही पड़ता है। देखिये गंग कवि शिशिर की रात में लघुशंका त्याग कर आना कितनी वीरता का काम बताते हैं।

कोपि कासमीर तें चल्यौ है दल साजि वीर,
धीर ना धरत गलगाजिवे को भीम है।
सुन्न होत साँझै ते बजत दन्त आधी राति,
तीसरे पहर में दहल दै असीम है।
कहै कवि 'गंग' चौथे पहर सतावै आनि,
निपट निगोरो मोहि जानि के यतीम है।
बाढ़ी सीत संका काँपै उर है अतंका लघु—
संका के लगे ते होत लंका की मुहीम है।

वास्तव में शिशिर की रात्रि के चौथे पहर में गरमाई हुई रज़ाई के

बाहर निकल लघुशङ्का कर आना लङ्का-विजय करने से कम कठिन नहीं है।

शिशिर में शीत का ऐसा ही आतंक छा जाता है। जाड़े के भय से लोग घर से बाहर नहीं निकलते। मनुष्य ही क्यों पशु-पक्षी और वनस्पतियों तक का शीत में कैसा बुरा हाल हो जाता है, यह नीचे लिखे पद्य में पढ़िये।

नारी बिन होत नर नारी बिन होत नर,
रावि सियराति उरु लाए पयोधर में।
'बैनी कवि' सीतल समीर को सनाका सुनि,
सोवें सब साँझ ही कपाट दै सहर में।
पंछी पच्छ जोरे रहैं फूल फल थोरे रहैं,
पाला को प्रकास आस पास धराधर में।
बसन लपेटे रहैं तऊ जानु फेटे रहैं,
सीत के ससेटे लोग लेटे रहैं घर में॥

परन्तु जिन सौभाग्यशालियों के पास नीचे लिखे पद्य में वर्णित मसाले मौजूद हों, उन्हें शिशिर के पाले का कसाला कुछ भी नहीं व्यापता। सुनिए—

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनी जन हैं,
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै 'पदमाकर' त्यौं गजक गिजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं सु—
बाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं॥

इस प्रसङ्ग में माघ मास का एक साधारण किन्तु सुन्दर वर्णन और भी पढ़ लीजिये।

आयो अब माह प्यारो लागत है नाह रवि—
करत न दाह जैसे अवरेखियतु है।
कलप सी राति सो तो सोए ना सिराति,
जरा सोइ सोइ आगे पै न प्रात पेखियतु है।
जानि पै न जात बात कहत बिलात दिन,
छिन सौं न तातें तनकौ बिसेखियतु है।
'सेनापति' मेरे जान दिन हू तें राति भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियतु है॥

पवन

पवन द्वारा भी रस उद्दीप्त होता है। अधिकांश कवियों ने शीतल, मन्द और सुगन्धित तीन प्रकार के पवन का वर्णन किया है। कुछ लोगों ने पवन के तप्त: तीव्र और दुर्गन्धित ये तीन भेद और भी माने हैं। आगे छहों प्रकार के पवन का संक्षिप्त रूप में वर्णन किया जाता है।

शीतल पवन

बर्फ़, जल अथवा अन्य किसी शीतल वस्तु या स्थान के संसर्ग में होकर बहने वाले वायु को शीतल पवन कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

तुंग पयोद लसै गिरिशृङ्ग मिल्यौ चलि शीतलता सरसावत।
त्यौं तरु जूहन पै बिरमाय घने सुख साजन कों लहरावत॥
मंजु दरी निकरी जलधार बसै पुनि सीकर संग लै धावत।
ग्रीषम हू में कँपावत गात सुवात हिमाञ्चल छ्वै जब आवत॥

शीतल पवन जब गर्मियों में भी शरीर में कँपकँपी पैदा कर देता है, तब शीत काल में वह क्या दशा कर देगा इसका अनुमान कीजिये। देखिये, नीचे लिखे पद्य में कविवर सेनापति शीतकालीन शीतल पवन के सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

बरसै तुषार बहै सीतल समीर नीर,
कम्पमान उर क्यों हू धीर ना धरत है।
राति ना सिराति सरसाति बिथा बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।
'सेनापति' स्याम हौं अधीन हों तिहारी सोंह,
मिले बिन मिले सीत पार ना सरत है।
और की कहा है सविता हू सीत ऋतु जानि,
सीत को सतायो धन पास ही परत है॥

मन्द पवन

ठहर ठहर कर धीमी गति से चलने वाले वायु को मन्द पवन कहते हैं।

रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

यहाँ मन्द समीर का हाथी के रूप में वर्णन किया गया है। जिस प्रकार मत्त मतंगज मद टपकाता और घंटा घहराता मन्द गति से चलता है, उसी प्रकार कुञ्ज-समीर भ्रमरगुञ्जन रूपी घंटा-रव करता एवं मधुरस रूपी दान टपकता हुआ मन्थर गति से चला आ रहा है।

पवन मन्द गति से क्यों चलता है, इसका कारण नीचे लिखे पद्य में वर्णन किया गया है। देखिये—

गहव गुलाब मंजु मोगरे सु बन फूले,
बेले अलबेले खिले चम्पक चमन में।
भनि 'भुवनेस' बिकसाने पारिजात कुन्द,
रस सरसाने प्रति सुन्दर सुमन में।
एहो कान्ह! चारु मति वायु की बिलोकि गति,
बार-बार कारन बिचारौ कहा मन में।

बहित सुगन्ध भार मढ़ित मरन्दधार,
याही हेतु मन्द-मन्द डोलै उपवन में ॥

हे कृष्ण, तुम वायु की मन्द गति देखकर सोच में क्यों पड़ गए। उसका कारण तो स्पष्ट है। वह उपवन में खिले विविध पुष्पों के सुगन्ध-भार से भरा और मकरन्द से लदा होने के कारण धीरे-धीरे चलता है।

सुगन्धित पवन

सुगन्धयुक्त पदार्थों से संपर्क कर आने वाला वायु सुगन्धित कहाता है।

उदाहरण देखिये—

मौलसिरी मधुपान छक्यौ, मकरन्द भरे अरविन्द नहायो।
माधवी कुंज सों खाय धका फिरि केतकी पाटल कों उठि धायो।
सौनजुही मँडराय रह्यौ छिन संग लिये मधुपावलि धायो।
चम्पहि चाहि गुलाबहि गाहि समीर चमेलिहि चूमत आयो॥

इतनी सुगन्धित वस्तुओं के संसर्ग में होकर आने वाला पवन भला क्यों सुगन्धित न होगा।

तप्त पवन

सूर्य की कड़ी धूप, अग्नि अथवा अन्य किसी गरम पदार्थ को स्पर्श करके आने वाला वायु तप्त कहाता है।

उदाहरण देखिये—

ओबरीन दोबरीन तहखाने खसखाने,
आपके बचाइबे को फिरयौ मैं तरसि कै।
'रघुनाथ' की दुहाई पैयत न कहूं कल,
लागत ही बिहवल होत हौं अरसि कै।
आजु के पवन की व्यवस्था कहौ कहा कहौं,
आवतु है तरनि करनि कों गरसि कै।

मलय के साँपन के बिष कों करषि कै की,
दावा में झरसि कै की बाडव परसि कै ।।

तप्त पवन से त्राण पाने के लिए तहख़ाने और गुफ़ाओं तक में छिपता फिरा परन्तु कहीं एक क्षण के लिए भी चैन न मिला। उफ़! आज की गरम हवा का क्या बयान करूँ। ऐसा जान पड़ता है, मानो वह मलयागिरि के सर्पों का ज़हर इकट्ठा कर लाया हो, या दावानल से झुलस अथवा बड़वाग्नि को स्पर्श कर आया हो।

देखिये, कवि भुवनेशजी तप्त पवन के सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

तपत तंदूरे से हैं तहखाने खसखाने
घधकि घधकि घरा होति है अनल भौन।
पावक प्रगट 'भुवनेस' साखा चन्दन सों,
दावा लगि लगि जात बन में बचावे कौन।
ब्याकुल ह्वै जात जल थल के त्यों जीव जन्तु,
ज्वाला सों जुबान मुख बाहर करति गौन।
तापित प्रचण्ड ताप मारतण्ड मण्डल सों,
ग्रीषम में भीषम ह्वै डोलै जबै तप्त पौन।।

तीव्र पवन

बड़े वेग से बहने वाले वायु को तीव्र पवन कहते हैं।

उदाहरण देखिये—

तरु गिरि गिरि जात साखा चिरि चिरि जात,
फूल फल पत्र रहि जात नाहिं तिन में।
भनि भुवनेस चहुँ चंचला चमकि जात,
दौरि दुरि जात दल बद्दल को छिन में।
बककी जमाति मँडराति चले जात हंस,
धरि उर संक मानसर के पुलिन में।

धीर ना थिरात तन कांपि कांपि जात जब,
चलत प्रचण्ड पौन भादों के दिनन में।

दुर्गन्धित पवन

दुर्गन्ध युक्त पदार्थों से स्पर्श कर आने वाला वायु दुर्गन्धित कहाता है, जैसे—

किंसुक अलग कचनारन बिलग करि,
सोनित की लालिमा प्रसारित सघन में।
लतिका फटकि अंत्रि तन्त्रिका लपटि रहीं
सारिका निकारि घूमें गिद्धन के गन में।
ऋतुराज देत है दुहाई अवधेश ! दल—
तेरो अरिदल दलि-दलि डारो बन में।
फूलन के देस मेद मज्जा को प्रवेस त्यों,
सुगन्धन निवेस दुरगंधित पवन में॥

और भी देखिये—

देखत हौ सुचि चम्पक चारु विकासित है दमकें निज दापन।
त्यौं 'भुवनेस' सुगन्धसमूह, गुलाब प्रसून पसारत आपन।
कारन याको प्रसिद्ध बसन्त सु छायो कहा मति में सिसुतापन।
डोलै न क्यों दुरगन्धित पौन जरै बिरही गन को तन तापन॥

वन

वन की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

कहूँ अगम कहुँ सुगम है सुखद दुखद तरु होइ।
मध्यम दूरि न निकट अति जानि लेहु बन सोइ।

उदाहरण देखिये—

सीतल समीर मंद हरत मरंद बुन्द,
परिमल लीन्हे अलि कल छबि छहरत।

काम वन नन्दन की उपमा न देत बनै,
देखि कै बिभव जाको सुरतरु हहरत।
त्यागि भय भाव चहूं घूमत अनन्द भरे,
बिपिन बिहारिन पै सुखसाज लहरत।
कोकिल चकोर मोर करत चहूँधा सोर,
केसरी किसोर बन चारों ओर बिहरत॥

अब ज़रा कविवर सत्यनारायण कृत 'हिन्दी-उत्तररामचरित' में वन का वर्णन देख लीजिये—

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मद-मत्त मयूरन की धुनि छाई।
या बन में कमनीय मृगानि की लोल कलोलनि डोलनि भाई॥
सोहै सरित्तट धारि घनी जल बृच्छन की जब नील निकाई।
बंजुल मंजु लतानि की चारु चुभीली जहाँ सुषमा सरसाई॥

देखिये, कविवर श्रीधर पाठक ने भी वन-शोभा का कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

चारु हिमांचल आँचल में इक साल बिसालन को बन है।
मृदु मर्मरशालि झरें जलस्रोत हैं पर्वत ओट है निर्जन है॥
लपटे हैं लता द्रुम गान में लीन प्रवीन बिहंगन को गन है।
भटक्यौ तहाँ रावरो भूल्यौ फिरै मद बावरौ सो अलि को मन है॥

अब संस्कृत कवियों के वन-वर्णन का नमूना भी देख लीजिये।

सरोन्वितं सान्द्र वनं गिरौ गिरौ,
वने वने सन्ति रसाल पादपाः।
तरौ तरौ कोकिल काकली रवाः,
रवे रवे हर्षकरी सु माधुरी॥

पर्वत-पर्वत में सुन्दर सरोवरों से युक्त सुहावने वन हैं, और प्रत्येक वन में रसाल-पादपों की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही हैं। उन रसाल तरुओं पर भी कलकण्ठी कोकिला का कलरव सुनाई दे रहा है, जिसमें आनन्द-विभोर कर देने वाली मधुरिमा भरी हुई है।

अब जरा वन में बोलते हुए पक्षियों के कलरव का आनन्द भी लूटिए। देखिये, उसमें कितनी हृदय-हारिणी और विमुग्ध-कारिणी मधुरिमा भरी हुई है।

कीरन की भीर कामिनीन ते सहित सोहै,
गूँजि रहे भौंर गन मुनि मन हारने।
कोकिला कलापैं चित चोरत अलापैं परें,
मन की कला पै थापैं थिरता अपारने।
भनैं 'रघुराज' केकी कूकें सुनि खूकें चित,
करत चकोर चारि ओर हूँ बिहारने।
पिक की पुकारैं त्यों पपीहा की पुकारैं हिय-
हारैं बेसुमारैं पेखि पेखि देवदारने॥

उपवन

जो ग्राम या नगर के समीप हो तथा जिसमें अधिकांश फलों और फूलों के वृक्ष हों, उसे उपवन कहते हैं। उपवन प्रायःकृत्रिम होते हैं।

देखिये वनमाली (कृष्ण) ने उपवन को कितना सुन्दर बना लिया है कि वसन्त सम्पूर्ण वन-पर्वतों से सिमट कर उसी में लहराता है।

मल्ली द्रुम बलित ललित पारिजात पुंज,
मंजु बन बेलिन चमेलिन महमहात।
राजी भूमि हरित हरित तृन जालन सों,
बिच बिच खात त्यों फुहारन सों छहरात।
जित तित माधवी निकुञ्ज छाइ बीथिन में,
फटिकसिलान साजी अवनी लहलहात।
आली बनमाली उपवन चतुराई देखि,
त्यागि गिरि कानन बसन्त नित लहरात॥

परन्तु देखिये, उपवन में वसन्त-बहार आने पर विरहिणी नायिका को उसका स्वरूप कुछ और ही प्रकार का दिखाई देता है—

आब छिरकाय दै गुलाब कुन्द केवड़ा के,
चन्दन चमेली गुलदावदी निवारी में।
जूही सोनजूही माल चम्पक कदम्ब अम्ब,
सेवती समेत बेला मालती पियारी में।
'रघुनाथ' बाग के बिलोकिवो न भावे मोहि,
कन्त बिन आयो है बसन्त फुलवारी में।
भागि चलों भीतरै अनार कचनारन तैं,
आगि उठी बावरी गुलाला की कियारी में॥

विना प्राण प्यारे के नायिका को वसन्त-आगमन अच्छा नहीं लगता, अनार-कचनार और गुल्लाला के फबीले फूल उसे चिनगारी से मालूम देते हैं। अर्थात् वे आनन्द के बदले उसके दुःख का कारण बन रहे हैं।

चन्द्र

ग्वाल कवि कृत चन्द्र-वर्णन देखिये—

चम चम चाँदनी की चमक चमकि रही,
राखो है उतारि मानो चन्द्रमा चरख तें।
अम्बर अवनि अम्बु आलय बिटप गिरि,
एक ही से पेखे परें बनें न परखतें।
'ग्वाल' कवि कहै दसों दिसा ह्वै गई सफ़ेद,
खेद को रह्यो न भेद फूली हैं हरख तें।
लीपी अबरख तें कि टीपी पुंज पारदतें,
कैधों दुति दीपी चारु चाँदी के बरख तें॥

पूर्ण चन्द्र के प्रकाश मे दशों दिशाएँ ऐसी सफ़ेद हो गई हैं कि उनमें आकाश, भूमि, जल, घर, वृक्ष, पहाड़ सब एक से दीख पड़ते हैं, किसी में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चन्द्रमा का कितना सुन्दर वर्णन किया है, उसे भी पढ़ लीजिए—

परत चन्द्र प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो।
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास रमन में हरि मुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जलउर हरि मूरति बसी वा प्रतिबिम्ब दिखात है॥

यह तो हुआ शान्त जल-राशि पर पड़ते हुए चन्द्र-बिम्ब का वर्णन, अब ज़रा लोल लहरों में लहराते हुए, चन्द्र-बिम्ब का बयान भी पढ़ लीजिए। कवि की क्या हीं अनूठी कल्पना और कैसी अनोखी सूझ है।

कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्बरूप जल में बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहति इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलति कोऊ ब्रज रमनी जल आवती॥

और देखिए, नीचे लिखे पद्य में, चन्द्र द्वारा विरही जनों के सताए जाने पर उसे कैसा उपालम्भ दिया गया है।

साँझ ही ते आवत हिलावत कटारी कर,
पाय कै कुसंगति कृसानु दुखदाई को।
निपट निसंक है तजी तैं कुल कानि खानि-
औगुन को नैकऊ तुलैन बाप भाई को।
एरे मति मन्द चन्द! आवति न लाज तोहि,
देत दुख बापुरे बियोगी समुदाई को।
है कै सुधाधाम काम-बिष कों बगारै मूढ़,
है कै द्विजराज काम करत कसाई को॥

कविवर तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में चन्द्रोदय का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, उसका भी नमूना देख लीजिये—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी, परम प्रताप तेज बल रासी।
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी, ससि केसरी गगन बन चारी॥

कविवर केशवदासजी ने चन्द्रमा का वर्णन निम्न लिखे प्रकार किया है।

चन्द नहीं विष कन्द है 'केशव' राहु यही गुन लीलि न लीन्यो।
कुम्भज पावन जानि अपावन घोंखे पियो पचि जान न दीन्यो।
या सों सुधाधर शेष विषाधर नाम धरो विधि है बुधि हीन्यो।
सूर सों माई कहा कहिये जिन पाप लै आप बराबर कीन्यो॥

विधाता भी कैसा बौड़म है, जिसने इसका नाम सुधाधर रख दिया। अजी यह तो विषधर है, भयंकर विषधर। इसीलिए तो राहुने इसे खाते खाते छोड़ दिया। 'सूर' (सूर्य) तो फिर सूर (अन्धा) है, ही उससे तो कहा ही क्या जाय; उसी ने इसे साथ रखकर अपनी बराबरी का दर्जा दे दिया है।

इस प्रसंग में गंग कवि का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है।

सेत सरीर हिये बिष स्याम कला फन री मनि जानि जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटति जाहि वियोगिन ताई।
सीस तें पूँछ लौं गात गरो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।
शेष के गोत के ऐसे ही होत हैं चन्द नहीं ये फनिन्द है माई॥

अजी, यह ऊपर से देखने का ही गोरा है, हृदय में तो इसके महा भयंकर विष भरा है। वह हलाहल ही तो कलंक के रूप में चमकता है। इसकी किरणें जो वियोगियों को जलाती हैं, उसका कारण यह भीतर भरा हुआ विष ही है। अरे साहब, इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं; शेष के वंश के ऐसे ही हुआ करते हैं।

मनोवेगों के कारण रक्त-प्रवाह और श्वासोच्छ्वास-क्रिया में अन्तर पड़ने से स्वर-तन्तुओं में खिंचाव होने लगता है, जिससे स्वर-भंग हो जाता है। उदाहरण देखिए—

जाति हुती निज गोकुल को हरि आयो तहाँ लखि के मग सूना।
तासों कह्यौ 'पदमाकर' यों अरे साँवरे बावरे तैं हमैं छू ना।
आजु धौं कैसी भई सजनी उत वा विधि बोल कढ़्यौई कहूँ ना।
आनि लगायो हिये सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना॥

पद्माकरजी ने कैसी अच्छी बात कही है। गोकुल जाती हुई गोपिका को अकेली देखकर कृष्णजी ने उसे अपने हृदय से लगा लिया। फिर क्या था, प्रेमातिरेक से गोपिका का गला भर आया और उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

इसी बात को देवजी ने भी बड़ी सुन्दरता से कहा है—

परदेस ते पीतम आए री माय के आय के आली सुनाई जहीं।
कवि 'देव' अचानक चौंकि परी सुनि कै बतियाँ छतियाँ उमहीं।
तब लौं पिय आँगन आय गए घन धाय हिये लपटाय रहीं।
अँसुआ ठहरात गरो घहरात मरू करि आधिक बात कही॥

परदेश से 'पीतम' के आने की ख़बर सुनते ही नायिका के हृदय में प्रेम-पारावार उमड़ पड़ा। वह दौड़ कर प्रियतम के हृदय से लिपट गई, परन्तु गला भर आने के कारण बड़ी कठिनाई से थोड़ी सी बात कह सकी।

स्वर-भंग के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा भी बड़ा सुन्दर है—

हौं जानत जो नहिं तुम्हैं बोलत अध अखरान।
संग लगे कहुँ और के करि आए मदपान॥

अरे तुम कहीं और के साथ जाकर मदपान कर आए मालूम होते हो, इसी से पूरी बात भी नहीं कह पाते, अस्पष्ट-सा कथन करके चुप हो जाते हो।

कम्प या वेपथु

काम. क्रोध, भय, हर्ष व्याधि आदि से उत्पन्न अकस्मात् शरीर-कम्प का नाम वेपथु है। हर्ष-विषाद आदि की अधिक उत्तेजना के कारण स्नायविक शक्ति का प्रवाह रुक जाता है, जिससे मांस-पेशियाँ शिथिल होकर कम्प उत्पन्न कर देती हैं।

मतिरामजी का नीचे लिखा कम्प सम्बन्धी सवैया देखिए—

चन्द्रमुखी अरविन्द की मालनि गूँथति रूप अनूप बिगारेउ।
काम स्वरूप तहाँ 'मतिराम' अनन्द सों नन्दकुमार सिधारेउ।
देखत कम्प छुट्यौ तिहि के तन यों चतुराई कै बोल उचारेउ।
सीरे सरोज लगे सजनी कर कम्पत जात न हार सँवारेउ॥

चन्द्रमुखी बड़े मज़े में बैठी-बैठी कमल-पुष्पों की माला बना रही थी, इतने ही में वहाँ नन्दकुमार के पहुँच जाने से, हर्षाधिक्य के कारण उसके शरीर में कम्प होने लगा। परन्तु वह भाव को छिपा गई और कहने लगी—कमल के फूल कितने ठंडे हैं, कि उनकी सर्दी से हाथ काँपने लगे, माला गूँथना भी कठिन हो गया।

इसी सम्बन्ध में रसखानजी का सवैया भी कैसा सुन्दर है। देखिए—

पहले दधि लैगई गोकुल में चख चार भए नटनागर पै।
'रसखानि' करी उन चातुरता कहै दान दै दान खरे अर पै।
नख ते सिख लौं पट नीले लपेटे लली सब भाँति कँपै डरपै।
मनु दामिनि सावन के घन में निकसै नहिं भीतर ही तरपै॥

नटनागर द्वारा दान माँगने का आग्रह करने पर जब नीलवसना ग्वालिनि मारे डर के थरथराने लगी तब ऐसा प्रतीत होता था, मानो सावन के बादलों में भीतर ही भीतर बिजली तड़प रही हो।

वैवर्ण्य

हर्ष, विषाद, मोह, भय, लज्जा, आश्चर्य, क्रोध आदि कारणों से चेहरे

का रंग बदलना या कान्ति-विपर्यय वैवर्ण्य कहाता है। लज्जा, विषाद आदि मनोवेगों के कारण रुधिर-वाहिनी नाड़ियों के संकुचित, शिथिल, या स्नायुओं के उत्तेजित हो जाने से चेहरे पर रुधिर न्यूनाधिक मात्रा में पहुँचता है, जिससे उसका रंग फीका या अधिक लाल दिखाई देने लगता है; यही वैवर्ण्य है।

वैवर्ण्य के उदाहरण में कवि कालिदास का निम्नलिखित कवित्त कितना उत्कृष्ट है—

चलिये गोविन्द चन्द चन्दबदनी के पास,
'कालिदास' आसरो घरी न पल आधे को।
तुम्हैं देखि पावै सुख पावै बहु भाँति ताहि,
दीजै नैकु निरखि नतीजा नेह नाधे को।
देखत सखीन के सु-खीन करि डारी कान्ह,
दीह दुख पायो बिरहानल के दाधे को।
पीरो परो बदन सदन चलि देखो स्याम,
मदन सुनार हर्‍यौ सुबरन राधे को॥

विरहिणी राधिका विरहानल में विदग्ध हो रही है, इस बात का भरोसा नहीं है कि वह घड़ी भर जीवित रहेगी या पल भर। प्राण निकलने को ही हैं। दुःख के मारे उसका सारा शरीर पीला पड़ गया है। कामदेव रूपी स्वर्णकार ने उसका सु-वर्ण रूपी सारा सुवर्ण हर लिया है। अब वह पहचानी तक नहीं जाती। गोविन्द ऐसी दशा में तुम उसके पास चलो, तुम्हैं देखकर वह हरी हो जायगी—हर्षित हो उठेगी। 'नेह नाधे' का कुछ तो ख़्याल करो।

इस विषय में पद्माकरजी का सवैया भी पढ़ लीजिये।

सापने हू न लख्यो निसि में रति भौन ते गौन कहूँ निज पीको।
त्यौं 'पदमाकर' सौति संजोग न रोग भयो अनभावतो जी को।
हारन सों हहरात हियो मुकता सियरात सुबेसर ही को।
भावते के उर लागी जऊ तऊ भावती को मुख ह्वै गयो फीको॥

ऊपर के पद्य में भावते के हृदय से लगी रहने पर भी भावती का मुख विवर्ण हो जाने का वर्णन है।

वैवर्ण्य के सम्बन्ध में मतिरामजी का निम्नलिखित कवित्त भी बड़े ग़जब का है।

छल सों छबीली कों सहेलिन लिवाइ कर,
ऊपर अटारी रूप रच्यौ जाइ ख्याल को।
कवि मतिराम भूषणन की झनक सुनि,
चाहि भौ चपल चित रसिक रसाल को।
आली चलीं सकल अलोक मिसु करि करि,
आवत निहारि कर मदन गुपाल को।
लालन को इन्दु सो बदन अवलोकि अर—
विन्द सो बदन कुम्हिलाय गयो बाल को॥

नन्द-नन्दन मदनगोपाल के अचानक सखी के पास अटारी में पहुँच जाने के कारण बाला सहम गई, और उसका अरविन्द-सा विकसित मुख लाल का मुख-चन्द्र देखकर कुम्हला गया।

इस प्रसङ्ग में नीचे लिखा दोहा भी बड़ा सुन्दर है—

कहि न सकत कछु लाज ते अकथ आपनी बात।
ज्यों ज्यों निशि नियरात है त्यों त्यों तिय पियरात॥

रात ज्यों-ज्यों नज़दीक आती जाती है, त्यों-त्यों लज्जा और भय के कारण नायिका का शरीर पीला पड़ता जाता है।

अश्रु

हर्ष, विषाद, भय, भक्ति, क्रोधादि से उत्पन्न नेत्र-जल को अश्रु कहते हैं। अश्रुओं से हर्ष विषादादि मानसिक भावों का पता लगता है। विशेष दशाओं में आँसुओं से सौन्दर्य की वृद्धि भी मानी गई है। एक विद्वान्

का कथन है कि सुन्दरी की मुस्कान की अपेक्षा उसके आँसुओं में अधिक माधुर्य और आकर्षण होता है।

कुछ मनोविकारों के कारण अश्रु-कोष सम्बन्धी स्नायुओं को ऐसी उत्तेजना मिलती है, कि आँखों के पास वाली पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं जिससे आँसू निकल पड़ते हैं।

आँसुओं के सम्बन्ध में पद्माकरजी का नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है।

भेद बिन जाने एती बेदना बिसाहिबे को
आजु हौं गई ही बाट बंसीवट बारे की।
कहै 'पदमाकर' लटू है लोट पोट भई,
चित्त में चुभी जो चोट चाह चटवारे की।
बावरी लौं बूझति बिलोकति कहा तू बीर,
जाने कोऊ कहा पीर प्रेम घट बारे की।
उमड़ि उमड़ि बहि बरसै सुआँखिन है,
घट में बसी जु घटा पीत पट बारे की॥

अरी, आज मैं वंशीवट क्या गई, एक आफ़त मोल ले आई। वंशी वाले की वंशी की मीठी तान सुनकर लोट-पोट हो गई। उसी चटोर की चाह चित्त में चुभ गई है। उसी पीत पट वाले की घटा मेरे घट में कुछ ऐसी बस गई है कि वही उमड़-उमड़ कर आँखों के रास्ते बरसती रहती है। अश्रुओं का कैसा सुन्दर तथा काव्य-मय वर्णन है।

अश्रु के उदाहरण में कविवर मतिराम की उक्ति भी सुन लीजिये।

बैठे हुते लाल मनमोहन बिलोकि बाल,
छिनक सकोच राख्यौ गुरुजन भीर को।
कवि 'मतिराम' दीठि और की बचाइ देखै,
देखत ही औरै भई राखे अब धीर को।

तन की खबर भूली खान अरु पान सब,
आँखिन में छायो पूर आनँद के नीर को ।
उमँगि हिये तें आयो प्रेम को प्रवाह तातें,
लाज गिरि परी जैसे तरुवर तीर को ॥

मनमोहन को देख कर बाला सारी सुध-बुध भूल गई । आनन्द के मारे उसकी आँखों में आँसू छलछला आए । हृदय से प्रेम-पयस्विनी उमड़ पड़ी । जिस प्रकार नदी-नालों में बाढ़ आने से उनके किनारे के दरख्त गिर जाते हैं, उसी प्रकार स्नेह-सरिता के प्रबल प्रवाह से लाज का पेड़ गिर गया, अर्थात् बाला के आँसुओं ने उसके मनमोहन पर मुग्ध होने के रहस्य का भण्डा फोड़ कर दिया ।

कविवर देवजी आँसुओं का कैसा वर्णन करते हैं सुनिये—

सखी के सकोच गुरु सोच मृगलोचनि—
रिसानी पियसों जो उन नैक हँसि छुओ गात ।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए यहि—
सिसकि सिसकि निसि खोई रोइ पायो प्रात ।
को जाने री बीर बिन बिरही बिरह बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात ।
बड़े बड़े नैनन सो आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात ॥

सखियों और बड़े बूढ़ों के सामने गात छूने के कारण नायिका ने प्रिय को झिड़क दिया, जिससे वह उठ गया । फिर क्या था, रात-भर वह अपनी करनी के लिए सिसक-सिसक कर रोती और पछताती रही । आँखों से आँसू बहते रहे । उस समय ऐसा मालूम होता था कि आँखों से आँसू नहीं निकल रहे, वरन् उसका ओले जैसा शुभ्र मुखमण्डल गलगल कर बह रहा है ।

आँसुओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित उत्तम दोहे भी पढ़ने लायक हैं—

नभ बिमान उतरत भरत इकटक रहे निहारि।
बिछुरन अनल बुझाइबे भरो बिलोचन बारि॥

× × × ×

जिनमें निसिदिन बसतु हौ तुम घन सुन्दर नाह।
क्यों न चलै तिय दृगनितें बहत बारि परवाह॥

× × × ×

रहिमन अँसुआ नयन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारौ गेह ते कस न भेद कहि देई॥

× × × ×

बिन देखे दुख के चले देखे सुख के जायँ।
कहौ लाल इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहरायँ॥

आँसुओं के वर्णन में कविरत्न सत्यनारायनजी की भी निम्न लिखित पंक्तियाँ पढ़ लीजिए, कैसी सुन्दर और आकर्षक हैं—

तुव नयन सन टपकत टपाटप यह लगी अँसुवन झड़ी।
बिखड़ी खड़ी भुअ पै परी जनु टूटि मुतियन की लड़ी।
रोकत यदपि बलसों बिरह की बेदना उर तउ भरै।
जब अधर नासापुट कँपहिं अनुमान सों जानी परै॥

बिहारी का दोहा देखिए—

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरायँ।
अँसुआ परि छतियाँ छनक छनछनाय छपि जायँ॥

आँसुओं के सम्बन्ध में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है।

गोपिन के अँसुआन के नीर जे मोरी बहे बहिकै भये नारे।
नारे भये नदिया बढ़िकै नदिया नद ते भये फाट करारे।
बेगि चलो तो चलो उतको कवि 'तोष' कहे ब्रजराज दुलारे।
वे नद चाहत सिन्धु भये पुनि सिन्धु ते हौहैं जलाहल सारे॥

महाकवि सौदा की उक्ति सुनिए—

समुन्दर कर दिया नाम उस का नाहक सब ने कह कह कर।
हुए थे जमा कुछ आँसू मेरी आँखों से बह बह कर॥

महाकवि सूरदासजी ने आँसुओं का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

जब जब पनघट जाँऊ सखीरी वा जमुना के तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैननि के नीर।
इन नैननि के नीर सखीरी, सेज भई घिरनाउँ।
चाहति हौं ताही पै चढ़िकै हरिजू के ढिग जाउँ।

आँसुओं के समुद्र को सेज की 'घिरनी' पर चढ़कर पार करते हुए 'हरिजू' के पास जाना कैसी अद्‌भुत सूझ है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री नाथूराम माहौर ने आँसुओं का कैसा सुन्दर वर्णन किया है। आप के अप्रकाशित 'अश्रुमाल' काव्य से कुछ पद्य यहाँ दिए जाते हैं।

अश्रु किधौं उमड़े घन-से घिरि आए बुझावन कों बिरहागिनि।
मीन किधौं सुत सीप के गोय रहीं हिय हार सनेह के तागन।
कंज किधौं मकरन्द के बुन्द रहे सरसाय मलिन्द के भागन।
कै अँखियान के लाल सखी खुल खेल रहे अँखियान के आँगन॥

प्रिय के सुभ आगम में अँसुआ प्रगटे छबिरासि निहारती हैं।
कर प्यार अपार दुलारती हैं सिसुनेह की जोति उजारती हैं।
मुतिया इन्हैं जानि अजान कहूँ चुगि जायँ न हँस बिचारती हैं।
यहि ते अँखिया निज लालन कों नहिं गोद ते नीचे उतारती हैं॥

गंग सी तुंग तरंग उठें सित ओज भरीं ससि जोति बिभंजन।
लालिमा लोचन लौनी लसै बिलसै है सरस्वति सी मन-रंजन।
सूर-सुता सम दृश्य दिखाय दियो अँसुआन ने धोय कै अंजन।
मानहु प्रेम-प्रयाग के तीरथ-संगम माँहि करैं दृग मंजन॥

उर्दू के किसी कवि ने आँसुओं के सम्बन्ध में कैसी अच्छी शेर लिखी है—

तुझ बिन ज़बस कि पानी जारी किये है रोकर,
चश्मों से मैं अब अपने बैठा हूँ हाथ धोकर।

कविवर प्रसादजी ने आँसुओं के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है।

जो घनी भूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।

अब जरा हरिऔधजी का आँसू-वर्णन भी पढ़ लीजिए।

आँख का आँसू ढलकता देखकर, जी तड़प करके हमारा रह गया,
क्या गया मोती किसी का है बिखर, क्या हुआ पैदा रतन कोई नया।
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ीं, या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ,
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी, खेलती हैं खञ्जनों की लड़कियाँ।
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा, फूट करके वह अचानक बह गया,
हाय! था अरमान जो इतना बड़ा, आज वह कुछ बूँद बन कर रह गया।

प्रलय

किसी कार्य में तल्लीन होकर सुध-बुध भूल जाना, अथवा सुख-दुख या भय के कारण पूर्व दशा की स्मृति, चेष्टा तथा ज्ञान का नष्ट हो जाना प्रलय कहाता है।

सुख, दुःख, भय आदि सम्बन्धिनी अत्यधिक उत्तेजना के कारण मस्तिष्क की स्वाभाविक क्रिया में अन्तर पड़ जाता है, जिससे वह ठीक-ठीक काम नहीं कर पाता, और मनुष्य को कुछ सुध-बुध नहीं रहती।

स्तम्भ और प्रलय में इतना अन्तर है कि उसमें शारीरिक क्रियाएँ स्तब्ध होती हैं और इसमें मानसिक।

प्रलय के सम्बन्ध में मतिरामजी का निम्नलिखित उदाहरण पढ़िए—

जा दिन तें छवि सों मुसक्यात कहूँ निरखे नन्दलाल बिलासी।
ता दिन तें मनही मन में 'मतिराम' पिये मुसक्याति सुधा-सी।

नेकु निमेष न लागत नैन चकी चितवै तिय देव तिया सी।
चन्द्रमुखी न हलै न चलै निरवात निवास में दीपशिखा सी॥

जिस दिन से मुस्कराते हुए नन्दलाल देखे हैं, उस दिन से उस गोप-वधू की दशा ही कुछ और हो गई है। मन ही मन वह उनकी रूप-सुधा का पान करती रहती है। पल को भी उसके पलक नहीं लगते। देव-तियाओं की भाँति वह इक टक टकटकी लगाकर देखती रहती है। वायु से सुरक्षित दीप-शिखा की तरह न वह हिलती है न डुलती है।

प्रलय के उदाहरण में देवजी का निम्नलिखित सवैया भी बड़ा सुन्दर है।

गोरी गुमान भरी गजगामिनी कालि घौं को वह कामिनी तेरे।
आइ जु ती सुचि तैं मुसिक्याइ कै मोहि लई मनमोहन मेरे।
हाथ न पायँ हलें न चले अँग नीरज नैन फिरैं नहिं फेरे।
'देव' सो ठौर ही ढाड़ी चितौति लिखी मनो चित्र विचित्र चितेरे॥

प्रलय के सम्बन्ध में नीचे लिखे, दोहे भी पढ़ने लायक़ हैं—

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा शील निधान।
देखि भानु कुल भूषणहिं बिसरा सखिन अपान॥

× × × ×

दै चख चोट अँगोट मग तजी जुवति बन माहिं।
खरी बिकल कब की परी सुधि सरीर की नाहिं॥

जृम्भा

किसी किसी ने जृम्भा अर्थात् बियोग, आलस्य मोह या भयवश बार-बार मुँह खोल कर दीर्घ श्वास-निःश्वास लेने-त्यागने को भी सात्विक भावों में माना है।

विषादादि के कारण रुधिर-वाहिनी नाड़ियों के सिकुड़ने पर, निःश्वास की गति कुछ मन्द पड़ जाती है। उस समय प्राणप्रद वायु की अधिक

आवश्यकता पड़ती है। इसी के लिए मनुष्य गहरे श्वास के रूप में जम्हाई लेने लगता है।

जम्हाई के उदाहरण में मतिरामजी का निम्नलिखित कवित्त कैसा अच्छा है।

केलि करि सारी राति प्रात उठी अलसात,
नींद भरे लोचन युगल बिलसत हैं।
लाजनि तें अंगनि दुरावति है बार बार,
खेंचि कर बसन बिहारी बिहँसत है।
कवि 'मतिराम' आई आलस जम्हाई मुख,
ऐसी मनभावती की छबि सरसत है।
अरुन उद्द्योत मानो सोभा के सरोवर में,
सोभामान सोभा को सरोज बिकसत है॥

केलि के पश्चात् नायिका का शरीर अलसाया हुआ-सा है। उसे जम्हाइयाँ आ रही हैं। उस समय बार-बार मुँह खोल कर जम्हाई लेने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रातःकाल सूर्योदय के समय सौन्दर्य के सरोवर में सुन्दर शोभा का कमल विकसित हो रहा है।

इस प्रसंग में पदमाकरजी का नीचे लिखा सवैया भी बड़ा सुन्दर है।

आरस सों रस सों 'पदमाकर' चौंकि परे चख चुम्बन के किये।
पीक भरी पलकें झलकें अलकें झलकें छबि छूटि छटा लिये।
सो सुख भाखि सकै अब को रिसकै कसिकै मसकै छतियाँ छिये।
राति की जागी प्रभात उठी अँगिरात जम्हात लजात लगी हिये॥

इस सवैया में भी रति-जनित आलस्य के कारण नायिका के अँगड़ाइयाँ और जम्हाइयाँ लेने का वर्णन है।

कायिक अनुभाव

मनोभावों के अनुसार आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर के अंगों द्वारा

की जाने वाली कटाक्ष आदि चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं। जैसे—

मन्द ही मन्द अनन्दति सुन्दरी जाति हुती अपने कहुँ नाते।
आगे सबै गुरु नारि हुतीं हरुए हरि बात कही इक घाते।
हाथ उठाइ छुई छतियाँ मुसक्याइ कै जीभ गही दुहु दाँते।
बैनन ही कह्यौ हे जगदीस सु नैनन ही कह्यौ जाहु इहाँते॥

आनन्द में मग्न सुन्दरी धीरे-धीरे कहीं अपनी नातेदारी में जा रही थी। आगे आगे बड़ी-बूढ़ी चल रही थीं, इसी समय एक ओर से मनमोहन ने धीरे से कुछ बात कही। कृष्ण की बात सुन सुन्दरी ने हाथ ऊँचे करके अपनी छाती का स्पर्श किया और फिर वह दाँतों में जीभ दाबकर मुस्करा दी। इसके अनन्तर हे जगदीश कह कर (दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए) नेत्रों के संकेत मे ही कृष्ण से कह दिया कि यहाँ ठहरना ठीक नहीं, अब चले जाइये (सुन्दरी ने किस अभिप्राय से क्या संकेत किया इसके स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है)। यहाँ सुन्दरी का अंगों का स्पर्श करना, दाँतों में जीभ दबाना, मुस्कराना, तथा सैनों से संकेत करना आदि कायिक अनुभाव हैं।

मानसिक अनुभाव

अन्तःकरण की भावना के अनुसार मन-मानस में, आमोद-प्रमोद, हर्ष-विषादादि की जो तरंगें उठती हैं, उन्हें मानसिक अनुभाव कहते हैं।

उदाहरण देखिए—

आवत कदम्ब कुसुमन को पराग पूरि,
सीरी पौन लहलही ललित लतान की।
घोरें घन घेरि घेरि पावस अँधेरी पिक-
केकिन की टेर गनि अरि होत प्रान की।
ऐसे समै कुंज भौन आनँद उछाह बाढ़े,
ठाढ़े ढिग ललन मनोरथ न मान की।

सोहन सँचाई बात करत रचाई दोऊ,
छबि सों बचाई छींटें ओट छतनान की ॥

उपर्युक्त कवित्त में पावस की अँधेरी रात में, जब घन उमड़-घुमड़ रहे हैं, लहलहा ललित लताओं को छूती हुई ठंडी हवा आ रही है, मोर पपीहा बोल रहे हैं, ऐसे समय में नायक-नायिका दोनों बड़े आनन्द और उत्साह से प्रेमालाप कर रहे हैं।

आहार्य अनुभाव

भाँति-भाँति के वेश धारण को आहार्य अनुभाव कहते हैं। लीला, हाव और आहार्य अनुभाव में इतना अन्तर है, कि पहले में नायक,-नायिका दोनों एक साथ रूप बदलते हैं और दूसरे अर्थात् आहार्य अनुभाव में कोई एक ही वेश बदलता है।

आहार्य अनुभाव के उदाहरण में श्रीधर कवि का पद्य देखिए—

स्याम रंग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर,
पीत पट धारि बानी मधुर सुनावेगी।
जरकसी पाग अनुराग भरि सीस बाँधि,
कुण्डल किरीट हू की छबि दरसावेगी।
याही हेत खरी अरी हेरति हौं बाट बाकी
कैयो बहुरूपि हू को 'श्रीधर' भुलावेगी।
सकल समाज पहचानेगो न केहू भाँति
आज वह बाल ब्रजराज बनि आवेगी॥

उपर्युक्त कवित्त में किसी गोप-बाला द्वारा ब्रजराज का स्वाँग भरे जाने का वर्णन है। वह गोपी साँवली सूरत बना, पीत पट, किरीट, कुण्डल और पगड़ी पहन मधुर मुरली बजाती हुई श्रीकृष्ण का इतना अच्छा वेश धारण करके आवेगी, कि कोई उसे पहचान भी न सकेगा। सखी कहती है, कि मैं उसी की प्रतीक्षा में यहाँ खड़ी हूँ।

*

संचारी या व्यभिचारी भाव

परिभाषा

संचारी शब्द सम् उपसर्ग और चर धातु से बना है। इसका अर्थ है—सब भावों को भले प्रकार रसत्व की ओर ले जाने वाला, अथवा साथ साथ चलने वाला। अर्थात् जो भाव स्थायी भावों में विद्यमान रह कर, या उनके साथ-साथ चल कर, उन्हें उपयोगी एवं पुष्ट बनाते—रस रूप तक पहुँचाते, और जल-तरंगवत् उन्हीं में उत्पन्न होकर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। संचारी भाव ध्वनि रूप से स्थायी भावों के सहायक और पोषक होते हुए भी, उनमें रस-सिद्धि-काल तक स्थिर नहीं रहते। वे तो चपला की तरह सब रसों में अस्थिरतापूर्वक संचार किया करते हैं। इसीसे उन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा गया है। अन्तःसंचारी या मनःसंचारी भी इनकी संज्ञा है।

साहित्यदर्पण-कार ने संचारी भाव की निम्न प्रकार परिभाषा की है—

> विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
> स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥

अर्थात्—स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भावों में उन्मग्न-निर्मग्न (आविर्भूत तिरोभूत) होकर निर्वेदादि भाव अनुकूलता से व्याप्त होते हैं। अतएव विशेष रूप से आभिमुख्य चरण के कारण इन्हें व्यभिचारी कहते हैं।

रसतरंगिणीकार के मत में संचारी भाव वह है, जो एक में से दूसरे रस में, दूसरे में से तीसरे और तीसरे में से चौथे रस में, इसी प्रकार अनेक रसों में संचरण करे, तथा अनेक रसों में स्थिर रहे और जिसकी अनेक रसों में व्याप्ति होती हो।

संचारी भाव तेतीस हैं, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं।

१—निर्वेद, २—ग्लानि, ३—शंका, ४—असूया, ५—मद, ६—श्रम, ७—आलस्य, ८—दीनता (दैन्य), ९—चिन्ता, १०—मोह, ११—स्मृति, १२—धृति, १३—व्रीड़ा, १४—चपलता, १५—हर्ष १६—आवेग, १७—जड़ता, १८—गर्व, १९—विषाद, २०—औत्सुक्य २१ निद्रा, २२—अपस्मार, २३—स्वप्न, २४—विवोध २५—अमर्ष, २६—अवहित्था, २७—उग्रता, २८—मति, २९—व्याधि, ३०—उन्माद, ३१—मरण, ३२—त्रास, ३३—वितर्क।

दास कवि ने उपर्युक्त तेतीस संचारी भावों का उदाहरण एक ही कवित्त में दिया है, देखिये—

सुमिरि सकुचि न थिराति सकि त्रसति,
तरति उग्र बानि सगलानि हरखाति है।
उनींदति अलसाति सोवति सधीर चौंकि,
चाहि चित स्रमित सगर्व अनखाति है।
'दास' पिय नेह छिन छिन भाव बदलति
स्यामा सबिराग दीन मति कै मखाति है।
जल्पति जकाति कहरति कठिनाति माति,
मोहति मरति बिललाति बिलखाति है॥

× × × ×

नायक कवि ने संचारी भावों को रामचरित मानस के उदाहरण देकर बड़ी ही सुन्दर और सरल रीति से समझाया हैं। संचारी भाव से क्या अभिप्राय है, यह बात इन उदाहरणों से अच्छी तरह अवगत हो जाती है, देखिए—

(१) निर्वेद—अब प्रभु कृपा करहु इहि भाँती।
सब तजि भजन करौं दिन राती॥

(२) ग्लानि — मन ही मन मनाय अकुलानी।
(३) शंका—शिवहिं बिलोकि सशंकेउ मारू।
(४) असूया — तव सिय देखि भूप अभिलाषे।
कूर कपूत मूढ़ मन माषे ॥
(५) मद— रण मद मत्त निशाचर दर्पा।
(६) श्रम—थके नयन रघुपति छबि देखी।
(७) आलस्य - अधिक सनेह देह भई भोरी।
(८) दैन्य—पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
(९) चिन्ता—चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृप किशोर मन चीता ॥
(१०) मोह—लीन्हि लाय उर जनक जानकी।
(११) स्मृति—सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
(१२) धृति—धरि बड़ि धीर राम उर आनी।
(१३) व्रीड़ा —गुरुजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि।
(१४) आवेग—उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहु निषंग धनु तीरा ॥
(१५) चपलता — प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल।
(१६) जड़ता—मुनि मग माँझ अचल हुइ वैसा।
पुलक शरीर पनस फल जैसा ॥
(१७) हर्ष—हरषि राम भेंटेउ हनुमाना।
(१८) गर्व—रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ।
भूलि कुमारग देहिं न पाऊ।
(१९) विषाद—सभय हृदय बिनवति जेहि तेही।
(२०) निद्रा—रघुवर जाइ शयन तब कीन्हा।
(२१) अमर्ष—जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।
(२२) औत्सुक्य —जनु तहँ बरसि कमल सित स्रेनी।

(२३) अपस्मार—चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
(२४) स्वप्न—जागी सीय स्वप्न अस देखा।
(२५) विबोध—प्रात पुनीत काल प्रभु जागे।
(२६) उग्रता—एक बार कालहु किन होई।
(२७) मरण—राम राम कहि राम कहि बालि कीन्ह तनु त्याग।
(२८) मति—प्रभु तन चितै प्रेम प्रन ठाना।
(२९ व्याधि—अति परिताप सीय मन माँही।
(३०) अवहित्थ—तनु सकोच मन परम उछाहू।
(३१) उन्माद—अहह तात दारुण हठ ठानी।
(३२) त्रास—भयो बिलम्ब मातु भय मानी।
(३३) वितर्क—सो सब कारण जान बिधाता।

संचारी भाव की परिभाषा करने तथा तेतीसों संचारियों के संक्षिप्त उदाहरण देने के अनन्तर अब हम प्रत्येक संचारी भाव पर पृथक्-पृथक् विस्तार पूर्वक विचार करते हैं।

निर्वेद

आपत्ति ईर्ष्या, इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, वियोग दारिद्रय आदि के कारण या तत्वज्ञान द्वारा क्षणिक विषय भोगों और अनित्य सांसारिक सुखों से उपराम होकर मनुष्य अपने आप को धिक्कारने लगता है तो उस अवस्था का नाम निर्वेद है। वैराग्य से उत्पन्न होने पर निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव होता है, परन्तु इष्ट-हानि आदि कारण-जनित निर्वेद करुण, शृंगार, बीभत्स आदि में संचारी भाव बनकर संचरण करता है।

दीनता, चिन्ता, अश्रुपात, विवर्णता, आकुलता, दीर्घ श्वासोच्छ्‌वास आदि इसके लक्षण हैं।

महाकवि देव का निर्वेद सम्बन्धी उदाहरण आगे दिया जाता है।

ऐसो जो हों जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ पाय तेरे तोरतो।

आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चञ्चल अचल करि,
चाबुक चितावनिन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो।

महाकवि देव ने इस छन्द में विषय-वासना में लिप्त अपने मन का तिरस्कार करते हुए उसे बुरी तरह धिक्कारा है। वे कहते हैं कि, मनीराम! अगर यह मालूम होता कि उद्दिष्ट पथ को त्यागकर तुम सांसारिक विषय-भोगों की ओर दौड़ोगे तो मैं तुम्हारे हाथ-पाँव तोड़े बिना न रहता। चेतावनियों के चाबुक मार-मार कर तुम्हारी सारी चञ्चलता भगा देता, और तुम्हें एकाग्रता के खूँटे से बाँध कर ही दम लेता। और नहीं तो तुम्हारे गले से भगवद्भक्ति का भारी भार बाँध कर तुम्हें आनन्द कन्द श्री व्रजचन्द्र के प्रेम-पयोनिधि में डुबो देता।

निर्वेद का कैसा सुन्दर उदाहरण है। इससे बढ़कर विषय-विरक्ति और क्या हो सकती है। इसी सम्बन्ध में महाकवि सूरदास का निम्न लिखित पद भी पढ़ने योग्य है।

तजौ मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजति है परत भजन में भंग।
कहा होत पय पान कराये बिष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खय छंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥

इस पद में सूरदासजी ने स्वानुभूति द्वारा उपदेश दिया है, कि जो

लोग भगवान् के भक्त नहीं हैं, उनका सम्पर्क भी अधोगति-गर्त में गिराने वाला है। अतः भूल कर भी उनका संग न करना चाहिये। इसी भाव को कविवर रसखान ने नीचे लिखे सवैये में बड़ी सुन्दरता पूर्वक व्यक्त किया है, देखिए—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारों।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारों।
नैनन सों 'रसखानि' कबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारों।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों॥

× × × ×

निम्नलिखित श्लोक पश्चात्ताप जन्य निर्वेद का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

मृत्कुम्भ बालुका रन्ध्र पिधान रचनार्थिना।
दक्षिणावर्त शंखोऽयं हन्त! चूर्णी कृतो मया॥

अरे इस मिट्टी के घड़े के पेंदे में छेद हो गया था, तो हो जाता। उस को बन्द करने के लिये इधर-उधर से लाकर कोई कंकड़ी लगाई जा सकती थी। परन्तु हाय! मेरी मति उलटी होगई। मैंने तो अपना बहु-मूल्य दक्षिणावर्त शंख फोड़ कर, उसकी कंकड़ी से इस तीन कौड़ी के घड़े की रक्षा की। इससे अधिक और मेरी मूर्खता क्या हो सकती है!!

ग्लानि

क्षुधा, पिपासा, वमन, विरेचन, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मनस्ताप, अति मद्यपान, अति मैथुन, अति परिश्रम, अधिक मार्ग चलने आदि से शरीर और मन में जो निर्बलता, विकलता या असहनशीलता उत्पन्न होती है, उसे ग्लानि कहते हैं।

उत्साहहीनता, कृशता, कम्प, घृणा, उपेक्षा, धीरे-धीरे बोलना, धीरे-धीरे चलना आदि इसके लक्षण हैं।

ग्लानि के उदाहरण में द्विजदेवजी का नीचे लिखा छन्द बहुत प्रसिद्ध है—

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि बिस बूँद बरसावै ना।
'द्विजदेव' की सों अब चूक मति दाँव अरे,
पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना।
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तो बिन प्रान प्रान चाहति तज्योई अब,
कत नभ चन्द तू अकास चढ़ि धावै ना।

उपर्युक्त छन्द में वियोगिनी बाला की व्याकुलता-जन्य ग्लानि का वर्णन है। विरह-विधुरा नायिका सन्तापपूर्वक बड़ी घृणा से कह रही है—बरसो, बादलो ज़ोर-ज़ोर से बरसो, खूब विष बूँदें बरसाओ। पपीहा, तुझे चुनौती है, जो एक क्षण के लिए भी पी पी पुकारना बन्द करे। मटक-मटक कर शोर मचाने वाले मोरो, तुम भी अपनी मन मानी करलो, कदाचित् फिर ऐसा अवसर न मिले। विरहिणियों को तपाने वाले चन्द्र, तुम क्यों मुँह छिपाए पड़े हो, तुम भी अपनी सारी कलाओं से आकाश में दौड़ लगाना शुरू कर दो। मुझ विरहिणी की क्या, है, प्राणनाथ के विना मेरे प्राण तो निकलने ही वाले हैं, अब गए तो क्या, तब गए तो क्या।

इस विषय में महाकवि विहारी का निम्नलिखित दोहा भी बड़े ग़ज़ब का है—

सिथिल गात काँपत हियो, बोलत बनत न बैन।
करी खरी बिपरीत कहुँ कहत रँगीले नैन॥

अजी यह क्या माजरा है जो शरीर शिथिल दिखाई दे रहा है, हृदय में तीव्र गति से धड़कन हो रही है और मुँह से बात तक नहीं बन आती। ओहो! मालूम हो गया, इन रँगीली अर्थात् रात्रि जागरण के कारण लाल

लाल हुई आँखों ने साफ़-माफ़ बतला दिया कि हो न हो, तुम कहीं ज़रूर गड़बड़ी कर आए हो ; नहीं तो तुम्हारी ऐसी हालत न हो रही होती। सच-सच बताओ, क्या बात है।

इस दोहे में जो 'रति विपरीत' जन्य शिथिलता, कम्पन और 'बोलत बनत न बैन' का उल्लेख किया गया है वही ग्लानि संचारी है।

महाकवि देव का भी ग्लानि संचारी विषयक निम्नलिखित छन्द पढ़ने लायक है

रंग भरे रति मानत दम्पति बीति गईं रतियाँ छन ही छन।
पीतम प्रात उठे अलसात चितै चित चाहत धाइ गह्यौ धन।
गोरी के गात सबै अँगिरात जु बात कही न परी सु रही मन।
भौंहें नचाय चलाय के लोचन चाहि रही ललचाय लला तन॥

× × × ×

संस्कृत साहित्य में राम द्वारा परित्यक्ता सीता के दौर्बल्य की ओर संकेत करता हुआ नीचे लिखा श्लोक ग्लानि का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

किशलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनम्।
हृदय कुसुम शोषी दारुणो दीर्घ शोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरम्,
शरदिज इव धर्मः केतकी गर्भपत्रम्॥

जिस प्रकार कोमल पल्लव टहनी से टूटकर कमज़ोर और पीला पड़ जाता है, उसी प्रकार राजवंश-वृक्ष से विच्युत और भगवान् रामचन्द्र से परित्यक्त होकर सीताजी दुर्बल और पाण्डुवर्ण हो गई हैं। विकराल वियोग-वन्हि उनके कलित कलेवर की कोमल कलिका और हृदय के सुन्दर प्रसून को उसी प्रकार झुलसाए डालती है; जिस प्रकार क्वार की कड़ी धूप केतकी के कोमल पत्तों को सुखा देती है।

यहाँ भी वियोगजन्य दुर्बलता और पाण्डुता वर्णित होने से ग्लानि संचारी है।

शंका

स्वयं अपनी या अन्य किसी की दुर्नीति एवं क्रूरता द्वारा होने वाली इष्ट-हानि के सोच-विचार को शंका कहते हैं।

साहित्यदर्पणकार के मत में अन्य की क्रूरता तथा अपने दोषादि से अपने अनिष्ट की ऊहा का नाम शंका है।

सामान्यतः इसी बात को यों कह सकते हैं, कि जब किसी के मन में इष्ट-हानि की आशङ्का से संकल्प-विकल्प उठते हैं, तो उस अवस्था का नाम शङ्का है। अमुक दंगे में मेरे अमुक सम्बन्धी या मित्र को कुछ हानि न पहुँच जाय, अमुक नदी की बाढ़ के कारण मेरा अमुक उद्यान नष्ट न हो जाय, अमुक कार्य से कहीं मेरी लोक में निन्दा न हो, इत्यादि बातों के सोच-विचार को शंका कहते हैं।

नाट्यशास्त्रकार के मत से धर्म, समाज या राज्य के नियमोल्लंघन करने पर उत्पन्न हुए सन्देह का नाम शंका है।

विवर्णता, स्वर-भंग, कम्प, इधर-उधर ताकना, मुँह सूखना, बातचीत करने में अटक जाना आदि शङ्का के लक्षण हैं।

महाकवि पद्माकर के निम्नलिखित छन्द में शङ्का का बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है।

> मोहि लखि सोवत बिथोरिगो सु बैनी बनी,
> तोरिगो हिये को हार छोरिगो सुगैया को।
> कहै 'पदमाकर' त्यौं घोरिगो घनेरो दुख,
> बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को।
> अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास यहै,
> सोचत खरी मैं परी जोवत जुन्हैया को।
> बूझैंगे चबैया तब कै हों कहा दैया इत—
> पारिगो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को॥

अरी मैं तो सो रही थी, सोते ही सोते में यह क्या हो गया। ऐसा कौन सा 'बिसासी' आया जो बात की बात में यह सब कौतुक कर गया। आह! उसने तो मेरी लाज की नैया ही डुबो दी। हाय भगवान्, अब कोई कुछ पूछेगा तो मैं क्या कहूँगी, कैसे अपनी सफ़ाई दूँगी, बड़े असमञ्जस में पड़ी हूँ। विकट समस्या उपस्थित है। बहुतेरा सोचती हूँ, परन्तु कोई हल समझ में नहीं आता।

उपर्युक्त छन्द में चबाव या लोकापवाद के भय से नायिका के मन में भाँति-भाँति के संकल्प विकल्प और सन्देहों का उठना ही शंका संचारी है।

देवजी ने भी इस विषय में बहुत सुन्दर सवैया लिखा है। वे कहते हैं—

या डर हौं घर ही में रहौं कवि 'देव' दुरो नहिं दूतिनि को दुख।
काहू की बात कही न सुनी मन माहिं बिसारि दियो सिगरो सुख।
भीर में भूले भए सखी मैं जब ते जदुराई की ओर कियो रुख।
मोहि भटू तब तें निसि द्यौस चितोत ही जात चबाइन को मुख॥

अरी, उस दिन उस भीड़ में भूल से मैं श्रीकृष्ण की ओर देख क्या उठी, मैंने एक आफ़त सिर ले ली। क्या बताऊँ, इसी बात का सब स्त्रियाँ चारों ओर चबाव करने लगी हैं। कोई कुछ रागती है और कोई कुछ अलापती है। यदुनाथ की ओर मेरी आँखें क्या उठ गईं, मानो कुल-कानि ही नष्ट हो गई। दूतियों की दशा तो तू जानती ही है। इन्हें तो बात का बतंगड़ और पर का कौआ बनाना ख़ूब आता है। क्या करूँ, इनके डरके मारे घरसे बाहर नहीं निकलती। न किसी की सुनती हूँ, न अपनी कहती हूँ। किसी से मिलना-जुलना ही नहीं होता। सारा सुख नष्ट हो गया है।

यहाँ भी दूतियों की दुर्नीति-जन्य लोक-निन्दा के भय से हृदय में तरह-तरह की भावोद्भावनाएँ होना शंका संचारी है।

इस विषय में संस्कृत का भी एक उदाहरण आगे दिया जाता है।

प्राणेशेन प्रहित नखरेष्वंगकेषु क्षपान्ते,
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्त दन्तावघाते,
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ॥

रति की समाप्ति पर प्रातःकाल शैया से उठते ही, बेचारी नायिका अपने शरीर पर प्रियतम द्वारा किये नखक्षत और अधर-बिम्ब पर बने दन्त-क्षत देखकर तिलमिला उठती है। वह सोचती हैं कि कहीं इन विलास-चिन्हों से कामक्रीड़ा की सारी कलई न खुल जाय, अतः चारों ओर चकित चक्षुओं से देखती हुई, नख-क्षत के स्थान पर चन्दन पोतती और ओष्ठों पर अंकित दन्तक्षतों पर लाक्षाराग (आधुनिक युग का 'लिपस्टिक') लगाती है।

असूया

ईर्ष्या या औद्धत्य के कारण किसी की गुणगरिमा एवं समृद्धि को सहन न कर, उसकी निन्दा करना अथवा उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना असूया कहाता है।

दोष-कथन, अवज्ञा, भृकुटी-भंग, तिरस्कार, क्रोध आदि इसके अनुभाव हैं।

पद्माकरजी ने असूया का लक्षण निम्न लिखे प्रकार किया है।

सहि न सकै सुख और को यहै असूया जान।
क्रोध, गर्व, दुख दुष्टता ये स्वभाव अनुमान ॥

महाकवि देव के मत में असूया का लक्षण इस प्रकार है—

क्रोध, कुबोध, बिरोध तें सहै न पर अधिकार।
उपजै जहँ जिय दुष्टता सु असूया अवधार ॥

पद्माकर तथा देव ने क्रोध, कुबोध, विरोध गर्व, दुष्टता आदि से असूया की उत्पत्ति मानी है, परन्तु ईर्ष्या और औद्धत्य में इन सब बातों का समावेश हो जाता है, अतएव इनको अलग गिनाने की आवश्यकता

प्रतीत नहीं होती। ईर्ष्यालु लोग अपनी ईर्ष्या के कारण न जाने क्या-क्या उपद्रव कर डालते हैं। उनमें बोध और प्रेम का तो लेश भी नहीं रहता। संसार का इतिहास साक्षी है कि ईर्ष्या-राक्षसी के कारण बड़े-बड़े भयङ्कर अनर्थ हो गए। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, आज भी घर-घर में ईर्ष्या का आधिपत्य स्थापित है। भाई-भाई ईर्ष्यालुता की अग्नि में भस्मीभूत हो रहे हैं। सारी जन-समुदाय ईर्ष्या के कारण वैर-विरोध का केन्द्र बना हुआ है। कहीं भी शान्ति दिखाई नहीं देती। देश की दुर्गति का मुख्य कारण ईर्ष्या ही है। जहाँ कोई किसी का उत्कर्ष देख ही न सके, वहाँ का क्या कहना।

देखिए, असूया के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया कितना उत्कृष्ट है।

क्यों घनश्याम इती दुचिती नक मो तन दीठि करो सुखदाई।
कंज गुलाबहु की अरुणाई लै लाल गुलालहुते सरसाई।
नैनन पै अति घोर घनो धनि है रंगरेजिनि की चतुराई।
साँची कहौ इन आँखिन की तुम दीनी कहा नन्दलाल रँगाई॥

सपत्नी के यहाँ रात्रि-जागरण के कारण नायक की लाल हुई आँखें देखकर नायिका पूछती है—क्यों, इधर-उधर क्या ताकते हो, ज़रा मेरी ओर तो देखो, नेक आँखें तो मिलाओ। आज तुम्हारी आँखें तो इतनी लाल हो रही हैं कि उन्होंने कंज, गुलाब और गुलाल को भी मात कर दिया है। अजी वह कौन चतुर रँगरेजिन मिल गई, जिसने तुम्हारी आँखों को इतना रंग दे दिया। ठीक-ठीक बताओ, आँखों की इस रँगाई के लिए तुम्हें क्या देना पड़ा है।

रति-सूचक चिन्हों को देखकर नायिका नायक के सपत्नी के यहाँ जाने की बात ताड़ गई। भला उसे नायक का सौत के यहाँ जाना कैसे सह्य हो सकता था। अतएव उसने उसे मीठी चुटकी लेकर डाट बता ही तो दी, और जता दिया कि मैं तुम्हारी उनींदी लाल आँखें देखकर सारा रहस्य समझ गई हूँ।

यहाँ नायिका को नायक का सपत्नी के घर जाना सहन न होना ही असूया है।

जैसे को तैसो मिलै तबही जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभंग तन श्याम को कुटिल कूबरी देह॥

× × ×

ऊधो जी सहि जात नहिं हम सों अति उपहास।
जाकी हम दासी सबै सो दासी को दास॥

उपर्युक्त दोनों दोहे असूया के कैसे सुन्दर उदाहरण हैं। जब जैसे को तैसा मिल जाता है, तभी सच्चा प्रेम स्थापित होता है। जिस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रजी त्रिभंगी अर्थात् तीन जगह से झुके हुए हैं, उसी प्रकार उनकी प्रेयसी कुब्जा का शरीर भी टेढ़ामेढ़ा है। ख़ूब जुगल जोड़ी बनी है।

दूसरे दोहे में भी गोपियाँ ऊधौ को उलाहना देती हुई कहती हैं—उद्धवजी, हम सब जिन कृष्णचन्द्र की दासी हैं, वे ही कृष्ण प्रेमासक्ति के कारण कंस की दासी कुब्जा के दास बने हुए हैं। हमसे इस प्रकार का अपमान नहीं सहा जाता।

उक्त दोहों में ईर्ष्या के कारण कृष्ण और कुब्जा का प्रेम सहन न कर गोपियों ने बड़ी वाक्चातुरी से कुब्जा की निन्दा की है। यही असूया संचारी है।

पद्माकरजी का भी असूया विषयक निम्नलिखित उदाहरण पढ़ने लायक है—

आवत उसासी दुख लागे और हाँसी सुन,
दासी उर लाय कहो को नहीं दहा कियो।
कहै 'पदमाकर' हमारे जान ऊधौ उन,
तात को न मात को न भ्रात को कहा कियो।
कूबरी कंकालिनी कलंकिनी कुरूप तैसी,
चेटकनि चेरी ताके चित्त को चहा कियो।

राधिका की कहवत कहि दीजो मोहन सों,
रसिक शिरोमणि कहाय धौं कहा कियो ॥

× × ×

एक श्लोक में असूया का उदाहरण निम्न लिखे प्रकार दिया गया है।

अथ तत्र पाण्डु-तनयेन
सदसि विहितं मधुद्विषः।
मानमसहत न चेदिपति
पर वृद्धि मत्सरि मनोहि मानिनाम् ॥

पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर ने, परम प्रतापशाली आनन्द कन्द भगवान् कृष्ण-चन्द्र के प्रचण्ड प्रताप की प्रशंसा करते हुए, उनका सर्व-प्रथम पूजन किया. तो यह बात दुरभिमानी शिशुपाल को सह्य न हुई। वह अपनी ईर्ष्यालुतापूर्ण मनोवृत्ति के कारण भरी सभा में श्रीकृष्ण के प्रति अनर्गल और अपमानजनक बातें बकने लगा। उस समय उसने अपने दूषित व्यवहार से—" कुटिल स्वभाव नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती " इस लोकोक्ति को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिया। वास्तव में दुरभिमानी लोग अपनी अधमता और कुटिलता के कारण दूसरों की समृद्धि नहीं देख सकते।

मद

बेहोशी और हर्षाधिक्य सहित क्षोभयुक्त अवस्था का नाम मद है। इसकी उत्पत्ति मादक द्रव्यों के सेवन से होती है। रूप, यौवन, प्रभुता या धन का गर्व भी आदमी को मदमत्त कर देता है।

प्रलाप, ऊटपटांग व्यवहार, हँसना, बड़बड़ाना, रोने लगना आदि इसके लक्षण हैं।

नाट्यशास्त्रकार के मत में मद्य पान करने से मद की उत्पत्ति होती है। उन्होंने मद के तीन भेद माने हैं—तरुण, मध्यम और अधम। उनकी

सम्मति में मद के अनुभाव गाना, रोना, हँसना, कठोर शब्द बोलना, सोना इत्यादि हैं। उत्तम प्रकृति का व्यक्ति मद-मत्त होकर सोता है, मध्यम प्रकृति का हँसता और गाता है, एवं अधम प्रकृति का कठोर वाणी बोलता तथा रोता है।

उत्तम प्रकृति व्यक्ति तरुण मद की अवस्था में मन्द-मन्द मुस्कराता है। यदि गाता है, तो ठीक ढंग से। उसका मन हर्षित होता है। वह कभी-कभी बड़ी अटपटी बात कह जाता है। उसकी प्रकृति सुकुमार और चाल उतावली हो जाती है।

मध्यम प्रकृति व्यक्ति मध्य मद की दशा में लड़खड़ाता हुआ चलता है। उसके नेत्र रक्त होकर मिचने लगते हैं और हाथ शिथिल हो जाते हैं।

अधम प्रकृति व्यक्ति अधम मद के कारण कै करता है, उसे बार-बार हिचकियाँ और उबकाइयाँ आती हैं, उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है, जीभ पर काँटे से जम जाते हैं। वह बार-बार थूकता और मुँह में से कफ़ निकाल कर घृणित चेष्टा करता है।

मद के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा कितना सुन्दर है।

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर-ठौर झौरत झपत भौंर झौंर मधु अन्ध॥

उपर्युक्त दोहे में, पुष्प-रस के मद से मतवाले हुए भौंरों के झुण्ड का झौरना-झपना आदि मद संचारी है।

और भी देखिये—

धन मद यौवन मद महा प्रभुता को मद पाय।
तापर मद को मद जिन्हें को तिन सकै सिखाय॥

जो लोग धन, यौवन और प्रभुता के मद में मस्त हो रहे हैं, वे यदि शराब के नशे में भी चूर हो जायँ, तब तो गिलोय के नीम पर चढ़ जाने की उक्ति ही चरितार्थ हो जाती है। ऐसे मदमत्तों को समझा-बुझा कर

दुराचारों से बचाने की किसमें शक्ति है। मद—चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो—बड़े-बड़े अत्याचारों का कारण हुआ है। इसके द्वारा जितने भयंकर अत्याचार हुए और हो रहे हैं, वे किससे छिपे हैं। नरसंहारकारक महायुद्धों की जड़ में मद का पूर्ण प्रभाव होता है। मदोन्मत्तता में विवेक का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। जब बुद्धि की विमलता ही नष्ट हो गई तब शेष ही क्या रहा ?

पद्माकरजी की नीचे लिखी मद विषयक उक्ति पढ़ने लायक हैं, देखिए—

पूस निसा में सुवारुणी लै बनि बैठे दुहूँ मद के मतवाले।
त्यौं 'पदमाकर' भूमैं भुकैं घन घूमि रचैं रस रंग रसाले।
सीत को जीति अभीत भए सु गनें न सखी कछु साल दुसाले।
छाकि छका छवि ही को पियें मद नैनन के किये प्रेम के प्याले॥

अब तक तो लोग मदिरा-पान को ही जानते थे, परन्तु पद्माकर ने नेत्रों के प्यालों द्वारा रूप-सुधा-पान करा दिया, जिसका नशा साधारण मद से बहुत बढ़-चढ़ कर होता है।

कविवर बैनी की भी इस विषय की नीचे लिखे उक्ति बड़ी सुन्दर है।

तैसो लसै रंग ईंगुर सो अंग तैसी दोऊ अँखियाँ रतनारी।
तैसे पके कुँदुरू सम ओठ उरोज दोऊ उमँगे छवि न्यारी।
तैसे ही चञ्चल 'बैनी प्रवीन' तू अञ्चल दै वृषभानु दुलारी।
जोबन रुप की माती सदा मधुपान किये ते भई अति प्यारी॥

बैनी कवि ने यौवन और रूप की मदमाती नायिका को मद के प्याले पिलाकर और भी अधिक उन्मत्त कर दिया। एक और एक ग्यारह हो गए, मादकता में चार चाँद लग गए।

× × ×

आगे लिखे श्लोक में मद संचारी का उदाहरण देते हुए मदमाती रमणियों की चहल-पहल का कैसा स्वाभाविक वर्णन किया गया है। देखिए—

प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां, वक्र वाक्य रचना रमणीयः ।
गूढ़ सूचित रहस्य सहासः, सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥

शराब के दौर पर दौर चलने लगे, शिथिलता-जन्य जड़ता का नाश हुआ, तरुणियों के शरीर और मन पर शराब की शरारत दिखाई देने लगी, मद-मत्तता का साम्राज्य स्थापित हो गया । फिर क्या था, प्रसुप्त प्रतिभा में स्फुरणा पैदा हुई, नोंक-झोंक और छेड़-छाड़ से हँसी का फव्वारा फूट निकला । इस प्रकार इशारे ही इशारों में न जाने कितने गूढ़ रहस्य खुल गए ।

श्रम

अधिक या शीघ्रता पूर्वक कार्य करने, लम्बा रास्ता तय करने एवं व्यायाम अथवा रति-कर्म से जो थकावट आती, या सन्तोष सहित अनिच्छा होती है, उसे श्रम कहते हैं ।

साँस फूलना, नींद आना, पसीना निकलना, अंगों में शिथिलता होना आदि श्रम के अनुभाव हैं ।

महाकवि पद्माकर और देव ने श्रम के लक्षण क्रमशः इस प्रकार किए हैं—

अति रति अति गति ते जहाँ सु अति खेद सरसाय ।
सो स्रम तहाँ सुभाइये स्वेद उसास मनाय ॥

× × ×

अति रति अति गति ते जहाँ उपजै अति तन खेद ।
सो स्रम तामें जानिए निरसहता अरु स्वेद ॥

उपर्युक्त दोनों महाकवियों के लक्षणों और हमारे लक्षण में जो थोड़ा अन्तर है, वह स्पष्ट है ।

श्रम के उदाहरण में निम्नलिखित सवैया पढ़िये—

पुरते निकसी रघुवीर वधू धरि धीर हिये मग में डग द्वै ।
झलकी भरि भाल कनी जल की पट सूखि गये अधराधर वै ।

फिर बूझति है चलिबो व कितो पिय पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

सीताजी वन को जा रही हैं। अभी पुर से निकल कर कुछ ही क़दम चली होंगी, कि उनके माथे पर पसीना झलकने लगा और ओठों पर कुछ ख़ुश्की-सी आ गई। वह बड़े भोले भाव से रामचन्द्रजी से पूछने लगीं—प्राणनाथ, अभी कितना और चलना है, कहाँ कुटी बनाइयेगा? मार्ग-श्रम से थकी हुई जनकनन्दिनी की ऐसी बातें सुनकर रामचन्द्रजी की आँखों से जल-धारा बहने लगी।

श्रम के उदाहरण में द्विजदेवजी का नीचे लिखा छन्द भी बहुत अच्छा है—

सीस फूल सरकि सुहावने ललाट लाग्यो,
लम्बी लटैं लटकि परी हैं कटि छाम पर।
'द्विजदेव' त्यों ही कछु हुलसि हिये तें हेलि,
फैलि गयो राग मुख पंकज ललाम पर।
स्वेदसीकरनि सराबोर ह्वै सुरंग नीर,
लाल दुति दै रही सु हीरान के दाम पर।
केलि रस साने दोऊ थकित बिकाने तऊ,
हाँ की होति कुमक सु ना की धूमधाम पर।

ऊपर के छन्द में रति-जन्य श्रम से हुई थकावट का कैसा स्वाभाविक वर्णन है। वेश-विन्यास का अस्तव्यस्त हो जाना, लम्बी लटों का क्षीण कटि पर बढ़ंगे तौर से इधर-उधर फहराते फिरना, पसीना से सारा शरीर सराबोर होकर उससे वस्त्र भीग जाना आदि वर्णन श्रम संचारी है।

महाकवि पद्माकर का श्रम सम्बन्धी उदाहरण बड़े मार्के का है, उसे भी देखिए—

कै रति रंग थकी थिर ह्वै परियंक पै प्यारी परी सुख पाय कै।
त्यौं 'पदमाकर' स्वेद के बुन्द रहे मुकुताहल से तन छाय कै।

बिन्दु रचे मेंहदी के लसैं कर तापर यों रह्यो आनन आय कै।
इन्दु मनों अरबिन्द पै राजत इन्द्रबधून के बृन्द बिछाय कै॥

उपर्युक्त सवैया में रति-रंग से थककर, पर्यङ्क पर पड़ी हुई नायिका का वर्णन है। सारे शरीर पर पसीने की बूँदे मोतियों की तरह झिलमिला रही हैं। नायिका ने मेंहदी की टिकुलियों से रचे हुए हाथ पर अपना मुँह रख लिया है। पद्माकरजी कहते हैं, उस समय ऐसा मालूम होता है, मानो मुखरूपी चन्द्रमा मेंहदी की बूदों रूप इन्द्रवधूटियों के वृन्द कर रूपी कमल पर बिछाकर विराजमान हो रहा है। 'इन्दु मनों अरबिन्द पै राजत इन्द्रबधून के बृन्द बिछाय कै' कैसी अद्‌भुत सूझ और कितनी विचित्र कल्पना है। इसने सवैये में जान डाल दी है।

निम्नलिखित श्लोक में भ्रम का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया गया है, मुलाहिजा कीजिए—

> सद्यः पुरी परिसरे च शिरीषमृद्वी,
> गत्वा जवात्त्रिचतुराणि पदानि सीता।
> गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा,
> रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

इसका हिन्दी पद्यात्मक अनुवाद (घर ते निकसी रघुबीर बधू) पीछे दिया जा चुका है।

आलस्य

अधिक जागने, अधिक काम करने, भूख, प्यास, खेद, व्याधि, निराशा, तृप्ति, अथवा समर्थ होते हुए भी अकर्मण्यताजनित निरुत्साह के कारण शरीर में जो शिथिलता आती है, उसे आलस्य कहते हैं। गर्भावस्था अथवा वियोगावस्था में भी आलस्य की अनुभूति होती है।

सोते, पड़े या बैठे रहना, जँभाई अथवा अँगड़ाइयाँ लेना आदि इसके लक्षण हैं।

पद्माकरजी ने नीचे लिखे कवित्त में आलस्य का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है, जो देखते ही बनता है—

गोकुल में गोपिन गोविन्द संग खेली फाग—
राति भर प्रात समै ऐसी छवि छलकैं।
देहैं भरी आलस कपोल रस रोरी भरे,
नींद भरे नयन कछूक झपैं झलकैं।
लाली भरे अधर बहाली भरे मुख बर,
कवि 'पदमाकर' बिलोकै कोन सलकैं।
भाग भरे लाल औ' सुहाग भरे सब अंग,
पीक भरी पलकैं अबीर भरी अलकैं॥

गोकुल में गोविन्द ने गोपियों के साथ ख़ूब होली खेली, बड़ी 'धमा-चौकड़ी' रही। होली के हुदंग से हुरिहारियाँ इतनी थक गईं कि सब पर आलस्य ने अड्डा जमा लिया। ऊँघा नींदी का बोल बाला होने लगा। गोपियों की उन अँगड़ाइयों और आँखों की झपाझपी में भी अद्भुत छवि दिखाई देती थी। उनका अलसाया हुआ शरीर भी बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था।

महाकवि देव की भी आलस्य विषयक निम्नलिखित उक्ति पढ़ने लायक है।

ऊधौ आए ऊधौ आए हरि को सँदेसो लाए,
सुनि गोपी-गोप धाए धीर न धरत हैं।
बौरी सम दौरीं उठि भौंरी लौं[1] भ्रमति मति,
गनति न जानो गुरु लोगन दुरत हैं।
ह्वै गईं बिकल बाल बालम बियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात ज्यों जरत हैं।

१—'पौरी लौं' पाठ भी मिलता है।

भारे भए भूषन सँभारे न परत अंग,
आगे को धरत पाँव पाछे को परत हैं ॥

ऊधौजी के आते ही गोपियाँ उनसे हरि-श्रीकृष्णजी का सँदेसा सुनने के लिए बड़ी विकलतापूर्वक दौड़ीं। उस समय वे इतनी पागल होगईं, कि उन्हें अपने बड़े-बूढ़ों का भी ध्यान न रहा। परन्तु जब उन्हें उद्धवजी से 'जोग साधने' का सँदेसा मिला, तो उसे सुनकर वे ऐसी उत्साहहीन हो गईं मानो काला साँप सूँघ गया हो। फिर तो भूषणों की कौन कहे, उन्हें अपना शरीर सँभालना भी मुश्किल होगया। घर वापस आने में भी कठिनाई प्रतीत होने लगी। वे आगे चलना चाहती हैं, परन्तु पैर पीछे को पड़ते हैं। यहाँ पर खेद एवं निराशा-जन्य आलस्य संचारी है।

आलस्य संचारी के उदाहरण में नीचे लिखे कुछ दोहे भी पढ़ने लायक हैं।

निशि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकत आलस बलित सहज सलोने गात ॥

× × ×

पिय सों कथा बिदेस की सुनत जगी सब रात।
अब कछु अधिक न कहि सकौं फिरि करिहौं सखि बात ॥

× × ×

नीठि नीठि उठि बैठि हू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरें गरें लागि गिरि जात ॥

× × ×

संस्कृत के नीचे लिखे पद्य में आलस्य संचारी का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया गया है, देखिए—

न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम्।
जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भ-भरालसा ॥

गर्भिणी बाला गर्भ-भारजनित आलस्य के कारण इतनी शिथिल हो गई है, कि जहाँ बैठ जाती है, वहाँ से उठने को उसका जो ही नहीं चाहता। और तो और पहले की तरह न तो वह नयनाभिराम वस्त्राभूषणों द्वारा अपने अंग को अलंकृत करती है और न उसे सखियों में बैठकर हास-विलास करना ही सुहाता है। जहाँ जम गई वहीं बैठी-बैठी जँभाइयाँ और अँगड़ाइयाँ लेती रहती है।

दीनता (दैन्य)

संकटपूर्ण परिस्थिति अथवा इष्ट-हानि या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण दुःख होने या मन से ओजस्विता नष्ट हो जाने को दीनता कहते हैं।

चाटुकारिता, आत्मसम्मान हीनता, साहस की कमी, मलिनता आदि इसके लक्षण हैं।

महाकवि देव ने दीनता संचारी का कैसा अच्छा उदाहरण दिया है—

रैनि दिन नैन दोऊ मास ऋतु पावस को,
बरसत बड़े-बड़े बूँदन सों झरि ये।
मैन सर जोर मोर पवन झकोरन सों,
आई है उमँग छिति छाती निरभरि ये।
टूटी नेह नाव छूटो स्याम सों सनेह गुनु,
तातें कवि देव कहैं कैसे धीर धरि ये।
बिरह नदी अपार बूड़ति हौं मँझधार,
ऊधो अब एक बार फेरि पार करिये॥

अपार विरह-नदी के प्रबल प्रवाह में टूटी नेह-नाव को बूड़ने से बचाने के लिए, विरह-विधुरा गोपियाँ ऊधोजी की मिन्नत-खुशामद कर रही हैं। "ऊधोजी जैसे बने वैसे एक बार हमारी नेह-नाव को खेकर पार कर दीजिये, बड़ा उपकार होगा।"

इस विषय में पद्माकरजी की उक्ति भी बड़ी सुन्दर है। देखिए—

के गिनती सी इती बिनती दिन तीनक लौं बहु बार सुनाई।
त्यों 'पदमाकर' मोह मया करि तोहि दया न दुखीन की आई।
मेरो हराहर हार भयो अब ताहि उतारि उन्हें न दिखाई।
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल गोपाल की वा पहरी पहिराई॥

अरी सखी, तुझ से बार-बार मैंने विनती की है, कि मुझे नई माला नहीं चाहिये, मुझे तो तू गोपाल की पहनी-पहनाई माला लादे। वही मेरे गले की शोभा बढ़ावेगी, उसी से मैं कृतार्थ हो जाऊँगी। मेरे कहाँ भाग्य जो गोपाल के गले में पड़ी-पड़ाई माला मुझे पहनने को मिले।

दीनता के सम्बन्ध में नीचे लिखा पद्य भी बहुत ही सुन्दर है—

डूब रही नैया मँझधार में खिवैया बिन,
छाये घटाटोप घन संकट निवारोगे।
भारी भारी भ्रमर बने हैं क्रूर काल कुण्ड,
मारक विदारक तरगन ते तारोगे।
झंझा के झकोरे झकझोर रहे बार बार,
बैरी जल जन्तुन के बदन बिदारोगे।
हाय मैं अनाथ हाथ कौन को गहूँ हे नाथ,
तुम ही हो साथ नाथ तुम ही उबारोगे॥

आर्त भक्त की कैसी करुण पुकार है। वह व्यथाओं से व्याकुल होकर सीधा भगवान् के दरबार में विनय करता है—"दीनबन्धो मुझे चारों ओर से संकटों ने घेर लिया है, मुक्ति का कोई उपाय नहीं सूझता। आप अनाथों के नाथ हैं, मैं आपकी शरण में आ पड़ा हूँ, मेरा उद्धार कीजिये।"

कविवर नरोत्तमदास ने भी दीनता का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। सुदामा की स्त्री के मुख से निर्धनता का वर्णन कराते हुए कहते हैं—

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत बितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती।
जौ जनती न हितू हरि सो तो मैं काहे को द्वारिकै पेलि पठौती।
या घर तें कबहू न गयो पिय टूटो तयौ अरु फूटी कठौती॥

पतिदेव, मुझे दही-दूध और मिठाई नहीं चाहिए, पर पेट भरने के लिए कुछ दाने तो दरकार होंगे ही; परन्तु हमारे घर में तो कुछ भी नहीं है। सारे भाँट-भटके रीते पड़े हैं। अगर विना चिथड़ों के सिरसिराते हुए भी शीत व्यतीत हो जाता, तब भी मैं कुछ न कहती; परन्तु दुरन्त पूरा उदर-दरी भरने के लिए तो कुछ न कुछ चाहिए ही। इसीलिए तुम से द्वारका जाने को हठ कर रही हूँ। अच्छा है, तुम्हारे सखा (श्रीकृष्ण) हमारा दुःख दूर कर दें।

दीनता संचारी के सम्बन्ध में नीचे लिखे दोहे भी द्रष्टव्य हैं—

मुख मलीन तन छीन छवि परी सेज पर दीन।
लेत क्यों न सुधि साँवरे नेही निपट नवीन॥

× × ×

जब ते 'पदुमन' प्रभु गए ब्रज तजि यदुकुल माहिं।
सारी ब्रजनारी मलिन सारी पलटें नाहिं॥

× × ×

एक और भी दोहा देखिए—

अब न धीर धारत बनत सुरत बिसारी कन्त।
पिक पापी पीकन लगे बगर्यौ बाग बसन्त॥

उपर्युक्त दोहे में पति द्वारा विस्मृत होने पर, नायिका को जो निराशा-जन्य दुःसह दुःख हुआ है, वही दीनता संचारी है।

महाकवि 'शंकर' का दीनता विषयक आगे लिखा उदाहरण कैसा अच्छा है—

कर कोप जरा मन मार चुकी बलहीन सरोग कलेवर है।
परिवार घना, धन पास नहीं भुजभग्न दरिद्र-भरा घर है।
सब ठौर न आदर मान मिले मिलता अपमान-अनादर है।
मुझ दीन अकिञ्चन की सुधि ले सुख दे प्रभु तू यदि शंकर है॥

× × ×

निम्नलिखित श्लोक में दीनता का चित्र कैसे करुण शब्दों में खींचा गया है, देखिए—

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चक गतः स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्ण जलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्त्ताऽपि नो।
यत्नात् सञ्चित तैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला,
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रू चिरं रोदिति॥

नेत्रान्ध वृद्ध पति टूटी खाट पर पड़ा है, छप्पर का फूँस उड़ गया है, केवल उसकी थुनकिया अटकी हुई है। बरसात सिर पर आ रही है, पुत्र परदेश में पड़ा है, उसकी कुशल तक नहीं मिली। जिस हँड़िया में थोड़ा-सा तेल जोड़-जँगोड़ कर रक्खा था, वह भी फूट गई। न खाने को दाना है, न ठहरने को ठिकाना। हा! आज मेह में भीगते हुए बिना दीपक के अँधेरी रात कैसे कटेगी, फिर आसन्नप्रसवा पुत्रवधू को देखकर तो मेरे सन्ताप की सीमा ही नहीं रहती। उसके जापे का कोई प्रबन्ध ही नहीं। यह कह कर दुखिया रोती और बिलखती है।

उपर्युक्त श्लोक के भाव को कविवर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने निम्नलिखित पद्य में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

कछु शेष रह्यौ घर में न पर्‌यौ पति खाट पै वृद्ध है अन्ध भयो।
सुत को नहिं हाल मिल्यौ तब सो जब सों वह हाय बिदेस गयो।
ऋतु पावस बासन हू गयो फूटि जु तेल परौसिन पास लयो।
लखि आरत गर्भिणी पुत्र बधू दुख सों भरि सासु को आयो हियो।

चिन्ता

इष्ट[1] की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण उत्पन्न विचार को चिन्ता कहते हैं।

शून्यता, उद्विग्नता, उन्निद्रता, सन्ताप, कृशता, श्वास, वैवर्ण्य, ताप आदि इसके लक्षण हैं।

देवजी का चिन्ता संचारी के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य कितना सुन्दर है।

जानति नाहिं इरै हरि कौन के ऐसी धौं कौन बधू मन भावै।
मोही सों रूठि कै बैठि रहे किधौं कोऊ कहूँ कछू सोध न पावै।
बैसिय भाँति भटू कबहूँ अब क्यों हूँ मिलै कहूँ कोऊ मिलावै।
आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरे दिन कामिनि काग उड़ावै॥

किसी सखी की उक्ति है, कि हरि मुझसे ही रूठ गए हैं, या उन्हें अब कोई भी स्त्री नहीं भाती। अथवा उन्होंने किसी अन्य स्त्री से प्रेम कर लिया है। मैं तो यही चाहती हूँ कि वह किसी तरह मुझसे मिल जायँ, इसी विचार मे मैं आँखों मे आँसू बहाती हुई सारे दिन काग उड़ाती रहती हूं। अर्थात् उनके शुभागमन का शकुन देखा करती हूँ।

चिन्ता संचारी का दूसरा उदाहरण भी देखिए—

भोर ही भुखात ह्वै हैं, कन्द मूल खात ह्वै हैं,
दुति कुम्हिलात ह्वै हैं मुख जलजात को।
प्यादे पग जात ह्वै हैं मग मुरझात ह्वै हैं,
थकि जैहैं धाम लागे स्याम कृस गात को।
पण्डित 'प्रवीन' कहै, धर्म के धुरीन ऐसे,
मन में न राख्यौ पीन प्रन राख्यौ तात को।

---

[1]—इष्ट पद से साधारणतः जीवन, धन, यश, शरीर, पुत्र, कलत्रादि का ग्रहण होता है।

मातु कहै कोमल कुमार सुकुमार मोरे—
छौना ह्वै हैं सोवत बिछौना करि पात को ॥

माता कौशल्या वनवासी राम के कष्टों का विचार करती हुई कहती हैं, थकामाँदा, भूखा-प्यासा मेरा छौना वन में कहीं पत्तों के बिछौने पर पड़ा होगा। यहाँ कौशल्याजी रामचन्द्रजी को इष्ट (आवश्यक) वस्तुएँ न मिलने के कारण जो विचार कर रही हैं वही चिन्ता संचारी है।

चिन्ता संचारी के उदाहरण में महाकवि पद्माकरजी का नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है, देखिए—

झिलत झकोर रहै जोवन को जोर रहै,
समद मरोर रहै सोर रहै तब सों।
कहै 'पदमाकर' तकैयन के गेह रहै,
नेह रहै नैनन न मेह रहै दब सों।
बाजत सुबैन रहै, उनमद मैन रहै,
चित में न चैन रहै चातकी के रब सों।
गेह में न नाथ रहै द्वारे ब्रजनाथ रहै,
कौ लौं मन हाथ रहै साथ रहै सब सों॥

इस उठती हुई जवानी में इतनी सुहावनी ऋतु और उस पर उन्मत्त बना देने वाली पपीहा की पिउ पिउ पुकार तथा वंशी की सुमधुर ध्वनि ही चित्त को चञ्चल कर देने के लिए काफ़ी थे ; परन्तु अब घर में प्राणनाथ की अनुपस्थिति और मनमोहन का प्रतिक्षण द्वार के सामने का रहना ये तो और भी गजब ढा रहे हैं। भगवान् ही जाने ऐसी विषम अवस्था में कब तक मन को काबू में रख सकूँगी।

संस्कृत साहित्य में चिन्ता का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है।

कमलेन विकसितेन च,
संयोजयन्ती विरोधिनं शशिनम्,
करतल पर्यस्त मुखी,
किं चिन्तयसि सुमुखि! अन्तराहित हृदया?

हे सखि, कर कमल पर तैने अपना मुखचन्द्र रख कर महान् आश्चर्य-जनक कार्य किया है। विकसित कमल से चन्द्रबिम्ब का संयोग कराकर सचमुच तैने अनहोनी बात कर दिखाई। भला कभी कलाधर और उत्फुल्ल कमल का भी साथ हुआ है! अग्नि में से भी वारि-धाराएँ छूटी हैं! अरी बताती क्यों नहीं, इस प्रकार हथेली पर मुँह रख कर तू मन ही मन क्या सोच रही है।

मुखचन्द्र का कर-कमल से संयोग कराना कैसी सुन्दर सूझ है। मालूम होता है, इसी भाव को लेकर पद्माकरजी ने "चन्द्र मनों अरविन्द पै राजत इन्द्रबधून के बृन्द बिछाय कै" लिखा है। इस कल्पना के लिए ~वियों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

मोह

।, दुःख, भ्रम, स्मृति, विस्मय, प्रिय-वियोग, शत्रु के प्रतीकार में ...ंता, अत्यन्त चिन्ता, अत्यन्त आनन्द, दैवोपघात आदि कारणों से ...न्न हुई चित्त की विकलता, भ्रान्ति या साधारण संज्ञाहीनता के मोह ...हते हैं।

मूर्छा, अज्ञान, भूमि-पतन, चक्कर आना, वस्तु या वस्तुस्थिति के ठीक-ठीक न पहचान सकना आदि इसके लक्षण हैं।

रसतरंगिणीकार ने "मुह् वैचित्ये" धातु से मोह की व्युत्पत्ति होने के कारण मोह का अर्थ कार्याकार्य का अविवेक किया है।

मोह संचारी के उदाहरण में निम्नलिखित सवैया कैसा सुन्दर है।

दूलह श्री रघुवीर बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम के रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

सीताजी अपने कंकरण के नग में राम की परछाईं (प्रतिबिम्ब) देख कर आनन्दातिरेक के कारण सब सुध-बुध भूल गईं। वह हाथ को जहाँ का तहाँ रक्खे हुए हैं।

यहाँ पर आनन्द के कारण सुध-बुध भूल जाना ही मोह संचारी है।

मोह के उदाहरण में पद्माकरजी का निम्नलिखित पद्य बड़े मार्के का है—

दोउन को सुधि है न कछू बुधि वाही बलाई में बूड़ी बही है।
त्यौं 'पदमाकर' दीन मिलाय क्यों चंग चबाइन को उमही है।
आजुहि की वा दिखा दिख में दसा दोउन की नहि जात कही है।
मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहिनी मोहि रही है॥

उपर्युक्त सवैया में कृष्ण राधिका पर और राधिका कृष्ण पर मोहित हैं। दोनो को अपने तन-बदन की भी सुधि नहीं है। एक ही बार की देखा-देखी में दोनों की जो दशा होगई है, वह वर्णन नहीं की जा सकती। राधाकृष्ण का इस प्रकार परस्पर मोहित होना ही मोह संचारी है।

महाकवि देव की भी मोह संचारी विषयक निम्नलिखित उक्ति कैसी सुन्दर है—

औरो कहा कोऊ बाल बधू है नयो तन जोबन तोहि जनायो।
तेरेई नैन बड़े ब्रज में जिन सों बस कीनो जसोमति जायो।
डोलतु है मनो मोल लियो कवि 'देव' न बोलत बोल बुलायो।
मोहन को मन मानिक सो गुन सों गुहि तैं उर सों उरझायो॥

अरी बाल बधू, तेरे विशाल नेत्रों में ऐसा जादू है, कि उसके कारण यशोदा-नन्दन कृष्ण तेरे हाथ बिक-सा गया है। अब तो वह बुलाने से बोलता भी नहीं है। सचमुच तैने सबको मोहने वाले मोहन का 'मन-मानिक' गुनों की डोरी में गुहकर अपने हृदय से उलझा लिया है।

× × ×

आगे लिखे श्लोक में मोह का उदाहरण कैसा सुन्दर है—

तीव्राभिषङ्ग प्रभवेण वृत्तिं,
मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञात भर्तृव्यसना मुहूर्त्तं,
कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

भगवान् शङ्कर द्वारा अपने पति कामदेव को भस्म हुआ देख, रति शोक से मूर्छित हो गई, आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों ने अपना व्यापार बन्द कर दिया। इस अचेतना—मूर्च्छा के कारण रति क्षण भर के लिए पति-वियोग रूपी वज्रपात को भूल गई। मानो उस घोर संकटापन्न अवस्था में मूर्च्छा ने थोड़ी देर के लिए आकर उसका दुःख बटा लिया जिसके लिए वह कृतज्ञता प्रकट करने लगी।

दुःसह दुःख को भुलाने के लिए मूर्च्छा की सहायिका के रूप में कल्पना कैसी सुन्दर और अलौकिक है। शोकाकुल रति मूर्च्छा के कारण ही अपनी वियोग-वेदना को भूल गई।

स्मृति

सदृश वस्तु या विषय के अवलोकन अथवा चिन्तन आदि से जो पूर्वानुभूत स्मरण हो आता है, उसे स्मृति कहते हैं। सुख और दुःख दोनों की मधुर या अमधुर स्मृति का होना स्वाभाविक है।

माथा सिकोड़ना, भौंहें चढ़ाना, सिर हिलाना आदि इसके लक्षण हैं।

कविवर आलमजी ने स्मृति के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया दिया है—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करें।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करें।
'आलम' जौन से कुञ्जन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करें।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें॥

कविवर आलम ने स्मृति का कैसा अच्छा शब्दचित्र खींचा है। आनन्दपूर्ण विहार, प्रेम मय संलाप और कुञ्जों तथा केलियों की याद कर

के सिर धुनना कैसा स्वाभाविक है। किसी समय जिस प्यारे की मञ्जु मूर्ति आँखों के सामने छुम-छुम नृत्य करती रहती थी, आज उसकी कहानी मात्र सुनकर ही सन्तोष करना पड़ता है।

महाकवि सूरदास की भी इस विषय की उक्ति बड़ी सुन्दर है—वे कहते हैं—

बिन गुपाल वैरिनि भई कुञ्जें।
तब जे लता लगति अति सीतल, अब भई बिसम ज्वाल की पुञ्जें।
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलें अलि गुञ्जें।
पवन पानि घनसार सजीवनि दधिसुत किरन भानु भइ भुञ्जें।
ए ऊधौ कहियो माधव सों बिरह करद कर मारत लुञ्जें।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ अरुन भई ज्यों गुञ्जें।

गोपाल के बिना कुञ्जों की कैसी दशा हो गई। जो लताएँ, गोपाल की मौजूदगी में शान्ति और शीतलता का केन्द्र बनी हुई थीं, अब उनसे असह्य आग की लपटें निकल रही हैं। कृष्ण के विना अब न यमुना-जल में वह आकर्षण है, और न पक्षियों के कलरव में आनन्द। और तो और सुधाकर (दधिसुत) की किरणें भी अब सूर्य रश्मियों की तरह भस्म कर डालने वाली बन गईं। श्रीकृष्णजी की प्रतीक्षा करते-करते आँखें लाल हो गई हैं। वे आवें तो सब बातें फिर ज्यों की त्यों हो जायँ।

अब इस विषय में महाकवि केशव की उक्ति भी पढ़ लीजिए।

'केसव' एक समै हरि राधिका आसन एक लसें रंग भीने।
आनन्द सों तिय आनन की दुति देखत दर्पन त्यौं दृग दीने।
भाल के लाल में बाल बिलोकति ही भरि लालन लोचन लीने।
सासन पीय सवासन सीय हुतासन में जनु आसन कीने॥

एक दिन राधा-कृष्ण दोनों एक आसन पर बैठ कर दर्पण में मुँह देखने लगे। राधिकाजी के चूड़ामणि में जड़े लाल में उन्हीं का (राधिका का) प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उस समय उन्हें सीताजी की अग्नि-परीक्षा

की याद आ गई। लाल में अपनी परछाँई देखकर राधिका को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सवत्सा सीता अपने पति के आदेश से अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि में आसन जमाए बैठी हैं।

कविरत्न सत्यनारायणजी का निम्नलिखित पद्य भी स्मृति का बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

वह दीखत चीकनी चोखी सिला कदली द्रुम सों चहुँ ओरन छाई।
सिय संग जहाँ तुम सोवत हे बतरात बिनोद भरे सुख पाई।
अरु बैठि तिन्हें तृन नूतन दै तुम प्यारी चरावति घासु सुहाई।
अब लों मृग वे चहुँ घेरे रहें कहुँ अन्त न बैठत ताहि बिहाई॥

× × ×

इस सम्बन्ध में 'शम्भु' नामक कवि का निम्नलिखित सवैया भी कैसा अच्छा है—

बालम के बिछुरे बढ़ी बाल के ब्याकुलता बिरहा दुख दान तें।
चौपरि आनि रची नृपशंभु सहेलिनी साहबिनी सुख दान तें।
तू जुग फूटे न मेरी भटू यह काहू कही सखियाँ सखियाँन तें।
कञ्ज से पानि तें पासे गिरे अँसुआ गिरे खञ्जन सी अँखियान तें॥

चौपड़ खेलते-खेलते किसी सखी के संकेत से विरहिणी को अपने पति का स्मरण हो आया। फिर क्या था, हाथ से पासे छूट पड़े, आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई और सारा खेल ख़तम हो गया।

स्मृति सञ्चारी के उदाहरण में नीचे लिखे दोहे भी बड़े मार्के के हैं—

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

× × ×

निकसत ही पट नील ते तेरे तन की जोति।
चपला अरु घनस्याम की हिये आनि सुधि होति॥

× × ×

जहाँ जहाँ ठाढ्यो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर।
उन हू बिन छिन गहि रहत दृगनि अजौं वह ठौर॥

× × ×

करी जु ही तुम वा दिना वाके संग बतरान।
बहै सुमिरि फिरि फिरि तिया राखत अपने प्रान॥

× × ×

इस विषय में संस्कृत कवि की कल्पना का भी आनन्द लूटिए—

मयि सकपटं किञ्चित् क्वापि प्रणीत विलोचने,
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भित तारकम्।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं,
कुवलय-दृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम्॥

मेरे आते ही प्रिया ने लज्जा से नीची आँखें करलीं, गर्दन झुकाली और स्वाभाविक संकोचवश उसने मेरी ओर कनखियों से भी न देखा। परन्तु ज्यों ही मैंने बहाने से अपनी दृष्टि इधर-उधर फेरी त्यों ही वह चञ्चल चितवन से मेरी ओर निहारने लगी। उस जादू-भरे चितवन को देखकर पास बैठी हुई सखी मुस्कराई। सखी की मुस्कराहट देख, प्रिया ने लज्जा से फिर नीची गरदन कर ली। उस समय का उस नील-कमल-नयनी का मुस्कराता हुआ बदनारविन्द मुझे बार-बार याद आ रहा है।

धृति

तत्व ज्ञान, साहस, सत्संग या इष्ट प्राप्ति के कारण इच्छाओं की पूर्ति हो जाना, अथवा बड़े से बड़ा संकट पड़ने पर भी बुद्धि का विचलित न होना धृति कहाता है। किसी किसी ने लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न मनोविकारों को नष्ट करने वाली चित्तवृत्ति को धृति कहा है।

संतुष्टि, मधुरभाषण, बुद्धि-विकास, धैर्य, गाम्भीर्य आदि इसके लक्षण हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने विज्ञान. शास्त्र, विभव, पवित्रता, आचार, गुरु-भक्ति, अर्थ-लाभ क्रीड़ा आदि विभावों से धृति की उत्पत्ति मानी है।

धृति संचारी के उदाहरण, में ठाकुर कवि का नीचे लिखा सवैया दिया जाता है।

जबतें दरसे मनमोहनजू तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं।
कुल कानि गई सखि वाही घड़ी जब प्रेम के फन्द पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नैन के नेजन की उर में अनि आनि खगीं सो खगीं।
तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरो, हम साँवरे रंग रँगीं सो रँगीं॥

मनमोहन के दर्शन से हम पर जादू का-सा प्रभाव पड़ा है। अब तो हम हर समय उन्हीं के प्रेम-पाश में फँसी रहती हैं। उन्हीं के नयनों के नेज़े की अनी हमारे हृदयों में चुभी हुई है। कोई हमारे कैसे ही नाम रक्खे, कितनी ही निन्दा क्यों न करे, पर हम तो साँवरे-सलौने कन्हैयाजी के रंग में रँग गईं सो रँग गईं, अब क्या कोई दूसरी बात हो सकती है।

यहाँ साँवरे के रंग में रँगी रहने की अविचल बुद्धि ही धृति संचारी है।

इसी सम्बन्ध में पद्माकरजी का सवैया भी सुनिए—

रे मन साहसी साहस राखु सु साहस तें सब जेर फिरेंगे।
ज्यों 'पदमाकर' या सुख में दुख त्यों दुख में सुख सेर फिरेंगे।
वैसे ही बेणु बजावत स्याम सुनाय हमारहु टेर फिरेंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कब हूँ फिर वे दिन फेर फिरेंगे॥

उपर्युक्त पद्य में भी बड़ी समझदारी और साहस के साथ विना किसी घबराहट या विचलित भावना के अच्छे दिन फिर फिरने की आशा प्रकट की गई है।

धृति के उदाहरण में महाकवि देव का निम्नलिखित सवैया कैसा सुन्दर है।

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि बैनन के रस सों श्रुति सानों।
गात में देखत गात तुम्हारेई बात तुम्हारी ये बात बखानों।
ऊधौ हहा हरि सों कहियो तुम हौ न यहाँ यह हौं नहिं मानों।
या तन ते बिछुरे तो कहा मनते अनतै जु बसो तब जानों॥

देवजी का भाव स्पष्ट है। वे कहते हैं कि ऊधौजी श्री कृष्णजी से कह देना कि तुम यहाँ नहीं हो, यह बात हम नहीं मानते। शरीर से हमें छोड़कर चले गए हो तो क्या है, हमारे मन-मन्दिर से कहीं चले जाओ तब जानें।

युद्ध में धृति का उदाहरण देखिये—

चले चन्द्रबान घनबान औ कुहुकबान,
चलत कमाने आसमाने भूमि छ्वै रह्यौ।
चली जम दाढ़ें तरवारें चलीं बाढ़ें चलीं,
ग्रीसम को तरनि तमामे आनि वै रह्यौ।
ऐसे राव युद्ध के मुकन्द ने चलाए हाथ,
अरिन के चले पाय भारत बितै रह्यौ।
हय चले हाथी चले संग छोड़ साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा है रह्यौ॥

युद्ध में हय हाथी और साथी सब के पैर उखड़ गए, सब साथ छोड़-छोड़कर चल दिये, परन्तु ऐसी चलाचली की हालत में भी साहसी हाड़ा बराबर अचल रूप से अड़ा रहा। ऐसी अवस्था में यह अचलता ही धृति संचारी है।

अब इस सम्बन्ध में संस्कृत का उदाहरण भी देख लीजिए—

कृत्वा दीन निपीड़नां निजजने बद्ध्वा वचो विग्रहं,
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः।
द्रव्यौघाः परि सञ्चिताः खलु मया यस्याः कृते साम्प्रतं,
नीवाराञ्जलिनाऽपि केवलमहो! सेयं कृतार्था तनुः॥

संसार से विरक्त हुआ कोई व्यक्ति अपने पिछले कर्मों की आलोचना करता हुआ कहता है, जिस पापी पेट के लिए मैंने ग़रीबों का गला काटा, मित्र-मिलापियों से झगड़े टंटे किये, पाप की कमाई करने में कड़ी से कड़ी यम-यातना का भी भय नहीं किया, आज उसकी तृप्ति मुट्ठी-भर समा के चावलों से हो रही है।

व्रीड़ा

निकृष्ट आचार-व्यवहार स्तुति, प्रतिज्ञा भंग, पराभव, गुरुजनों की मान-मर्यादा अथवा कामादि से हृदय में जो संकोच होता है, उसे व्रीड़ा कहते हैं।

झेंपना, सिर नीचा कर लेना, भूमि पर लकीरें काढ़ना, कपड़े का कोना पकड़ कर उसे ऐंठना आदि इसके लक्षण हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने परम प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित-मानस में व्रीड़ा का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है। देखिये—

गुरु जन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि।
लगी विलोकन सखिन तन रघुबीरहिं उर आनि॥

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी।
प्रकट न लाज निशा अवलोकी॥

× × ×

कोटि मनोज लजावन हारे।
सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥

सुनि सनेहमय मंजुल बानी।
सकुचि सीय मन महँ मुसकानी॥

तिनहिं विलोकि विलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति वर बरनी॥

सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी।
बोली मधुर वचन पिकवयनी॥
सहज सुभाय सहज तन गोरे।
नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैनन।
निज पति कहेउ तिन्हें सिय सैनन॥

× × ×

सीताजी ने लक्ष्मणजी के सम्बन्ध में तो साफ़-साफ़ बता दिया कि ये मेरे छोटे देवर हैं। परन्तु जब रामचन्द्रजी के बताने का अवसर आया, तो उन्होंने लज्जावश आँचल से मुँह ढाँक लिया, और वह तिरछी चितवन करके उनकी ओर ताकने लगीं। इस प्रकार आँखों की इस मूक भाषा ने पूछने वालों को साफ़-साफ़ बता दिया, कि रामचन्द्रजी सीताजी के पतिदेव हैं।

व्रीड़ा के उदाहरण में एक सवैया और भी देखिये—

मोहन आपुनो राधिका को बिपरीत को चित्र बिचित्र बनाइ कै।
दीठि बचाय सलोनी की आरसी पै चिपकाय गयो बहराइ कै।
घूमि घरीक में आइ कह्यो कहा बैठी कपोल में बिन्दु लगाइ कै।
दर्पन त्यों तिय चाह्यो नहीं मुसकाइ रही मुख मोरि लजाइ कै॥

अर्थ स्पष्ट ही है।

व्रीड़ा विषयक कविवर मतिराम तथा महाकवि बिहारी के निम्नलिखित दोहे भी पठनीय हैं।

ज्यों-ज्यों परसे लाल तन त्यों त्यों राखे गोय।
नवल बधू हा लाज तें इन्द्रबधूटी होय॥

× × ×

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ए मुँह जोर तुरंग लों ऐंचत हू चलि जाहिं॥

(बिहारी

उपर्युक्त दोनों दोहे ब्रीड़ा संचारी के सजीव उदाहरण हैं।

ब्रीड़ा के उदाहरण में संस्कृत का निम्नाङ्कित श्लोक कितना सुन्दर है।

कुच कलश युगान्तर्मामकीन नखाङ्कं,
सपुलक तनु मंदं मन्दमालोकमाना।
विनिहित वदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे,
चकित नत नताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥

सखे, प्रिया के स्तनों पर जो मेरा नखक्षत बन गया था, उसे वह एकान्त स्थान में खड़ी बड़ी पुलकित होकर छिपे-छिपे देख रही थी। परन्तु ज्यों ही उसने झरोखे में होकर मुझे अपनी ओर झाँकते देखा, त्यों ही आश्चर्यचकित और लज्जित हो, सिमट कर भीतर घर में जा घुसी।

ब्रीड़ा का कितना सुन्दर और स्वाभाविक उदाहरण है। यहाँ नायिका को एकान्त में नख-चिन्हित स्तनों को निहारते समय अचानक नायक का दृष्टि पड़ जाना विभाव, तथा उसका सिमट सिकुड़कर घर के भीतर घुस जाना अनुभाव एवं ब्रीड़ा संचारी भाव है।

चपलता

ईर्ष्या, द्वेष, मत्सरता एवं अत्यन्त अनुराग के कारण उत्पन्न हुई अस्थिरता या अव्यवस्थापूर्वक कार्य करने को चपलता कहते हैं। किसी किसी ने शीघ्रतापूर्वक एक के बाद एक क्रिया करने को चपलता कहा है।

दूसरों को धमकाना, कठोर शब्द कहना उच्छृंखल आचरण आदि इसके लक्षण हैं।

पद्माकरजी का आगे लिखा सवैया चपलता का अच्छा उदाहरण है—

कौतुक एक लख्यौ हरि ह्यॉं 'पदमाकर' यों तुम्हैं जाहिर की मैं।
कोऊ बड़े घर की ठकुराइनि ठाढ़ी निघाति रहे छिन की मैं।
झाँकति है कबहूँ झझरीन झरोखनि त्यौं सिर की सिर की मैं।
झाँकति ही खिरकी में फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मैं॥

अत्यन्त अनुराग के कारण ठकुराइनि का झझरी-झरोखों में झाँकना और 'खिरकी खिरकी में थिरकी फिरना' चपलता संचारी है।

चपलता संचारी के सम्बन्ध में बैनी कवि का नीचे लिखा कवित्त भी देखिये—

कहूँ दौरि पौरि कहूँ खोरि में अटा में कहूँ,
बीजुरी छटाकी अदभुत गति काढ़ी है।
कहूँ लीन्हे दधि मधि गोकुल बिलोकियत,
कहूँ मधुबन में फिरत मानों डाढ़ी है।
स्याम के बिलोकिवे को ब्याकुल 'प्रवीन बैनी'
थिर न रहति गेह यों सनेह बाढ़ी है।
जमुना के तट बंसी बट के निकट कहूँ,
झटपट लीन्हें घट पनघट ठाढ़ी है॥

उपर्युक्त छन्द में भी किसी ब्रजाङ्गना की प्रेमातिरेकजन्य अस्थिरता का वर्णन है, अतएव वह चपलता संचारी है।

निम्नलिखित दोहे भी चपलता के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं—

छिन बैठे छिन उठि चलै छिन छिन ठाढ़ी होय।
घायल सी घूमति फिरै मरम न जानै कोय॥

× × ×

उतते इत इतते उतहि छिनक न कहुँ ठहराति।
जकन परति चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति॥

× × ×

चकरी लौं सकरी गलिनु छिन आवति छिन जाति।
परी प्रेम के फन्द में बधू बितावति राति॥

× × ×

इतते उत उतते इतहि चमकि जाति वे हाल।
लखिवे के घन स्याम के भई दामिनी बाल॥

× × ×

अन्त में एक श्लोक पढ़ कर, उसका आनन्द भी अनुभव कीजिए—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग ?
लोलं विनोदय मनः सुमनो लतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले,
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ?

अरे भौंरे, इन भोली भाली कोमल-काय, अल्पायु, पराग-शून्य कुंचित कलिकाओं को क्यों बदनाम करता है। उन पुष्पलताओं में जाकर अपना मनोरञ्जन कर जो तेरी केलि-क्रीड़ा समझने और सहारने में समर्थ हों।

हर्ष

इष्ट की प्राप्ति अथवा उत्सवादि के कारण मन में जो प्रसन्नता होती है, उसे हर्ष कहते हैं।

आनन्दाश्रु, गद्गद् स्वर, पुलकावलि, मुख और नेत्रों की प्रसन्नता, स्वेद, प्रिय भाषण उत्सव, ताली बजाना, आदि इसके लक्षण हैं।

रामचरित मानस से हर्ष का निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे प्रभु सुखकन्द।
हर्षवन्त सब जहँ तहँ नगर नारिनरवृन्द॥

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
सम्भ्रम चलि आईं सब रानी॥
हर्षित जहँ तहँ धाईं दासी।
आनँद मगन सकल पुरवासी॥
दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना।
मानहु ब्रह्मानन्द समाना॥

परम प्रेम मन पुलक सरीरा।
चाहत उठन करत मति धीरा॥
जाकर नाम सुनत सुभ होई।
मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥
परमानन्द पूरि मन राजा।
कहा बुलाइ बजावहु बाजा॥

उपर्युक्त चौपाइयों में राम-जन्मोत्सव का वर्णन है, अतः वह हर्ष संचारी है।

भक्त शिरोमणि मीराबाई हर्षातिरेक से आनन्द-विह्वल हो गा उठती हैं—

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु किरपा करि अपनायो।
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे दिन दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवरिया सतगुरु भवसागर तर आयो।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर हरख हरख जस गायो॥

मैंने तो राम रत्न धन पालिया, मेरे सतगुरु ने कृपाकर मुझे अमूल्य वस्तु प्रदान कर दी। मुझे तो अब ऐसी पूँजी मिल गई, जिसे चोर भी नहीं चुरा सकता। मैं इससे कृतार्थ हो गई, कृतकृत्य हो गई।

महाकवि देव की भी हर्ष सम्बन्धी उक्ति सुनिये—
बैठी ही सुन्दरी मन्दिर में पति को पथ पेखि पतिव्रत पोखे।
तौ लगि 'आयेरी' आय कह्यौ दुरि द्वार तें देवर दौरि अनोखे।
आनन्द में गुरु की गुरुताउ गनी गुन गौरि न काहु के ओखे।
नूपुर पाँइ उठे झनकाइ सुजाइ लगी धन धाम झरोखे॥

नायिका परदेश से अपने पति के आने का समाचार सुनकर आनन्द से उछल पड़ती है। उस समय उसे बड़े बूढ़ों का भी कुछ ख्याल नहीं

रहता। वह नायक को देखने के लिए बिछुओं को झनकाती हुई, झरोखों में झाँकती फिरती है।

× × ×

निम्नलिखित दोहे भी हर्ष के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

मृगनयनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमगि पलटन लगी दुकूल॥

× × ×

तुमहि बिलोकि बिलोकि ये हुलसि रह्यौ यों गात।
आँगी में न समात उर उरमें मुद न समात॥

× × ×

उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
बिकसे सन्त सरोज उर हरषे लोचन भृङ्ग॥

अब इस विषय में संस्कृत कवि की सूझ देखिए, वह क्या कहता है—

समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात् पिता मुखं,
निधान कुम्भस्य यथैव दुर्गतः।
मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः,
पयोधिरिन्दूदय मूर्छितो यथा॥

जिस प्रकार कोई कंगाल पुरखाओं की गड़ी हुई धरोहर पाकर ख़ुशी से फूल उठता है, उसी प्रकार राजा दिलीप को बुढ़ापे में पुत्र रत्न लाभ कर प्रसन्नता हुई। जिस तरह शान्त समुद्र चन्द्रोदय देखकर आपे में नहीं रहता, उसी तरह राजा दिलीप के हर्ष का पारावार न रहा।

आवेग

सहसा इष्ट वा अनिष्ट की प्राप्ति अथवा अत्यन्त हर्ष, विषाद, भय, स्नेह या उत्थान के कारण आतुर या व्याकुल होने को आवेग कहते हैं।

शारीरिक शिथिलता, व्याकुलता, विस्मय कम्प, स्तम्भ, शोक आदि इसके लक्षण हैं। इष्टजन्य आवेग में हर्ष और अनिष्टजन्य में विषाद होता है।

नाट्यशास्त्रकार ने उत्पात, पवन, वृष्टि, अग्नि, हाथी के छूट भागने, प्रिय अप्रिय श्रवण और व्यसन आदि विभावों से उत्पन्न होने के कारण आवेग आठ प्रकार का माना है। साहित्यदर्पणकार ने भी इसके कई भेद किये हैं।

आवेग के उदाहरण में पद्माकरजी का निम्नलिखित कवित्त देखिये।

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहति सुहाई सीस ईंडुरी सु पट की।
कहैं 'पदमाकर' गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई तातें,
मधुर मलार गाई और बंसीबट की।
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की॥

यमुना पर पानी भरती हुई गोपिका को, मोहन की बाँसुरी की सुरीली तान या मधुर मलार की मोहक ध्वनि ने मुग्ध कर दिया। वह आनन्दातिरेक के कारण सब सुध-बुध भूल गई। उसे घाट, औघट, बाट, घट, घूँघट किसी की कुछ ख़बर न रही। यहाँ अत्यन्त प्रसन्नता के कारण व्याकुल हो जाना ही आवेग संचारी है।

देव ने भी निम्नलिखित सवैया में आवेग का चित्र बड़े कौशल के साथ अंकित किया है। देखिए—

देखन दौरी सबै ब्रज बाल सु आए गुपाल सुने ब्रज भूपर।
टूटत हार हिये न सम्हारतीं छूटत बार न किंकिणि नूपुर।
भार उरोज नितम्बन को न सहै कटि औलटिवो दृग दूपर।
'देव' सु दै पथ आई मनो चढ़ि धाई मनोरथ के रथ ऊपर॥

आवेग के उदाहरण में पद्माकरजी का नीचे लिखा कवित्त भी बड़ा सुन्दर है। इसमें माता यशोदा गोवर्द्धन-धारण के समय अपने पुत्र श्रीकृष्ण की अनिष्ट-आशंका से व्याकुल होकर कहती हैं—

सब ही के गोधन हैं सब ही के बाला बाल,
सब ही को परी आइ प्रानन की भीर है।
सब ही पै बरसत गोराधार मेह यह,
सब ही की छाती छेदि पारत समीर है।
मेरो ही अनोखो यह बेटा है कि माँगि अन्यो,
बोझिल पहार तरे कोमल सरीर है।
गिरि याके करतें घरीक किन लेइ कोऊ,
सब ही अहीर पै न काऊ हीर पीर है॥

सब पर समान आपत्ति आई हुई है, सब भयत्रस्त और कष्ट पीड़ित हैं, सब ही को विपत्ति से बचने का उपाय करना चाहिये। परन्तु मैं तो देखती हूँ, मेरा कोमल-काय बेटा ही पहाड़ के भारी भार से दब रहा है, उसी पर सारा बोझ डाल दिया गया है। किसी से इतना भी नहीं होता कि घड़ी-भर के लिए भी उसका बोझ हलका कर दे। ऐसी भी हृदय-हीनता क्या।

निम्नलिखित दोहे भी आवेग के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं—

सुनि तुअ दल अरि तियनि की ऐसी गति दरसात।
भजति गिरति उठि फिरि भजति भजि भजि गिरिगिरि जात॥

× × × ×

सुनि आहट पिय पगन की भभरि भजी यों नारि।
कहुँ कंकन कहुँ किंकिनी कहूँ सु नूपुर डारि॥

रामचरित मानस की निम्नलिखित पंक्तियाँ आवेग के सम्बन्ध में बड़ी रुचि पूर्वक पढ़ी जायँगी।

चलत राम लखि अवध अनाथा।
बिकल लोग लागे सब साथा॥
रामहिं देखि एक अनुरागे।
चितवत चले जात सँग लागे॥

× × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रणाम करत रघुनाथा॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु-तीरा॥

यहाँ प्रेम से अधीर होकर धनुषवाण आदि की सुध-बुध भूल जाना आवेग सञ्चारी है। और भी देखिये—

सुनत श्रवण वारिधि बन्धाना।
दशमुख बोलि उठा अकुलाना॥
बाँधेउ जल निधि नीर निधि जलधि सिन्धु वारीश।
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीश॥

उपर्युक्त पंक्तियों में सेतु बन्ध का समाचार सुनकर रावण के हृदय में सहसा व्याकुलता उत्पन्न हो जाना आवेग सञ्चारी है।

× × × ×

अब इस विषय में किसी संस्कृत कवि की भी विचार-बानगी देखिए—

अर्घ्यमर्घ्य मति वादिनं नृपं,
सोऽनवेद्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्र कोप दहनार्चिषं ततः,
सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम्॥

परशुरामजी के आने पर राजा दशरथ ने उनके स्वागतार्थ शीघ्रता-पूर्वक अर्घ लाने को कहा, परन्तु परशुराम ने उधर तनक भी ध्यान न देकर समीप बैठे श्री रामचन्द्रजी पर क्षत्रिय-विध्वंसकारिणी कोपाग्नि से प्रज्ज्वलित अपनी अत्यन्त उग्र दृष्टि डाली, जिसे देख राजा दशरथ को घोर व्याकुलता हुई।

जड़ता

इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन और श्रवण से सहसा उत्पन्न चेष्टा और शून्य चित्तवृत्ति को जड़ता कहते हैं।

टकटकी लगा कर देखते रहना, चुप हो जाना, शिथिल हो जाना आदि इसके लक्षण हैं।

रसतरंगिणीकार के मत में सब व्यवहारों में असमर्थता बोध का नाम जड़ता है।

जड़ता के उदाहरण में पद्माकरजी का कवित्त पढ़िये—

आजु बरसाने की नबेली अलबेली बधू,
मोहन बिलोकिवे को लाज काज लै रही।
छज्जा छज्जा झाँकती झरोखनि झरोखनि है,
चित्रसारी चित्रसारी चन्द्र सम ह्वै रही।
कहै 'पदमाकर' त्यौं निकस्यौ गोविन्द ताहि,
जहाँ तहाँ इक टक ताकि घरी द्वै रही।
छज्जावारी छकी सी झरोखावारी उझकी सी,
चित्र कैसी लिखी चित्रसारी वारी ह्वै रही॥

यहाँ गोविन्द के दर्शन से नबेली अलबेली बधुओं का शिथिल होकर चित्रलिखित-सा हो जाना, जड़ता संचारी है।

कविवर द्विजदेवजी का निम्नलिखित पद्य भी जड़ता के उदाहरण में बिलकुल 'फ़िट' बैठता है। देखिये—

परम परब पाय न्हाय जमुना के तीर,
पूरि कै प्रवाह अंग राग कै अगर तैं।
'द्विज देव' की सौं द्विजराज अंजली के काज,
जौ लौं चहै पानिप उठायो कञ्ज कर तैं।
तौ लौं बन जाय मनमोहन मिलापी कहूँ,
फूँक सी चलाई फूँक बाँसुरी अधर तैं।
स्वासा कढ़ी नासा तैं न बासा तैं भुजाएँ कढ़ीं,
अञ्जली न अञ्जली तें आखरौ न गर तैं॥

उपर्युक्त पद्य में बाँसुरी की आवाज़ के कारण ब्रजाङ्गना का शिथिल हो जाना जड़ता सञ्चारी है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जड़ता का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, इसे भी पढ़ लीजिए—

जाइ समीप राम छवि देखी।
रहि जनि कुँवरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई।
पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई।
प्रेम विवस पहिराइ न जाई॥

उपर्युक्त चौपाइयों में प्रेमातिरेक से शिथिल होकर माला का न पहना सकना जड़ता संचारी है।

देव कवि ने भी निम्नलिखित सवैया में जड़ता का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया है—

कालिन्दी तट कालिह भटू कहुँ ह्वै गई दोउन भेंटें भली सी।
ठौर ही ठाढ़े चितौत इतौत न नैकऊ एक टकी टहली सी।
'देव' के देखती देवता सी वृषभान लली न हली न चली सी।
नन्द के छोहरा की छवि सों छिनु एक रही छवि छैल छली सी॥

उपर्युक्त सवैया में नन्द के 'छोहरा' की छवि की ओर वृषभानु लली का अविचलित भाव से टकटकी लगाकर देखते रहना जड़ता संचारी है।

इस विषय के निम्नलिखित दोहे भी बहुत सुन्दर हैं—

बाट चलत ननदी कह्यौ कहाँ गिरी तुव माल।
हिये ओर तकि चकित ह्वै थकित ह्वै रही बाल॥

× × × ×

हलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ दुहुन विसरिगे गेह।
इक टक दुहुन दुहूँ लखैं अटकि अट पटे नेह॥

नीचे लिखे श्लोक का भी मुलाहिज़ा फरमाइये कैसा अच्छा है—

केवलं तद्युव युगलमन्योऽन्य निहित सजल मन्थर दृष्टि,
आलेख्यापितमिव क्षण मात्रं तत्र संस्थितं मुक्त सङ्गम् ।

उस समय प्रेमियों की वह युगल जोड़ी एक दूसरे की ओर सजल नेत्रों में टकटकी लगा कर देखती रही ।

गर्व

विद्या, रूप, धन बल, यौवन, ऐश्वर्य आदि गुणों के सम्बन्ध में अपने आपको औरों की अपेक्षा बड़ा समझने का नाम गर्व है ।

विभ्रम सहित ओठ-अँगूठा दिखाना, अविनय, ईर्ष्या, अवज्ञा, अपने शौर्य की प्रशंसा, मिथ्या हँसना, कठोर वाणी बोलना, गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन या तिरस्कार करना, दूसरों को तुच्छ समझना आदि इसके लक्षण हैं ।

गर्व संचारी के सम्बन्ध में महाकवि केशवदास का उदाहरण देखिये—

भौंर ज्यौं भ्रमत भूत, बासुकी गनेस जूथ,
मानो मकरन्द बुन्द माल गंगाजल की ।
उड़त पराग पट नाल सी बिसाल बाहु,
कहा कहौं 'केसोदास' सोभा पल-पल की ।
आयुध सघन सर्वमगला समेत सर्व,
पर्वत उठाय गति कीन्ही है कमल की ।
जानत सकल लोक लोकपाल दिक्पाल,
जानत न बान बात मेरे बाहुबल की ॥

उपर्युक्त कवित्त में रावण का कैलास-पर्वत कमल की तरह उठा कर अपने बाहुबल की प्रशंसा करना गर्व संचारी है । इस छन्द में महाकवि केशव ने सुन्दर रूपक द्वारा कैलास-पर्वत को कमल बना दिया है । इस कैलास रूपी कमल में शंकर के गण भूत आदिक भौंरे के समान, और

पुण्य सलिला जान्हवी का प्रवाह ही मकरन्द-धारा है। नीचे रावण के विशाल बाहु ही मानो कैलास-कमल की डंडी (नाल) है।

शङ्करजी की भी गर्व विषयक उक्ति बड़ी सुन्दर है, देखिए—

सास ने बुलाई घर बाहर की आईं सु-
लुगाइन की भीर मेरो घूँघट उघारै लगी।
एक तिन में की तिन तोरि-तोरि डारै लगी,
दूसरी सराई राई नौन की उतारै लगी।
'शंकर' जिठानी बार-बार कछु वारै लगी,
मोद मढ़ी ननदी अटोक टौना टारै लगी।
आली पर साँपिनि सी सौति फुसकारै लगी,
हेरि मुख हाकर निसाकर निहारै लगी॥

नँनदी, जिठानी आदि ने तो मेरा मुँह देखकर प्रसन्नता प्रकट की और नज़र लग जाने के डर से उन्होंने टौना-टनमन के उपचार आरम्भ कर दिये, परन्तु सौत ठंडी साँस लेती हुई, चन्द्रमा की ओर देखने लगी। अर्थात जैसा चन्द्रमा था, वैसा ही नायिका का मुखमण्डल था। यह बात सौत को इतनी बुरी लगी कि वह उस पर साँपिन की तरह फुसकारने लगी। यह रूपगर्विता नायिका की उक्ति है। इसमें उसने व्यञ्जना से अपने सौन्दर्य की प्रशंसा की है, अतएव यहाँ गर्व संञ्चारी है।

रामचरित-मानस की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखिए, गर्व के उदाहरण में कैसी फ़िट बैठती हैं।

जनि जल्पसि जड़ जन्तु कपि शठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल बल विपुल शशि ग्रसन हेतु सब राहु॥
× × ×
कुम्भकरन से बन्धु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम सुनेसि नहिं जितेउ चराचर झारि॥
× × ×

भुज बल भूमि भूप बिन कीन्ही।
विपुल बार महिदेवन दीन्ही॥
सहसबाहु भुज छेदन हारा।
परसु बिलोकि महीप कुमारा॥
मातु पितहिं जनि सोच बस करसि महीपकिसोर।
गर्भन के अर्भक दलन परशु मोर अति घोर॥

उपर्युक्त पंक्तियों में रावण और परशुराम ने अपने-अपने बल-विक्रम की बड़ाई की है।

नीचे देव कवि का उदाहरण देखिये—

देव सुरासुर सिद्ध बधून कों एतो न गर्व जितो इहि ती को।
आपने जोबन के गुन के अभिमान सबै जग जानत फीको।
काम की ओर सकोरति नाक न लागत नाक को नायक नीको।
गोरी गुमाननि ग्वारि गँवारि गिनै नहिं रूप रती को रती को॥

ग्वालवधू भी ख़ूब है, अपने रूप यौवन के आगे किसी को कुछ समझती ही नहीं। उसे सारा संसार फीका दिखाई देता है। वह तो अपने सौन्दर्य के अभिमान में स्वर्ग पति इन्द्र और कामदेव को भी धिक्कारने लगती है। रति के रूप को तो वह अपने आगे रत्ती भर भी नहीं समझती, उसकी बिलकुल प्रशंसा नहीं करती। ऐसी गँवारिन ग्वालिन से क्या कहा जाय।

इसी आशय का पद्माकरजी का निम्नलिखित कवित्त भी देखने योग्य है—

बानी के गुमान कल कोकिल कहानी कहा,
बानी की सुबानी जाहि आवत भनै नहीं।
कहै 'पदमाकर' गोराई के गुमान कुच—
कुम्भन पै केसरि की कंचुकी उनै नहीं।
रूप के गुमान तिल-उत्तमा न आनै उर,
आनन निकाई पाई चन्द्र कीरनै नहीं।

मृदुता गुमान मखतूल हू न मान कछु,
गुनके गुमान गुन गौरि को गनै नहीं ॥

× × ×

इस विषय में संस्कृत का यह श्लोक भी बड़ा उत्कृष्ट है, देखिए—

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत् केन साध्यताम् ॥

कर्ण क्रुद्ध होकर बड़े गर्व भरे वचनों में कहता है—अरे अश्वत्थामा, जब तक मैंने अपने हाथों में हथियार ले रक्खे हैं, तब तक और किसी को शस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं है। यदि मेरे पराक्रम से ही इष्ट-सिद्धि न हुई, तो फिर किसकी ताक़त है, जो कामयाबी करके दिखा दे।

विषाद

अभिलषित कार्य की सिद्धि में निरुपाय होकर, अथवा इष्ट हानि या अनिष्ट प्राप्ति के कारण जब मनुष्य पुरुषार्थहीन हो पश्चात्ताप करता या दुखी होने लगता है, तब उस अवस्था की विषाद संज्ञा होती है।

निःश्वास, मानसिक ताप, उत्साह-भंग, ध्यान मग्न बैठे रहना आदि इसके लक्षण होते हैं।

विषाद के उदाहरण में पद्माकरजी का नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है—

एकै संग धाये नन्दलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गए जु भरि आनन्द मढ़ै नहीं।
धोय धोय हारी 'पदमाकर' तिहारी सौंह,
अब तो उपाव कोऊ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं कहाँ जाउ कासौं कहौं कौन सुनै,
कोऊ तो निकासो जासों दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ॥

नन्दलाल और गुलाल दोनों ने एक साथ नायिका के नयनों में प्रवेश किया. गुलाल तो धोने-धाने से ज्यों त्यों कर निकल गया, परन्तु नन्दलाल उनमें अडिग आसन जमा गए। नन्दलाल को बहुतेरा निकालना चाहा, परन्तु वह कब निकलते हैं। नायिका निरुपाय होकर बड़ी व्याकुलता से कहती है, "कैसी करों कहाँ जाऊँ कासों कहों कौन सुनै, कोऊ तो निकासो जासों दरद बढ़ै नहीं" परन्तु नयनों के रास्ते घुस कर हृदय में जा बिराजने वाले नन्दलाल कहीं निकलते हैं। यहाँ नायिका का निरुपाय होकर दुखी होना विषाद संचारी है।

अब विषाद के उदाहरण में मतिरामजी का भी एक सवैया पढ़ लीजिए।

ठाढ़े भए कर जोरि कै आगे अधीन ह्वै पायन सीस नवायो।
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठि तैं मन भायो।
देखति हौ सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महामद छायो।
रूठि गयो उठि प्रान पियारो कहा कहिये तुमहू न मनायो॥

उपर्युक्त सवैया में निरुपाय जन्य दुःख या पश्चात्ताप का वर्णन होने के कारण वह विषाद संचारी है।

गोस्वामी तुलसीदास की भी इस सम्बन्ध में कैसी सुन्दर उक्ति है, ज़रा मुलाहिज़ा फ़रमाइए—

सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्वज्ञ।
कीन कपट मैं शम्भु सन नारि सहज जड़ अज्ञ॥
हृदय सोच समुझत निज करनी।
चिन्ता अमित जाइ नहिं बरनी॥
कृपासिन्धु शिव परम अगाधा।
प्रकट न कहेउ मोर अपराधा॥
शंकर रुख अवलोकि भवानी।
प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥

निज अघ समुझि न कछु कहि जाई।
तपै अवा इव उर अधिकाई॥

सती ने सीता का रूप धारण कर श्रीरामचन्द्रजी को धोखा देना चाहा, परन्तु वे असली बात ताड़ गए इससे सती को बड़ी खिझाहट हुई। महादेव को भी सती का यह कपट व्यवहार अच्छा नहीं लगा और उन्होंने सीता का रूप बनाने के कारण उन्हें त्याग दिया। फिर क्या था, सती न इधर की रही न उधर की. केवल पश्चात्ताप-जनित दुःख शेष रह गया। यहाँ अपना अपराध जान कर सती का मौनपूर्वक भीतर ही भीतर अवें की भाँति तपते रहना विषाद संचारी है।

कविवर बैनी प्रबीन ने विषाद का वर्णन कैसी सुन्दर व्यञ्जना में किया है, देखिए—

बहु द्यौस बिदेस बिताय पिया घर आवन की घरियाली भई।
वह देस कलेस बियोग कथा सब भाखी यथा बनमाली भई।
हँसिकै निसि 'बैनीप्रबीन' कहै जब केलि कला की उताली भई।
तब या दिसि पूरब पूरब को लखि बैरनि सौति सी लाली भई॥

विदेश से आए हुए प्रियतम ने सारी रात अपने यात्रा-वर्णन में ही बिता दी और जब केलि का समय आया तो उषःकाल होने लगा—पौ फटने लगी। उस समय पूर्व दिशा की लाली नायिका को वैरिन से भी बढ़ कर प्रतीत हुई।

विषाद संचारी के उदाहरण में पद्माकरजी का यह दोहा कैसा सुन्दर है, देखिए—

अब न धीर धारत बनत सुरत बिसारी कन्त।
पिक पापी कूकन लग्यो बगरयौ बधिक बसन्त॥

दशों दिशाओं में वसन्त की वसुधा दिखाई देने लगी है। कोयल की कूक से आनन्द की मन्दाकिनी फूट निकली है, परन्तु प्राणनाथ ने ज़रा

भी सुध नहीं ली, न जाने वे क्यों भूल गए। वियोग-जनित इस दुःखद अवस्था में अब मुझ से धैर्य धारण नहीं होता।

अब संस्कृत कवि-कल्पना की ऊँची उड़ान देखिए—

एषा कुटिल घनेन सुचिकुर कलापेन तव निबद्धा वेणी।
मम सखि! दारयति दशत्यायस यष्टिरिव यमोरगीव हृदयम्॥

अरी सखी, तैने आज ग़ज़ब का शृङ्गार किया है। तू तो अपने सघन एवं कुंचित केश-कलाप की ऐसी कड़ी चोटी बाँध आई है, कि वह मेरे हृदय में लोह दण्ड की तरह लगती और काली नागिन के समान डसने को जीभ लपलपाती है।

औत्सुक्य

इष्ट प्राप्ति में विलम्ब सहन न करना उत्सुकता कहाती है।

मानसिक सन्ताप, जल्दबाजी, पसीना, दीर्घ निःश्वास, नीचे मुँह करके विचार करना, चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा, शरीर का भारीपन आदि इसके लक्षण होते हैं।

देवजी के निम्नलिखित सवैया में उत्सुकता का उदाहरण देखिए—

कैधौं हमारी ही बार बड़ो भयो, कै रवि को रथ ठौर ठयो है।
भोर ते भानु की ओर चितौति घरी पल ते गनते ही गयो है।
आवत छोर नहीं छिन को दिन को नहीं तीसरो जाम छयो है।
पाइये कैसे कै साँझ तुरन्त हि देखुरी द्यौस दुरन्त भयो है॥

रात्रि आगमन की उत्सुकता में उत्कण्ठिता नायिका दिन की घड़ियाँ गिन रही है। परन्तु दिन काटे नहीं कटता, उसने द्रौपदी के चीर का रूप धारण कर लिया है।

इस सम्बन्ध में पद्माकरजी का भी निम्नलिखित उदाहरण देखने लायक है—

ताकिये तितै तितै कुसुम्भ सो चुचोई परै,
प्यारी परबीन पाउँ धरति जितै जितै।

कहै 'पदमाकर' सु पौन ते उताली बन—
माली पै चली यों बाल बासर बितै बितै ।
बारही के भारन उतारि देति आभरन,
हीरन के हार देति हिलि न हितै हितै ।
चाँदनी के चौसर चहूँधा चौक चाँदनी में
चाँदनी सी आई चन्द चाँदनी चितै चितै ॥

× × ×

उत्सुकता के उदाहरण में महाकवि हरिऔधजी की उक्ति भी बड़ी सुन्दर है ।

रस सरसाइ बरसाइ बर सुधा कब,
मानस गगन में मयंक सम खिलि हौ ।
कब उर माहिं जमी मादकता मैल काहिं,
निज अनुकूलता सु छुरिका ते छिलि हौ ।
'हरिऔध' कब बैनतेयता बनक लैके,
मेरे पाप-पुंज पन्नगाधिप कों गिलि हौ ।
पलक पलक पर लालसा सतावति है,
सौगुनी ललक भई लाल कब मिलि हौ ॥

इस पद्य में पल-पल पर लाल से मिलने की लालसा का सताना और ललक (चाह) का 'सौगुनी' हो जाना ही उत्सुकता संचारी है ।

इस प्रसंग में निम्नलिखित दोहे भी बड़े अच्छे हैं—

रहति रैन-दिन अति दुखित चित नहिं पावत चैन ।
कब मुख कमल दिखाई हौ, अमल कमल दल नैन ॥

× × ×

काहे नाहिं कृपायतन करत कृपा की कोर ।
लाखन अँखियाँ हैं लगीं तब अँखियन की ओर ॥

× × ×

रामचरित मानस में, सीताजी के विरह-जन्य औत्सुक्य के उदाहरण में नीचे लिखी पंक्तियाँ कैसी रुचिर रचना हैं—

त्रिजटा सन बोली कर जोरी।
मातु बिपति संगिनि त मोरी॥
तजौं देह करु बेगि उपाई।
दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥

अरी त्रिजटा, भगवान् के चरणारविन्द के दर्शनों का शीघ्र उपाय कर, नहीं तो यह शरीर छूटे विना न रहेगा; क्योंकि अब उनकी जुदाई बिल्कुल नहीं सही जाती।

औत्सुक्य-विषयक निम्नलिखित संस्कृत का उदाहरण भी देखने योग्य है।

निपतद्वाष्प संरोधं मुक्त चाञ्चल्य तारकम्।
कदा नयन नीलाब्जमालोकेयं मृगीदृशः॥

मेरे घर से चलते समय प्यारी के नील कमल जैसे सुन्दर लोचनों ने, अपशकुन के भय से अश्रुपात रोकने के लिए अपनी लोल तारिकाओं को स्थिर कर लिया था, उन्हें अब मैं किस घड़ी घर पहुँच कर निहारूँ।

उक्त पद्य में नायिका के नील कमल जैसे नयन निहारने के लिए नायक की उत्कट उत्सुकता स्पष्ट हो रही है।

निद्रा

परिश्रम, ग्लानि, श्रान्ति, मादक द्रव्य सेवन, दुर्बलता, चिन्ता, अति आहार आदि के कारण चित्त की वाह्य विषयों से निवृत्ति की अवस्था का नाम निद्रा है।

जम्हाई या अँगड़ाई लेना, आँखें मीचना, श्वासोच्छ्वास आदि इसके लक्षण हैं।

रसतरंगिणीकार के मत में जब मन अन्य सब इन्द्रियों से हटकर केवल त्वगिन्द्रिय में रहता है, तब उस अवस्था की निद्रा संज्ञा होती है।

नीचे रामचरित-मानस से निद्रा का उदाहरण दिया जाता है :—

विविध बसन उपधान तुराई।
छीर फेन मृदु विशद सुहाई ॥
तहँ सिय राम शयन निशि करहीं।
निज छबि रति मनोज मृदु हरहीं ॥
तेइ सिय राम साथरी सोये।
श्रमित बसन बिन जाँय न जोये ॥
मात पिता परिजन पुरवासी।
सखा सुशील दास अरु दासी।
जुगवहिं जिनहिं प्राण की नाईं।
महि सोवत सोइ राम गुसाईं ॥

उपर्युक्त चौपाइयों में श्रीरामचन्द्रजी के अवध स्थित शयनागार और वस्त्राच्छादनों का उल्लेख करते हुए. वन में बिना किसी वस्त्र के 'साथरी' बिछाकर भूमि पर सो रहने का वर्णन है; यही निद्रा संचारी है।

पद्माकरजी ने पलंग पर सोती हुई नायिका का कैसे सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, देखिए—

चहचहीं चुभकें चुभी हैं चौक चुम्बन की,
लहलही लाँबी लटैं लपटी सुलंक पर।
कहै 'पदमाकर' मजानि मरगजी मंजु,
मसकी सु आँगी है उरोजन के अंक पर।
सोई सरसार यों सुगन्धिनि समोई स्वेद—
सीतल सलौने लौने बदन मयंक पर।
किन्नरी नरी है कै छरी है छबिदार परी,
टूटि सी परी है कै परी है परियंक पर ॥

रति-जनित श्रम से थककर सोई हुई, नायिका का कैसा विचित्र वर्णन है। पद्माकरजी पूछते हैं कि पर्यंक पर 'परी' हुई नायिका किन्नरी, नरी,

छरी है या आसमान से परी टूट परी है। आख़िर कौन बला है, जो इतनी अच्छी मालूम देती है।

कविवर पोद्दारजी ने निद्रा के उदाहरण में जो सवैया लिखा है, वह भी ख़ूब है। उसे भी पढ़ लीजिए—

आयो बिदेस तें प्रान पिया अभिलाष समात नहीं तिय गात में।
बीति गईं रतियाँ जगि कै रस की बतियाँ न चितीं बतरात में।
आनन कञ्ज पै गन्ध प्रलुब्ध लगे करिवे अलि गुंज प्रभात में।
ताहू पै कञ्जमुखी न जगी वह सीतल मन्द सुगन्धित बात में॥

× × ×

अब संस्कृत काव्य का उदाहरण मुलाहिज़ा हो।

सार्थकानर्थकं पदं ब्रुवती मन्थराक्षरम्।
निद्रार्द्धं मीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि॥

कोई नायक अपने सखा से कहता है—निद्रा के वेग के कारण कभी वह बाला सार्थक बात कहती, कभी निरर्थक; कभी आँख मींचती, कभी खोलती। आह! उस उनींदी ललना का वह रम्य रूप अब तक मेरे हृदय-पटल पर अंकित हो रहा है।

अपस्मार

भय, दुःख, मोह, शोक आदि की अत्यधिकता के कारण उत्पन्न चित्त के विक्षेप को अपस्मार (मृगी) कहते हैं।

भूमि-पतन, प्रस्वेद, मुख से फसूकर यानी झाग डालना, काँपना, आदि इसके लक्षण हैं।

अपस्मार के उदाहरण में निम्नलिखित सवैया देखिये—

बोले बिलोकै न पीरी गई परि आई भले ही ये कुंज मझारन।
ऐसी अनैसी बिलोकनि रावरी होत अचेत लगी कछू बार न।
फेन तजै मुखते पटकै कर जौ न कियौ जू बिथा निरबारन।
याहि उठाइ सबै सखियाँ हम जाति चलीं जसुदा पहँ डारन॥

बेचारी सखी भली कुंजों में आई और अच्छे यशोदा-नन्दन मिले, जिनकी एक ही नज़र से उसकी ऐसी दशा होगई। मुँह से झाग निकल रहे हैं और बुरी तरह हाथ-पाँव पटक रही है। यशोदानन्दन, हम साफ़-साफ़ कहे देती हैं; या तो इसकी व्यथा दूर करो, नहीं तो हम अभी इसे इसी हालत में उठाकर तुम्हारी माँ के पास लिए जाती हैं। यहाँ मोहातिरेक से सखी का अचानक मूर्च्छित हो जाना अपस्मार संचारी है।

इसी आशय का पद्माकरजी का भी सवैया बड़ा सुन्दर है। देखिये—

जा छिन तें छिन साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यौं 'पदमाकर' ता छिन तें तिय सों अँग अग न जात सँभारे।
ह्वै हिय हायल घायल सी घन घूमि गिरी परे प्रेम तिहारे।
नैन गये फिरि फैन बहै मुख चैन रह्यौ नहिं मैन के मारे॥

साँवरे-सलौने श्यामसुन्दर के कटाक्षों के मारे, नायिका घायल-सी हो चकरा कर भूमि पर गिर पड़ी। आँखें फिर गईं और मुँह से झाग गिरने लगे। भला मार की मार का कुछ ठिकाना है।

अपस्मार के उदाहरण में हरिऔधजी का निम्नलिखित छन्द बड़ा सुन्दर है।

बिधि बामता है, कै करालता कपाल की है,
किधौं पाय दव है प्रपंच पूरि दहतो।
किधों फल अहै रुज बिबिध असंयम को,
कै है यामें नियत रहस्य कोऊ रहतो।
'हरिऔध' कछु भेद हो तो ना तो कैसे जीव,
कर पग पटकि दुसह दुःख सहतो।
धूल में लुठत कैसे कमल मृदुल तन,
फूल जैसे आनन ते फेन कैसे बहतो॥

× × ×

इस प्रसंग में पद्माकरजी का निम्नलिखित दोहा भी पढ़ने लायक़ है।

लखि बिहाल एकै कहत भईं कहूँ भय भीत।
इकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीत॥

इसी विषय में किसी संस्कृत-कवि की कल्पना का भी रसास्वादन कीजिए—

आश्लिष्ट भूमिं रसितारमुच्चै-
लोलद्भुजाकार बृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगाना-
मसावपस्मारिणमाशशङ्के॥

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, श्रीकृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ चले। उस समय उन्होंने पृथिवी से संश्लिष्ट घोर शब्द करते हुए चञ्चल एवं उत्ताल तरंगों से युक्त फेनायित समुद्र को देखकर कहा—ओ हो! आज ऐसा प्रतीत होता है, मानो विशाल वारिधि मृगी रोग से मूर्छित हो रहा है।

स्वप्न या सुप्ति

निद्रावस्था में किसी वस्तु का अनुभव या ज्ञान होने को स्वप्न अथवा सुप्ति कहते हैं।

कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख, श्वासोच्छ्वास, प्रलय, आखें मींचना आदि इसके लक्षण हैं।

रसतरंगिणीकार के मत में जिस अवस्था में मन त्वागिन्द्रिय को भी छोड़ कर 'पुरीतत' नामक नाड़ी में अवस्थान करता है, उस अवस्था की स्वप्न संज्ञा है।

स्वप्न के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया कैसा उत्कृष्ट है—

पौढ़ी हुती पलिका पर मैं निसि ज्ञानरु ध्यान पिया मन लाए।
लागि गईं पलकें पलसों पल लागत ही पल में पिय आए।

ज्यों ही उठी उनके मिलिबे कहँ जागि परी पिय पास न पाए।
'मीरन' और तो सोइ के खोवत मैं सखि पीतम जागि गँवाए॥

कवि की कैसी अद्भुत कल्पना है, कितनी विचित्र सूझ है। और नायिकाएँ तो पति को सोकर खोती हैं, परन्तु "मीरन" कवि की नायिका ने जागकर भी प्रीतम को गँवा दिया।

'सोवे सो खोवे, जागे सो पावे' ऐसा सर्वत्र सुना जाता है, परन्तु यहाँ उलटी ही बात देखने में आई।

इसी आशय का द्विजराजजी का सवैया भी सुनिए—

सोवत आज सखी सपने द्विजदेव जू आनि मिले बनमाली।
जो लौं उठी मिलिवे कहँ धाय सुहाय भुजान भुजान पै घाली।
बोल उठे ये पपीगन तौ लगि 'पीव कहाँ' कहि कूर कुचाली।
सम्पति सी सपने की भई मिलिबौ ब्रजराज कौ आजु कौ आली॥

यहाँ कम्बख्त पपीहा ने 'पीउ-पीउ' का शोर मचाकर स्वप्न-निमग्ना नायिका को जगा दिया। फिर क्या था, आँखें खुल गईं और सपना 'सपना' होकर रह गया। 'खुल गई आँख मेरी होगया सपना-सपना।'

रामचरित-मानस में एक स्थान पर स्वप्न का इस प्रकार उल्लेख किया गया है।

उहाँ राम रजनी अवशेषा।
जागे सीय सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए।
नाथ वियोग ताप तनु ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी।
देखीं सास आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन।
भये सोच बस सोच विमोचन॥

लखन सपन यह नीक न होई।
कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥

× × × ×

कुन्दन कवि का भी स्वप्न-वर्णन पढ़ने योग्य है, देखिए—

सपनेहु सोवन न दई निरदई दई,
बिलपत रैहौं जैसे जल बिन भँखियाँ।
'कुन्दन' सँदेसो आयो लाल मधुसूदन को,
सबै मिलि दौरीं लेन आँगन बिलखियाँ।
बूझै समाचार ना मुखागर सँदेसो कछू,
कागद लै कोरो हाथ दीनी लैके सखियाँ।
छतियाँ से पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिवे को,
जौ लौं खोलों खाम तौलों खुलि गई आँखियाँ ॥

यहाँ नायिका ने लिफ़ाफ़ा खोलना चाहा और आँखें खुल गई। पाती की पाती में रह गई और मन की मन में। सपने की सम्पत्ति ही जो ठहरी।

× × ×

स्वप्न के उदाहरण में किसी संस्कृत कवि की निम्नलिखित उक्ति पढ़िए—

मामाकाशप्रणिहित भुजं निर्दयाश्लेष हेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्न संदर्शनेन।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानां,
मुक्ता स्थूलास्तरु किसलयेष्वश्रु लेशाः पतन्ति ॥

विरह-व्याकुल यक्ष अलकापुरी जाते हुए मेघ को सन्देश देता है—भाई मेघ, तुम उधर जा तो रहे ही हो, मेरी प्रिया से यह कह देना कि

तेरे वियोग में यक्ष को जागते-जागते रातें बीत जाती हैं। कभी-कभी कुछ नींद आ जाती है,तो स्वप्न में तूही तू दिखाई देती है। उस समय वह (यक्ष) यदि तेरा गाढ़ आलिङ्गन करने के लिए बाहु-पाश पसारता है, तो वह शून्य आकाश में फैला रह जाता है। यक्ष की तत्कालीन दयनीय दशा देखकर वन के देवी-देवता फूट फूटकर रोने लगते हैं, और अपने नेत्रों से निकले हुए मोती-से आँसू तरु पल्लवों पर गिराते हैं।

विबोध

निद्रा या अविद्या दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चैतन्य को विबोध कहते हैं।

जम्हाई, अँगड़ाई, आँखें खोलना या मींड़ना, अंगों का अवलोकन, यथार्थ ज्ञान आदि इसके लक्षण हैं।

विबोध संचारी के उदाहरण में महाकवि हरिऔधजी ने नीचे लिखे पद्य दिये हैं।

भाग भाग कहि सो बनेगो कैसे भाग वारो,
भभरि भभरि जो अभागते है भागतो।
जो है लोक-सेवा की लगन नाहिं साँची लगी,
कैसे लाभ वारो ह्वै है, लोगन की लागतो।
'हरिऔध' नाना अनुराग को कहा है फल,
देस-राग मैं है जो न मन अनुरागतो।
कहा जागि कियो कहा लाभ है जगाये भयो,
जागे हू जो जी में जाति-हित है न जागतो॥

× × ×

बीर जन वीरता वसुन्धरा बिबोधिनी है,
साहसी ही साहस दिखाइ होत आगे हैं।

सबल के सामने सरोवर पयोनिधि है,
सावधान सामने धरनि धुरे धागे हैं।
'हरिऔध' सारी सिद्धि तिनकी सहोदरा हैं,
सिद्धि पाग में जो सची साधना के पागे हैं।
भाग जागी भूमें कौन भोग भोग पाये नहीं,
जाग गये जग में न काके भाग जागे हैं॥

उपर्युक्त छन्दों में कवि ने जीवन-जागृति का उपदेश देते हुए मानव-समाज को कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर प्रेरित किया है। देश और जाति का जगाना ही सच्चा जागरण है। वह जागते हुए भी नहीं जागता, जिसके हृदय में जाति-हित नहीं जाग रहा।

राम-चरित-मानस का भी विबोध सम्बन्धी उदाहरण देखिये—
उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुणसिखा धुनि कान।
गुरु तें पहले जगतपति जागे राम सुजान॥

उक्त दोहे में प्रातः समय मुर्गे की 'कुकड़ूँ कूँ' सुनकर राम और लक्ष्मण का जागना स्पष्ट वर्णित है।

अब जरा पद्माकरजी का भी एक उदाहरण देख लीजिए—
अधखुली कञ्चुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले बैस नख रेखन की झलकैं।
कहैं 'पदमाकर' नवीन अध नीवी खुली,
अधखुले छहरि छराके छोर छलकैं।
भोर जगि प्यारी अध ऊरध इतै की ओर,
झाँखी झिखि झिरकि उघारि अध पलकैं।
आँखें अधखुली अधखुली खिरकी हैं खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं॥

उक्त पद्य में पद्माकरजी ने प्रातःकाल जागते समय नायिका के अस्त-व्यस्त वस्त्राभूषणों और जम्हाई-अंगड़ाई आदि लेने का कैसा सुन्दर और सजीव चित्र चित्रित किया है।

विशेष के उदाहरण में नीचे लिखा श्लोक कैसा सुन्दर है—

चिर रति-परिखेदं-प्राप्त-निद्रा-सुखानां,
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलित-गात्राः कुर्वतेन प्रियाणा-
मशिथिल भुज चक्रा श्लेष भेदं तरुण्यः।।

रात को रति-खेद से थके पतिदेव पत्नी को बाहु-पाश में आबद्ध कर, निद्रा-देवी की गोद में चले गए, फिर पत्नी भी सो गई। प्रातःकाल पहले पत्नी की आँख खुली, उसने उठना चाहा, परन्तु बाहु-पाश के हटाने से पति जाग जाते, अतः वह पति-परायणा नायिका पति की निद्रा भंग होने की आशंका से ज्यों की त्यों पड़ी रही।

अमर्ष

निन्दा, आक्षेप, अपमानादि के कारण उत्पन्न हुए चित्त के विक्षेप का नाम अमर्ष है। इसमें दूसरे के अहंकार को न सहकर उसे नष्ट करने की कामना प्रधान होती है।

आँखों की लालिमा, शिरःकम्प, त्यौरी चढ़ाना, स्वेद, तर्जन आदि इसके लक्षण हैं।

अमर्ष के उदाहरण में पद्माकरजी का निम्नलिखित छन्द बड़ा उत्कृष्ट है।

जैसो तैं न मो सों कहूँ नैंकहूँ डरातु हुतो,
ऐसो अब हौं हूँ तोसों नैंकहूँ न डरि हौं।
कहै 'पदमाकर' प्रचंड जो परैगो तो,
उमण्ड करि तो सों भुजदण्ड ठोकि लरि हौं॥

चलौ चलु चलौ चलु विचलु न बीच ही तें,
कीच बीच नीच तो कुटम्ब कों कचरि हौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा के कछार में पछारि छार करि हौं॥

भक्त ने पाप को खुला चेलेञ्ज देदिया है कि अब तक जिस प्रकार तू मुझसे ज़रा भी नहीं डरता था, उसी प्रकार अब मैं भी तुझसे बिलकुल नहीं डरूँगा। अगर तैने ज़रा भी चीं-चपड़ की, तो मारते-मारते तेरी सारी अकड़ भुला दी जायगी। बस चुपके से चले चलो, बहुत तीन पाँच मत करो। अब तो तुझे गंगा के कछार में पछार कर ही दम लूँगा। ओ हो, अब तक तैने बड़ी दग़ा दी, तू बड़ा पातकी है।

रामचरित-मानस में सीता-स्वयंवर के समय वीरवर लक्ष्मण की वीरोक्तियाँ अमर्ष के उदाहरण में पढ़ने लायक हैं।

माखे लखन कुटिल भई भौंहें।
रदपुट फरकत नयन रिसौहें॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई।
तेहि समाज अस कहहि न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी।
विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू।
कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौ तुम्हार अनुसासन पावौं।
कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना।
का बापुरो पिनाक पुराना॥

× × ×

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनुभाथ॥

उपर्युक्त चौपाइयाँ अमर्ष का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। लक्ष्मणजी कहते हैं, कि यह बेचारा पुराना धनुष तो क्या चीज़ है; हे रामचन्द्रजी, यदि आप आज्ञा दें तो ब्रह्माण्ड को गेंद की तरह उठा सकता हूँ, सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़-मरोड़ कर फेंक सकता हूँ। अगर ऐसा न कर दिखाऊँ, तो आपके चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ, फिर कभी धनुष हाथ में न लूँगा।

× × ×

इसी सम्बन्ध में यह श्लोक भी पढ़ लीजिए कैसा सुन्दर है—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि, पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
नत्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रह महाव्रतम्॥

भृगुनन्दन परशुरामजी की कोपाग्नि प्रचण्ड होने पर विश्वामित्रादि ऋषियों ने उन्हें शान्त रहने को कहा, इस पर परशुरामजी बोले—निस्सन्देह आप सदृश पूज्यों की आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है, इसका उल्लंघन करना पाप है; परन्तु मैं क्षत्रियों को निर्बीज करने के लिए, आरम्भ किये इस शस्त्र ग्रहण रूप महाव्रत को त्याग नहीं सकता। निश्चय ही इससे गुरुजनों के आज्ञोल्लंघन का पाप मुझे लगेगा, जिसका प्रायश्चित करने के लिए मैं तैयार हूँ।

अवहित्था

भय, लज्जा, गौरव आदि के कारण हर्ष आदि मनोभावों को चतुराई से छिपाने का नाम अवहित्था है।

अनभीष्ट काम की ओर प्रवृत्ति, बात सुनी-अन-सुनी करना, दूसरी ओर देखना आदि इसके लक्षण हैं।

पद्माकरजी ने अवहित्था का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है, देखिये—

भोर जगी जमुना जल धार में धाय धँसो जल केलि की माती।
त्यौं 'पदमाकर' पैंग चलै उछलै जब तुंग तरंग बिघाती।
टूटे हरा छरा छूटे सबै सरबोर भई अँगिया रंग राती।
को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गुविन्द तो मैं बहि जाती॥

नायिका ने गोविन्द के साथ जल-केलि करने की बात कैसी चालाकी से छिपाई है। वह यह नहीं कहती कि यमुनाजी में कृष्ण के साथ क्रीड़ा की, बल्कि यह बताती है कि मैं तो न्हाते-न्हाते यमुना-प्रवाह में वह चली थी। वह तो दैवयोग से गोविन्द वहाँ आ निकले, जिन्होंने मुझे बचा लिया—

अब देवजी का उदाहरण भी देखिये—

देखन कों बन कों निकसीं बनिता बहु बानि बनाय कै बागे।
'देव' कहै दुरि दौरि के मोहन आय गए उततें अनुरागे।
बाल की छाती छुई छल सों घन कुंजन में रसपुंजन लागे।
पीछे निहारि निहारत नारिन हार हिये के सँवारन लागे॥

लता-कुञ्जों में गोपियों के साथ विहार करते हुए मोहन ने किसी बाला का अंग-स्पर्श किया। परन्तु ज्यों ही उन्हें यह ज्ञात हुआ कि पीछे से दूसरी गोपिकाएँ देख रही हैं, तो चट से उसके वह गले का हार सँवारने लगे। यहाँ कृष्ण के हार सँवारने के बहाने अंग-स्पर्श करने की बात को छिपा लेना अवहित्था संचारी है।

कविवर विहारी का नीचे लिखा दोहा भी अवहित्था संचारी का बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है, देखिये—

चढ़त घाट बिचल्यौ सुपग भरी आय इन अङ्क।
ताहि कहा तुम तकि रहीं यामें कौन कलङ्क॥

कहीं घाट पर एकान्त पा मोहन किसी गोपिका का आलिंगन करने लगे। इसी बीच में कुछ और सखियाँ वहाँ आ पहुँचीं और मोहन की

उस चेष्टा को देख आश्चर्य से उसकी ओर ताकने लगीं। सखियों को सन्देहपूर्ण दृष्टि से मोहन की ओर ताकते देख गोपी ने कैसी चतुराई से उनकी वकालत करके असली घटना को छिपाया है। यही अवहित्था संचारी है।

इस विषय में नीचे लिखा दोहा भी बड़ा मार्के का है।

कोऊ कछु अब काहु पै मत लगाइयो दोस।
होन लग्यौ ब्रज गलिन में हुरिहारेन को घोस।

अभिप्राय यह कि हुरिहारों के घोस में अब गोपिकाओं को किसी प्रकार का दोष देने की ज़रूरत नहीं है। होली के हुदंग में भी कभी किसी को कलंक लगा है।

इस विषय में पद्माकरजी का भी एक दोहा देखने योग्य है—

निरखत ही हरि हरषि कै रहे सु आँसू छाय।
बूझत अलि केवल कह्यौ लाग्यौ धूमहि धाय॥

हरि को देखते ही नायिका की आँखों में हर्ष के आँसू आ गए। सखी के कारण पूछने पर उसने असली बात छिपा कर आँखों में धुआँ लगजाना आँसू आ जाने का कारण बताया। यही अवहित्था है।

रामचरितमानस से भी नीचे लिखी पक्तियाँ अवहित्था के उदाहरण में पेश की जाती है—

× × ×

तन सकोच मन परम उछाहू।
गूढ़ प्रेम लखि परे न काहू॥
ऐसी पीर बिहँसि उर गोई।
चोर नारि जनु प्रगट न रोई॥

रचि रचि कोटिक कुटिल पन कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सौति कर जाते बढ़ै विरोध॥

× × ×

अब अवहित्था के उदाहरण में संस्कृत कविता का चमत्कार देखिए—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

समझाने-बुझाने से जब शिवजी पार्वती के साथ विवाह करने के लिए प्रस्तुत होगए, तो देवर्षि नारद ने हिमाँचल से कहा—'नगाधिराज, शिवजी आपकी कन्या पार्वती से विवाह करने के लिए राज़ी हो गए हैं। अब आप इस मंगलोत्सव की तैयारी कीजिये। उस समय पिता के पास बैठी हुई, पार्वती अपने विवाह का संवाद सुनकर (इष्ट सिद्धि के हर्ष को छिपाकर) संकोचवश, सामने पड़े कमल-पुष्प की पंखड़ियाँ गिनने लगीं।

उग्रता

अपने दोष सुनने, स्वार्थ-हानि होने, अन्य द्वारा अपकार किये जाने और शूरता एवं रोष के कारण उत्पन्न हुई निर्दयता अथवा चण्डता को उग्रता कहते हैं।

शिर घूमना, पसीना आना, कम्प, तर्जन, ताड़न आदि इसके लक्षण हैं।

उग्रता के उदाहरण में कविवर हरिऔधजी का निम्नलिखित छन्द पढ़ने योग्य है—

भारत को जन भरि भरि भारतीयता में,
जा दिन उभरि जाति भीरुता भगाइ है।
भूरि भाग बनि भूतिमान ह्वै हैं भूतल में,
सकल भुवन काँहि भवन बनाइ है।
'हरिऔध' साहस दिखाइ है तो सारो लोक,
सहमि सहमि सारी सूरता गँवाइ है।
डोलि जै है आसन महेस कमलासन को,
सासन बिलोकि पाकसासन सँकाइ है ॥

हरिऔधजी कहते हैं कि जिस दिन भारत निवासी भारतीयता के रंग में रंग कर जाति की कायरता दूर कर देंगे, उसी दिन सारा उद्धार हो जायगा। उस समय हमारा शासन देखकर सब लोग सहम जायँगे, यहाँ तक कि स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी भय होने लगेगा। कैसा सुन्दर भाव है।

उग्रता के उदाहरण में पद्माकरजी का दोहा देखिये—

कहा कहौं सखि काम को हिय निरदैपन आज।
तन जारत पारत विपति अपति उजारत लाज॥

सखी, मैं इस निष्ठुर कामदेव की निर्दयता का वर्णन कहाँ तक करूँ। बिरहानल द्वारा अबलाओं के शरीर जलाने, उन पर विपत्ति वज्र गिराने एवं उनकी लाज की सुरम्य वाटिका को उजाड़ने में इस निर्लज्ज को जरा भी लज्जा नहीं आती। यहाँ कामदेव की दुर्नीति देखकर नायिका उसके प्रति कितनी उग्र हो उठी है, इसका आभास उसके कथन के ढंग से स्पष्ट मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय यदि अतनु सतनु होकर नायिका के सामने आ जाय तो वह उसे कच्चा ही खा जायगी।

इस प्रसंग में लगे हाथों पद्माकरजी का एक पद्य और भी पढ़ लीजिए।

सिंधु के सपूत सुत, सिन्धु-तनया के बन्धु,
मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै 'पदमाकर' गिरीस के बसे हो सीस,
तारन के ईस कुल कारन कन्हाई के।
लाल ही के बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पै,
ज्वाल से जगावत जुआल सी लुनाई के।
एरे मतिमन्द चन्द आवति न तोहि लाज,
ह्वै कै द्विजराज काम करत कसाई के॥

अरे चन्द्र, तुम तो सिन्धु के सुपात्र बेटे और लक्ष्मीजी के सहोदर भाई हो। लोग तुम्हें सौन्दर्य और सीधेपन का भण्डार बताते हैं। बहुत काल

तक तुमने मदनान्तक महादेवजी के शिर पर भी निवास किया है। कृष्ण-चन्द्र के तो तुम आदि पुरुष हो, उनका वंश तुमसे ही प्रारम्भ हुआ है। फिर भी तुम्हारा यह अन्धेर, ऐसा निर्दयता-पूर्ण व्यवहार कि कृष्ण ही के प्रेम में आसक्त हुई बेचारी ब्रजबालाओं को विरह-ज्वाला में जलाते हो! भले मानस कुछ अपने कुल का तो ध्यान रक्खा होता, कामारि कैलासपति के सत्संग की कुछ तो लाज राखी होती। तुमने तो बारह बरस दिल्ली में रह कर भाड़ झोंकने की कहावत ही चरितार्थ की। इतने दिन महादेवजी के साथ रहकर उनसे कुछ भी न सीखा। उलटे उनके स्वभाव के प्रतिकूल आचरण किया। अधम! द्विजराज होकर भी निर्दय कसाइयों का-सा काम करते हुए तुझे लज्जा भी नहीं आती।

संस्कृत का उदाहरण भी देखिए—

प्रणयि सखी सलील परिहास रसाधिगतै-
ललित शिरीषपुष्प हननैरिव ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः,
पततु शिरस्यकाण्ड यमदण्डइवैष भुजः॥

अघोर घंट नामक कापालिक द्वारा अपनी प्रेयसी मालती का बध होता देख, माधव कहता है—अरे क्रूर कापालिक, जो मृदुल मालती हँसी में भी अपनी किसी सखी के शिरीष प्रसून प्रहारों से व्याकुल हो जाती है, उसको मारने के लिए तू शस्त्र चलाना चाहता है। हत्यारे, निश्चय ही तेरे सिर पर काल मँडरा रहा है, ठहर-ठहर, बज्र बन कर गिरता हुआ मेरा प्रचण्ड भुजदण्ड इसी समय तेरा ध्वंस किये देता है।

मति

प्रतिकूल परिस्थिति, भ्रान्ति या विवाद उपस्थित होने पर भी नीति मार्ग का अनुसरण करते हुए यथार्थता का निर्णय कर लेने का नाम मति है।

निर्णीत वस्तु का स्वयं आचरण या उपदेश, मुस्कराहट, धैर्य, सन्तोष, स्वावलम्बन आदि इसके अनुभाव हैं।

राम-चरित-मानस में मति का कैसा सुन्दर उदाहरण मिलता है —

जासु बिलोकि अलौकिक शोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारण जान विधाता।
फरकहिं सुभग अंग सुनि भ्राता॥
रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ।
मन कुपन्थ पग धरें न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीत जिय केरी।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥

× × ×

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं, कि सीताजी का अलौकिक रूप-सौन्दर्य देखकर स्वभाव से ही पवित्र मेरे मन में क्षोभ पैदा हो गया है। भगवान् ही जाने ऐसा क्यों हुआ। मैंने तो कभी भूलकर भी कुपन्थ में पग नहीं दिया, और न सपने में भी पराई स्त्री को देखा है।

यहाँ सीता-दर्शन से उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थिति में भी धर्म-मर्यादा का विचार रखना 'मति' संचारी है।

कविवर देव का निम्नलिखित सवैया भी मति का सुन्दर उदाहरण है--

श्याम के संग सदा विलसी सिसुता में सिता में कछू नहिं जानों।
भूलें गुपाल सों गर्व कियो गुन जोवन रूप वृथा अभिमानो।
जौ न निगोड़ो तबै समझो कवि 'देव' कहा अब जो पछितानो।
धन्य जियें जग में जन ते जिनको मनमोहन तें मन मानो॥

बाल्यकाल में तो श्याम के साथ खूब हास-विलास किया, परन्तु तरुण होने पर रूप-यौवन जनित गर्व के कारण मैं उनसे मान कर बैठी। उस समय कम्बख्त मन ने जरा भी समझ से काम नहीं लिया। अब पछताने से

क्या होता है। वास्तव में उन्हीं का जीवन धन्य है, जो हृदय से मनमोहन कृष्ण में अनुरक्त रहते हैं।

यहाँ गर्व-जनित अपनी भूल के लिए पछताना और कृष्ण से प्रेम करना ही उचित है ऐसा निश्चय कर लेना ही मति संचारी है।

मति के सम्बन्ध में नीचे लिखा निवाज कवि का सवैया भी बड़ा सुन्दर है।

सुनती हौ कहा भगि जाहु घरै बिंधि जाउगी काम के बानन में।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिस सों बिस सो भरि देति है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलिहौ मेरी भटू बिरमौ जनि मीठी-सी तानन में।
कुल कानि जो आपुनी राख्यौ चहौ अँगुरी दै रहौ दोऊ कानन में॥

इस वंशी की मीठी तान को क्या सुन रही हो, मालूम है कि नहीं, यह प्राणों में विष भर देती है—विष। सारी सुध-बुध भुला देती है। अगर तुम अपनी कुलकानि रखना चाहती हो, तो यहाँ से भाग जाओ, अथवा दोनों कानों में उगलियाँ दे लो, नहीं तो काम के बाणों का शिकार बन जाओगी।

यहाँ विष बरसाने वाली बाँसुरी के बजते रहने पर भी, उसकी मोहनी माया से बचने के लिए उपाय बताना या उपदेश देना ही मति संचारी है।

रामचरित-मानस की नीचे लिखी चौपाइयाँ भी मति के उदाहरण में ठीक उतरती है। मन्दोदरी अपने पति रावण के बध पर विलाप करती हुई कहती है—

× × ×

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा।
रहा न कुल कोउ रोवन हारा॥
अब तव सिर भुज जम्बुक खाहीं।
राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

अहह नाथ रघुनाथ मम कृपासिन्धु को आन।
मुनि दुर्लभ जो परम गति तुमहिं दीन भगवान॥

राम के विरुद्ध होने के कारण ही तुम्हारा ऐसा हाल हुआ, कि आज कुल में कोई रोने वाला भी शेष नहीं है।............फिर भी तुम बड़ भागी रहे, जो कृपासिन्धु भगवान् राम के हाथों से तुम्हें वह परमगति प्राप्त हुई जो मुनियों को भी दुर्लभ है।

यहाँ घोर संकट-काल में भी विवेक-बुद्धि का बना रहना वर्णित है, अतः यह मति संचारी हुआ।

मति के सम्बन्ध में निम्नलिखित उत्कृष्ट कवित्त भी पढ़ने लायक है--

गोरो छीरसिन्धु गोरो देखिये सुधा को सिन्धु
गोरो चन्द्रबंस गोरो जदु बंस ही को है।
गोरे बलदेव गोरे बसुदेव देवकी हू,
गोरी-गोरी जसुमति गोरो नन्द नीको है॥
ब्रज सब गोप गोरे; गोपिका हू गोरीं सबै,
कान्ह भयो कारो यातें जानो चोरी जी को है।
स्याम पूतरी के बीच स्याम पूतरी में राखि,
नन्द पूतरी को लायो रंग पूतरी को है॥

वासुदेव, बलदेव, यशोदा, देवकी, गोपी-गोपिकाएँ सब गोरे ही गोरे, परन्तु कृष्ण कैसे काले हो गए? ओहो! समझ में आगया, नन्द की काली पुतलियों के पोतरों में रहने के कारण कृष्ण का रंग काला होगया है।

यहाँ कृष्ण काले क्यों हैं, यह विभ्रम उपस्थित होने पर उनकी श्यामता के कारण का यथार्थ निर्णय कर लेना ही मति संचारी है।

अन्त में संस्कृत, काव्य-साहित्य का निम्नलिखित उदाहरण पढ़ अद्भुत रसानन्द लूटिए—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा,
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः ॥

वन में तपस्वि कन्या शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त के मुँह से अनायास ही निकल पड़ता है कि निस्सन्देह यह कन्या क्षत्रिय के साथ व्याही जाने योग्य है। मैं क्षत्रिय हूं, मेरा मन आर्योचित उदात्त गुणों से भरा हुआ है। एक क्षत्रिय के शुद्ध अन्तःकरण की ऐसी सदभिलाषा निश्चय ही इस बात की द्योतक है, कि यह कन्या किसी क्षत्रिय वर द्वारा ही बरी जानी चाहिये।

महाकवि देव ने मति संचारी के अन्तर्गत उपालम्भ, अनुनय, विनय एवं उपदेश का भी वर्णन किया है। फिर उपालम्भ के दो भेद किये हैं— अर्थात् एक कोपजनित उपालम्भ और दूसरा प्रणयजनित उपालम्भ। उन्होंने दोनों प्रकार के उपालम्भों तथा अनुनय-विनय आदि के जो उदाहरण दिये हैं, वे क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं।

कोप जनित उपालम्भ

बोलत हो कत बैन बड़े अरु नैन बड़े बड़रान अड़े हो।
जानति हौ छल छैल बड़े जु बड़े खन के इहि गैल गड़े हो।
'देव' कहै हरि रूप बड़े ब्रज भूप बड़े हम पै उमड़े हो।
जाउ जी जाउ अनीठ बड़े अरु ईठ बड़े पर ढीठ बड़े हो॥

प्रणय जनित उपालम्भ

लाल भले हौ कहा कहिये कहिये तौ कहा कहूँ कोऊ कहैये।
काहू कहूँ न कही न सुनी सु हमै कहिवे कहँ काहि सुनैये।
नैन परै न परै कर मैन न चैन परै जु पै बैन बरैये।
'देव' कहैं नित को मिलि खेलि इतै हित कै चित कों न चुरैये॥

अनुनय विनय

वे बड़ भाग बड़े अनुराग इतै अति भाग सुहाग भरी हौ।
देखो बिचारि समौ सुख को तन जोवन जोतिन सों उजरी हौ।

बालम सों उठि बोलो बलाय लैं यों कहि 'देव' सयानी खरी हो।
हेरत बाट कपाट लगे हरि बाट खरे तुम खाट परी हो॥

उपदेश

कोप सों बीच परै पिय सों उपजावत रंग मैं भंग सु भारी।
क्रोध बिधान बिनोद निधान सु मान महा सुख में दुखकारी।
ताते न मान समान अकारज जाकौ अपानु बड़ो अधिकारी।
'देव' कहैं कहि हौं हित की हरि जू सो हितू न कहूँ हितकारी।

और भी अनेक कवियों ने उपालम्भ सम्बन्धी कविताएँ लिखी हैं। महाकवि सूरदासजी ने तो प्रेम और भक्ति के आवेगों में आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र को खूब ही खरी-खोटी सुनाई है, बड़े-बड़े उलाहने दिये हैं। इन सब उपालम्भों में कवि-प्रतिभा-प्रसूत कल्पना की बड़ी सुन्दर छटा दिखाई देती है। कविरत्न सत्यनारायण ने श्रीकृष्ण को जो उपालम्भ दिया है, वह भी बड़ा ही उत्कृष्ट है। देखिये—

माधव आप सदा के कोरे।
दीन दुखी जो तुमकों जाँचत सो दानिन के भोरे॥
किन्तु बात यह तुव सुभाव वे नेंकहु जानत नाहीं।
सुनि सुनि सुयस रावरो तुव ढिंग आवन को ललचाहीं॥
नाम धरै तुमकों जग मोहन मोह न तुमकों आवै।
करुनानिधि तुव हृदय न एकहु करुनाबुन्द समावै॥
लेत एक कौ देत दूसरेहिं दानी बनि जग माहीं।
ऐसो हेर फेर नित नूतन लाग्यौ रहत सदाहीं॥
भाँति भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर चुराये।
अति उदारता सों लै वे ही द्रौपदि कों पकराये॥
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आपु जो पायो।
मन्द मन्द मुसकात मनोहर सो देवन कों प्यायो॥

मत्त गयन्द कुवलया के जो खेल प्रान हरि लीन्हे।
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि सो गजेन्द्र कों दीन्हे॥
करि कै निधन बालि रावन को राजपाट जो पायो।
तहँ सुग्रीव बिभीषन कों करि अति अहसान बिठायो॥
पौण्डरीक कौ सर्वनास करि मालमता जो लीयो।
ताकों विप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दीयो॥
ऐसी तूमा पलटी के गुन नेति नेति स्तुति गावैं।
सेस, महेस, सुरेस गनेसहु सहसा पार न पावैं॥
इत माया अगाध सागर तुम डोबहु भारत नैया।
रचि महाभारत कहूं लरावत आपुस भैया भैया॥
या कारन जग में प्रसिद्ध अति निबटी रकम कहाओ।
बड़े बड़े तुम मठा उवारे चौं साँची खुलवाओ॥

व्याधि

वात, पित्त, कफ आदि की विषमावस्था से उत्पन्न शारीरिक रोगों को व्याधि कहते हैं। किसी-किसी ने वियोग-जन्य मनस्ताप अर्थात् आधि को भी व्याधि माना है।

कम्प, पृथिवी पर लोटने की इच्छा, आकुलता, मुख सूखना, वैवर्ण्य, ताप, मूर्च्छा आदि इसके लक्षण हैं।

व्याधि-विषयक पद्माकरजी का उदाहरण देखिये—

दूरि ही तें देखत बिथा में वा बियोगिनी की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवेगी।
कहै पदमाकर' सुनो हो घनस्याम जाहि—
चेतत कहूँ जो एक आह कढ़ि आवेगी।
सर सरितान कों न सूखत लगैगी देर,
एती कछु जुलमिनि ज्वाल बढ़ि आवेगी।

ताके तन ताप, की कहौं मैं कहा बात, मेरे—
गात ही छुए तें तुम्हैं ताप चढ़ि आवेगी ॥

अजी उस वियोगिनी को मैं तो दूर से ही देख कर भाग आई हूँ। वह तो विकराल वियोग-वन्हि मे बुरी तरह भुन रही है। सच समझना, अगर कहीं उसकी आह निकल गई, तो मारे ताप के सारे नदी-नालों का पानी सूख जायगा। नायिका के शरीर की उग्र ऊष्मा की तो बात ही क्या, उसको देखने मात्र से स्वयं मेरा शरीर इतना उत्तप्त होगया है कि उसे छूकर तुम्हें ज्वर चढ़ आवेगा।

× × ×

'शङ्कर' जी ने तो वियोगिनी की आह कढ़ने के कारण और भी अधिक अनर्थ होजाने की आशंका प्रकट की है, देखिये—

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बनि अम्बर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ि जायगी।
काहू बिधि बिधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा बियोगिनी की आह कढ़ि जायगी ॥

शंकरजी की वियोगिनी पद्माकरजी की वियोगिनी की अपेक्षा बहुत भयंकर है। अगर उसकी 'आह कढ़ गई' तब तो आकाश-पाताल, नदी, नाले, समुद्र कुछ भी नहीं बचेंगे। विधाता की सारी सृष्टि ही नष्ट हो जायगी, प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगेगा।

अब इसी विषय का महाकवि देव का उदाहरण देखिये—
ता दिन तें अति व्याकुल है तिय जा दिन तें पिय पंथ सिधारे।
भूख न प्यास बिना ब्रजभूषन भामिनि भूषन भेस बिसारे।

पावत पीर नहीं कवि 'देव' करोरिक मूरि सबै करि हारे।
नारी निहारि निहारि चले तजि बैद बिचारि बिचारि बिचारे॥

देवजी की वियोगिनी के मुख से विध्वंसकारिणी आह कढ़ने का भय तो नहीं है, परन्तु हाँ, वह स्वयं बहुत बीमार होगई है। न कुछ खाती है, न पीती है, वेश-भूषा की तो बात ही क्या! करोड़ों दवाएँ कर डाली पर कोई कारगर न हुई। हो कैसे, रोग समझ में आवे तब न? बड़े-बड़े वैद्य आते हैं, किन्तु नाड़ी देखकर चलते बनते हैं। किसी की समझ में कुछ नहीं आता।

व्याधि के उदाहरण में निम्नलिखित दोहे भी बहुत सुन्दर हैं।

कब की अजब अजार में परी बाम तन छाम।
तित कोऊ मति लीजियो चन्द्रोदय को नाम॥

× × × (पद्माकर)

पलन प्रकट बरुनीन बढ़ि नहि कपोल ठहरायँ।
ते अँसुआ छतियाँ परे छन छनाय छिपि जायँ॥

× × ×

यह बिनसत नग राखि कै जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी बिसम जुर जाइ ये आप सुदर्सन देहु॥

× × × (बिहारी)

वियोगिनी कैसे अजीब रोग में फँसी है। उसका शरीर सूखकर काँटा होगया है। देखो, उधर जाते तो हो परन्तु चन्द्रोदय का ज़िक्र मत कर देना। क्योंकि उसे चन्द्रोदय से किसी ओषधि विशेष का बोध तो होगा नहीं, वह तो उसे विरहिणी-विदाहक रजनीश का उदय होना ही समझेगी, जिससे उसका रोग और बढ़ जायगा।

× × ×

पलकों से निकल बरूनियों में बहते और कपोलों पर रपटते हुए आँसू वियोगिनी के वक्षस्थल पर आ पड़े। परन्तु वहाँ के प्रचण्ड-ताप का क्या ठिकाना! जिस प्रकार तपते हुए तवे पर पड़ कर पानी की बूँदें छुन-छुन कर आसमान की ओर उड़ जाती हैं, उसी प्रकार वियोगिनी की छाती पर पड़े आँसू छनछना कर छिप गए!

× × ×

इस वियोगिनी के प्राण बचा कर आप बड़ा यश लेंगे। यह बेचारी विषमज्वर में जल रही है,सुदर्शनजी,आप इसे अपने सु-दर्शन दीजिये जिससे वह अच्छी हो जाय। अथवा सुदर्शन चूर्ण खिलाइये, जो विषमज्वर के लिए बहुत उपयोगी होता है। या कोई ऐसी और (जरी) जड़ी दीजिये, जिससे इसका ज्वर (जाय) जाता रहे। जो उचित समझें वह कीजिये। हम तो इसे नीरोग देखना चाहते हैं।

× × ×

जब किसी विरहिणी के रोग का निदान नहीं हुआ, तब विहारीजी को एक बात सूझी—

मैं लखि नारी ज्ञान करि राख्यो निरधारि यह।
वहै जु रोग निदान वहै वैद औषधि वहै॥

उन्होंने नारी ज्ञान (स्त्री विज्ञान) देख कर निश्चयपूर्वक बताया, कि घबराने की कोई बात नहीं है। मरज़ समझ में आ गया है। विरहिणी के रोग का जो निदान (आदि कारण) है, वही इसके लिए वैद्य है और वही अमोघ औषधि। अर्थात् यह प्रियतम की वियोगाग्नि में जल रही है, उसके संयोग से ही इसका सारा रोग दूर हो जायगा।

उर्दू कवियों ने भी व्याधि के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं। कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं, देखिए—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने कोने ढूँढती फिरती कज़ा थी मैं न था॥

—ज़फ़र

वियोग-जन्य कृशता के कारण मौत से बचने का मौका ख़ूब मिल गया। कज़ा आई और चारों तरफ़ मुझे आखें फाड़-फाड़ कर ढूँढ़ती फिरी, परन्तु मेरी कृशता इतनी बढ़ गई थी, कि मैं उसे दिखाई ही न दिया। आखिर झख मार कर वह चली गई और मेरी जान बच गई। इसी भाव को नासिख़ साहब ने इस प्रकार प्रकट किया है—

इन्तहाए लाग़री के जब नज़र आया न मैं।
हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥

लाग़री की इन्तहा हो जाने के कारण जब मैं उन्हें बिस्तर पर दिखाई न पड़ा, तब वह हँस कर कहने लगे—भाई, ज़रा बिस्तर को झाड़ कर तो देखो।

संस्कृत वालों ने व्याधि का उदाहरण इस प्रकार दिया है।

हृदये कृत शैवलानुषङ्गा—
मुहुरङ्गानि इतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्त परे मुखे सखीनाम्—
अति दीनामियमादधाति दृष्टिम्॥

सिवार, घनसार आदि शीतलता प्रदान करने वाले पदार्थों को हृदय पर धारण किये हुए और विकलता के कारण अंगों को इधर-उधर पटकती हुई वह नायिका, नायक के सम्बन्ध की चर्चा करती हुई सखियों के मुख की ओर कातरतापूर्वक दृष्टि डाल रही है। विरह-व्याधि-पीड़िता नायिका का कैसा स्वाभाविक वर्णन है—व्याधि का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है।

उन्माद

काम, शोक, भय आदि की अधिकता, अभिघात, और वातादि दोषों के प्रकोप से चित्त में जो व्यामोह और विक्षोभ होता है, उसे उन्माद कहते हैं।

असमय और अकारण हँसना, रोना, गाना, बकना, धूल, ईंट, पत्थर इकट्ठे करना या फेंकना आदि अव्यवस्थित क्रियाएँ करना इसके लक्षण हैं।

रसतरंगिणीकार ने विना विचारे आचरण करने को उन्माद संज्ञा दी है। रामचरितमानस से उन्माद का उत्कृष्ट उदाहरण नीचे दिया जाता है—

हा गुण खानि जानकी सीता।
रूप शील व्रत नेम पुनीता॥

× × ×

लक्ष्मण समझाये बहु भाँती।
पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर सैनी।
तुम देखी सीता मृगनैनी॥
खञ्जन शुक कपोत मृग मीना।
मधुपनिकर कोकिला प्रवीना॥
कुन्द कली हे दाड़िम दामिनि।
हे हे कमल शरद शशि भामिनि॥
यहि विधि विलपत खोजत स्वामी।
मनो महा विरही अति कामी॥

सीता के वियोग से व्याकुल राम की ऐसी दशा हो गई है कि वे जंगल के जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों और तरु-वल्ली-लताओं से पागल की तरह पूछते फिरते हैं, कि बताओ, तुमने कहीं मेरी मृगनयनी सीता तो नहीं देखी। वे उस निविड़ वन में जनकनन्दिनी को खोजते हैं, और विलखते हैं। इससे बढ़ कर उन्माद और क्या होगा।

इस विषय में पद्माकरजी का भी निम्नलिखित उदाहरण देखिये —

आपु ही आपु पै रूसि रहै, कबहूँ पुनि आपुही आपु मनावै।
त्यौं 'पदमाकर' ताकि तमालनि भेंटिवे को कबहूँ उठि धावै।

जो हरि रावरो चित्र लखे तो कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै ।
व्याकुल बाल सुआलिन सों कह्यो चाहै कछू तो कछू कहि जावै ॥

उपर्युक्त सवैया में पद्माकरजी ने उन्माद का कैसा सुन्दर शब्द-चित्र खींचा है। नायिका खुद ही रूठ जाती है, और खुद ही अपने आपको मनाती है। कभी वृक्षों को आलिंगन करने के लिए दौड़ती है। और यदि कहीं नायक का चित्र देख पाती है, तो उसे हँस-हँस कर बुलाने लगती है। सखियों से कहना कुछ चाहती है और मुँह से निकल कुछ जाता है। मन की इस विकृतावस्था का भी कुछ ठिकाना है!

उन्माद संचरी के उदाहरण में नीचे लिखा देवजी का सवैया भी बड़ा सुन्दर है।

नाहिंन नन्द को मन्दिर ये बृषभान को भौन कहा जकती हौ ।
हौ ही अकेली तुही कवि देवजू घूँघट कै किहिकों तकती हौ ।
भेंटती मोहि भटू किहि कारन कौन सी धौं छवि सौं छकती हौ ।
काह भयो है, कहा कहो, कैसी हो, कान्ह कहाँ है, कहा बकती हौ ॥

देवजी के इस सवैये में राधिका की अस्तव्यस्त मानसिक दशा का वर्णन ही उन्माद सञ्चारी है।

नीचे लिखे कवित्त में किसी गोपी की उन्मादावस्था का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है।

जबते कुँवर कान्ह रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तबहीते देखी 'देव' देवता सी हँसति सी,
खीझति-सी रीझति-सी रूसति रिसानी सी ।
छोई सी छली सी छी न लीनी सी छरी सी छीन,
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी ।
बिंधी-सी बँधी सी बिस-बूड़ी-सी बिमोहित-सी,
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी-सी ॥

उन्माद का कितना स्वाभाविक वर्णन है।

और देखिए निम्नलिखित दोहा भी उन्माद का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है।

अकरुन हिय पिय ! तोहि हौं ना छोरौं अब पाई।
यों बोलति गहि कर-कमल आलिनि को अकुलाई॥

"निष्ठुर हृदय प्रियतम, मैंने बड़ी कठिनाई से तुम्हें पकड़ पाया है। अब मैं तुम्हें हरगिज़ नहीं छोड़ूँगी।" प्रिय-विरह विधुरा नायिका अपनी सखी का कर-कमल पकड़ कर इस प्रकार बड़बड़ा रही है। उन्माद का इससे भी अधिक जीता जागता उदाहरण और क्या हो सकता है। नयिका को यह भी होश नहीं कि वह किसका हाथ पकड़े क्या कह रही है।

संस्कृत साहित्य में उन्माद का उदाहरण इस प्रकार दिया है।

भ्रातर्द्विरेफ ! भवता भ्रमता समन्तात्,
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ?
ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे,
किं किं व्यवस्यति ? कुतोऽस्ति च की दृशीयम् ?

भाई भौंरे तुम चारों ओर मँडराते फिरते हो, भला तुमने कहीं मेरी प्राणप्रिया भी देखी है। तुम गूँज-गूँज कर क्या 'हूँ-हूँ' कह रहे हो ? तब तो बड़ी खुशी की बात है। बताओ न वह कहाँ है, कैसे है, और क्या कर रही है।

मरण

किसी बाहरी आघात, विषपान अथवा रोगादि के कारण शरीर से प्राण निकल जाने का नाम मरण है।

शरीर का पतन, श्वासोच्छ्वास का बन्द हो जाना आदि इसके लक्षण हैं।

रस गंगाधरकार ने वास्तविक मरण से पहले की विप्रलम्भ (वियोग) शृंगार जनित मूर्च्छावस्था को ही मरण माना है। उनके मत में रस-हानि के भय से प्राण वियोग रूपी वास्तविक मरण का काव्य-शास्त्र में वर्णन करना उचित नहीं है। इसी लिए अधिकांश कवियों ने मरण के वर्णन में शूरों के वीर-गति प्राप्त करने या स्त्रियों के सती होने का ही उल्लेख किया है।

प्रदीपकार भी शरीर से जीव के निकलने की पूर्वावस्था—मूर्च्छा को ही मरण मानते हैं।

मरण के उदाहरण में देव जी का निम्नलिखित सवैया देखिये—

राधिकै बाढ़ी बियोग की बाधा, सु देव अडोल अबोल डरी रही।
लोगनि की वृषभान के भौन में भोरते भारी ये भीर भरी रही।
वाके निदान कै प्रान रहे कढ़ि औषधि भूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करि के चितयी जब चारि घरी लों मरी सी परी रही॥

उपर्युक्त सवैया में वृषभानुजा की वियोग-बाधा जनित मूर्च्छा का वर्णन है। वह कुछ काल तक तो इस प्रकार अचेत पड़ी रही कि लोगों ने उसे मरी हुई समझ लिया।

इस सम्बन्ध में महाकवि तुलसीदास की भी पंक्तियाँ पढ़ लीजिए—

रचि दृढ़ दारुण चिता बनाई।
जनु सुर लोक नसैनी लाई॥
करि प्रणाम सब जन परितोषी।
धीरज धरसि तासु मति पोषी॥
शिर भुज धरि बैठी करि आसन।
भई जनु सिद्ध योग परकासन॥

देत अनल ज्वाला बढ़ी, लपट गगन लगि जाय।
लखी न काहू जात तिहि, सुरपुर पहुँची धाय॥

उपर्युक्त पंक्तियों में. सुलोचना का अपने पति के साथ सती होना वर्णित है।

मरण संचारी के उदाहरण में बैनीजी का नीचे लिखा सवैया भी बड़ा सुन्दर है।

धीर धुरीन धरा को पुरन्दर कौसलराय सो दूसरो को कहि।
राज समाज तज्यौ तिन तूल अतूल जो सत्य को मूल रह्यौ गहि।
मानत 'बैनी' है राम सौ पूत पठाय दयौ बन कीरति को चहि।
आप सिधाय गयौ सुरधाम को एक घरी न वियोग सक्यौ सहि।

बैनी कवि ने उपर्युक्त सवैया में असली मृत्यु का वर्णन किया है, जैसा कि प्रायः कवि लोग बहुत कम करते हैं।

मरण के सम्बन्ध में शंकरजी का भी एक उदाहरण देखिये—
आह ! दई गति कैसी भई निशि आधी गई हनुमान न आयौ।
खातु रह्यौ फल-फूल कहूँ सुधि भूलि गयो कपि मूरि न लायौ।
जानि परै अनुमान सो आजु बिरंचि नें बन्धु को संग छुड़ायौ।
'शङ्कर' कष्ट न नष्ट भयौ, बिधि नें दुख भाजन मोहि बनायौ।

उपर्युक्त सवैया में शक्तिवाण लगने के कारण लक्ष्मण के मूर्च्छित हो मृतवत् हो जाने पर रामचन्द्रजी विलाप कर रहे हैं। उस समय उनकी आँखें संजीवनी बूटी की ओर लगी हुई हैं। हनुमान आवें और बूटी लावें तो मूर्च्छा दूर हो।

अब मरण सम्बन्धी संस्कृत का उदाहरण भी देख लीजिए—

राम-मन्मथ-शरेण ताड़िता,
दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिर चन्दनोक्षिता,
जीवितेश-वसतिं जगाम सा॥

राम के तीव्र तीर द्वारा प्रताड़ित ताड़का रूधिर से स्नान करती हुई यमराज के घर सिधार गई। अथवा कमनीय कामबाण-विद्ध वह राक्षसी गन्ध युक्त रक्त चन्दन से उपलिप्त होकर प्राणपति के पास पहुँच गई।

त्रास

बादल गरजने, बिजली कड़कने, तारा टूटने, भयंकर प्राणी या हिंस्र जन्तु के शब्द करने, बलवान् का अपराध करने, भय अथवा किसी अन्य अहित भावना से चित्त में जो अविचारित और अचानक व्यग्रता उत्पन्न होती है, उसे त्रास कहते हैं। भय पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है और त्रास अचानक, यही दोनों में भेद है।

कम्प, व्याकुलता, भय, स्तम्भ, रोमाञ्च, गद्गद् वाणी, नेत्रों का निर्निमेष हो जाना आदि इसके लक्षण हैं।

रस तरंगिणीकार ने मन के विक्षोभ को त्रास माना है। उसमें विचार से उत्पन्न हुए क्षोभ को 'भय', और घोर शब्द सुनने या भयंकर प्राणी का दर्शन करने आदि से अकस्मात् उत्पन्न हुए क्षोभ को 'त्रास' संज्ञा दी है।

त्रास के उदाहरण में देव कवि का निम्नलिखित सवैया पढ़िये—

श्री वृषभानु लली मिलिकै जमुनाजल केलि को हेलिनि आनी।
रोमवली नवली कहि 'देव' सु सोने से गात अन्हात सुहानी।
कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के व्यालबधू लपटानी।
धाय के धाय गही ससवाय दुहू कर झारत अंग अयानी॥

उपर्युक्त सवैये में यमुना में न्हाती हुई वृषभानु लली के सुन्दर शरीर पर रोम राजी देख कर श्रीकृष्णजी कौतुक वश कह उठे—'अरे तुम्हारे वक्ष स्थल पर तो नागिन लिपटी हुई है।' यह सुन राधिकाजी एक दम भयभीत हो दोनों हाथों से अपना शरीर झाड़ने लगीं और दौड़ कर धाय से जा चिपटीं।

इस प्रसंग में पद्माकरजी का सवैया भी पढ़ लीजिये—

ए ब्रजचन्द गोविन्द गोपाल सुन्यौ न क्यों एते कलाम किये मैं।
त्यौं 'पदमाकर' अनँद के नद हौ नँदनन्दन जानि लिये मैं।
माखन चोरि कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूर हू दौरि दुर्यौजु चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये में॥

हे गोविन्द गोपाल मैं बार-बार कहती हूँ परन्तु तुम मेरी विनती सुनते ही नहीं। मैं जानती हूँ, कि तुम बड़े विनोदी और मौजी हो, मक्खन चुरा कर मारे डर के इधर उधर गलियों में भाग निकलते हो। अगर तुम्हें छिपना ही है तो दूर भागने की क्या ज़रूरत है। मेरे अँधेरे' हृदय में आकर छिप जाओ। (जिस मे तुम्हें कोई देख न सकै और मेरे अज्ञानान्धकार-पूर्ण हृदय में प्रकाश हो जाय)।

त्रास के उदाहरण में ग्वाल कवि का नीचे लिखा सवैया भी बड़ा सुन्दर है, देखिये—

चहुँओर मरोर सों मेह परै घनघोर घटा घनी छाय गई सी।
अररराय परी बिजुरी कित हूँ दस हूँ दिसि मानहु ज्वाल बई सी।
कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की लखिकैं ललना मुरझाइ गई सी।
थहराइ गई हहराइ गई पुलकाइ गई पल न्हाइ गई सी॥

कहीं बड़े ज़ोर मे बिजली तड़क कर गिरने से दशों दिशाओं में आग सी लग गई। उस चमक को देखकर नायिका के भय का ठिकाना न रहा। वह एक दम मुरझा गई, काँपने लगी, और व्याकुल हो गई। उसके शरीर पर रोमाञ्च हो आए, यहाँ तक कि वह पसीने से तरबतर हो गई।

त्रास के सम्बन्ध में हरिऔधजी का भी निम्नलिखित कवित्त पढ़ने लायक है—

बनि कै अमर करि समर बचैहौं मान,
कसि कै कमरि काम करिहौं अंगेजो मैं।

यम दण्ड केरी दण्डनीयता निवारि दैहों,
करि दैहों खण्ड-खण्ड कालहू को नेजो मैं।
'हरि औध' कैसो त्रास त्रास मानि हों न कबौं,
रहन न दै हों पास भीति भरौ भेजो मैं।
खरे है हैं रोम रोम रोम तो उखारि दैहों,
काँपि है तो रेजो रेजो करिहौं करेजो मैं॥

युद्ध में अमर होकर मैं मान की रक्षा करूँगा। यमदण्ड और विकराल काल के भाले को भी तोड़ मरोड़ कर फेंक दूँगा। भय को तो भाल में से खुरच-खुरच कर निकाल दूँगा। अगर रोमाञ्च हुआ, तो रोमों की ख़ैर नहीं, उनकी जड़ बुनियाद भी बाकी न रहेगी। कलेजा काँपा, तो उसके किरचे-किरचे कर डालूँगा; ऐसी दशा में त्रास की तो बात ही क्या, वह बेचारा तो पास भी न फटकने पावेगा।

इस प्रसंग में साहित्यदर्पण का उदाहरण भी देख लीजिए—

परिस्फुरन्मीन विघट्टितो रवः
सुराङ्गना त्रास विलोल दृष्टयः।
उपाययुः कम्पित पाणि पल्लवाः
सखी जनस्यापि विलोकनीयताम्॥

जलविहार करते समय जब मृगनयनी अप्सराओं की जंघाओं से मछलियाँ आ-आकर टकराती हैं, तब वे (अप्सराएँ) भय के कारण पाणि-पल्लव कँपाती हुई बड़ी भली मालूम देती हैं।

वितर्क

मन में किसी विचार या सन्देह के उठने पर उसकी छानबीन में लग जाने का नाम वितर्क है।

भृकुटी भंग, शिर हिलाना, उँगली उठाना, आदि इसके लक्षण हैं।

रस तरंगिणीकार विचार को ही वितर्क मानते हैं। नाट्यशास्त्रकार ने चार प्रकार का वितर्क माना है—अर्थात् विचारात्मा संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा।

वितर्क के उदाहरण में महाकवि केशव का निम्नलिखित कवित्त देखिए।

जो हौं कहौं रहिये तो प्रभुता प्रगट होत,
चलन कहौं तो हित हानि नहीं सहने।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राणनाथ,
संग लै चलौ तो कैसे लोक लाज बहने।
कैसो 'केसौराय' की सौं सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं राजि रहने।
तुमहीं सिखाओ सिख सुनहु सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहि जैसी कछू कहने॥

श्री राम के वन जाते समय सीता जी के मनमें कैसे वितर्क उठ रहे हैं। न हाँ किये बनता है, न नाँ किये न ठहराने की हिम्मत होती है, न विदा देने को जी चाहता है। 'भावै सो करहु' तो स्पष्ट उदासीनता का सूचक है। ऐसी अवस्था में सीता जी स्वयं राम जी से ही पूछती हैं—बताइये प्राणनाथ, आपके प्रस्थान करते समय मुझे क्या कहना चाहिये।

इसी विषय में आलम कवि का उदाहरण भी देखिये—

कैधों मोर सोर तजि गए री अनत भाजि
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधों पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधों बग पाँति उत अन्त गति ह्वै गई।
'आलम' कहै हो प्यारी अजहूँ न आए प्यारे,
कैधों उत रीति बिपरीतै बिधि नें ठई।

मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही,
जूझि गये मेघ कै धों बीजुरी सती भई ॥

पावस आने पर प्रोषितपतिका नायिका की कैसी सुन्दर उक्ति है—मालूम होता है कि जहाँ प्राणनाथ हैं, वहाँ से मोर और दादुर कहीं भाग गए हैं। पिक, चातक और बगुला किसी राजा ने मरवा डाले हैं। बादल भी परस्पर युद्ध करते हुए काम आ गए प्रतीत होते हैं, जो उनकी गड़गड़ाहट वहाँ नहीं सुनाई पड़ती। बादलों की चिता में बिजली तो अवश्य ही सती हो गई होगी। नहीं तो यह कैसे हो सकता है, कि वर्षा ऋतु आजाय और प्राणनाथ उसे देख मेरा स्मरण करके घर की ओर प्रस्थान न करें।

वितर्क के उदाहरण में नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है, ध्यान दीजिये—

कैधों रह्यौ राहु तें मयंक प्रतिबिम्बित है,
कैधों रति राजी संग मनमथ सेजे में।
कैधौं अलि मालती सुमन पै सुमन द्वैकै,
रीझि रह्यौ थकित सुगन्धनि अमेजे में।
दामिनी कदम्बिनें मिली हैं चञ्चलाई तजि,
कैधों रजनी को अन्त दिनकर तजे में।
सोई संग मोहन के मोहिनी रसीली कैधों,
छबि अरसीली फँसी मरकत रेजे में ॥

मोहन और मोहिनी (राधिका) को एक आसन पर सोए देख कवि के हृदय में कैसे-कैसे विचित्र वितर्क उठ रहे हैं—वह उस श्याम-गौर छवि को एकत्र देख कभी उसे राहु के बिम्ब से चन्द्रमण्डल को प्रतिबिम्बित हुआ समझता है, कभी सोचता है, कामदेव के साथ रति शयन कर रही है। कभी मालती-सुमन पर भौंरा बैठा है—ऐसी कल्पना करता है और कभी विचारता है, हो न हो यह मेघमाला में चञ्चला अचञ्चल होकर बैठ गई है। कभी वह रात और दिन के एकत्र हो जाने की कल्पना

करता है। निदान उसके मनमानस में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठ रहे हैं, और नई-नई कल्पनाएँ जन्म ले रही हैं।

इसी प्रकार का नीचे लिखा शंकर जी का पद्य भी पढ़ने योग्य है, देखिये—

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है॥

इस छन्द में भी माँग के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की उत्प्रेक्षाएँ की हैं, तरह-तरह के वितर्क और विकल्प उठाए गये हैं।

निम्नलिखित दोहे भी वितर्क के सुन्दर उदाहरण हैं—

बोलत है इत काग अरु फरकत नयन बनाय।
यहि ते यहि जान्यौ परत पीतम मिलिहै आय॥

× × ×

कै सुषमा को सदन यह किधौं मदन छबिधाम।
किधौं नंदन सखि नन्द को अंग अंग अभिराम॥

अन्त में इस विषय की संस्कृत के किन्हीं कवि महोदय की सुन्दर उक्ति सुनकर उसका भी रसास्वादन कीजिए—

किं रुद्धः प्रियया ? कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,
किं वा कारण गौरवम् किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजम्,
दीर्घं निश्वसितं चिरंच रुदितं क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः॥

संकेत स्थान पर प्रिय के न पहुँचने के कारण, नायिका के मन-मानस में तरह-तरह के वितर्क-तरंग उठने लगे। कहीं उन्हें उनकी किसी अन्य प्रियतमा ने तो नहीं रोक लिया! मेरी सखी की किसी बात से तो वे अप्रसन्न नहीं हो गए! सम्भव है, कोई विशेष कार्य लग गया हो। इसी सोच-विचार में वह मृगनयनी अपना मुखारविन्द, हथेली पर रख हिलकियाँ बाँध कर बहुत देर तक रोती रही और अन्त में उसने फूल-मालाएँ तोड़-मरोड़ कर फेंक दीं।

छल

साहित्यदर्पण तथा अन्य रीति-ग्रन्थों में उपर्युक्त तेतीस संचारी भावों का वर्णन है। परन्तु महाकवि देव आदि ने छल को भी संचारी भाव माना है। नाट्य शास्त्र में भी इसका उल्लेख किया गया है, अतएव हम छल के सम्बन्ध में भी कुछ पंक्तियाँ सोदाहरण लिख देना आवश्यक समझते हैं।

गुप्त रीति से क्रिया सम्पादन करना छल कहाता है। इसकी उत्पत्ति अपमान, कुचेष्टा, प्रतीप आदि से होती है।

वक्रोक्ति, एकटक देखते रहना, वास्तविक स्थिति को छिपाना आदि इसके लक्षण हैं।

देव जी ने छल का निम्नलिखित उदाहरण दिया है।

स्याम सयाने कहावत हैं कहो, आजु को काहि सयान है दीन्हों।
'देव' कहै दुरि टेरि कुटीर में आपुनो वैर बधू उहि लीन्हों।
चूमि गई मुख औचकही पटु लै गई पै इन वाहि न चीन्हों।
छैल भले छिन ही में छले दिन ही में छबीली भलो छल कीन्हों॥

स्थायी भाव

साहित्यदर्पण में स्थायी भाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुर कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।

अर्थात् अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सकें, वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी कहाता है।

स्थायी भाव के लिये चार बातें अनिवार्य बताई गई हैं, अर्थात् वासनात्मकता, सजातीय वा विजातीय भावों के योग से नष्ट न होना, अन्य भावों को अपने में लीन कर लेना और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के योग से परिपुष्ट होकर, रस-रूप हो जाना। जो भाव उपर्युक्त कसौटियों पर खरे उतरें, वही स्थायी कहाते हैं। साहित्य-ग्रन्थों में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद इन नौ को स्थायी भाव माना है, क्योंकि इनमें उपर्युक्त चारों ही धर्म पाये जाते हैं।

साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्य रस भी माना है, जिसका स्थायी भाव स्नेह है। कोई-कोई 'भक्ति' आदि को भी रस मानते हैं। इनके अतिरिक्त रीति ग्रन्थों में और भी अनेक रसों का उल्लेख मिलता है।

वास्तव में स्थायी भाव वासनारूप से हृदय में विद्यमान रहते हैं, और जब विभावादि द्वारा उनको उद्बुद्ध होने का अवसर मिलता है, तभी वे जाग्रत होकर, अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से रस-रूप में दिखाई देते हैं। कोई अविरुद्ध या विरुद्ध भाव स्थायीभाव को तिरोहित नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि कोई विरह विधुर व्यक्ति अपनी स्त्री के वियोग में व्याकुल होकर उसे खोजने के लिये, इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। श्मशान में भी जाता है, वहाँ उसके हृदय में जुगुप्सा या भय के भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु उस पर इन विजातीय भावों का कुछ भी असर नहीं होता, क्योंकि वह शीघ्रातिशीघ्र अपनी प्रिया से मिलने की चेष्टा में निमग्न है। उस समय उसके हृदय में जो रतिभाव उत्पन्न हो रहा है, उसे कोई भी भाव नष्ट नहीं कर सकता। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों की भी कल्पना की जा सकती है।

जब जो स्थायी भाव जाग्रत होता है, तब उसी की प्रधानता रहती है। विरोधी भाव तो उस समय हृदय में उठते ही नहीं। और अविरोधी भाव

उद्‌बुद्ध स्थायी भाव में लीन होकर, उलटे उसके पोषक तथा सहायक बन जाते हैं।

वास्तव में वासना-रूप बीज, आलम्बन रूप हृदय-क्षेत्र में पड़कर, स्थायी भाव की शक्ल में अङ्कुरित होता है, और उद्दीपन भाव-रूप जल-वायु एवं गर्मी से बढ़ता है। पीछे यही अङ्कुर अनुभाव-रूप वृक्ष दिखाई देता है, और फिर उस पर संचारी भाव-रूप अनेक फूल खिलते हैं, जिनसे मकरन्द-रूप रस पैदा होता है।

स्थायी भाव क्या है? दो शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर देना हो तो कह सकते हैं कि हृदय में जो रसानुकूल विकार उत्पन्न होता है, और रस में जिसकी सदा स्थिति रहती है, वह स्थायी भाव है।

विभावादि का प्रभाव सब हृदयों पर समान नहीं पड़ता यह बात विभावों की तीव्रता और मन्दता पर निर्भर है अर्थात् यदि विभावादि मन्द होंगे तो प्रभाव भी मन्द डालेंगे और तीव्र होंगे तो तीव्र। विभावों के लिए अनुकूल प्रकृतियाँ प्राप्त न होने पर भी उनका ठीक ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। किसी युवती सुन्दरी को देखकर रसिक और उग्र प्रकृति वाले नवयुवक के हृदय पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना गम्भीर और सरल स्वभाव वाले युवक पर नहीं, और वृद्ध पर तो कदाचित् कुछ असर होगा ही नहीं। इसी प्रकार जो लोग रात-दिन मरघट में रहते या घिनौने पेशे करते हैं, उन पर ग्लानि-उत्पादक वस्तुओं एवम् व्यापारों का बहुत ही कम असर होता है। इससे सिद्ध होता है कि स्थायी भावों के जाग्रत होने के लिए अनुकूल प्रकृति की भी आवश्यकता है।

जब स्थायी और सञ्चारी भावों का रस-परिपाक से सम्बन्ध नहीं रहता, और वे पृथक्-पृथक् होते हैं, तो वे केवल 'भाव' कहाते हैं। स्थायी और 'सञ्चारी' विशेषण उनसे पूर्व नहीं लगाये जाते। जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्थायी भाव, विभावादि के कारण ही रसत्व को प्राप्त होते हैं, अगर आलम्बन भाव न हों तो उद्दीपन कुछ भी नहीं कर सकते। मानसिक क्षेत्र

की दशा ही कुछ ऐसी है कि, उसमें उत्पन्न भाव, एक दूसरे के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित रहते हैं, जिससे भावों की एक शृङ्खला-सी बन जाती है।

स्थायी भाव के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि वे (स्थायीभाव) कभी-कभी सञ्चारी भी बन जाते हैं, यथा-शृङ्गार और वीर में हास, वीर में क्रोध और शान्त रस में जुगुप्सा सञ्चारी भाव होते हैं। इस प्रसंग में रस गंगाधरकार कहते हैं कि जब रति आदि स्थायी भाव, अधिक विभावादिकों से उत्पन्न होते हैं तब वे स्थायी कहाते हैं, और थोड़े विभादिकों से प्रसूत होने पर उन्हीं की संचारी या व्यभिचारी संज्ञा होती है। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो गया कि जब-जब रत्यादि संचारी भाव बनकर हृदय में उद्बुद्ध होते हैं, तब वे रसत्व को प्राप्त नहीं होते। नाटक देखने या काव्य पढ़ने-सुनने से जिन व्यक्तियों के हृदयों में जो भाव स्थायी रूप से जाग्रत होता है, वही विभावादिकों से पुष्ट होकर रस-रूप में परिणत हो जाता है। एक ही दृश्य देख या काव्य सुन कर सभी दर्शकों या श्रोताओं को समान आनन्द की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उन पर उनका एक-सा प्रभाव नहीं पड़ता। जिन व्यक्तियों के हृदयों में अधिक विभावादिकों से रत्यादि उत्पन्न होते हैं, वहाँ तो वे स्थायी होने के कारण रसत्व को प्राप्त हो जाते हैं, और असीम आनन्द के हेतु होते हैं; परन्तु जिन लोगों के हृदयों में अल्प विभावादि से रत्यादि स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है, वहाँ वे संचारी बन जाते हैं जिससे रसोत्पत्ति नहीं हो पाती। ऐसी दशा में आनन्द की अनुभूति करना तो बिलकुल व्यर्थ ही है।

स्थायी भाव के भेद

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (ग्लानि), आश्चर्य (विस्मय), और निर्वेद (शम) स्थायी भाव के ये नौ भेद हैं। वात्सल्य को दसवाँ रस मानने वाले उसके लिए 'स्नेह' को दसवाँ स्थायी भाव मानते हैं।

रति

प्रिय वस्तु में मन की प्रेम पूर्ण संलग्नता का नाम रति है। कुछ आचार्यों ने प्रिया और प्रियतम के मिलने की इच्छा से उत्पन्न हुई गुप्त और अपूर्व प्रीति को रति कहा है। रति, प्रेम, प्रीति, प्यार, अनुराग, स्नेह आदि पर्यायवाची हैं। कामवासना, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रेमाकर्षण, प्रजनन भाव आदि सब रति के ही अन्तर्गत हैं। गुरु, शिष्य, देवता, पुत्र राजा आदि सम्बन्धी रति 'भाव' रूप में शृंगार रस का स्थायी-भाव मानी गई है। ऋतु, पुष्प, चन्दन, अंगराग, आभरण, भोजन, वरदान आदि विभावों एवं अनुकूलता आदि भावों से रति की उत्पत्ति होती है, और वह स्मिति, मधुर वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों द्वारा व्यक्त की जाती है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति द्वारा उत्पन्न रति, सौम्य गुण युक्त होती है, इसी लिए उसे मधुर वाणी और सुन्दर अंग-चेष्टाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है।

रति का निरूपण विविध आचार्यों ने विविध प्रकार किया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि मन के अनुकूल अर्थों में सुख-प्रसूत ज्ञान का नाम रति है। कुछ कहते हैं कि स्त्री-पुरुष के काम-वासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम रति है। 'साहित्य दर्पणकार' की सम्मति में, प्रिय वस्तु में मन का प्रेमपूर्ण उन्मुख होना ही रति है। कुछ लोगों की राय में प्रेम और जीवन एक ही वस्तु हैं। महात्मा कबीर ने प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ने वाला ही पण्डित माना है—अर्थात् कोई कितने ही बड़े बड़े पोथे क्यों न पढ़ ले, परन्तु यदि वह प्रेम की वास्तविकता नहीं समझता तो सब व्यर्थ है।

प्रेम-वृत्ति के कारण मानव-हृदय से, दुरभिमान, कठोरता, क्रूरता आदि दूर होकर उसमें नम्रता, कोमलता और दयालुता का समावेश होता है, स्त्री जाति के प्रति विनम्रता के भाव बढ़ते हैं। पुरुषों में स्त्री जाति के प्रति उदारता, सभ्यता और नम्रता के जो भाव दिखाई देते हैं, उनका

मूल कारण प्रेमवृति ही है। एक पुरुष दूसरे पुरुष के साथ जब मैत्री द्वारा प्रेमबन्धन में बँधता है, तो यह प्रेम स्त्री विषयक प्रेम से भिन्न होता है। विवाह, सहवास, गर्भाधान, गर्भोत्पत्ति, पोषण, रक्षण, शिक्षण, गृह-व्यवस्था, गृह-कर्तव्य, दाम्पत्य धर्म इत्यादि कार्यों एवम् सम्बन्धों की जड़ में प्रेम ही है प्रजा को उत्पादन कर, उसकी परिपुष्टि और अभिवृद्धि करना प्रेमवृत्ति का ही कार्य है। प्रजा की उत्पत्ति से पूर्व, इस वृत्ति के अस्तित्व और उसके उचित उपयोग की आवश्यकता होती है। भावी सन्तान की उत्पत्ति इस वृत्ति के उचित उपयोग पर ही अवलम्बित है।

मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र, यहाँ तक कि वनस्पतियों तक का स्त्रीत्व और पुरुषत्व की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है। इनमें भी नर-मादा, वृक्ष-वल्लरी और तरु-लताएँ होते हैं। जब स्त्री-पुरुष एक दूसरे को अपने स्नेह, हावभाव तथा वेश द्वारा आकर्षित करते हैं तो ये प्रेम-प्रदर्शक क्रियाएँ ही स्वाभाविक भाषा का रूप धारण कर लेती हैं और काम वासना इत्यादि द्वारा इस भाषा का प्रकटीकरण होता है। प्रेम के इस प्रबल पाश में पड़कर ही मनुष्य ने सामाजिक संघटन, सुख-सम्बन्ध, सभा-समाज आनन्द-उत्सव आदि की कल्पना की है। आत्म सन्तोषका कारण भी प्रेम है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पुर-परिवार आदि सब प्रेम-बन्धन से बँधे हुए हैं। प्रेम सब जीवों का जीवन है और प्रेम ही परमात्मा है। प्रेम का मुख्य काम पारस्परिक स्नेह, मान, प्रशंसा, सभ्यता, नम्रता आदि भावों की प्रेरणा करना है। स्त्रियों में मनोमोहकता, स्नेहार्द्रता, प्रेम-पिपासा, वशीकरणत्व आदि प्रेम के कारण ही हैं। पुरुषों में उदारता, वीरता, सहनशीलता, क्षमा, उन्नति की आकांक्षा, विशुद्धता, नम्रता, सत्यता, मिलनसारता, स्नेहस्निग्धता, मोहकता, आदि की प्रेरणा करने वाली प्रेमवृत्ति ही है। दो शब्दों में कहें तो स्त्रियों में स्त्रीत्व और पुरुषों में पुरुषत्व की प्रेरणा प्रेम द्वारा ही होती है।

जिन स्त्रियों और पुरुषों में प्रेमवृत्ति पूर्ण रूप में विद्यमान रहती है,

उनका जीवन माधुर्य-पूर्ण, रसीला और स्वाभाविक रीति से आकर्षक हो जाता है। वे अपने सगे-सम्बन्धियों से तो प्रेम करते ही हैं, साथ ही मित्रादि से भी उनका स्नेह बड़ा गाढ़ा होता है। इनके आचार-व्यवहार और बर्ताव में भी प्रेम की एक अद्भुत झलक दिखाई देती है। वात्सल्य और दयालुता की मात्रा बढ़ जाती है। कौटुम्बिक जीवन बड़ा आनन्द-पूर्ण बन जाता है। ऐसे लोगों में जन्मभूमि के प्रति भी बहुत प्रेम होता है। वे अपने इष्ट पदार्थों की प्रयत्नतः रक्षा करते हैं। सम्बन्धियों तथा प्रेमियों को खिलाने-पिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। अर्थ-हानि सह कर भी ऐसे लोग प्रेम की रक्षा करते हैं, परन्तु प्रेम में निराशा होने से, उनकी व्याकुलता का ठिकाना नहीं रहता। जिन लोगों में प्रेमवृति साधारण मात्रा में होती है, वे लालन-पालन में विशेष रुचि नहीं दरसाते और उनके स्वभाव में चिड़-चिड़ापन आ जाता है। ऐसे लोगों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। जिन लोगों में प्रेमवृत्ति की न्यूनता होती है वे भिन्न वृत्ति के व्यक्तियों को पसन्द नहीं करते, उन्हें उनका विश्वास कम होता है और साथ-साथ रहना भी नहीं भाता। ऐसे लोगों मे विवाहाभिलाषा भी बहुत कम होती है। स्नेहशून्य स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। उन्हें शरमाने और चुप रहने की आदत पड़ जाती है। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य का कोई मूल्य ही नहीं होता।

प्रेम त्यागमय है, इसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए, अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं। परस्पर हृदय के आदान-प्रदान से ही प्रेम की स्थिति होती है। देश-प्रेम, धर्म-प्रेम, समाज-प्रेम, साहित्य-प्रेम, आदि से प्रेरित होकर, लोग कैसे बड़े-बड़े कार्य कर गये हैं। कहते हैं कि हरिण और सर्प तक प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। प्रेम की मात्रा कम हो जाने अर्थात् वैराग्य के भाव जाग उठने से संसार विषवत् लगने लगता है।

प्रेमवृत्ति का अतियोग अथवा मिथ्या योग बड़ा दुखदाई होता है।

विषयान्धता, व्यभिचार, दुराचार, आदि की उत्पत्ति इसीसे होती है। इन्द्रियलोलुपता और निर्बलता प्रेमवृत्ति के दुरुपयोग के ही दुष्परिणाम हैं। प्रेम-सम्बन्ध में निग्रह की बड़ी आवश्यकता है।

रति का उदाहरण देखिए—

सजन लगी है, कहूँ कबहूँ सिंगारन को,
तजन लगी है, कहूँ ऐसे बैसवारी की।
चखन लगी है, कछू चाह 'पदमाकर' त्यों,
लखन लगी है, मंजु मूरति मुरारी की।
सुन्दर गोविन्द गुन गुनन लगी है कछू,
सुनन लगी है, बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है, लगि लगन हिये सों नेकु,
लगन लगी है कछू पी की प्रान प्यारी की॥

उपर्युक्त कवित्त में नायिका के हृदय में नायक के प्रति अनुराग उद्बुद्ध होने का वर्णन है। यहाँ प्राण प्यारी के हृदय में प्रेम की लगन अंकुरित होना ही 'रति' है।

रति के भेद

रति के तीन भेद माने गये हैं। १—उत्तम रति, २—मध्यम रति, और ३—अधम रति।

उत्तम रति

सदा एक रस रहने वाली स्वार्थ शून्य प्रीति को उत्तम रति कहते हैं। इसमें सेव्यसेवक भाव की ही प्रधानता होती है।

उदाहरण देखिए—

अंग को पतंग दहै दीप के समीप जाय,
वारिज बँधाय भृंग दरद न मानई।

सुनि कै विपञ्ची धुनि विशिख कुरंग सहै,
सती पति संग दहै दुख को न आनई।
मनि हीन छीन फनि वारि सों विहीन मीन,
होइ कै मलीन मति दीनता वितानई।
चातक मयूर मन मेह के सनेह ऊधो,
जाहि लगै नेह सोई देह भलै जानई॥

इसमें दीपक पर पतंग के जलने और कमल-पुष्प में भ्रमर के मुँद जाने आदि का उदाहरण देकर निःस्वार्थ प्रीति का उल्लेख किया गया है।

दूसरा उदाहरण—

राम के प्रेम को रूप मनो सिय सीय के प्रेम को रूप सु-राम है।
राम की आनंद मूरति जानकी, जानकी आनंद मूरति राम है।
राम के नैननि सीय बसै सिय के दृग राम करै विसराम है।
रामहि है सत के सिय के जिय राम को जीय सिया अभिराम है॥

यहाँ जनक नन्दिनी सीताजी और मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की उत्तम प्रीति का वर्णन है। जानकी के राम सर्वस्व हैं और राम की जानकी ही सब कुछ हैं। सीता राम के लिये प्रेम रूप हैं, और राम सीता के लिए। दोनों एक दूसरे के लिए विशुद्ध प्रेम रूप में विद्यमान हैं।

× × ×

मध्यम रति

विना किसी कारण के अनायास ही परस्पर प्रीति हो जाने को मध्यम रति कहते हैं। इसमें मैत्री भाव की प्रधानता होती है।

इसके उदाहरण में पदमाकरजी का निम्नलिखित सवैया कैसा सुन्दर है—

सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पदमाकर' देखे बनै न बनै कहते अनुराग अबाधा।
प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसै बरसै रस रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो, साँवरे के हिय झूलति राधा॥

यहाँ श्रावण में झूला झूलते-झूलते प्रेमातिरेक से राधिका के हृदय में कृष्ण जी झूलने लगे, और कृष्ण जी के हृदय में राधिका झोंटे लेने लगीं। दोनों के दिलों में प्रेम की नदी उमड़ने लगी। वे एक दूसरे के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये।

× × ×

अधम रति

स्वार्थ प्रधान प्रीति को अधम रति कहते हैं। इसमें स्वार्थ-भाव की प्रधानता होती है। उदाहरण देखिए, कविवर नन्दराम और महाकवि देव क्या कहते हैं—

पावा करैं जब लौं धन धाम ते आवा करैं तब लौं गनिये ते।
केते गरीब भए परि फन्द में दीन ह्वै सोचत हाल हिये ते।
होत नहीं अपनी कबहूँ तन हूँ, मन हूँ धन हूँ के दिये ते।
त्यौं 'नंदराम' रिझावा करै अरु गावा करै मुसक्यानि किये ते॥

× × ×

आजु मिले बहुते दिन भावते! भेंटत भेंट कछू मुख भाखौ।
ये भुज भूषन मो भुज बाँधि भुजा भरि कै अधरा रस चाखौ।
दीजिये मोहिं उढ़ाय जरी पट कीजिये जू जिय जो अभिलाखौ।
देव हमैं तुम्हैं अन्त पारत हार उतारि इतै धरि राखौ॥

× × ×

इन सवैयों में स्वार्थ युक्त अधम प्रीति का वर्णन है। स्वार्थ की समाप्ति के साथ ही यह प्रीति भी समाप्त हो जाती है। इस प्रीति में धन की ही

प्रधानता होती है। "जब तक पैसा गाँठ में तब लग ताको यार" वाली लोकोक्ति इस प्रीति के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ होती है। स्वार्थ युक्त प्रीति के सम्बन्ध में नीचे लिखी कुण्डलिया बहुत प्रसिद्ध है—

साईं या संसार में मतलब को व्यवहार,
जब लग पैसा गाँठ में तब लग ताको यार।
तब लग ताको यार यार सँगही सँग डोले,
पैसा रहा न पास यार मुख ते नहीं बोले।
कह 'गिरधर कविराय' जगत यह लेखा भाई,
करत बेगरजी प्रीति यार विरला कोई साईं।

वास्तव में जो प्रीति स्वार्थ के कारण होती है, उसमें वास्तविकता खोजना व्यर्थ है उसके टूटने में देर ही क्या लगती है। स्वार्थ न रहा तो प्रीति की भी समाप्ति हुई। फिर क्या है—" यूयम् यूयम् वयम् वयम्।"

रति स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रसंगों से ही सम्बन्ध नहीं रखती, वह प्रभु-भक्ति में भी होती है—परन्तु वहाँ उसकी संज्ञा प्रीति, प्रेम और अनुराग भी हो जाती है। देखिये—

अर्थ न धर्म न काम रुचि पद न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म 'रति' रामपद, यह बरदान न आन ॥

× × ×

और देखिये—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर 'प्रेम' का पढ़ै सो पण्डित होय ॥

यहाँ प्रेम ही रति रूप में वर्णित है। रामचरितमानस में तुलसीदास जी। कहते हैं—

गुण स्वरूप बल द्रव्य को प्रीति करै सब कोय।
तुलसी प्रीति सराहिये, जु इनते बाहर होय॥

हास

कौतुकार्थ की गई वाणी स्वरूप आदि की विकृतावस्था देखकर उत्पन्न होने वाले हर्षयुक्त मनोविकार को, अथवा विचित्र वाणी और विचित्र वेश के कारण मन में उत्पन्न प्रसन्नता को हास कहते हैं।

दूसरों की क्रिया, चेष्टा, वाणी आदि के अनुकरण तथा असम्बद्ध प्रलाप आदि विभावों से हास (हसन क्रिया) की उत्पत्ति होती है और स्मित हसित आदि अनुभावों द्वारा वह प्रकट किया जाता है।

उदाहरण देखिए—

आरसी देखि जसोमति जू सों कहै तुतरात यों बात कन्हैया।
बैठे तें बैठै उठे तें उठै, अरु कूदैं तें कूदै चले तें चलैया॥
बोले तें बोलै हँसे तें हँसै मुख जैसे करों त्यों ही आपु करैया।
दूसरो को तू दुलारो कियो यह को है जो मोहि खिजावत मैया॥

आरसी में अपनी सूरत और चेष्टाओं का प्रतिबिम्ब देखकर भोले भाले बाल कृष्ण यशोदा जी से पूछते हैं—मैया, मेरी ही सूरत का और मेरी सी ही सब चेष्टाएँ करने वाला यह दूसरा बालक तैने कहाँ से बुला लिया है, जो मुझे खिझा रहा है। इसमें बाल स्वभाव-जनित स्वाभाविक हास वर्णित है।

और देखिये—

कबहूँ नहिं कान सुने हमने यह कौतुक मन्त्र विचार केहैं।
कहि कैसे भये करि कौन दिये सिखये कोइ साधु अपार केहैं।
कवि 'ग्वाल' कपोल तिहारे अली दुहूँ ओर में बाग बहार केहैं।
चमकें ये चुनी-सी चुनी इतमें उतमें पके दाने अनार के हैं॥

उपर्युक्त सवैया में सखी ने नायिका से मज़ाक किया है। उसके कपोलों की व्यंजना से हँसी उड़ाई है।

हास का एक उदाहरण और देखिए—

अति उदार करतूतिदार सब अवधपुरी की वामा।
खीर खाय पैदा सुत करतीं पतिकर कछु नहिं कामा॥
सखी वचन सुनते रघुनन्दन बोले मृदु मुसकाते।
आपन चलन छिपावहु प्यारी कहहु आन की बातें॥
कोउ नहिं जन्मैं मात-पिता बिन बँधी वेदकी नीती।
तुम्हरे तौ महिते सब उपजैं अस हमरे नहिं रीती॥

यहाँ श्री रामचन्द्रजी के साथ जनकपुर में सखियों का विनोद वर्णित है। एक सखी राम से पूछती है—आपके यहाँ तो खीर खाकर पुत्र पैदा किये जाते हैं, क्यों है कि नहीं? राम कहते हैं—नहीं नहीं हमारे यहाँ तो वेद मर्यादानुसार ही सन्तान पैदा होती है, अर्थात् विना माता-पिता के कोई भी जन्म नहीं ले सकता, परन्तु तुम अपनी कहो—जो पृथ्वी के पेट से सब पैदा होते हैं। छिपाती क्यों हो। है न यही बात। ठीक ठीक बताओ। कैसा मीठा मज़ाक और कितनी सुन्दर चुटकी है।

हास के भेद

हास के तीन भेद हैं—१—उत्तम, २—मध्यम और ३—अधम। इन तीनों में से प्रत्येक के दो-दो भेद और होते हैं, अर्थात् उत्तम के स्मित और हसित, मध्यम के विहसित और उपहसित या अवहसित और अधम के अपहसित और अतिहसित। इस प्रकार कुल मिलाकर हास छह प्रकार का माना गया है। कुछ लोगों ने इन छहों भेदों के स्वनिष्ठ (आत्मस्थ) और परनिष्ठ (परस्थ) दो-दो भेद और करके, हास बारह प्रकार का माना है। स्वनिष्ठ हास उसे कहते हैं, जो विभाव के देखने मात्र से उत्पन्न

हो जाता है, और जो दूसरे को हँसते देखकर उत्पन्न होता है, एवं जिसका विभाव भी हास ही होता है, उसे परनिष्ठ कहते हैं।

× × × ×

स्मित

जिसमें नेत्रों तथा कपोलों में थोड़ा विकास हो, परन्तु न तो दांत दिखाई पड़ें, और न शब्द ही सुनाई दे, ऐसे मन्द मुस्कराने को स्मित कहते हैं।

उदाहरण देखिए, पदमाकरजी का सवैया कैसा सुन्दर है—

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु दई पहिंराय सुनाय सु होरी।
बेंदी विशाखा रची 'पदमाकर' अंजन आँजि समाजि कै रोरी।
लागी जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कञ्चुकी केसर बोरी।
हेरि हरै मुसुकाइ रही अँचरा मुख दै वृषभानु किशोरी॥

चन्द्रकला ने कृष्ण को 'चूनरी' उढ़ा दी; बिसाखा ने माथे पर बिन्दी लगाकर उनकी आँखों में अंजन आँज दिया, परन्तु जब ललिता ने उन्हें कंचुकी पहनाने को हाथ बढ़ाया तो वह मुँह में आँचल देकर मुस्कराने लगी। यह मन्द मुस्कान ही स्मित है।

बिहारी का यह दोहा भी बड़ा सुन्दर है—

सतर भौंह रूखे बचन करति कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि॥

मैं क्या करूँ तुम्हारी ऐसी चेष्टाएँ देखकर मेरी हँसौंही दीठि हो जाती है अर्थात् मुँह से नहीं मेरी आँखों से हँसी निकलने लगती है यह अभिप्राय।

× × ×

हसित

जिसमें आँखें और कपोल पूर्णतया प्रफुल्ल हो जायँ तथा कुछ कुछ दाँतों की कोर भी दिखाई देने लगे उसे हसित कहते हैं।

केशवदासजी का उदाहरण देखिए—

जानै को पान खवावत क्यों हू गई लगि आँगुली ओठ नवीने।
तैं चितयौ तबही तिहिं भाँति जु लाल के लोचन लीलि से लीने।
बात कही हर ये हसि कैं सुनि मैं समुझी वे महा रस भीने।
जानति हौं पिय के जियके अभिलाष सबै परिपूरण कीने॥

यहाँ हरि का हँस कर बात कहना ही हसित है। हँसने में आँखों और कपोलों का पूर्णतः विकसित होना और कुछ दाँत दीखना-दोनों ही क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से हो रही हैं।

× × ×

विहसित

जिसमें नेत्रों व कपोलों के विकास और दाँत दीखने के साथ-साथ थोड़ा मनोहर शब्द भी सुन पड़े उसे विहसित कहते हैं। यथा—

काछे सितासित काछनी 'केशव' पातुर ज्यों पुतरीन विचारो।
कोटि कटाक्ष नचै गति भेद नचावत नायक नेह निहारो।
बाजत है मृदुहास मृदंग सौ दीपति दीपन को उजियारो।
देखत हौ हरि देखि तुम्हें यह होतु है आँखिन बीच अखारो॥

यहाँ 'मृदुहास रूपी मृदंग' का बजना हँसी के साथ शब्द होने का द्योतक है अतः विहसित है।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
विहसे करुणा ऐन चितै जानकी लखन तन॥

× × ×

उपहसित या अवहसित

जिस हास्य में विहसित के सब लक्षणों के साथ-साथ नाक के नथने भी फूलने लगें, भौंह मटकने, नेत्र नाचने और कंधा तथा सिर हिलने लगें उसे उपहसित या अवहसित कहते हैं। यथा—

प्रेम घने रस बैन सने गति नैनन की रस में न भई है।
बाल वयक्रम दीपति देह त्रिविक्रम की गति लीलि लई है।
भौंह चढ़ाय सखीन दुराय इतै मुसुकाय उतै चितई है।
'केशव' पाइहौं आज भले चितचोर जु कालि गुवारि गई है॥

उपर्युक्त सवैया में भौंहें मटका कर इधर मुसकाना और उधर देखना आदि क्रियाओं का वर्णन होने से उपहसित है।

\+ \+ \+

ज्यों-ज्यों पट झटकति हँसति हटति नचावति नैन।
त्यों-त्यों परम उदार हू फगुवा देत बनै न॥

इस दोहे में भी हँसी के साथ 'नैन नचाने' का वर्णन है।

अपहसित

जिस हास्य में उपहसित के सब चिन्हों के साथ-साथ आँखों में आँसू भी आ जायँ उसे अपहसित कहते हैं। जैसे—

तैसी ये जगत ज्योति शीश शीशफूलन की,
चिलकत तिलक तरुणि तेरे भाल को।
तैसी ये दशन पाँति दमकति 'केशौदास',
तैसो ये लसत लाल कण्ठ कण्ठमाल को।
तैसी ये चमक चारु चिबुक कपोलनि की,
तैसो चमकत नाक मोती चल चाल को।
हरे हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनी,
चित चकचौंधे मेरे मदनगुपाल को॥

नायिका के जोर-जोर से हँसने के कारण उसकी दंतावली दिखायी दे रही हैं, दाँतों की द्युति अर्थात् दमक से मदनगोपाल को चकाचौंध लगती है, इसीसे यशोदाजी कहती हैं—अरी हँसने वाली जरा धीरे-धीरे हँस, जोर से हँसने में तेरे दमकते दाँत दीखते हैं, जिनके कारण मेरे मदनगोपाल को चकाचौंध लगती है।

अतिहसित

जिस हास्य में पिछले सब हास्यों के लक्षणों के साथ-साथ खूब जोर से ठहाका मारा जाय और हाथ-पाँव इधर-उधर पटके जायँ तथा ताली पीटी जाय उसे अतिहसित कहते हैं। यथा—

गिरि गिरि उठि उठि रीझि रीझि लागै कण्ठ,
बीच बीच न्यारे होत छबि न्यारी न्यारी सों।
आपुस में अकुलाइ आधे-आधे आखरनि,
आछी आछी बातें कहैं आछी एक ह्यारी सों।
सुनत सुहाइ सब समुझि परै न कछू,
'केशौराइ' की सों दुरे देखे मैं हुस्यारी सों।
तरणि तनूजा तीर तरु पर चढ़ि ठाढ़े,
तारी दै दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सों॥

यहाँ ताली दे-दे कर हँसना ही अतिहसित है।

× × ×

आचार्य केशवदास ने हास के केवल चार भेद किये हैं; अर्थात्—मन्दहास, कलहास, अतिहास और परिहास। इन भेदों के लक्षण भी हास के उपर्युक्त भेदों के लक्षणों से मिलते जुलते ही हैं।

शोक

प्रिय वस्तु-वियोग, इष्ट-नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण मन में जो विकलता उत्पन्न होती है, उसे शोक कहते हैं।

इष्ट जन-वियोग, विभव-नाश, बन्धनादि-जन्य दुःखानुभव आदि विभावों द्वारा शोक की उत्पत्ति होती है, और अश्रुपात, विलाप, वैवर्ण्य, स्वर-भंग अंग शैथिल्य, भूमिपतन, दीर्घनिःश्वास, रोदन आदि द्वारा वह व्यक्त किया जाता है।

रोदन शोक के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होता है। आचार्यों ने उसके तीन भेद किये हैं अर्थात्—आनन्दज, आर्तिज और ईर्ष्याकृत। आनन्दज में मारे खुशी के गाल फूल कर कुप्पा बन जाते हैं। आँखों से आँसू निकलने लगते हैं, और रोमांच भी हो आता है। आर्तिज में आँसुओं की झड़ी लग जाती है, शारीरिक गति और चेष्टाओं में शैथिल्य आ जाता है, ज़मीन पर गिर पड़ना, कराहना, विलाप करना आदि होते हैं। ईर्ष्या से उत्पन्न रोदन में ओठ और गालों का फड़कना, शिरः कम्पन, भौंहें चढ़ना, दीर्घ श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ होती हैं।

मूर्ख स्त्री-पुरुषों और नीच स्वभाव वालों में दुःखजन्य शोक होता है, वे दुःख के कारण ढाड़ मार-मार कर बुरी तरह रोते हैं; परन्तु उत्तम और मध्यम प्रकृति वाले लोग शोक-जनित दुःख को धैर्य और साहस के साथ सह लेते हैं।

शोक के उदाहरण में पद्माकरजी का सवैया पढ़िये—

मोहिं न सोच इतो तन प्रान को जायँ रहैं कै लहैं लघुताई।
एहु न सोच घनो 'पदमाकर' साहिबी जो पै सुकण्ठ ही पाई।
सोच यहै इक बालि वधे पर देहिगो अंगद को युवराई।
यों बच बालि-वधू के सुने करुनाकर कों करुना कछु आई॥

यहाँ बालि-वधू का विलाप सुनकर श्रीरामचन्द्रजी के हृदय में करुणा उत्पन्न होना ही शोक है।

× × ×

दीन मलीन है अंग विहंग पर्यो छिति में छत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालु कों देखि दुखी करुना भई भारी।

गीध को गोद में राखि दयानिधि नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहि बार सुधारेउ पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

यहाँ जटायु की करुण दशा देखकर भगवान् राम के हृदय में करुणा का समुद्र उमड़ना ही शोक है।

इस प्रसंग में रामचरितमानस का उदाहरण देखिए—

× × ×

सुनहु प्राणपति भावति जीका।
देहु एक बर भरतहिं टीका॥
दूसर बर माँगौं कर जोरे।
नाथ ! मनोरथ पुरवहु मोरे॥
तापस वेश विशेष उदासी।
चौदह बरस राम बनबासी॥
सुनि तिय वचन भूप उर शोकू।
शशि कर छुवत विकल जिमि कोकू॥

यहाँ 'राम-वनवास' की बात सुन कर दशरथजी का दुखित होना वर्णित है, यही शोक है।

क्रोध

शत्रुओं द्वारा किये गए अपमानादि के कारण हृदय में चोट लगने से जो उद्वेग या मनोविकार उत्पन्न होता है, उसे क्रोध कहते हैं।

वाद-विवाद, झगड़े-झंझट, प्रतिकूलता आदि विभावों से क्रोध उत्पन्न होता और नाक के नथुने फुलाने, आँखें चढ़ाने, ओठ चबाने एवं गाल फड़काने आदि अनुभावों द्वारा वह व्यक्त किया जाता है।

रामचरित मानस का उदाहरण देखिए—

रे नृप बालक कालवश, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम त्रिपुरारि धनु विदित सकल संसार॥

बोले चितय परशु की ओरा ।
रे शठ सुनेसि प्रभाव न मोरा ॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही ।
विपुल वार महिदेवन्ह दीन्ही ॥
सहसबाहु भुज छेदन हारा ।
परशु विलोकि महीप कुमारा ॥

× × ×

जब तेहि कीन्ह राम की निन्दा ।
क्रोधवन्त तब भयेउ कपिन्दा ॥
कटकटाइ कपिकुंजर भारी ।
दोऊ भुजदंड तमकि महि मारी ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में शिवजी के धनुष टूटने पर परशुराम का कोप और राम की निन्दा सुनने के कारण महावीर हनुमान का रोष वर्णित है, यही क्रोध है—

और देखिए—

गौर शरीर भूति भलि भ्राजा ।
भाल विशाल त्रिपुंड विराजा ॥
सीस जटा शशिवदन सुहावा ।
रिस बस कछुक अरुन है आवा ॥

× × ×

उत्साह

दान, दया, शूरतादि के कारण उत्तरोत्तर बढ़ी हुई इच्छा शक्ति तथा कार्य करने में तत्परता, दृढ़ता और प्रसन्नता को उत्साह कहते हैं ।

खेदहीनता, सामर्थ्य, धैर्य, पराक्रम आदि विभावों से उत्साह उत्पन्न होता है । इसका आश्रय स्थान उत्तम प्रकृति के पात्र हैं । धैर्य न त्यागना, काम में लगे रहना आदि अनुभावों से उत्साह की अभिव्यक्ति होती है ।

रसतरंगिणीकार ने शौर्य, दान अथवा दया द्वारा उत्पन्न परिमित मनोविकार को उत्साह कहा है।

उत्साह तीन प्रकार का होता है। १– बल विद्या प्रताप आदि से पैदा हुआ। २—आर्द्रता आदि से पैदा हुआ और ३—दान सामर्थ्यादि-जनित।

उत्साह के उदाहरण में ललित कवि का निम्नलिखित छन्द कैसा अच्छा है—

अब तो न सही जात पीर रघुवीर धीर,
तीर से लगे हैं बैन आयसु जो पाऊँ मैं।
'ललित' मरोरि महि वारिधि में डारों बोरि,
तोरि दिगदन्तिन के दन्तन दिखाऊँ मैं।
रावरे प्रताप बल साँची कहौं रघुवीर,
मेरु लै उखारि छिति छोर लगि धाऊँ मैं।
अटकि रहे हौ कहा मुखते निकारिए तो,
झटकि शरासन को चटकि चढ़ाऊँ मैं॥

यहाँ 'मही' को मरोड़ कर समुद्र में डुबो देने, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने और शरासन के चटाक से चढ़ा देने का वर्णन ही उत्साह है।

पद्माकरजी का उदाहरण भी पढ़ लीजिए—

इत कपि रीछ उत राछसन ही की चमू
डंका देत बंका गढ़ लंका ते कढ़ै लगी।
कहै 'पदमाकर' उमंड जगही के हित
चित्त में कछूक चोप चाव की चढ़ै लगी।
बातरिन के बाहिए को कर में कमान कसि,
धोई धूर धान आसमान में मढ़ै लगी।
देखतै बनी है दुहूँ दल की चढ़ा चढ़ी में,
राम दृग हूँ पै नेक लाली जो चढ़ै लगी॥

यहाँ युद्ध की साज सज्जा देखकर वीरों के हृदयों में चाव की चमक पैदा होना वर्णित है, यही उत्साह है।

भय

भयानक रूप-दर्शन, भयकर शब्द श्रवण, अथवा अपराधादि के कारण किसी भयानक शक्ति द्वारा उत्पन्न चित्त को विकल कर देने वाला विकार भय कहलाता है।

गुरुजनों अथवा राजा का अपराध, जन-शून्य घर या स्थान, झाड़ी, पर्वत, दुर्दिन, अन्धकार, रात्रि में फिरने वाले उल्लू आदि पक्षियों अथवा हिंस्र जन्तुओं के शब्द आदि विभावों द्वारा भय उत्पन्न होता है। स्त्री और नीच प्रकृति पात्र इसके आश्रय स्थान हैं। हाथ पैरों का काँपना, हृदय का धड़कना, मुख का सूखना, पसीना आना (स्वेद), शरीर का शिथिल हो जाना, एकाएक चीख पड़ना आदि अनुभावों द्वारा भय व्यक्त किया जाता है।

रसतरंगिणीकार ने भय का लक्षण इस प्रकार किया है—

"छेड़ने या ललकारने के कारण क्रुद्ध हुए सिंहादि प्राणियों द्वारा उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार भय कहाता है।"

भय का उदाहरण देखिए—

चितै चितै चारों ओर चौंकि चौंकि परै त्योंही,
जहाँ तहाँ जब तब खटकत पात हैं।
भाजन सो चाहत गँवार ग्वालिनी के कछू,
डरत डराने से उठाने रोम गात हैं।
कहै 'पदमाकर' सुदेखि दशा मोहन की,
शेषहु महेशहु सुरेशहु सिहात हैं।
एक पायँ भीत एक पायँ मीत काँधे धरे,
एक हाथ छींको एक हाथ दधि खात हैं॥

यहाँ इधर-उधर सशंक दृष्टि से देखने, पत्ते खटकने के कारण डर से रोमाञ्च खड़े होने आदि का वर्णन ही भय है।

इस सम्बन्ध में दास जी की उक्ति भी पढ़ने लायक़ है, देखिए—

आयो सुनि कान्ह भूल्यो सकल हुस्यारपन,
स्यारपन कंस को न कहत सिरातु है।
व्याल बर पून और चून नर छार खेत,
भभरि भगाय भये भीत रहि जातु है।
'दास' ऐसी डर डरी मति हेतु हाउ ताकी,
भर भरी लागु मन थरथरी गातु है।
खर हू के खरकत धकधकी धरकत,
भौन कौन सिकुरतु सरकतु जातु है॥

यहाँ कृष्ण के डर के कारण कंस का गीदड़पन वर्णित है। इस समय कंस की ऐसी हालत हो रही है कि तिनका के खड़कने से भी उसकी घिग्घी बँध जाती है।

राम चरित मानस का उदाहरण देखिये, इसमें शूर्पणखा की भयङ्करता का कैसा भयावह वर्णन है—

तब खिसियान राम पहँ गई।
रूप भयंकर प्रगटत भई॥
बिथुरे केश रदन विकराला।
भृकुटी कुटिल करण लगि गाला॥
सीतहि सभय देखि रघुराई।
कहा अनुज सन सैन बुझाई॥

जुगुप्सा (ग्लानि)

किसी के दोषों का ज्ञान होने पर मन में उसके प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है उसे जुगुप्सा या ग्लानि कहते हैं।

हृदयोद्वेजक अर्थात् हृदय को अप्रिय लगने वाले दृश्य देखने या ऐसे ही शब्द सुनने आदि विभावों द्वारा जुगुप्सा की उत्पत्ति होती है। स्त्री और अधम प्रकृति पात्र इसके आश्रय स्थान हैं। थूकने मुँह सिकोड़ने नाक मूँदने आँख मीचने आदि अनुभावों द्वारा इसको व्यक्त किया जाता है।

रस तरंगिणीकार के मत से अप्रिय वस्तु के देखने, छूने या स्मरण करने से उत्पन्न हुई अपरिपूर्ण मनोविकृति का नाम जुगुप्सा है।

जुगुप्सा के उदाहरण में कविवर पद्माकर की उक्ति सुनिए—

आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा यह,
मादा मल मूत और मज्जा की खलीती है।
कहै 'पदमाकर' जरा तो जागि भीजी तब,
छीजी दिन रैनि जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम के सनेह बस बीती जो पै,
तो तो दिव्य देह यमयातना तें जीती है।
रीती राम नाम तें रही जो बिना काम तो या,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है॥

यहाँ पद्माकरजी संसार के क्षणिक भोग विलासों को त्याज्य एवम् घृणास्पद समझ रामभक्ति करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि रामभक्ति के बिना यह शरीर हाड़-मांस और मल-मूत्र के पुतले से अधिक और कुछ नहीं है।

इस प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी बड़ा सुन्दर है—

पालि लिये दधि दूध मही जिन ऊधम ही तिनहू सों तिनाने।
साथी महा हय हाथी भुजंग बछा वृष मातुल मारि बिनाने।
कूबरी दूबरी जाति न ऊबरी डूबरी बात सु साँची किनाने।
ज्ञान गहीरिन सों रुचि मानी अहीरन सों घनस्याम घिनाने॥

कृष्ण जी गोपियों (अहीरिनों) से तो प्रेम रखते हैं, परन्तु अहीरों से घिनाते हैं। क्या ख़ूब !

और देखिए—

> सूपनखा को रूप लखि, स्रवत रुधिर विकराल,
> तिय सुभाव सिय हठि कछुक, मुख फेर्यो तिहि काल।

× × ×

जुगुप्सा के उदाहरण में सेनापतिजी का नीचे लिखा कवित्त कितना उत्कृष्ट है—

> महा मोह कंदनि में जगत निकंदिन में,
> दिन दुख दंदिन में जात है बिहाय कै।
> सुख को न लेस है, कलेस सब भाँतिन को,
> 'सेनापति' याही तें कहत अकुलाय कै।
> आवे मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
> डारौ लोक लाज के समाज बिसराय कै।
> हरिजन पुंजनि में बृन्दाबन कुंजनि में,
> रहौ बैठि छाँह कहूँ वृच्छन की जाय कै॥

यहाँ संसार के दुःखों से विदग्ध और त्रस्त होने के कारण किसी एकान्त स्थान में बैठकर भगवद्भक्ति करने की इच्छा प्रकट की गई है। यह सांसारिक व्यापारों से घृणा अथवा विरति होना ही जुगुप्सा है।

विस्मय (आश्चर्य)

किसी लोकोत्तर वस्तु के दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न हुए चित्तविकार को विस्मय (आश्चर्य) कहते हैं—

जो समझ में न आवे ऐसी वस्तु देखने, सुनने या स्मरण करने आदि विभावों से विस्मय उत्पन्न होता है। आँखें फाड़ने, मुंह फैलाने, स्तब्ध हो जाने आदि अनुभावों द्वारा विस्मय की अभिव्यक्ति होती है।

रसतरंगिणीकार ने चमत्कार के दर्शन, स्मरण अथवा श्रवण से उत्पन्न हुए अपरिपूर्ण मनोविकार को विस्मय कहा है।

सेस महेस दिनेस गनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अखेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

जिन कृष्णजी की महिमा को शेष-महेश भी नहीं गा सकते हैं उनको ये अहीर की छोकरियाँ 'छछियाभर' छाछ के लिए नाच नचाती हैं, यह कितने ताज्जुब की बात है।

दूसरा उदाहरण देखिए—

शस्त्र रचे हरिनान के सींग के चीन्ह कियो तिहि में बहुधा को।
काहू को काहू न ले तिहितें रच्यो वर्ण बबा को ददा को धधा को।
काहू के हाथ दियो है तता लिख्यो काहू के हाथ दियो है जसा को।
'दत्त' तहाँ ही सिपाहिन में लख्यो बाल के हाथ में सींग ससा को॥

इसमें हिरनों के सींगों से हथियार बनाकर उन पर 'बबा' 'ददा' और 'धधा' के चिह्न अङ्कित करने का वर्णन है, यह एक प्रकार की नई सेना है। इसी सेना में एक 'बाल' के हाथ में शशक शृंग भी दिखाई दे रहा है। है न विस्मय की बात !

आश्चर्य का नीचे लिखा उदाहरण भी कैसा सुन्दर है—

देखत क्यों न अपूरव इन्दु में द्वै अरविन्द रहे गहि लाली।
त्यों 'पदमाकर' कीरवधू इक मोती चुगै मनो है मतवाली।
ऊपर ते तम छाय रह्यो रवि की दब तें न दबै खुल ख्याली।
यों सुनि बैन सखी के विचित्र भये चित चक्रित से बनमाली॥

उपर्युक्त सवैया में एक रूपक द्वारा नायिका के मुखमंडल, नेत्र, नासिका और केशों का वर्णन किया गया है, जो विचित्र होने के कारण आश्चर्य जनक है। यहाँ पद्माकरजी ने इन्दु, अरविन्द, कीरवधू और तम की क्रमशः मुखमंडल, नेत्र, नासिका और केशों से समता की है।

फिर ऐसी कीरवधू जो मोती चुगती है, और ऐसे अरविन्द जो इन्दु-द्युति में विकसित हैं, और ऐसा अंधेरा जो रवि के प्रबलता की आगे भी ठहरा हुआ है !

निर्वेद या शम

विशेष ज्ञान होने के कारण सांसारिक इच्छाओं के न रहने या उनमें निन्दा-बुद्धि पैदा होने अथवा परिश्रम विफल होने आदि की अवस्था में जो पश्चात्ताप पूर्वक वैराग्य उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद (शम) कहते हैं।

उदाहरण के लिए नीचे लिखा सवैया पढ़िए—

है थिर मन्दिर में न रह्यो, गिरि कन्दर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता रघुराज कथा न यथामति गाई।
यों पछितात कछू 'पदमाकर' कासों कहों निज मूरखताई।
स्वारथ हूँ न कियो परमारथ यों ही अकारथ वैस बिताई॥

न परमार्थ-साधन हुआ न स्वार्थ-सिद्धि हुई सारा जीवन यों ही व्यतीत होगया, इस मूर्खता के लिए पश्चात्ताप करना ही निर्वेद है।

× × ×

सूरदासजी ने निम्नलिखित पद में निर्वेद का कैसा स्वाभाविक वर्णन किया है, देखिए—

अब मैं जानी, देह बुढ़ानी।
शीश पाँव घर कह्यो न मानत तनकी दशा सिरानी॥
आन कहत आनै कहि आवत नाक नैन बहै पानी।
मिटि गई चमक दमक अँग अँग की अधरन की मुसकानी॥
नारी गारी बिन नहिं बोलै पूत करत नहिं कानी।
घर में आदर कादर को सों खीझत रैनि बिहानी॥
नाहिं रही कछु सुधि तन मन की भई है बात पुरानी।
'सूरदास' भगवन्त भजन विन कैसे तरे ये प्रानी॥

बुढ़ापा आगया, गर्दन डगमगाने लगी, सुनने और देखने की शक्तियाँ मन्द पड़ गईं, न स्त्री ठीक ढंग से बात करती है, न पुत्र आदर-भाव दिखाते हैं। सारी आयु यों ही बीत गई भगवद्भक्ति की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया, न जाने अब यह जीवन-नैया कैसे पार लगेगी।

शङ्करजी का निर्वेद विषयक निम्नलिखित पद कैसा सुन्दर है—

खेलत खेल घने दिन बीते।
हँस-हँस दाव अनेक लगाये एकहु बार न जीते।
जुरि-मिल लूटि लै गए ज्वारी करि करि मन के चीते॥
अब लों निपट नाश की मदिरा रहे मोह वश पीते।
'शङ्कर' सर्वस हारि चले हम हाथ पसारे रीते॥

जीवन भर तो मोह-माया में फँसे नाश की मदिरा मुँह में उँडेलते रहे; काम-क्रोध, मोह, लोभ, मद आदि को मौक़ा मिल गया, उन्होंने दिन दहाड़े लूट मचानी शुरू की; बल-वैभव, चारित्र्य जो कुछ भी था सब नष्ट हो गया। पहले से कुछ चेत होता तो इस विनाश की क्यों नौबत आती। अन्त समय में क्या रक्खा है, अब तो रीते हाथों ही दुनिया से कूच करना पड़ेगा।

रस

स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार नाना भाँति के शाकों में तरह-तरह के मसालों के संयोग से रसोत्पत्ति होती है; जिस प्रकार शक्कर, अनार, सुगन्धित द्रव, गुलाब तथा नारंगी के संयोग से रस या शर्बत वग़ैरह की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना भाँति के भाव-विभावों के मेल से स्थायी भाव में रसत्व का प्रादुर्भाव होता है। रस का आस्वादन किया जाता है, इसीसे इसका नाम रस पड़ा। माधुर्य आदि रसों की शृंगारादि रसों के आस्वादन से तुलना किस प्रकार की जा सकती है? जिस प्रकार विविध मसालों के संयोग से बनाए भोजन का आस्वादन कर, मनुष्य रस का आनन्द प्राप्त करता है, उसी प्रकार भाव, विभावों से संयुक्त स्थायी भावों में शृङ्गारादि रसों के रसत्व का आस्वादन सहृदयजन करते हैं। जिस प्रकार स्वाद युक्त भोज्य पदार्थ का रसना द्वारा प्रीतिपूर्वक आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार मन द्वारा काव्य-रसों का आस्वादन किया जाता है। जिस प्रकार कोई रस भाव विना नहीं होता, उसी प्रकार कोई भाव रस विना नहीं होता। जैसे शाक और मसाले मिलकर ही स्वाद की उत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार भाव और रस एक दूसरे के सहायक हैं। जिस प्रकार बीज में से वृक्ष और वृक्ष से पुष्प तथा फल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार रसों से भावों की उत्पत्ति होती है।

साधारणतः नौ रस माने गये हैं, अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। साहित्यदर्पणकार ने दशवाँ वात्सल्य रस भी माना है, कुछ आचार्यों ने भक्ति रस का भी उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और भी कई रस माने गए हैं। परन्तु नाट्य-

शास्त्रकार भरत मुनि ने आठ ही प्रकार के रस माने हैं। उनका मत है कि शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स ये चार मूल रस हैं। इन मूल रसों से हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक ये चार रस और उत्पन्न होते हैं, यथा शृंगार के अनुकरण से हास्य रस, रौद्र के कर्म से करुण, वीर के कर्म से अद्भुत और बीभत्स के दर्शन से भयानक रस उत्पन्न होते हैं। अस्तु,

शृङ्गार रस

जब रति (स्थायी) भाव पूर्णतया पुष्ट और चमत्कृत होता है, तब उसको 'शृंगार रस' कहते हैं।

कामदेव के अंकुरित होने का नाम शृङ्ग है। शृंग की उत्पत्ति का कारण—अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस—शृङ्गार रस कहाता है। साधारण लोग भी मनुष्य के शरीर में कामदेव के अंकुरित होने को 'सींग निकलने के नाम से पुकारते हैं। जब कोई व्यक्ति कुमारावस्था को पार कर यौवन में प्रवेश करने लगता है, तो प्राय: कहा जाता है—'अब उसके सींग निकलने लगे हैं।' इस सींग निकलने से अभिप्राय उसके शरीर में यौवन-चिन्हों और हृदय में शृङ्गारी भावों के उत्पन्न होने से ही है।

शृङ्गार रस का स्थायी भाव 'रति,' देवता विष्णु भगवान अथवा श्री कृष्ण, और वर्ण श्याम होता है।

नायक और नायिका इसके आलम्बन होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने केवल दक्षिणादि नायकों और परस्त्री एवं अनुराग शून्य वेश्याओं को छोड़ कर शेष नायिकाओं को शृंगार रस का आलम्बन माना है।

सखा, सखी, वन, उपवन, बाग, तड़ाग, चन्द्र, चाँदनी, चन्दन, भ्रमर-गुञ्जन, कोकिल-कूजित, ऋतु-विकास आदि शृङ्गार रस के उद्दीपन विभाव हैं।

भ्रूभंग, अपांग वीक्षण, मृदु मुसकान, हाव, भाव आदि शृंगार रस के अनुभाव होते हैं।

उग्रता, मरण, आलस्य, और जुगुप्सा को छोड़ कर शेष निर्वेदादि सम्पूर्ण भाव इसमें संचारी या व्यभिचारी भाव होते हैं।

शृङ्गार रस के भेद

शृंगार रस के संयोग या संभोग शृंगार और वियोग या विप्रलम्भ शृङ्गार ये दो भेद माने गए हैं।

संयोग या संभोग शृङ्गार-वर्णन

एक दूसरे के प्रेम में पगे नायक-नायिका जहाँ परस्पर दर्शन, स्पर्शन, संलापादि करते हैं, वहाँ संयोग या संभोग शृंगार होता है।

कविवर रसखान ने आगे लिखे कवित्त में संयोग शृङ्गार का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

छूट्यौ गेह काज लोक लाज मनमोहिनी को,
भूल्यौ मनमोहन को मुरली बजाइबो।
देखो दिन द्वै में 'रसखान' बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो।
कालि हू कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसिकाइबो।
दोऊ परें पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ, उन्हें—
भूलि गई गैयाँ इन्हें गागरि उठाइबो॥

परस्पर प्रेमानुरक्त मनमोहन और मनमोहिनी की कैसी विचित्र अवस्था होगई है। उन्होंने मुरली तक का बजाना छोड़ दिया और इन्होंने घर के काम काज तथा लोक-लाज को भी तिलाञ्जलि दे दी। सखी, मैंने तो कल भी कालिन्दी-कूल में दोनों को बारबार परस्पर अवलोकन कर मन्द-मन्द मुस्कराते तथा एक दूसरे की बलैयाँ लेते देखा है। दोनों प्रेम में ऐसे विभोर हो रहे थे कि न उन्हें गायों की सुध थी और न इन्हें गागर भरने का होश था।

यहाँ रति स्थायी मनमोहन और मनमोहिनी दोनों का आलम्बन विभाव हैं। मुस्कराना नायक-नायिका की चेष्टा और कालिन्दी का कलित कूल दोनों उनके भाव हैं। परस्पर पैयाँ पड़ना और बलैयाँ लेना ये दोनों अनुभव करते हैं। तन-मन की सुध बिसरा कर गाय चराना और गागर उठाना भूल जाना, मोह संचारी हैं। इसमें नायक और नायिका दोनों बलैयाँ लेने और पैयाँ पड़ने के रूप में परस्पर दर्शन, स्पर्शन, संलाप आदि कर रहे हैं, इसलिए यहाँ संयोग शृंगार हुआ।

ऐसे ही भाव को कविवर चिन्तामणि ने भी एक कवित्त में व्यक्त किया है, उसे भी देख लीजिए—

> दोऊ जन दोऊ को अनूप रूप निरखत,
> पावत कहूँना छवि सागर को छोर हैं।
> 'चिन्तामनि' केलि के कलानि के बिलासन सो,
> दोऊ जन दोउन के चित्तनि के चोर हैं।
> दोऊ जने मन्द मुसकनि सुधा बरसत,
> दोऊ जने छके मोद मद दुहूँ ओर हैं।
> सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भए,
> राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं॥

उपर्युक्त पद्य में भी, राम-सीता दोनो के हृदयों में उद्‌बुद्ध पारस्परिक प्रेमानुरागरूप रति स्थायी है, जिसके आलम्बन राम-सीता दोनों हैं। दोनों की मुस्कराना आदि चेष्टाएँ रति के उद्दीपन हैं। एक दूसरे के मुखचन्द्र को चकोर की भाँति निरखना आदि अनुभाव हैं।

कविवर देवजीका नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है।

> आपुस में रस में रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंजबिहारी।
> श्यामा सराहति श्याम की पागहिं श्याम सराहत श्यामा की सारी।
> एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय प्यौ कहै प्यारी।
> 'देव' सुबालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि मैं बलिहारी॥

कृष्ण राधिका परस्पर रस-रहस्य की बातें और एक दूसरे के वेश-भूषा की प्रशंसा करते नहीं अघाते। कभी वे दोनों एक ही दर्पण में एक साथ देखते तथा अन्योन्य के रूप-लावण्य को सराहते हैं। यही संयोग शृंगार है।

संयोग शृंगार के चुम्बन, आलिङ्गन आदि अनेक भेद हैं। इसमें षड्ऋतु, सूर्य, चन्द्र, वन, उपवन, प्रभात, सन्ध्या, रात्रिक्रीड़ा आदि सब का वर्णन होता है। विना वियोग के संयोग शृंगार की पुष्टि नहीं मानी गई।

वियोग या विप्रलम्भ-शृंगार

जब अनुराग के उत्कट होने पर भी प्रिय-संयोग का अभाव रहता है, तब वह वियोग या विप्रलम्भ शृंगार कहाता है। इसमें नायक-नायिका के परस्पर वियोग का वर्णन होता है। देखिए कविवर देव अपने एक सवैया में वियोग शृंगार का वर्णन किस प्रकार करते हैं—

या बतियाँ छतियाँ लहकैं दहकैं बिरहागिनी की उर आँचें।
वा बँसुरी को परो रसुरी इन कानन मोहनी मन्त्र सी माँचें।
कौ लगि ध्यान धरैं मुनि लौं रहियो कहिये गुन वेद सौ बाँचैं।
सूझत नाहिं न आन कछू निसि द्यौस वेई अँखियान में नाचैं॥

कृष्ण के वियोग में किसी ब्रजबाला की उक्ति हैं। वह कहती है— मोहन की वंशी की मधुर ध्वनि कानों में मोहन मन्त्र-सा पड़ गई है, जिससे कान बार-बार उसे ही सुनने के लिए आकुल रहते हैं। भला मुनियों की भाँति यों कब तक उनका ध्यान करती रहूँ, उनके गुणानुवाद का वेद-मन्त्रों की तरह कब तक गान किया जाय। अब तो मुझे कृष्ण के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं। दिन-रात उन्हीं की मोहिनी मूर्ति आँखों में नाचती रहती है।

वियोग शृंगार के वर्णन में कविवर पद्माकर का नीचे लिखा सवैया भी देखने लायक है, उनकी वियोगिन किस साहस के साथ कहती है—

धीर समीर सुतीर ते तीछन ईछन कैसेहु ना सहती मैं।
त्यौं 'पदमाकर' चाँदनी, चन्द, चितै चहुँ ओर न चौंकती जी मैं।
छाय बिछाय पुरैन के पातन लेटती चन्दन की चबकी में।
नीच कहा बिरहा करतो सखि होती कहूँ जु पै मीच मुठी में ॥

हे सखि, यदि मृत्यु मेरे हाथ में होती, तो इस नीच विरह को तो मैं अच्छी तरह देख लेती। यह जो शीतल, मन्द, सुगन्ध मलय-समीर मुझे तीर से भी तीखा लग रहा है, चाँदनी और चन्द्र जो मुझे अँगारे जैसे जान पड़ते हैं, इन सब का तो इलाज सहज ही हो सकता था। बस चन्दन-पंक से पुते पुरैन के पत्ते बिछाकर पड़ रहती, विरह-जनित विदाहक दाह दूर हो जाता। परन्तु खेद तो यह है कि कम्बख़्त काल अपने हाथ में नहीं है।

वियोग शृङ्गार के भेद

वियोग शृंगार के तीन भेद हैं—१—पूर्वानुराग, २—मान और ३—प्रवास। किसी किसी ने इसका एक भेद करुण भी माना है, जो नायक-नायिका में से किसी एक के मर जाने पर दूसरे के दुखी होने से होता है।

पूर्वानुराग

प्रथम दर्शन द्वारा नायक-नायिका के परस्पर अनुरक्त होने पर भी किसी कारण मिलन न हो सकने से उनके हृदय में जो प्रेम पूर्ण अधीरता उत्पन्न होती है. उसे पूर्वानुराग कहते हैं।

कविवर पद्माकर ने पूर्वानुराग का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

मधुर मधुर मुख मुरली बजाय धुनि,
धमक धमारन की धाम धाम कै गयो।
कहै 'पदमाकर' त्यौं अगर अबीरन की,
करि कै घला घली छला छली चितै गयो।
कोहै वह ग्वालिनी ! गुवालन के संग माहिं,
छैल छबि वारो रस रंग में भिजै गयो।

छ्वै गयो सनेह फिर छ्वै गयो छरा को छोर,
फगुआ न दै गयो हमारो मन लै गयो ॥

सखी, वह ग्वालों के साथ में साँवला सलौना छबीला छैल कौन था, जो मधुर-मधुर मुरली बजाकर तथा धाम-धाम (घर-घर) धमार गान की धूम मचा गया और रसरंग बरसा गया। इतना ही क्यों वह तो अपनी तिरछी चितवन से मेरे हृदय में प्रेम का बीज भी बो गया है। इन सबसे भी बढ़कर बात यह हुई, कि उसे मेरे साथ होली खेलने के कारण जो मुझे फगुआ देना चाहिये था, सो तो वह दे नहीं गया, उलटा मेरे मन को ले गया।

यहाँ कृष्ण के प्रथम दर्शन से ब्रजबाला के हृदय में प्रेमांकुर उत्पन्न हो गया और उसके कारण अब वह मोहन के सम्बन्ध में जानना चाहती है कि वह कौन था। यह उत्सुकता या अधीरता ही पूर्वानुराग है। और भी देखिये—

मोहि तजि मोहनै मिल्यौ है मन मेरो दौरि,
नैन हू मिले हैं देखि देखि साँवरो सरीर।
कहै 'पदमाकर' त्यौं तान मय कान भए,
हौं तो रही जकी थकी भूली-सी भ्रमी-सी बीर।
ये तो निरदई दई, इनकों दया न दई,
ऐसी दसा भई मेरी कैसे धरौं मन धीर।
हो तो मन हू के मन, नैनन के नैन जो पै,
कानन के कान तो ये जानते पराई पीर ॥

सखी, उस साँवरे को देखते ही आँखें उसी से जा मिलीं और मन भी दौड़ कर उसी के पास चला गया। और तो और उसके मृदु भाषण और मुरली की मधुर तान सुन कान भी तो क़ाबू से बाहर हो गए हैं। अब मेरी जो दशा हो रही है, उसे मैं ही जानती हूँ। ये तीनों के तीनों तो अव्वल दर्जे के निर्दय हैं, दैव ने इन्हें ज़रा भी तो दया नहीं दी। भला

ये मेरे कष्ट को कैसे जान सकते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—'जा के पाँव न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' अगर मन के मन होता, कानों के भी कान होते और आँखें भी आँखें रखती होतीं तो इनको 'पराई पीर' का अनुभव होता।

यहाँ कृष्ण के दर्शन से हृदय में प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाने पर गोपिका उनसे मिल न सकने के कारण जो अधीर और दुखी हो रही है, वही पूर्वानुराग है।

इस प्रसंग में नीचे लिखा पद्य भी कितना उत्कृष्ट है—

चहत दुरायो तो सों कौ लगि दुराऊँ दैया,
साँची हौं कहौं री बीर सब सुख कान दै।
साँवरो सो ढोटा एक ठाढ़ो तीर जमुना के,
मो तन निहार्‌यौ नीर भरि अँखियान दै।
वा दिन तें मेरी ही दसा कों कछु बूझै मति,
चाहे जो जिवायो मोहि वाही रूप दान दै।
हा हा करि पाँय परौं रह्यौ नाहिं जाय घर,
पनघट जान दै री पन घट जान दै॥

लोक-लाज भले ही जाती रहे, पर अब मैं उस 'साँवरे ढोटा' के दर्शन किये बिना नहीं रह सकती। बस अब तू मुझे पनघट पर जाने दे। मिलने के लिए अनुराग-जनित उत्सुकता अथवा प्रेम-पूर्ण अधीरता का कैसा सुन्दर वर्णन है।

दर्शन के भेद

प्रत्यक्ष देखकर, चित्र देखकर, स्वप्न में देखकर अथवा तत्सम्बन्धी चर्चा सुनकर—चार प्रकार से दर्शन होता है, अतः इन कारणों के अनुसार दर्शन के चार भेद माने गए हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न दर्शन और श्रवण दर्शन।

प्रत्यक्ष दर्शन

जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति को आँखों से देखकर उसके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष दर्शन कहते हैं। उदाहरण देखिए—

जादूगर साँवरो न जानी कस जादू कर्‌यौ,
'पण्डित प्रवीन' हौं बिकानी प्रान प्यारे पै।
आँगन सों जात अटा नटकी बटा सी गैल—
छैल की छटा सी छवि देखति हौं द्वारे पै।
घूँघट के ओट चोट लागी इन नैनन में,
ऐसी लोट पोट भई पीत पट बारे पै।
आई पनघट पै न घर की न घाट की हौं,
नौखोरी नवल नट अटक्यौ हमारे पै॥

द्वार पर होकर जाते हुए, छैल की छटा क्या देखी, उसने तो मेरे ऊपर जादू सा कर दिया। मैं उसके हाथ बिक-सी गई, और दिन-भर नट की तरह आँगन से अटा पर और अटा से आँगन में चढ़ती-उतरती रहती हूँ कि शायद कहीं वह दिखाई पड़ जाय। सखी घूँघट की ओट रहने पर भी इन नैनों में उसकी तिरछी चितवन की ऐसी चोट लगी है, कि मैं लोट पोट हो गई हूँ। मैं यहाँ पनघट पर इस आशा से आई थी कि शायद कहीं दर्शन हो जायँ, लेकिन अब न घर की रही न घाट की, (दर्शनों की आशा से घाट पर ही बैठी रहना चाहती है, परन्तु विलम्ब हो जाने के भय से, घर चले जाने को भी जी चाहता है, द्विविधा में पड़ गई है) क्या बताऊँ, यह अनोखा नटनागर तो बुरी तरह मुझसे अटका है।

देखिये पद्माकरजी दर्शन के सम्बन्ध में क्या लिखते हैं—

आई भली हौं चली सखियान में, पाई गोविन्द के रूप की झाँकी।
त्यौं 'पदमाकर' हारि दियो हिय काज कहाँ अरु लाज कहाँ की।

है नखते सिख लौ मृदु माधुरी बाँकी ये भौंहैं बिलोकनि बाँकी।
आजुकी या छबि देखि भटू अब देखिबे कों न रह्यौ कछु बाकी ॥

यह अच्छा ही हुआ जो आज मैं सखियों के साथ इधर चली आई, गोविन्द के दर्शन हो गए। बस मैंने तो अपना हृदय उन पर निछावर कर दिया है। अब मुझे गृह-काज की चिन्ता है, न लोक-लाज का भय। बहन, क्या बताऊं, नख से शिख तक कैसी मनोहर मूर्ति है, और चितवन भी कैसी बाँकी है? सच तो यह है कि आज की उस मनमोहिनी छबि की झाँकी करके मुझे अब और कुछ देखने के लिए बाकी नहीं रह गया।

इसमें स्पष्ट ही दर्शन का वर्णन है।

चित्र दर्शन

जहाँ किसी का मनोरम चित्र देखकर हृदय में उसके प्रति अनुराग पैदा होता है, उसे चित्र-दर्शन कहते हैं। यथा—

देखे चितेरे में ठाढ़े हैं कान्हर टेढ़े भये मुँह नारि मुराये।
कैसे बजावत हैं मुरली तिरछे तकि भौंह सों भौंह जुराये।
चोरी की टेव यहाँ लौं परी यह देखिये बात कहाँ लों दुराये।
मोहनी मूरति मोहनी सूरति चित्रहु में चित लेति चुराये ॥

मोहन की चोरी की टेव यहाँ तक बढ़ गई है कि चित्र में बनी हुई उनकी मनोहर मूर्ति भी चित्त चुराए लेती है।

कविवर बैनी प्रवीण ने नीचे लिखे सवैया में चित्रदर्शन का कैसा विचित्र चित्र चित्रित किया है—

मूरति मोहिनी मोहनी की लिखि धारी जहाँ सखियान की भीरैं।
'बैनी प्रवीन' बिलोकति राधिका चित्र लिखी सी भई तेहि तीरैं।
जोरी किसोरी किसोर की रीझि सराहि रही हैं गुवालि गभीरैं।
चित्त चितेरी रही चकि सी जकि एकते ह्वै गईं द्वै तसवीरैं ॥

मन मोहन की मनोहर मूर्ति (तसवीर) देखकर राधिकाजी चित्र

लिखी-सी रह गईं। साथ की सखियाँ तो राधिका-मोहन की सुन्दर जोड़ी पर रीझ कर बार-बार उनकी सराहना कर रही हैं, परन्तु चितेरी राधिका को भी चित्र लिखी-सी खड़ी देखकर चकित हो रही है। वह सोचती है—मैंने तो एक तसवीर बनाई थी, परन्तु यहाँ एक से दो तसवीरें हो गईं। खूब! बैनी जी ने अपने काव्य-कौशल से एक की दो तसवीरें कर दीं।

स्वप्न-दर्शन

किसी को स्वप्न में देखकर उसके प्रति प्रेम भाव उत्पन्न होने को स्वप्न-दर्शन कहते हैं।

कविवर द्विजदेव ने स्वप्न-दर्शन का नीचे लिखा उदाहरण दिया है—

काहू काहू भाँति राति लगी तो पलक तहाँ,
सपने में आनि केलिरीति उन ठानी री।
आपि दुरे जाय मेरे नयन मुँदाय कछु,
हौंहू बजमारी ढूढिबे कों अकुलानी री।
एरी मेरी आली या निराली करता की गति,
'द्विज देव' नेकऊ न परति पिछानी री।
जौ लौं उठि आपनो पथिक पिय ढूँढ़ौं तौलौं,
हाय इन आँखिन सों नींद ही हिरानी री॥

विरह-विधुरा नायिका को जैसे-तैसे ज़रा नींद आई थी, कि स्वप्न में चट नायक आगया और उसने आँख मिचौनी शुरू कर दी। नायिका की आँखें मुदवाकर हज़रत कहीं जा छिपे। नायिका ज्योंही आँखे खोल प्रिय को ढूँढने चली त्योंही उसकी आँखें खुल गईं। उस समय प्रियतम से तो बेचारी की भेंट हुई नहीं उलटी आई हुई नींद भी हराम हो गई।

नीचे लिखा कवित्त भी पढ़ने लायक है।

सपने हू सोवन न दई निरदई दई,
तरपत रही जैसे जल बिन झखियाँ।

'कुन्दन' सँदेसो आयो लाल मधुसूदन को
सबै मिल दौरीं लैन संगत बिलखियाँ।
बूझै समाचार ना मुखागर सँदेसो कछू—
कागद लै कोरो हाथ दीन्यो लैके सखियाँ।
छतियाँ से पतियाँ लगाय बैठी बाँचिबे कों,
जौ लौं खोलों खाम तौलों खुलि गई अँखियाँ॥

यहाँ बेचारी वियोगिनी को प्रियतम तो नहीं मिले, केवल उन का पत्र मिला। उसे भी वह पढ़ने नहीं पाई। जैसे ही चाहा कि लिफ़ाफ़ा खोलकर पत्र पढ़े, तैसे ही आँखें खुल गईं। निर्दय दैव ने बेचारी का स्वप्न-सुख भी नष्ट कर दिया।

श्रवण-दर्शन

जब किसी के द्वारा किसी के रूप गुण आदि की प्रशंसा सुन कर चित्त में उसके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, तब उसे श्रवण-दर्शन कहते हैं। यथा—

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द बिलास बिलोचन पेखे।
अम्बर पीत हँसै चपला छवि अम्बुद मेचक अंग उरेखे।
कामहु ते अभिराम महा 'मतिराम' हिये निहचै करि लेखे।
तैं बरन्यौ निज बैनन सौं सखि, मैं निज नैनन सों मनो देखे॥

सखी, तैने तो कृष्ण के रूप का वर्णन 'बैनों' द्वारा ही किया है उसे सुन कर ही मुझे ऐसा अनुभव होने लगा है मानो मैने 'नैनों से उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लिये हों। दूसरा उदाहरण देखिये—

राधिका सों कहि आई जु तू सखि, साँवरे की मृदु मूरति जैसी।
ता छिन तें 'पदमाकर' ताहि सुहात कछून बिसूरति वैसी।
मानहु नीर भरी घन की घटा आँखिन में रही आनि उनैसी।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी॥

जिस समय से राधिकाजी ने कृष्ण के मनोमोहक रूप-लावण्य की

प्रशंसा सुनी है, उसी समय से उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहती रहती है, जब कहीं वह उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लेगी, तब तो न जाने क्या होगा।

साहित्यदर्पण के मतानुसार भेद

साहित्य दर्पणकार ने पूर्वानुराग के निम्नलिखित तीन भेद किये हैं। १—नीली राग, २—मञ्जिष्ठा राग और ३—कुसुम्भ राग।

नीली राग

जो बाहरी चमक-दमक तो अधिक न दिखावे परन्तु हृदय से कभी दूर न हो, उसे नीली राग कहते हैं।

कुसुम्भ राग

जिसमें चमक-दमक भी कम दीख पड़े और जो शीघ्र ही दूर हो जाय, उसे कुसुम्भ राग कहते हैं।

मञ्जिष्ठा राग

जिसमें चमक-दमक भी खूब दीख पड़े और जो कभी नष्ट न हो, उसे मञ्जिष्ठा राग कहते हैं।

मान

प्रिय अपराध-जनित प्रेमयुक्त कोप को मान कहते हैं। इसमें अत्यन्त अल्प समय के लिए प्रेम-सम्बन्ध स्थगित कर दिया जाता है। यह मान दो प्रकार का होता है— १—प्रणय मान* २—ईर्ष्या मान।

प्रणय मान

नायक-नायिका में भरपूर प्रेम होने पर भी प्रणय-भंग के कारण जो कोप होता है, उसे प्रणय मान कहते हैं। इसमें प्रेम की वृद्धि करना ही इष्ट होता है, इस लिये कभी-कभी यह अकारण भी पैदा कर लिया जाता है। जिस प्रकार दावतों में कुछ लोग मिठाई खाते-खाते मुँह विंध

---

* प्रेमाधिक्य के कारण नायक-नायिका के परस्पर वशवर्ती होने का नाम प्रणय है।

जाने पर पुनः मिठाई में रुचि उत्पन्न करने के लिए बीच में पिसे हुए नमक-मिर्च की फंकी लगा लेते हैं, इसी प्रकार संयोग-काल में प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने के लिए प्रणय मान का आश्रय लिया जाता है। जब लगातार के संयोग से "अति परिचयादवज्ञा" के अनुसार परस्पर प्रेम-भाव में कुछ शिथिलता आ जाती है, तब उसे दूर करने के लिए यह उपाय काम में लाया जाता है। देखिये नीचे लिखे पद्य में नायिका की सखी उसे मान करने का उपदेश दे रही है—

मान बिन पैये सनमान ना अयानी सखि,
मानि उर मेरी सीख अजहू सयान की।
नित ही के सेवत ज्यौं भावै ना मिठाई, पर—
भावै है मिठाई पै लुनाई सर साज की।
रूठिवे की उठनि रिसाय के मिलावै तऊ,
छोड़े ना पियारी रीति जन्तु जल पान की।
एते ही में जावक लगाए आए लाल तहाँ,
देखत ही औरै गति भई अँखयान की॥

सखी कहती है—बावली, विना मान के आदर नहीं मिलता, मीठा ही मीठा खाते रहने से, उससे अरुचि हो जाती है, इसलिये बीच में नमकीन ज़रूर खाना चाहिए। नायिका को सखी यह उपदेश दे ही रही थी, इतने ही में नायक भाल में जावक लगाए वहाँ आ पहुँचा। बस फिर क्या था नायिका को मान के लिए बहाना मिल गया और उसने तुरन्त आँखें बदल लीं।

ईर्ष्या मान

नायक को पर स्त्री पर प्रेम करते देख, सुन या उसका अनुमान करके ईर्ष्या से जो कोप किया जाता है, उसे ईर्ष्या मान कहते हैं। ईर्ष्या-मान प्रायः स्त्रियों में ही होता है, पुरुषों में नहीं। पुरुषों को तो ऐसे अवसर पर क्रोध आता है।

पर-स्त्री के साथ प्रेम-सम्बन्ध का अनुमान तीन प्रकार से किया जाता है। १—पर-स्त्री के प्रेम-सम्बन्ध में स्वप्न में नायक के कुछ बड़बड़ाने से। २—नायक के शरीर में रति-चिन्ह देखकर। अथवा ३—नायक के मुँह से अचानक पर-स्त्री का नाम निकल जाने से।

ईर्ष्या मान के उदाहरण में नीचे लिखा सवैया देखिये—

ठाढ़े हुते कहूँ मोहन मोहिनी आइ तितै ललिता दरसानी।
हेरि तिरीछे तिया तन माधव, माधवै हेरि तिया मुसकानी।
यों 'नँदराम जू' भामिनि के उर आइगो मान लगालगी जानी।
रूठि रही इमि देखि कै नैन कछू कहि बैन वहू सतरानी॥

यहाँ मोहिनी मोहन को ललिता से आँखें लड़ाते देखकर मान करती है, इसलिए 'इसे प्रत्यक्ष दर्शन प्रभव ईर्ष्या मान' कहेंगे।

ईर्ष्यामान के भेद

ईर्ष्या मान तीन प्रकार का होता है। १—लघुमान, २—मध्यम मान और ३—गुरुमान।

लघु मान

नायक को पर-स्त्री पर दृष्टि-पात करते देख नायिका जो मान करती है, उसे लघु मान कहते हैं। यह मान केवल मृदु भाषण अथवा हास्यादि से दूर हो जाता है।

उदाहरण देखिए—

देखत और तिया ही छबीले को मान छबीली के नैनन छायो।
प्रीतम यों चतुराई करी 'मतिराम' कछू परिहास बढ़ायो।
रीति रची जो विचित्र विधीन सों ताको कवित्त बनाय सुनायो।
भूलि गई रिस लाजनि ते मुसकाय तिया मुख नीचे को नायो॥

छबीले छैल की आँखें किसी 'और तिया' पर पड़ते देख छबीली नायिका की भौंहें चढ़ गईं। यह देख चतुर नायक ने नायिका से परिहास

प्रारम्भ कर दिया और विनोद-जनक एक पद्य रच कर सुनाया, जिसे सुनते ही नायिका मान भूल गई और उसने मुस्करा कर मुँह नीचे कर लिया।

इसी आशय का देवजी का सवैया भी पढ़ लीजिये—

बैठे हुते रँग रावटी में जिनके अनुराग रँग्यौ ब्रज भूम्यौ।
किंकिनी काहू कहूँ झनकाई सुझाँकन कान झरोखा ह्वै झूम्यौ।
'देव' पर त्रियै देखत देखिके भामिनि को मन मान सों घूम्यौ।
बातें बनाय मनाय कै लाल हँसाय कै बाल हरै मुख चूम्यौ॥

किसी स्त्री की किंकिणी की झनकार सुन, नायक को झरोखे में हो कर उसकी ओर झाँकते देख, नायिका का मन मान से भर गया। परन्तु नायक ने तुरन्त ही मीठी मीठी बातें बना नायिका को हँसा दिया जिससे उसका मान भंग होगया।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में प्रिय के पर-स्त्री की ओर देखने मात्र से, नायिका ने मान किया, जो प्रिय के मधुर भाषण तथा हँसी-मज़ाक द्वारा दूर हो गया, अतः यह लघु मान हुआ।

कभी-कभी नायकनायिका का मान करना देखने के लिए जान-बूझ कर ऐसी चेष्टाएँ करता है, जिनसे नायिका रुष्ट हो जाय। पीछे वह उसे मना कर प्रसन्न कर लेता है। कविवर पद्माकर ने अपने नीचे लिखे कवित्त में यही भाव अंकित किया है। देखिए—

वाही के रँगी है रंग वाही के पागी है प्रेम,
वाही के लगी है संग आनंद अगाधा को।
कहै 'पदमाकर' न चाहै तजैं नैकु दृग—
तारनि ते न्यारो कियो एक पल आधा को।
ताहू पै गोपाल कछू ऐसे ख्याल खेलत हैं,
मान मोरिवे की देखिवे की करि साधा को।
काहू पै चलाइ चख प्रथम खिझावें फेरि,
बाँसुरी बजाइ कै रिझाइ लेत राधा को॥

पहले तो किसी अन्य स्त्री की ओर आँखें मटका कर कृष्ण जी राधा को खिझाते (चिढ़ाते) हैं, परन्तु पीछे बाँसुरी बजा कर उन्हें मना लेते हैं। प्रेम-पथ में यह नकली तड़क-भड़क प्रायः होती ही रहती है।

मध्यम मान

नायक को पर-स्त्री की प्रशंसा करते अथवा प्रेम पूर्वक उसका नाम लेते देख कर नायिका जो कोप करती है, उसे मध्यम मान कहते हैं। यह मान विनय अथवा शपथ आदि से दूर हो जाता है।

पद्माकरजी ने मध्यममान का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है, देखिए—

वैस ही की थोरी पै न भोरी है किसोरी यह,
याको चित चाहि राह और की मझैयो जनि।
कहै 'पदमाकर' सुजान रूप खानि आगे,
आन बान आन की सु आनि कै चलैयो जनि।
जैसे तैसे करि सत सौहनि मनाइ ल्याई
तुम एक मेरी बात एती बिसरैयो जनि।
आजु की घरी तें लै सु भूलिहूँ भले हो स्याम,
ललिता को लैके नाम बाँसुरी बजैयो जनि॥

देखो मोहन, आजतो मैं इन्हें सैकड़ों सौगन्द खाकर जैसे तैसे मना लाई हूँ, पर आगे के लिए तुम मेरी यह बात गाँठ बाँध लो कि एक तो इनके (नायिका राधिका के) आगे किसी अन्य स्त्री के रूप-यौवन की प्रशंसा करना तो क्या, चर्चा भी मत करना, और दूसरे कभी ललिता का नाम ले-लेकर वंशी मत बजाना। यह न समझना तुम्हारी इन बातों को वह समझती नहीं है। अजी यह 'बैस की थोरी' हैं पर 'भोरी' नहीं है।

यहाँ ललिता का प्रेमपूर्वक नाम लेने और उसके रूप-यौवन की प्रशंसा करने के कारण, राधिका ने मान किया जो सखी के सौगन्द खाने और विश्वास दिलाने पर दूर हो गया, अतः यह मध्यम मान हुआ।

इस प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

आनँद सों दोऊ आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के पूछत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आयो बनै मुँह में हँसि कोउ तिया शर चाप सौं भौंहे चढ़ाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥

पति के मुख से अचानक अन्य स्त्री का नाम निकलते ही रंग में भंग हो गया—रस में विष मिल गया। विकसित कमल के समान नायिका का प्रसन्न मुख-चन्द्र राहु रूपी क्रोध से आक्रान्त हो मलिन पड़ गया। नायिका की भौंहें कमान की तरह तन गईं जिन्हें देख नायक का हास्य-हंस भीत होकर उड़ गया।

गुरु मान

नायक के पर-स्त्री के साथ रमण करने का पूर्ण विश्वास हो जाने पर नायिका जो मान करती है, उसे गुरु मान कहते हैं। यह मान नम्रता प्रदर्शन अथवा भूषण प्रदान द्वारा दूर होता है।

कवि रघुनाथजी ने गुरु मान का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है, देखिए—

दूसरे पलँग बैठी रूसि के गुमान ऐंठी,
महा रोस भरी प्यारी पी को दोस पाइ कै।
मानै न मनायो एहो कवि 'रघुनाथ' सखी,
हारी सँगवारी बातें बहुत बनाइ कै।
इतने में गहि कै चरन प्रान प्यारे कह्यो,
आज या महावरी लगेगी भाल आइ कै।
मान को न रह्यो ज्ञान एतिक सकानी, मुस-
कानी अंक प्यारे के निसंक बैठो जाइ कै॥

जब किसी के भी समझाने-बुझाने से नायिका नहीं मनी, तो अन्त में नायक ने उसके पैर पकड़ लिये और कहा—आज यह महावर मेरे माथे पर लगैगी—अर्थात् मैं अपना सिर इन पैरों में रख दूँगा। इतना सुनना

था कि नायिका सकपका गई और उसका मान छू-मन्तर हो गया। फिर तो वह मुस्कराती हुई नायक की गोद में जा बैठी।

महाकवि देव का नीचे लिखा सवैया भी गुरु मान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

सौति की माल गुपाल गरे लखि बाल कियो मुखरो सु उज्यारो।
भौंहें भ्रमें फरकें अधरा निकस्यौ रंग नैननि के मग न्यारो।
त्यौं कवि 'देव' निहारि निहोरि दोऊ कर जोरि पर्‌यौ पग प्यारो।
पीकों उठाइ कै प्यारी कह्यो तुमसे कपटीन को काह पत्यारो॥

सौति की माला प्रिय के गले में पड़ी देख कर नायिका का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। भौंहें चढ़ गईं, अधर फड़कने लगे और आँखें रक्त वर्ण होगईं। बहुत कुछ निहोरे करने पर भी जब वह न मानी, तो अन्त में नायक हाथ जोड़ उसके पैरों में पड़ गया। यह देख नायिका ने उसे उठाते हुए कहा—तुम जैसे कपटी का क्या विश्वास किया जाय।

मान भंग करने के उपाय

साहित्यदर्पणकार ने मानवती नायिका का मान भंग करने के नीचे लिखे छह उपाय बताए हैं—१—साम, २—भेद, ३—दान, ४—नति, ५—उपेक्षा और ६—रसान्तर।

मानिनी का मान भंग करने के लिए मीठी-मीठी बातें बनाना 'साम' कहाता है। यथा—

साम

नैनन की पुतरी तुही राधिके कौन सी और लखी हम बाला।
तूही बसै निसि-बासर मो उर अन्तर-बाहर रूप रसाला।
दीन्ही बनाय हमैं चतुरानन भागतें 'बैनी प्रवीन' बिसाला।
गेह की सोभा सनेह की सीम सँजीवनी जीव की कण्ठ की माला॥

भाव स्पष्ट ही है।

भेद

नायिका की सखी या उसके प्रेमी को बहका-फुसला कर अपनी ओर मिला लेने अथवा उसका उच्चाटन कर देने को 'भेद' कहते हैं।

भेद का उदाहरण देखिए—

भानु सो मैन तपैगो भटू तब होइगो मान समूल पटापर।
मालती फूलन को मधु पान कै होइगे मत्त मलिन्द भटा पर।
भूलि ही जाइगो 'बैनीप्रवीन' कहे बतियाँ जे सदा की नटा पर।
आपुही जाय मिलौगी तबै जब चन्द छुटा छिटकैगी अटा पर॥

उपर्युक्त सवैया में सखी नायक का पक्ष लेकर मानिनी नायिका को नायक से मिलने के लिए समझा रही है।

दान

रूठी नायिका को सन्तुष्ट करने के लिए, किसी बहाने से उसे भूषणादि देने का नाम 'दान' है।

दान के उदाहरण में महाकवि केशवजी का सवैया पढ़िये—

मत्त गयन्दन साथ सदा इहि थावर जंगम जन्तु बिदार्यौ।
ता दिन ते कहि 'केशव' बेधन बन्धन कै बहुधा बिधि मार्यौ।
सो अपराध सुधार न सोधि इहै इति साधन साधु विचार्यौ।
पावन पुंज तिहारे हिये यह चाहत है अब हार बिहार्यौ॥

नति

मानवती नायिका के मानापनोदार्थ उसके पैरों पड़ना 'नति' कहाता है। जहाँ साम, भेद और दान तीनों उपाय निष्फल हो जाते हैं, वहाँ नति रूपी अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया जाता है।

कविवर वैनी प्रवीण जी ने नति का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

आपनी सी करि हारी सखी सब कोकिला केतिकौ कूक मचाई।
गुञ्जत भौरन के रहे पुंज मनोजहु ओज कमान चढ़ाई।
मान्यो न 'बैनीप्रबीन' भनै यह प्रीति की रीति अलौकिक माई।
आपनी प्रान पियारी पिया परि पायन प्यारे ने कण्ठ लगाई॥

जब सखियाँ अपनी-सी कोशिश करके हार गईं, कोकिलाओं के कल-कूजन और मधुकरों के मधुर गुंजन का भी उस पर कुछ असर न हुआ, कामदेव के कुसुम-शायक भी उसका कुछ न कर सके, तब प्रियतम ने पैरों में पड़ के प्राण-प्यारी को प्रसन्न कर लिया। प्रीति की रीति भी कैसी विचित्र है।

उपेक्षा

नायिका की ओर से उदासीन होकर बैठ रहने को 'उपेक्षा' कहते हैं। जब समझाने, फुसलाने या अनुनय-विनय किसी भी युक्ति से काम नहीं चलता, उस अवस्था में उपेक्षा करने से ही कार्य-सिद्धि होती है।

कवि 'मुबारक' के नीचे लिखे सवैया में नायक की ओर से कैसी उपेक्षा ध्वनित की गई है।

गूजेंगे भौंर बिराग भरे बन बोलेंगे चातक औ पिक गाय कै।
फूलेंगे टेसू कुसुम्भ तहाँ लगि दौरेंगे काम कमान चढ़ाय कै।
बायु बहैगी सुगन्ध 'मुबारक' लागि है नैन बिसोक सौ आय कै।
मेरे मनाए न मानी बबा की सौं ऐहै बसन्त लैजैहै मनाय कै॥

मेरे इतने मनाने पर भी अगर तू नहीं मानती, तो तेरी राज़ी। अब मुझे भी कुछ नहीं कहना। जब वसन्त आवेगा, तब अपने आप भागी भागी आओगी।

रसान्तर

नायिका के हृदय में अचानक व्याकुलता, प्रसन्नता या भय उत्पन्न करके उसकी मानमुद्रा तोड़ने को 'रसान्तर' कहते हैं। कुछ लोगों ने रसान्तर को 'प्रसंग विध्वंस' नाम से लिखा है। जब मान इतनी प्रवृद्ध अवस्था को पहुँच जाता है कि उपेक्षा करने पर भी उसका अपनयन नहीं होता, तब इस उपाय का अवलम्बन किया जाता है।

निम्नलिखित देवजी का सवैया रसनान्तर का सुन्दर उदाहरण है—

श्री वृषभानु लली मिलि कै जमुना जल केलिकों हेलिन आनी।
रोमवली नवली कहि 'देव' सु सोने से गात अन्हात सुहानी।

कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के ब्याल-बधू लपटानी।
धाय के धाय गही संसवाय दुहूँ कर भारत अंग अयानी॥

बहुत दिनों से रूठी नायिका को स्नान करते देख कृष्ण ने उसका मान भंग करने का अच्छा अवसर समझा, और रसान्तर उपाय से काम लिया। वे अचानक चिल्ला पड़े—"देखो-देखो बाला के शरीर पर साँपिन लिपटी हुई है।" यह सुन नायिका मारे डर के मान की बात भूल गई और दौड़कर कृष्ण से लिपट गई।

नाट्य शास्त्रकार ने मानापनोदन के निम्नलिखित पाँच उपाय बताए हैं। यथा—साम, दान, भेद, उपेक्षा और दण्ड। इनमें से पूर्व-पूर्व कहे चार के लक्षण वही हैं जो ऊपर दिये जा चुके हैं। पाँचवें उपाय दण्ड का लक्षण नाट्यशास्त्र में इस प्रकार दिया है—

"बाँधने या मारने-पीटने का नाम दण्ड है।"

परन्तु प्रणय-प्रसंग में दण्ड की यह परिभाषा कुछ उपयुक्त नहीं जान पड़ती। शास्त्रों में स्त्री के लिए सबसे बड़ा दण्ड 'स्त्री दण्डं प्रथक् शैया' बताया हैं, यही दण्ड यहाँ पर भी अत्यन्त उचित जान पड़ता है।

प्रवास

किसी कारणवश नायक के परदेश चले जाने को प्रवास कहते हैं। लम्बे प्रवास के कारण नायक के वियोग में नायिका का उदास, मलिन और चिन्तित रहना स्वाभाविक ही है। प्रवास-जन्य वियोग मान-जनित वियोग से अधिक कठिन माना गया है। मान द्वारा उत्पन्न किया गया विछोह तो नायक-नायिका की इच्छा पर निर्भर होता है, वे जब चाहें उसका अन्त कर सकते हैं, पर प्रवास-प्रभव वियोग बाहरी हेतुओं से उत्पन्न होता है, अतः उसका अन्त करना नायक-नायिका के वश में नहीं होता।

कुछ लोगों ने प्रवास के तीन कारण माने हैं १—कार्य वश, २—शाप वश और ३—भय वश।

कार्य वश प्रवास—जब नायक आजीविका अथवा किसी अन्य का के लिए परदेश जाता है, तो उसे कार्य वश प्रवास कहते हैं।

शाप वश प्रवास—जिसमें देवादि के शाप के कारण नायक को परदेश में आना पड़े वह शाप वश प्रवास कहाता है। इसके उदाहरण प्राचीन समय में ही मिलते हैं, यथा—मेघदूत में कुवेर के शाप से यक्ष का विदेश-वास वर्णित है। वर्तमान काल के जेल-यात्रियों की गणना शाप वश-प्रवासियों में की जा सकती है। पूर्व काल में शाप भी किसी अपराध के दण्डस्वरूप ही दिया जाता था।

भय वश प्रवास—जब कोई रोग-भय से, राज-भय से अथवा ऐसे ही किसी अन्य भय से विदेश में जा बसता है, तब उसे भयवश प्रवास कहते हैं। राज-भय से फ़रार हुए अथवा युद्ध-विप्लव, प्लेग-प्रकोप आदि के कारण देशान्तर को गए हुए व्यक्तियों की गणना भय वश प्रवासियों में ही की जायगी। सामान्य प्रवास का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

साँझ ही समै ते दुरि बैठी परदानि दैके,
संक मोहि एक या कलानिधि कसाई की।
कन्त की कहानी सुनि स्रवन सुहानी रैनि,
रंचक बिहानी या बसन्त अन्त धाई की।
कल कै न आली नैकु पलकैं लगन पाईं,
टरि कित गई नींद नैनन धौं आई की।
कुहू कहै कोकिल कुमति मैं उघारे नैन,
जाल है जु देखौं ज्वाल ज्वलित जुन्हाई की॥

कन्त के वियोग-काल में कामिनी को कलानिधि कसाई-जैसा जान पड़ता है, उसके भय से वह सायंकाल से ही चारों ओर के परदे डलवा भीतर छिपकर बैठ जाती है। वह वसन्त ऋतु की सुहावनी रातें केवल कन्त की बातें (कहानी) सुन-सुन कर जैसे तैसे काटती है। कल (चैन) से तो उसके पल भर भी पलक नहीं लगते। योंही आँखें बन्द किये पड़ी रहती है। कोयल के कुहू-कुहू कर कूक उठने पर, नायिका को भ्रम हुआ कि कोई कह रहा है—अरी आँखें खोल, देख, जिस चन्द्रमा के भय से तू छिपी पड़ी है वह तो लुप्त हो गया, आज तो 'कुहू' (अमावस) की अँधेरी रात है। यह सुन जैसे ही उसने आँखें खोल झरोखे में हो कर झाँका, तैसे ही उसे ज्वाला के समान जलाने वाली 'जुन्हाई' (चाँदनी) दीख पड़ी।

कार्य वश प्रवास के भेद

यह प्रवास तीन प्रकार का माना गया है। १—भूत प्रवास, २—भविष्य प्रवास और ३—वर्तमान प्रवास।

भूत प्रवास

जिस प्रवास का सम्बन्ध भूत काल से हो, उसे 'भूत प्रवास' कहते हैं। जैसे—

रैनि दिन नैनन ते बहतो न नीर कहा-
करतो अनंग को उमंग शर चाँपतो।
कहै 'पदमाकर' त्यौं राग बाग बन कैसो,
तैसो तन ताय ताय तारापति तापतो।
कीन्हों जो वियोग तो संयोग हू न देतो दई,
देतो जो संयोग तो वियोग नहिं थापतो।
हो तो जौ न प्रथम संयोग सुख वैसो वह,
ऐसो अब यों न तो वियोग दुख व्यापतो॥

भूत प्रवास के सम्बन्ध में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

पर कारज देह को धारे फिरो परजन्य यथारथ है दरसो।
निधि नीर सुधा के समान करो, सब ही बिधि सजनता सरसो।
'घन आनंद' जीवन दायक हो, कछू मेरियो पीर हिये परसो।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कों लै बरसो॥

भविष्य प्रवास

जिस प्रवास का सम्बन्ध भविष्य काल से हो, उसे 'भविष्य प्रवास' कहते हैं। देखिये पद्माकरजी ने भविष्य प्रवास के कैसे सुन्दर उदाहरण दिये हैं।

सौ दिन को मारग तहाँ की बेगि माँगी बिदा,
प्यारी 'पदमाकर' प्रभात राति बीते पर।
सो सुनि पियारी पिय गमन बराइवे[१] को,
आँसुन अन्हाय बोली आसन सुतीते[२] पर।

१—टालने के लिये। २—शयन करने के आसन अर्थात् शैया पर।

बालम बिदेसै तुम जात हौ तौ जाउ पर,
साँची कहि जाउ कब ऐहौ भौन रीते पर।
पहर के भीतर कै द्वै पहर भीतर ही,
तीसरे पहर कैधौं साँझ ही बितेते पर॥

उपर्युक्त पद्य में नायिका के भोलेपन का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है। वह पूछती है, आप जायँगे तो सही, पर यह तो बता जाइये, इस रीते घर में लौट कर कब आओगे। पहर-दो-पहर में ही या साँझ बीतने पर। और सुनिये—

औसर और कहा समयो कहा काज बिवाद ये कौन सी पावन।
त्यों "पद्माकर" धीर समीर उसीर भयो तपि कै तन तावन।
चैत की चाँदनी चारु लखे चरचा चलिबे की लगे जु चलावन।
कैसी भई तुम्हैं गंग की गैल में गीत मदारन के लगे गावन॥

चैत की चारु चाँदनी देखते हुए भी चलने की चरचा चलाना, गंगा की गैल में मदार के गीत गाने के समान ही है। भला इस सुहावनी वसन्त ऋतु में परदेश जाना चाहिये?

वर्तमान प्रवास

जिस प्रवास का सम्बन्ध वर्तमान काल से हो, उसे 'वर्तमान प्रवास' कहते हैं।

उदाहरण देखिये—
धुरवानि की धावनि मानो अनङ्ग की तुंग धुजा फहरान लगी।
'मतिराम' समीर लगे लतिका बिरही बनिता थहरान लगी।
मन में अलि है छिति में अलछै चपला की छटा छहरान लगी।
परदेस में पीउ संदेस न पायो पयोद घटा घहरान लगी॥

प्रियतम परदेश में हैं, उनका कुछ सन्देश नहीं मिला, और इधर ये मतवाले काले बादल उमड़-घुमड़ कर घहराने लगे। शीतल समीर बहने लगा, जिसके लगते ही शरीर थरथराने लगता है।

प्रोषितपतिका नायिका और प्रवास दोनों के उदाहरण एक ही हैं। प्रवासी की पत्नी को ही प्रोषितपतिका कहते हैं।

करुणात्मक वियोग शृङ्गार

जहाँ नायक-नायिका में से किसी एक के मर जाने अथवा अन्य किसी कारण से, जब दूसरे को उसके मिलने की आशा नहीं रहती, तब वियोग की उस चरमावस्था में करुणात्मक वियोग शृंङ्गार की उत्पत्ति होती है। जहाँ वियोग की इस चरमावस्था में किसी प्रकार रति भाव विद्यमान रहता है, वहीं करुणात्मक वियोग शृंगार माना गया है। जहाँ इस वियोगावस्था में रति भाव का एकान्त अभाव होता है, वहाँ फिर करुण शृंगार न रह कर वह शुद्ध करुण रस बन जाता है।

करुण विप्रलंभ शृंगार का उदाहरण देव जी ने इस प्रकार दिया है—

कालिय काल महा विष ज्वाल जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिन।
ऊरध के अध के उबरैं नहि जाकी बयारि बरै तहँ ज्योतिन।
ता फनि की फन-फाँसिन में फँदि जाय फँस्यो उकस्यो न अजौं छिन।
हा ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती हैं नाथ अनाथ तुम्हैं बिन॥

रघुवंश महा काव्य में इन्दुमती के मरने पर अज-कर्तृक विलाप भी करुण वियोग शृङ्गार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

वियोग जनित दश दशाएँ

प्रियतम के वियोग-काल में वियोगिनी की जो दशाएँ होती हैं वे दश प्रकार की हैं, इस लिए उन्हें 'दश दशाएँ' कहते हैं। वे दशाएँ ये हैं—

१—अभिलाषा, २—चिन्ता, ३—स्मरण, ४—गुणगान, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि, ९—जड़ता और १०—मरण।

साहित्यदर्पणकार ने प्रिय-वियोगजनित एकादश दशाएँ मानी हैं, जिनके नाम ये हैं—

१—अंगों में असौष्ठव, २—सन्ताप, ३—पाण्डुता, ४—दुर्बलता, ५—अरुचि, ६—अधीरता, ७—अस्थिरता, ८—तन्मयता, ९—उन्माद, १०—मूर्च्छा और ११—मरण।

हिन्दी कवियों ने ऊपर वाली दश दशाओं का ही वर्णन किया है, अतः यहाँ भी उन्हीं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। उपर्युक्त दश दशाओं में से चिन्ता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण

का वर्णन संचारी भावों में हो चुका है, पर प्रसंग वश यहाँ भी उनका उल्लेख किया है।

अभिलाषा

वियोगावस्था में नायक-नायिका के परस्पर मिलने की उत्कट इच्छा को 'अभिलाषा' कहते हैं। यह अवस्था पूर्वानुराग में विशेष रूप से पाई जाती है। नीचे लिखे पद्य में अभिलाषा का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है, देखिए—

माथे पै मुकुट देखि चन्द्रिका चटक देखि,
छवि की लटक देखि रूप रस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर को लाल देखि चित्त चोप कीजिये।
कुण्डल डुलनि देखि अलकें हलनि देखि,
पलकें चलनि देखि सरबस दीजिये।
पीत पट छोर देखि मुरली की घोर देखि,
साँवरे की ओर देखि देखिबोई कीजिये॥

उपर्युक्त पद्य में प्रतिक्षण साँवरे की ओर देखते ही रहने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। आगे इसी विषय का देवजी का भी एक सवैया दिया जाता है, उसे भी पढ़ लीजिए—

चन्दन पंक गुलाब के नीर सरोज की सेज बिछाय मरो री।
तूल भयो तन जात जरो यह बैरी दुकूल उतार धरो री।
'देव जू' झूठे सबै उपचार यही में तुषार को सार भरो री।
लाज के ऊपर गाज परै ब्रजराज मिलै सोई काज करो री॥

नायिका कहती है—'चन्दन पंक, गुलाब के नीर, सरोज की सेज' आदि अनेक उपाय कर हारी, पर वियोग की विष-ज्वाल न बुझी और न बुझी। अरी! ये उपाय तो सब झूठे हैं, इनसे कुछ नहीं होना जाना। अब तो लोक-लाज को भाड़ में जाने दो और ऐसा उपाय करो जिससे ब्रजराज मिलें। इस पद्य में भी ब्रजराज से मिलने की अभिलाषा का वर्णन है।

नीचे लिखे कवित्त में भी नायिका यही चाहती है कि सब कुछ छोड़कर बस एक नन्द-नन्दन से लगन लगी रहे। देखिए—

सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसाल पर कञ्चन से भाल पर,
हंसन सी चाल पर खोरन खगी रहै।
भौंहैं धनु मैन पर लौने जुग नैन पर
शुद्ध रस बैन पर बाहिद पगी रहै।
चञ्चल से तन पर साँवरे बदन पर,
नन्द के नंदन पर लगन लगी रहै॥

इस प्रसंग में महाकवि पद्माकर का निम्नलिखित कवित्त भी पढ़ने लायक है—

ऐसी मति होति अब ऐसी करों आली,
बनमाली के सिंगार वे सिंगारिवोई करिये।
कहै 'पदमाकर' समाज तजि काज तजि,
लाज को जहाज तजि डारिवोई करिये।
घरी-घरी पल-पल छिन-छिन रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारिवोई करिये।
इन्दु ते अधिक अरविन्द ते अधिक ऐसो,
आनन गोविन्द को निहारिवोई करिये॥

चिन्ता

अहितकारी विचार या प्रिय पदार्थ के ध्यान को 'चिन्ता' कहते हैं। चिन्ता में प्रिय मिलन की लालसा तथा वियोग-जनित दुःख दोनों की मात्रा अभिलाषा की अपेक्षा बढ़ी हुई होती है।

कविवर मतिराम ने चिन्ता का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

जैये अकेली महा बन बीच तहाँ 'मतिराम' अकेलोई आवै।
आपने आनन चन्द की चाँदनी सों पहले तन ताप बुझावै।
कूल कलिन्दी के कुञ्जन मंजुल मीठे अमोल वै बोल सुनावै।
ज्यों हँसि हेरि लियो हियरो हरि त्यौं हँसि कै हियरे हरि लावै॥

कलकल निनादिनी कलिन्दजा के कूलवर्ती कलित कुञ्जों में वह (प्रिय) अकेला ही आया करता है। बस वहीं चलना चाहिए। जैसे हँसकर वह

हृदय हर ले गया है, वैसे ही हँस कर वहाँ हृदय से लगावेगा । प्रिय के सम्बन्ध में उपर्युक्त ध्यान ही चिन्ता है ।

कविवर दासजी का भी आगे लिखा सवैया चिन्ता का अच्छा उदाहरण है । देखिए—

ए विधि जो बिरहागि के बान सों मारत हौ तो यहै बर माँगों ।
जो पसु होउँ तऊ मरि कैसेउ पाँवरी ह्वै प्रभु के पग लागों ।
'दास' पखेरुन में करो मोर जु नन्दकिसोर प्रभा अनुरागों ।
भूषन कीजिये तो बनमालहि जाते गोपालहि के हिये लागों ॥

उपर्युक्त पद्य में वियोगिनी का यह विचार करना कि "मर कर भी मैं किसी न किसी प्रकार मनमोहन के ही समीप रहूँ, उन्हीं के काम आऊँ" चिन्ता दशा कहाती है ।

इस विषय में रसखान का नीचे लिखा सवैया बहुत प्रसिद्ध है—

मानुस हों तो वही 'रसखानि' बसों मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हों तो कहा बसु मेरो चरों नित नन्द की धेनु-मझारन ।
पाहन हों तो वही गिरि को जो कर्यौ कर छत्र पुरन्दर कारन ।
जो खग हों तो बसेरो करों मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

वियोगिनी नायिका मरने के पश्चात् अगले जन्म में भी, प्रिय के पास ही जन्म लेने की इच्छा रखती है ।

स्मरण (स्मृति)

वियोग-काल में प्रिय की पिछली बातों, चेष्टाओं और उसके समागम-सुखों को याद करने का नाम 'स्मरण' है । उदाहरण देखिए—

खोरि में खेलन आवतीयैं न तौ आलिनि के मत मैं परती क्यों ।
'देव' गोपालहिं देखती मैं न तौ या बिरहानल में जरती क्यों ।
बापुरी मंजु रसाल की बालि सुभाल सी ह्वै उर में अरती क्यों ।
कोमल कूकि कै कैलिया कूर करेजन की किरचे करती क्यों ॥

वियोगिनी पिछली बातों को याद करके पश्चात्ताप कर रही है—यदि मैं सखियों के साथ गली में खेलने न आती तो इस विपद् में काहे को पड़ती । वहाँ न जाने से न तो गोपाल के दर्शन होते और न अब इस प्रकार वियोग

की विषम वह्नि में जलना पड़ता। यह तो अपने आप जो बोया उसका फल भोग रही हूँ। यदि ऐसा न होता तो क्या आम्रमंजरी भीषण भाले के समान मेरे हृदय में चुभती और कोयल की कुहू-कुहू हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती।

इस प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी कितना उत्कृष्ट है—

यौं दुख दै ब्रजवासिन कों ब्रज कों तजि कै मथुरा सुख पैहैं।
वे रस केलि बिलासन की बन कुञ्जनि की बतियाँ बिसरैहैं॥
जोग सिखावन कों हमकों बहुर्‌यो तुमसे उठि धावन ऐहैं।
ऊधो नहीं हम जानति हीं मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहैं॥

हमें ऐसा नहीं मालूम था कि ब्रजचन्द्र ब्रजवासियों को इस प्रकार वियोग-वारिधि में डुबाकर मथुरा जा बैठेंगे। और इसका तो हम स्वप्न में भी ध्यान न करती थीं, कि मथुरा जाकर वे कुटिला कूबरी से नेह-नाता जोड़ लेंगे, तथा हमारे लिए ऊधोजी द्वारा भोग-त्याग और योग-साधन का उपदेश करायेंगे। इस प्रकार पिछली बातों का याद करना ही स्मृति दशा कहलाती है।

स्मृति के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने योग्य है—

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

गुण-कथन

वियोग-काल में प्रिय के गुणों का वर्णन करना 'गुण-कथन' कहाता है। गुण-कथन से विरही व्यक्ति को बहुत कुछ सन्तोष मिलता है।

गुण-कथन के उदाहरण में पद्माकरजी का नीचे लिखा सवैया कितना सुन्दर है—

चोरन गोरिन में मिलिकै इते आई ही हाल गुवालि कहाँ की।
को न बिलोकि रह्यौ 'पदमाकर' वा तिय की अवलोकनि बाँकी।
धीर अबीर की धूँधुरि में कछु फेर सी कै मुख फेरिकै झाँकी।
कै गई काटि करेजनि के कतरे कतरे पतरे करिहाँ की॥

उपर्युक्त पद्य में गोपियों के साथ आई हुई किसी नई नवेली के रूप-यौवन का वर्णन किया गया है। इसी को गुण-कथन कहते हैं। आगे मतिराम जी का उदाहरण भी देख लीजिये—

मोर पखा 'मतिराम' किरीट में कण्ठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसिक्यानि मनोहर कुण्डल लोलनि में छवि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अखियाँन लुनाई॥

मनमोहन की जो बात है सो अनौखी ही है। मुसक्यान क्या, चितवन क्या, सभी में जादू भरा हुआ है। मुख की मधुरिमा का तो कहना ही क्या है, उनकी तो आँखों की 'लुनाई' भी मीठी मालूम देती है। मतिराम जी ने अपने कवि-कौशल से लुनाई (नमकीनपन) को भी मीठा बना दिया, ख़ूब!

उद्वेग

विरह-जनित व्याकुलता के कारण जब कोई बात नहीं सुहाती, विरही की उस अवस्था का नाम 'उद्वेग' है। यथा—

घर ना सुहात ना सुहात बन बाहिर हू,
बाग ना सुहात जे खुशाल खुशबोही सों।
कहै 'पद्माकर' घनेरे धन धाम त्योंही,
चन्द ना सुहात चाँदनी हू जोग जोही सों।
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
व्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों।
राति न सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

जब मन किसी निर्मोही से लग जाता है, तब न तो घर अच्छा लगता है, न वन ही सुहाता है। न रात भली लगती है, न दिन ही भाता है। न खाना रुचता है, न पीने को जी चाहता है। अभिप्राय यह कि बाग-तड़ाग, चन्द्र-चाँदनी कहीं और किसी से भी जी नहीं बहलता। यहाँ जो वियोगिनी की व्याकुलता का वर्णन किया गया है, यही उद्वेग है।

कविवर 'आलम' ने भी नीचे लिखे कवित्त में उद्वेग का कैसा सुन्दर वर्णन किया है। देखिए—

पंकज पटीर देखे दूनी दुख पीर होति,
सीर हू उसीरन तें पीर चीर हार की।

आँवा सो अवास भयो तवा सो तपत तन,
अति ही तपन लागै झार घनसार की।
'आलम' सुकवि छिन-छिन मुरझाति जाति,
सखिन बिचारि तजी रीति उपचार की।
मन ही मरूरे मरि रही मन मारि मारि,
एक ही मुरारी बिन मारी मरै मार की॥

एक मुरारि के बिना नायिका के लिए सारा आलम ही बदल गया है। जिन पंकजों और पाटीरों को देखकर कुछ शान्ति मिलनी चाहिये, उन्हें देख दूना दुःख होता है। उशीर और घनसार शीतलता पहुँचाने के बदले जला रहे हैं। सखियों के उपचार का उल्टा ही फल होता है; इसलिये वे भी हैरान व परेशान हैं। यहाँ भी वियोग-जनित विकलता का वर्णन है।

नीचे लिखा सवैया भी उद्वेग का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है, विरह-विधुरा नायिका की उद्विग्नावस्था का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है. देखिए—

बेस भये बिस भावे न भूषन, भूख न भोजन को कछु ईछी।
मीच के साधन, सोंधे की साध न, दूध सुरा, दधि माखन छी छी।
चन्दन त्यों चितयौ नहिं जात चुभी चित माहिं चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यौं सूल, सिला सम सेज, बिछौननि बीच बिछे मनु बीछी॥

विरहिणी को वस्त्रालंकार भार से जान पड़ते हैं। भोजन में बिलकुल रुचि नहीं रही। वह दूध से सुरा के समान बिदकती, और दही-मक्खन से उसे घृणा हो गई है। चन्दन-पंक लेपन की तो बात ही क्या, उसकी ओर तक तो उससे देखा नहीं जाता। फूल उसे शूल समान लगते हैं और शैया शिला जैसी जान पड़ती है। बिस्तर से तो वह दूर भागती है, मानो उसके नीचे विषैले बिच्छू बिछे हों।

प्रलाप

वियोग से अत्यधिक व्यथित होकर प्रिय की अनुपस्थिति में भी उसे उपस्थित मानकर ऊट-पटाँग बातें बकने या क्रिया करने को 'प्रलाप' कहते हैं। प्रलाप के उदाहरण में पद्माकर जी लिखते हैं—

आम को कहति आमिली है आमिली को आम,
आकही अनारन कों आँकिबो करति है।
कहै 'पदमाकर' तमालन कों ताल कहै,
तालन तमाल कहि ताकिबो करति है।
कान्है कान्ह काहू कहि कदली कदम्बनि कों,
भेंटि परी रम्भन में छाकिबो करति है।
साँवरे सों रावरे यों बिरह बिकानी बाल
बन बन बावरी लों झाँकिबो करति है॥

हे कृष्ण, तुम्हारे वियोग में व्यथित हुई वह बाला आम को इमली और इमली को आम बताने लगती है। इसी तरह आक को अनार और तमाल को ताल कहने लगती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह कदम्ब या कदली वृक्ष को 'कान्ह-कान्ह' कह कर उससे लिपट जाती है। जब देखो, तब बावली-की तरह तरु पुंजों और लता-कुंजों में झाँकती फिरती है।

यहाँ कदम्ब को कृष्ण समझ उससे लिपट जाना ही प्रलाप है।

कविवर देवजी ने भी प्रलाप का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है। देखिए—

ना यह नन्द को मन्दिर है वृषभानु को भौन जहाँ जकती हौ।
हौं ही इहाँ तुमही कवि 'देवजू' कौन कों घूँघट कै तकती हौ।
भेंटति मोहि भटू केहि कारन कौन की धौं छबि सों छकती हौ।
ऐसी भई हौ कहो केहि कारन कान्ह कहाँ है! कहा बकती हौ?

सखी यह नन्द का मन्दिर नहीं, यह तो वृषभानुजी का भवन है। यहाँ तुम झिझकती क्यों हो? मेरे और तुम्हारे सिवा यहाँ तीसरा कोई भी नहीं है, फिर यह घूँघट काढ़ के किसे ताकती हो। अरे! तुम तो मुझसे लिपटने लगीं। यह तुम्हारी हालत क्या है। क्या कहा! कृष्ण! अरी पगली! कृष्ण यहाँ कहाँ हैं? कहीं पागल तो नहीं होगई।

यहाँ भी सखी को कृष्ण समझ उसे आलिंगन करना आदि क्रियाएँ प्रलाप हैं।

वसन्त ऋतु में कन्त हीन कामिनी की कैसी विपरीत अवस्था हो रही है, देखिये। वह कहती है—

झूरि से कौने लये बन बाग ये कौने जु आमन की हरियाई।
कोइल काहे कराहति है बन कौने चहूँ दिसि धूरि उड़ाई।
कैसी 'नरेश' बयारि बहै यह कौने धौं कौन सी माहुर नाई।
हाय न कोऊ तलास करै ये पलासन कौने दवारि लगाई॥

यह वन-उपवनों को किसने झूर डाला? आमों की हरियाली किसने हर ली? यह कोयल क्यों कराहती फिरती है? यह हवा भी ऐसी लगती है, मानो इसमें किसी ने विषैली गैस मिला दी हो। अरे! वह उधर देखो, किसी ने पलाश-वन में आग लगा दी है! लोग बड़े लापरवा हैं, कोई न तो उसे बुझाने का प्रयत्न करता है, और न आग लगाने वाले आततायी की तलाश ही की जा रही है।

यहाँ प्रलाप का कैसा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है।

उन्माद

वियोग-जनित व्यथा के कारण बुद्धि विपर्यय हो जाने से विरही जब व्यर्थ रोने, हँसने या बकने लगता है, तो उस अवस्था का नाम 'उन्माद' है।

नीचे मतिरामजी का एक सवैया दिया जाता है, देखिए उन्माद का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

जा छिन ते 'मतिराम' कछू मुसिक्यात कहूँ निरख्यौ नन्दलालहिं।
ता छिन ते छिनहीं छिन में बहु बाढ़ी बिथा से वियोग की बालहिं।
पौंछति है किसलै कर सों गहि बूझति स्याम सरीर गोपालहिं।
भोरी भई है मयंकमुखी भरि भेंटति है भुज अंक तमालहिं॥

जिस समय से उस बाला ने मुस्कराते हुए नन्दलाल को देखा है, उस समय से उसकी बड़ी अजीब हालत हो गई है। यदि कहीं किसी साँवले रंग वाले व्यक्ति को देखती है, तो उसे "गोपाल-गोपाल" कह कर पुकारने लगती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह तमाल-वृक्ष को भुजाओं में भर आलिंगन भी करने लग जाती है। भला उसके इस भोलेपन का कुछ ठिकाना है?

इस प्रसंग में कविवर देव का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

आरि कै वह आजु अकेली गई खरिकै हरि के गुन रूप लुही।
उनहू अपनो पहिराय हरा मुसकाइ कै गाइ कै गाइ दुही।

कवि 'देव' कह्यौ किन काउ कछू जबते उनके अनुराग छुही ।
सबही सों यही कहै बाल बधू यह देखोरी माल गुपाल गुही ॥

कृष्ण ने अपने गले की माला उतार कर गोपी को क्या पहना दी, मानो उस पर जादू डाल दिया । अब वह जिससे भी मिलती है, उसी से माला दिखा कर कहती है—'यह माला गोपाल की स्वयं अपने हाथों से बनाई हुई है ।' प्रेमाधिक्य के कारण बुद्धि-विपर्यय हो जाने से वह यह भी नहीं सोचती कि मैं अपने प्रणय-प्रसंग का अपने आप ही ढिंढोरा पीटती फिरती हूँ । इसी का नाम उन्माद है ।

व्याधि

वियोग-व्यथा से उत्पन्न अत्यन्त सन्ताप के कारण शरीर के रोगी, पीले या कृश हो जाने को 'व्याधि' कहते हैं ।

उदाहरण देखिए—

विरह संतापन तें तपनि हेरानो चेत,
ऊबि-ऊबि सांसें लेत नैन नीर भरि भरि ।
करपूर धूरनि तें चन्दन के चूरन तें,
तामरस मूरनि उपाय थाकी करि करि ।
घेरि रहीं घरकी नगर का उगरि आईं,
देखि देखि भाखें सबै त्राहि त्राहि हरि हरि ।
अंग अंग सूके बैन मूके से बधू के उर,
भभकि भभूके मैनजू के उठें बरि बरि ॥

विरह-सन्ताप-तप्त नायिका आँखों से आँसू बहाती हुई लम्बी-लम्बी साँसें लेती है । उसकी विपन्नावस्था देख सब त्राहि-त्राहि कर रहे हैं ।

नीचे लिखा दोहा भी व्याधि का अच्छा उदाहरण है—

कब की अजब अजार में परी बाम तन छाम ।
तित कोऊ मति लीजियो चन्द्रोदय को नाम ॥

इस वामा को तो अजीब रोग हुआ है । बस योंही मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है । कहते हैं, ऐसी हालत में चन्द्रोदय की मात्रा देने से, शरीर में चेतना और गर्मी आ जाती है, परन्तु यहाँ तो चन्द्रोदय (चन्द्र + उदय)

का नाम लेने मात्र से व्याधि बढ़ जाने की सम्भावना है। इससे तो यही ठीक है, कि उसके पास कोई 'चन्द्रोदय' की चर्चा ही न चलावे।

जड़ता

वियोग-जनित दुःखातिरेक से शरीर के स्तब्ध हो जाने का नाम जड़ता है। इसमें व्यक्ति सब सुध-बुध भूल कर निश्चल और निश्चेष्ट हो जाता है।

देखिए पद्माकर जी ने जड़ता के उदाहरण में कैसा सुन्दर कवित्त लिखा है—

आजु बरसाने की नवेली अलबेली बधू,
मोहन विलोकिबे को लाज-काज लै रही।
छज्जा-छज्जा झाँकति झरोखनि झरोखनि ह्वै,
चित्रसारी चित्रसारी चित्र सम ज्वै रही॥
कहै 'पदमाकर' त्यों निकस्यौ गोविन्द ताहि,
जहाँ तहाँ इक टक ताकि घरी द्वै रही।
छज्जा वारी छकी सी झरोखावारी उझकी सी
चित्र कैसी लिखी चित्रसारी वारी ह्वै रही॥

बरसाने की नवेली अलबेलियाँ, गोविन्द को देखकर, उन्हें देखती की देखती रह गईं। जो छज्जे पर से देख रही थीं, वे वहीं की वहीं छकी-सी रह गईं। झरोखे में होकर झाँकने वाली, उझकती ही रहीं और जो चित्रसारी में बैठी देख रही थीं, वे चित्र लिखी-सी देखती रहीं। यहाँ गोपियों का अंचल-निश्चल भाव से देखते रह जाना ही जड़ता है।

कविवर 'ममारख' जी का नीचे लिखा सवैया भी जड़ता का कैसा सजीव उदाहरण है—

कौल से पानि कपोल धरे, दृग द्वार लों नीर भरे हिय हारे।
चित्र चरित्र मई सी भई, गई लीन ह्वै दीन टरै नहिं टारे।
रावरी लागी 'ममारख' दीठि न जाति कही हम जाति पुकारे।
जागि है जीहै तो जीहै सबै, न तो पीहै हलाहल नन्द के द्वारे॥

हे मोहन, जिस घड़ी से उसने तुम्हें और तुमने उसे देखा है, उसी क्षण से वह कमल जैसे हाथों पर चन्द्रसदृश मुख रक्खे, दरवाजे की ओर इकटकी

लगाए आँसू बहा रही है। न हिलती-डुलती है और न बोलती-चालती है। निश्चय ही उसे तुम्हारी नजर लग गई है। बस हम तुम्हें बताए जाती हैं—यदि वह जी-जाग गई, तब तो हम सब की जिन्दगी है, नहीं तो हम हलाहल पान कर तुम्हारे दरवाजे पर प्राण त्याग देंगी।

नीचे लिखा बिहारी जी का दोहा भी कितना सुन्दर है—

चकी जकी-सी ह्वै रही बूझै बोलति नीठि।
कहूँ दीठि लागी लगै कै काहू की दीठि॥

मालूम होता है या तो इसकी कहीं आँखें लग गई हैं, या इसे किसी की नजर लगी है, इसलिए यह चेष्टाहीन-सी हो रही है—इसे बोले बोल नहीं आता।

मरण

शरीर से प्राणों के अलग हो जाने का नाम मरण है, परन्तु साहित्य में वियोगावस्था जनित नैराश्य की पराकाष्ठा को भी मरण कहते हैं। इसीलिए कवि गण मरण का स्पष्ट वर्णन न कर उसके स्थान में मूर्च्छा अथवा मृत व्यक्ति के सुयश वीरता आदि गुणों का वर्णन करते हैं। उदाहरण देखिये—

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यौ,
तातें अति व्याकुल विकल अकुलायँगीं॥
प्यारे 'हरिचन्द' जू की बीती जानि औधि प्रान—
चाहत चल्यौ पै ए तो संग न समायँगीं॥
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि या पै,
जौन जौन देश जैहैं तहाँ पछितायँगीं।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगीं॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी कहते हैं—इन दुखिया आँखों को स्वप्न में भी सुख नहीं मिला, इसलिये ये अन्त समय तक अकुलाती ही रहेंगी। इतना ही नहीं तुम्हारे दर्शन बिना हुए, देख लेना, ये अन्त काल में भी खुली ही रह जायँगी।

कविवर देव का भी नीचे लिखा सवैया पढ़ने योग्य है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु को तनुता करि।
'देव' जिये मिलबे ही की आसन आसहु पास अवास रह्यौ भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

जिस समय से मन्द मुस्कराहट के साथ, मुँह फेर-फेर 'हेरि' कर हरिजू ने हृदय हर लिया है, उस समय से उसके शरीर से पाँचों तत्व धीरे धीरे कूच करते जा रहे हैं। दीर्घ निःश्वासों द्वारा वायु और आँसुओं के रूप में जल निकला जा रहा है। इसी प्रकार भूतत्व भी शरीर को शनैः शनैः क्षीण करके विदा होता जाता है। तेज भी अपना गुण समेट कर निकल चुका है। अब उसके जीवित मिलने की आशा दुराशा मात्र ही है।

मूर्च्छा

वियोग व्यथा-जनित दुःख के कारण शरीर के संज्ञा शून्य हो जाने को मूर्च्छा कहते हैं। कवि पद्माकर जी ने मूर्च्छा का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

ए हो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तो चलौ जोरी जुरि जायगी।
कहै 'पद्माकर' नहीं तो ये झकोरे लगै,
और लौं अचाका बिन घोरें घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन को,
देखत ही देखो दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौ ही लगि चैन जौ लौं चेती है न चन्द मुखी,
चेतेगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी॥

हास्य रस

"ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है"

यदि किसी के कथन या लेख में शिष्ट हास्य का पुट रहता है, तो उससे एक अपूर्व आनन्द उपलब्ध होता है। जब तक हृदय में, वास्तविक प्रसन्नता नहीं होती, तब तक सच्ची हँसी नहीं आती। वैज्ञानिकों का मत है, कि संसार

में मनुष्य के सिवा और कोई प्राणी नहीं हँसता । हास्य मनुष्य के मन की मुरझायी हुई कली को एक दम विकसित कर देता है। उस समय हृदय उदासीनता और शिथिलता के प्रभाव से निकलकर प्रसन्नता के रंग में रँग जाता है। नाटकादि में, विदूषकों की सृष्टि हँसाने के लिए ही की गई है। जब किसी काम से लोगों की तबीयत ऊब जाती है, तो हास्य रस के छींटे ही उसे तरोताज़ा करते हैं।

रात दिन के जीवन में देखिये, एक वह सेठ जी हैं, जो कलपते-कराहते, गरजते-गुर्राते, झींखते-झांकते अपने फ़र्म का काम करते हैं और एक वह कैदी है जो आनन्द से गीत-गाता हुआ, अपने हिस्से का पन्द्रह-बीस सेर आटा पीस कर रख देता है। और फिर भी प्रसन्न दीख पड़ता है । इसका कारण हास्य-प्रियता ही है। हास्य वह मिसरी है, जो उपदेश की कड़वी कुनैन को भी इतना मीठा बना देती है कि छोटे-छोटे बच्चों से लेकर बड़े-बड़े बुड्ढे तक उसे बड़ी रुचि से चाट जाते हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से भी हास्य का बड़ा महत्व है। हँसने के कारण मस्तिष्क से लेकर हृदय तक की, सब नस-नाड़ियाँ हिल जाती हैं, और उथल-पुथल होने के कारण फुफ्फुसों को बल मिलता है। एक प्रसिद्ध डाक्टर का कथन है कि हास्य पाचन शक्ति ठीक करने की बहुत अच्छी दवा है। हास्य रूपी परमौषध के सेवन से हाज़मा ज़रूर दुरुस्त हो जाता है। एक और डाक्टर लिखता है कि जिस दिन हमको हँसी न आई हो, वह दिन बड़ा मनहूस समझना चाहिये। हँसोड़ व्यक्ति स्वयं ही हास्य रस का आनन्द नहीं उठाता, प्रत्युत दूसरों की प्रसन्नता का कारण भी बनता है। प्रसिद्ध विद्वान् 'सेन' का कथन है—A humourist's entrance into a room is as though another candle has been lighted. अर्थात् किसी स्थान में हँसोड़ या विनोदी व्यक्ति के आगमन से ऐसा प्रतीत होता है, मानो दूसरा दीपक प्रकाशित कर दिया गया है। यही विद्वान् आगे चल कर फिर कहता है—A good laughter is a sun-rise in a house. अर्थात् हार्दिक हँसना ऐसा है, मानो किसी मकान में सूर्य उदय हुआ हो। एलावीलर विलकाक्स का कहना है—Laugh and the world laughs at you, weep, and you weep alone.

अर्थात् हँसो तो देखोगे कि संसार तुम्हारे साथ हँसता है ; और रोओ तो अकेले बैठकर रोते रहो। एक अनुभवी डाक्टर का कथन है कि दिन में तीन बार खिल-खिलाकर हँसने से चिकित्सक की आवश्यकता नहीं रहती। मिस्टर बी मेक्फ़ाउन का कथन है।

Crush sorrows, cultivate happiness.

अर्थात् चिन्ताओं का अन्त कर देने से ही वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त होती है। श्रीयुत स्टीविंसन् हास्य रस की विवेचना करते हुए लिखते हैं—

There is no duty we so much undertake as the duty of being happy. By being happy we sow anonymous benefits upon the world.

अर्थात् प्रसन्न रहना हमारा कर्तव्य है। यदि हम प्रसन्न रहेंगे, तो अज्ञात रूप से संसार की बहुत बड़ी भलाई करेंगे। एक और विद्वान् का कहना है, कि जिस व्यक्ति को हास्य गुण प्राप्त है वह कारागार में भी सुखी रहता है। सेमुएल स्माइल्स का कहना है—Cheerfulness gives elasticity of the spirit. यानी प्रसन्न रहने से आत्मा को बल प्राप्त होता है। सुप्रसिद्ध लेखक एडीसन ने एक स्थान पर लिखा है, कि सहृदयता और हास्य भाव से यदि हम किसी दोष पर हँसे और दोषी को भी हँसाएँ तो बिना मनोमालिन्य के बड़ी आसानी से सुधार हो सकता है।

प्रसिद्ध तत्ववेत्ता स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था—

Make it your profession, your business, your trade, occupation, vocation, the aim and object of your life to keep ourself always peaceful and happy. The independent of all surrounds, circumstances, irrespective of gain and loss, your highiest duty in the world laid upon your shoulders by God is to keep yourself joyful.

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के जीवन का मुख्य लक्ष्य यह है कि वह सदैव शान्त और प्रसन्न रहे। प्रतिकूल परिस्थिति में भी प्रसन्न रहने की आदत न छोड़नी चाहिये।

कभी-कभी हास्य बड़ा काम कर जाता है। ऐसे अनेक अवसर आए जब हास्य ने क्रोधियों की उबलती हुई कोपाग्नि पर पानी डाल कर, उसे शान्त कर दिया और उस क्रोध के कारण होने वाला घोर अनर्थ न हो पाया। जैसा कि ऊपर कहा गया, हँसी मानसिक प्रसन्नता का उद्गार है। जब वह अन्दर रोकने पर भी नहीं रुकती, तभी बाहर निकल पड़ती है। हँसी आने पर न हँसने से तरह-तरह के रोग लग जाते हैं। धर्म की सीमा में प्रायः हास्य का वहिष्कार किया जाता है, परन्तु परमात्मा तो स्वयं आनन्द स्वरूप है। सारा संसार आनन्द चाहता है, फिर धर्म ही से हास्यमय आनन्द का क्यों वहिष्कार किया गया। संसार में जितने महान् पुरुष हुए हैं, वे प्रायः सभी विनोद-प्रिय थे। जो व्यक्ति अपने हास्य के प्रभाव से लोगों को असीम आनन्द प्रदान करता हो, निराश दुखियों और थके-मादों के मुरझाए चेहरों को फूल की तरह खिलाने की क्षमता रखता हो, उसका उपकार कुछ कम न समझना चाहिए।

अभिप्राय यह कि जीवन के लिए हास्य बहुत ही उपयोगी है। उससे मन और शरीर दोनों को सुख पहुँचता है। फेफड़े बलिष्ठ होते हैं। तबीयत पर से चिन्ताओं का बोझा कम हो जाता है और मन में कुछ आमोद सा प्रतीत होने लगता है। जिन अभागों के शरीर में हास्य के परमाणु ही नहीं उनकी दशा दयनीय है. वे सदैव मनहूस दिखाई देते हैं। त्यौहारों की सृष्टि हँसने-हँसाने के लिए ही हुई है। अस्तु;

हास्य में शिष्टता पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। कटु हास्य हास्य नहीं कहा जा सकता। हास्य तो वही बढ़िया है, जो हास्य का पात्र बनने वाले व्यक्ति को भी हँसा दे। मनोविज्ञान वेत्ताओं ने कपाल के सबसे पिछले भाग में हास्य प्रवृत्ति का स्थान माना है। उनके मत में प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति की ओर, अप्रतिवाधित हास्य करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से इस स्थान का विकास होता है। स्पर्जियम नामक मस्तिष्क शास्त्री का कहना है कि हास्य रस के लेखकों के कपाल का उक्त स्थान स्पष्ट रूप से उभरा हुआ दिखाई देता है। स्वाभाविक शक्ति के दुरुपयोग, अतियोग, हीन योग अथवा मिथ्या योग से हास्य की पात्रता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ जब एक

विवाहिता स्त्री, जिसके सन्तान भी हो गई हो, अपनी सन्तान के लालन-पालन का कार्य त्याग कर, कुत्ता-बिल्ली या तोता-मैना आदि से स्नेह करे, और उसी में तन्मय रहे तो उसका यह कार्य हास्यास्पद होगा। लोग उसे देख कर हँसेंगे। युद्ध, विवाह और विवाद समान गुण, कर्म—स्वभाव वालों के साथ ही ठीक रहते हैं। परन्तु जब एक वृद्ध पुरुष किसी तरुणी से विवाह करना चाहता है, जो उसे ज़रा भी नहीं चाहती, तो बड़ी हँसी आती है। क्योंकि वृद्ध को तरुणी का प्रेम प्राप्त करने के लिए ऐसी-ऐसी ख़ातिर खुशामद करनी पड़ती है, कि जिन्हें देखकर लोगों को हँसी आए बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार विचित्र वेश-भूषा, अद्भुत केश-रचना, अस्वाभाविक मनोभाव प्रदर्शन, अत्यन्त विनम्रता इत्यादि बातें हास्य की उत्पादिका हैं। विषमता, विपरीतता, कुरूपता, अतिशयता आदि से भी हास्य उत्पन्न होता है। तरह-तरह की चीज़ों में एक प्रकार की असम्बद्धता के कारण ही हास्य रस का प्रादुर्भाव माना गया है। संसार में इस प्रकार की विपरीतता या असम्बद्धता दिन रात दिखाई देती रहती है जिसके कारण हास्य रस का प्रादुर्भूत होना स्वाभाविक ही है। सामान्य दशा के प्रतिकूल घटी घटना ही विपरीतता कहाती है। अस्तु; हास्य रस ऐसी चीज़ है, जो बालक, वृद्ध युवा, स्त्री-पुरुष सभी को पसन्द है।

हास्य वही अच्छा होता है जिसके समझने में कठिनाई न हो। वह शिष्ट और संक्षिप्त होना चहिए। विस्तृत हास्य से मज़ा बिगड़ जाता है। हास्य में दुष्ट हेतु होना तो किसी प्रकार भी ठीक नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया, समाज-सुधार के लिए हास्य अमोघ उपाय सिद्ध हुआ है। उचित स्थान पर हास्य का पुट अभीष्ट सिद्धि में सहायक होता है, परन्तु अनुचित स्थान पर उसका प्रयोग क्लेश और कटुता का कारण बन जाता है। हास्य वृत्ति के विकसित न होने से जीवन नीरस और शिथिल हो जाता है। मन और शरीर की स्वस्थता के लिए हास्य अत्यन्त आवश्यक है। बालकों में हास्य वृत्ति प्रचुर मात्रा में होती है। उनमें उसका विकास पूरी तरह होने देना चाहिए। हास्य में सौन्दर्य, तर्क, प्रेम आदि का पुट आवश्यक है। कभी-कभी सौन्दर्य की कमी से हास्य हलका हो जाता है। तर्क शक्ति के अभाव से मूर्खतापूर्ण बन जाता है और प्रेम की न्यूनता से उसमें सरसता

नहीं आने पाती। कभी-कभी हास्य में शौर्य की अधिकता होती है, जिससे उसमें कटाक्ष और दूसरों को चिढ़ाने के भाव आ जाते हैं। कटाक्ष युक्त हास्य में आनन्द तो आता है, परन्तु उसमें सुन्दरता या कोमलता के दर्शन नहीं हो पाते। हास्य के लिए देश, काल, पात्र आदि का देखना बहुत आवश्यक है। इन बातों को बिना सोचे-समझे हास्य कर बैठने से हानि होती है।

नाटक में जो कार्य चतुर, चालाक विदूषक करता है, वही इस जीवन में हास्य वृत्ति को करना पड़ता है। मनुष्य का मस्तिष्क नाटक भवन है। उसमें विविध मानसिक शक्तियाँ अभिनेता के रूप में अपना-अपना 'पार्ट' अदा करती हैं। उनमें से हास्य वृत्ति को विदूषक का खेल खेल कर सब का मनोरञ्जन करना पड़ता है। जिस तरह बिना विदूषक के रंग-मञ्च फीका रहता है, उसी प्रकार हास्य वृत्ति के अभाव के कारण, जीवन-नाटक में, सरसता नहीं आने पाती। जैसा कि कहा गया हास्य वृत्ति मनुष्य में ही मानी गई है, परन्तु बहुधा देखा जाता है कि कभी न कभी कुत्तों और बिल्लियों के मुँह पर भी अजीब तरह की मुस्कराहट आ जाती है। जब हम किसी कुत्ते को रोटी डालते हैं तो वह प्रसन्नता से पूछ हिलाता और मुँह की ऐसी चेष्टा बनाता है, जिससे उसका हँसना सा प्रतीत होता है।

हँसी दो प्रकार की होती है, भौतिक और साहित्यिक। भौतिक हँसी, सम्बन्ध जनित हर्ष के कारण आती है, परन्तु साहित्यिक हँसी का विकास हास्योत्पादक परिस्थिति पर निर्भर है। मान लीजिये, किसी का पुत्र चिर कालीन प्रवास के बाद घर आया है। उस समय उसके माता-पिता अथवा अन्य सम्बन्धियों के मुख पर हर्ष या हास की जो रेखा है, वह भौतिक सम्बन्ध के कारण है, हास्योत्पादक परिस्थिति की वजह से नहीं अतएव वह साहित्यिक हास्य नहीं हो सकता। साहित्यिक हास्य में तो सभी लोगों को प्रसन्नता होनी चाहिए। साहित्य सम्बन्धी हास्य को सुन कर सब सहृदयों का हँस पड़ना स्वाभाविक है, चाहे उस हास्योत्पादक परिस्थिति से किसी का सम्बन्ध है या नहीं। साहित्य ग्रन्थों में साहित्यिक हास्य का ही वर्णन किया जाता है। साहित्यकारों ने हास्य के कई भेद किये हैं। उनमें स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित मुख्य हैं। इनमें हास्य की मात्रा

क्रमशः बढ़ती जाती है। गुदगुदी होने से भी बड़ी हँसी आती है। परन्तु उसमें न भौतिक आनन्द है और न साहित्यिक। कुछ ग्रन्थियों या स्नायुओं के स्पर्श मात्र से शरीर में एक प्रकार की सनसनी-सी होती है, जिससे हँसी का फ़व्वारा फूट निकलता है। परन्तु वास्तव में उस हँसी का हृदय से कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसी हँसी भी होती है, जिसमें घृणा मिश्रित संवेदना का पुट होता है। परन्तु वह भी भौतिक ही होती है, साहित्यिक नहीं।

हास्य के कुछ और भी भेद हैं, जो नीचे दिये जाते हैं। १—हाज़िर जवाबी (Wit), जैसे एक बार बड़ी कौंसिल में किसी शेखीखोर अँगरेज़ मेम्बर ने कहा—"हिन्दुस्तानी बड़े झूठे हैं।" इस पर महामति गोखले बोल उठे—"और अँगरेज़ झूठों के बादशाह हैं।" गोखले के उत्तर से वह अँगरेज़ महाशय तो लज्जित हो गए, परन्तु और सब हँसने लगे। हाज़िर जवाबी इसी को कहते हैं। २—वक्रोक्ति, (Satire) इसके दो भेद हैं—काकु (Hightened) और श्लेष (Fun)। काकु; जैसे—किसी ने अपने मित्र से कहा—"मेरी सरलता को तो आप जानते ही हैं।" उत्तर मिला—"जी हाँ, आप तो पूरे महात्मा हैं।" इससे पहला मित्र हँसने लगा। श्लेष; जैसे—"राम ने कृष्ण से कहा—"भाई आज कल मैं बेकार हूँ।" कृष्ण ने उत्तर दिया—"तो एक कार क्यों नहीं ख़रीद लेते।" इस वैचित्र्य से राम हँस पड़ा। ३—ऊट पटाँग बातें (Nonsense)—जैसे—"दाढ़ी बढ़ाई योगी हो गैलन बकरा।" ४—बेढंगी बातें, (Incongruous) जैसे—चलती को गाड़ी कहैं बने माल को खोया।" "बरसे कम्मल भीजे पानी," आदि ५—तकिया कलाम, (Mannerism) जैसे—आई समझ में, वह बरात बहुत बड़ी थी, आई समझ में, हाथी घोड़े और मोटरें भी थीं उसमें, आई समझ में। वह बीमार पड़ा है कुछ नहीं खाता पीता, आई समझ में कराहता रहता है, आई समझ में? इत्यादि। नाटकादि में तो इस प्रकार के तकिया कलामों से बहुत ही हँसी आती है। ६—नक़ल (Carricative) किसी आदमी या जानवर की नक़ल करने से भी बहुत हँसी आती है। कुछ दिनों से परिहासरूप में कविताओं की भी नक़ल (Parody) होने लगी है। जैसे—

"एक घड़ी आधी घड़ी आधी हू में आध।
तुलसी सेवन पार्क को हरै हजारन व्याधि ॥"

दोहे के दूसरे चरण का मूल पाठ है—

"तुलसी संगति साधु की हरै कोटि अपराध"

इसको उपर्युक्त प्रकार से बदल देने के कारण इसमें हास्य का समावेश हो गया। ७—विरोधाभास (Paradox) जैसे—"आँख के अन्धे नाम नैनसुख", "पानी में मीन प्यासी", "कुमारी विधवा" पवित्र पापी" "शरीफ़ डाकू" इत्यादि प्रयोगों को सुन कर भी मन में एक गुदगुदी सी होती है। ८—वचन विदग्धता, वाक्छल और उक्ति वैचित्र्य (Verbal jugglary and wit), जैसे तुम्हारा कोई मित्र तुमसे कहता है—आज मुझे गाँव जाना था, पर सबेरे से ही पेट चल रहा है।" ऐसी स्थिति में तुम उसे यह उत्तर दोगे तो बड़ा लुत्फ़ आएगा कि "हरज क्या है, पैरों के बदले आपका पेट ही चल रहा है ?"

हास्य

जहाँ पर हास स्थायी भाव की पुष्टि होती है, उसे हास्य रस कहते हैं।

हास्य रस का स्थायी भाव—हास, देवता—प्रमथ अर्थात् शिवगण और वर्णश्वेत है।

आलम्बन—विकृत आकार प्रकार और विचित्र वेशभूषा एवं अद्भुत वाणी, चेष्टा आदि के नाट्य से हास्य रस का आविर्भाव होता है। अर्थात् विकृत आकृति, वाणी, वेश, तथा चेष्टा इसके आलम्बन हैं।

उद्दीपन—ऊट-पटाँग, वेश, टेढ़े-मेढ़े वचन, विचित्र अंग भंगी और हँसाने वाले भाव हास्य रस के उद्दीपन हैं।

अनुभाव—आँखों का मुकुलित और मुख का विकसित होना, मन्द-मन्द मुस्कराना या खिलखिलाकर हँसना आदि हास्य के अनुभाव हैं।

संचारी भाव—स्वप्न, ग्लानि, अवहित्था, चपलता, शोक, हर्ष, आलस्य आदि हास्य इसके संचारी भाव माने गए हैं।

हास्य के भेद

पात्र भेद से हास्य दो प्रकार का है—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ।

स्वनिष्ठ—जिस हास्य में मनुष्य स्वयं हँसे, उसे स्वनिष्ठ या आत्मस्थ हास्य कहते हैं।

परनिष्ठ—जिसमें दूसरों को हँसाया जाय उसे परनिष्ठ या परस्थ हास्य कहते हैं।

अन्य भेद

प्रकार भेद से हास्य या हसन क्रिया के छह भेद हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित या अवहसित, अपहसित और अतिहसित।

उक्त छहों भेदों के लक्षण और उदाहरण स्थायी भावों के वर्णन में दिये गए हैं। इस छह प्रकार के हास्य में से स्मित और हसित उत्तम पात्र में, विहसित और अवहसित मध्यम पात्र में, तथा अपहसित और अतिहसित अधम पात्र में होते हैं।

रस तरंगिणीकार ने हास्य के स्मित आदि छह भेदों को स्वनिष्ठ और परनिष्ठ के विचार से दो-दो प्रकार का मानकर हास्य के कुल बारह भेद किये हैं। यथा—

(अ) उत्तम पात्र में	(ब) मध्यम पात्र में	(स) अधम पात्र में
१—स्वनिष्ठ स्मित।	५—स्वनिष्ठ विहसित।	९—स्वनिष्ठ अपहसित।
२—स्वनिष्ठ हसित।	६—स्वनिष्ठ अवहसित।	१०—स्वनिष्ठ अतिहसित।
३—परनिष्ठ स्मित।	७—परनिष्ठ विहसित।	११—परनिष्ठ अपहसित।
४—परनिष्ठ हसित।	८—परनिष्ठ प्रवहसित।	१२—परनिष्ठ अतिहसित।

हास्य रस के उदाहरण देखिए, महादेव बाबा की कैसी हँसी उड़ाई गई है—

लोचन असम अंग भसम चिता को लाइ,
तीनों लोक नायक सौं कैसे कै ठहरतो।
कहैं 'पदमाकर' विलोकि इमि ढंग जाके,
वेद हू पुराण गान कैसे अनुसर तो॥
बाँधे जटाजूट बैठे परबत कूट माहिं,
महा कालकूट कहौ कैसे कै ठहरतो।
पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै ऐसे—
पूछ तो को नंगै जो न गंगै सीस धर तो॥

उक्त पद्य में विषम (तीन) नेत्रों वाले, शरीर में चिताभस्म लपेटे, विकृत वेश-भूषा वाले महादेव जी हास्य के आलम्बन हैं। शिव जी के भंग पीने और प्रेतों के साथ रहने आदि का वर्णन हास्य के उद्दीपन हैं, क्योंकि इनसे शिव जी के विकृत वेश-भूषादि विषयक धारणा और भी दृढ़ होती है। ऐसे नंगा को कौन पूछता, वेद-पुराणों में इनकी चर्चा कैसे होती, यदि इन्होंने गंगा को सिर पर धारण न किया होता इत्यादि अनुभाव हैं। क्योंकि इनसे हास्य का अनुभव होता है। चिता-भस्म लेपनादि से उत्पन्न ग्लानि तथा हर्ष इसमें संचारी भाव हैं। इसी प्रकार आगे के उदाहरणों में भी विभावानुभावादि की ऊहा कर लेनी चाहिये।

वेनी कवि ने किसी कंजूस-मक्खीचूस का कैसा ख़ाका खींचा है, देखिए—

आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की,
आध पाव रूई में पोषाक बनी वर की।
आध पाव छोले के गिनोरे दिए भाइन कों,
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की॥
आधी आधी जोरि 'कवि बेनी' की बिदाई कीन्ही,
व्याहि आयो जब ते न बोलै बात थिर की।
देखि देखि कागज़ तबीअत सुमादी भई,
सादी कहा भई बरबादी भई घर की॥

कंजूस की शादी का वर्णन है, जिसने खाक तो ख़र्च नहीं किया, परन्तु डींग मार कर लोगों से कहता यह है, कि इस शादी के कारण मैं बर्बाद होगया! क्या करूँ!

किसी कवि ने अपनी कविता के बदले 'वाह-वाह' के सिवा एक कौड़ी भी न पाकर, कैसी चुभती फबती उड़ाई है, सुनिए—

उर्द के पचाइबे कों हींग और सोंठि जैसे,
केरा के पचाइबे कों घिव निरधार है।
गोरस पचाइवे कों सरसों प्रबल दण्ड,
आम के पचाइबे कों नीबू को अचार है॥
'श्रीपति' कहत पर धन के पचाइबे कों—
कानन छुवाइ हाथ कहिबो नकार है।

आज के जमाने बीच राजाराव जानें सबै,
रीझि के पचाइबे कों वाहवा डकार है ॥

कवि कहता है कि राजा-राव किसी कविता पर रीझते हैं, तो बस 'वाह-वाह' कर देते हैं। मानो इसके अतिरिक्त उनके पास और कुछ देने को है ही नहीं।

किसी सूम के सम्बन्ध में प्रधान कवि की उक्ति पढ़ लीजिए—

आज जो कहैं तो आठ मास में न लागे ठीक,
कालिह जो कहैं तो मास सोरह चलावहीं।
पाँच दिन कहैं पाँच बरस बिताइ देहिं,
पाख जो कहैं तो लै पचास पहुँचावहीं ॥
भाषत 'प्रधान' जो वै ताहू पै न त्यागे द्वार,
आप न लजात फिर वाहू कों लजावहीं।
ऐसे सत्यभाषी सरदार हैं दिवैया जहाँ,
काहे को पवैया तहाँ जीवित लों पावहीं ॥

प्रधान जी ने झूठे सूम सरदारों का कैसा अच्छा ख़ाका खींचा है। इनके वादे ही पूरे नहीं होते। अब दें, तब दें, कल दें, परसों दें कहते-कहते कभी न दें। ऐसे वादे ख़िलाफ़ों के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा भी बड़ा मज़ेदार है।

पल पखवारो, मिनट महीना, चौ घड़िया कौ साल।
जाको लाला काल कहैंगे ताको कौन हवाल ॥

और देखिए—किसी रईस के यहाँ से मिली हुई रजाई के सम्बन्ध में उसके पाने वाले राय जी क्या कहते हैं—

कारीगर कोऊ करामात कै बनाइ लायो,
लीनी दाम थोरे जानि नई सुघरई है।
रायजू को रायजू रजाई दीन्हीं राजी ह्वै कै,
सहर में ठौर-ठौर सुहरति भई है ॥
'बेनी कवि' पाय कै अबाय घरी द्वैक रहे,
कहत बनै न कछू ऐसी गति ठई है।

साँस लेत उड़िगो उपरला भितरलाहू,
दिन द्वै की बाती हेतु रुई रहि गई है।

रायजी को अच्छी रजाई मिली, जो साँस लेते ही उड़ गई। न 'उपरला' रहा न 'भितरला'; केवल दो दिन के लिए बत्ती बनाने लायक़ रुई रह गई। बेनी कवि ने रज़ाई देने वाले रायसाहब की कैसी मीठी चुटकियाँ ली हैं। हिन्दी कवियों ने सूम दानियों ही के सम्बन्ध में ऐसी कविताएँ लिखीं हों सो बात नहीं, उन्हें तो जहाँ भी मौका मिला है वहाँ किसी को बख्शा नहीं है। देखिए—अनाड़ी वैद्यों के सम्बन्ध में प्रधान जी ने निम्नलिखित सवैया कैसा मज़ेदार लिखा है—

पेट पिराय तो पीठि टटोरत, पीठि पिराय तो पाँय निहारैं।
दै पुरिया पहले बिस की पुनि पीछे मरे पर रोग विचारैं।
बीस रुपैया करे कर फीस न देत जवाब न त्यागत द्वारैं।
भाखैं 'प्रधान' ये वैद कसाई हैं, दैव न मारे तो आपही मारैं॥

इस सवैया में उन मूर्ख वैद्यों की हँसी उड़ाई है, जो चिकित्सा के विषय में कुछ भी न जानकर व्यर्थ ही अपने ढोंग का ढिंढोरा पीटा करते हैं। ऐसे लालची अताइयों के द्वारा मरीज़ मरे बिना नहीं रहते। प्रधान जी ने उन्हें कसाई कहा है, सो उचित ही है।

दयाराम जी के हृदय में दया का दरिया उमड़ा तो उन्होंने बेनी कवि के घर कुछ आम भेजे। दानियों में अपनी गिनती कराने के लिए उन्होंने आमों का दान तो किया, पर उनकी जन्म सिद्ध सहचरी सूमता की छाप उन पर भी लग ही गई। बेनी कवि भला कब चूकने वाले थे? आमों को देखते ही उन्होंने उनकी पहुँच लाने वाले के हाथों ही इस प्रकार लिख भेजा—

चींटी की चलावै को मसा के मुह आइ जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाय मरु मरु कै निहारे जात,
अनु अरमान की समानता खगत है॥
'बेनी कवि' कहै और कहाँ लौं बखान करों,
मेरे जाने ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।

ऐसे आम दीने दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सी लगत है॥

वाह! दयाराम के भेंट स्वरूप भेजे हुए आमों का कैसा विचित्र वर्णन है। जिन आमों के आगे सरसों का दाना भी सुमेरु पर्वत-सा लगता हो, उनकी सूक्ष्मता का कुछ ठिकाना है। वे तो खुर्दबीन द्वारा भी मुशकिल से दिखाई देते हैं। मनुष्य प्रयत्न करे तो कदाचित ब्रह्म के दर्शन हो जायँ, पर दयाराम के आमों का दिखाई देना असम्भव है। जो चीज श्वास की हवा से ही उड़ जाय उसकी सूक्ष्मता का भी कुछ ठिकाना है।

अब जरा पेड़ों का वर्णन भी पढ़ लीजिए—

चींटी न चाटति मूँसे न सूँघत बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जबतें घर में तब ते रहै हैजा परौसिन घेरे।
माटी हू में कछू स्वाद मिलै, इन्हैं खाय सो ढूँढत हर्र बहेरे।
चौंकि पर्‌यौ पितुलोक में बाप सो आपु के देखि सराध के पेरे॥

पेड़ों की प्रशंसा कहाँ तक की जाय! जिनके घर में रक्खे रहने मात्र से जब पड़ोसियों को हैज़ा घेरे रहता है, उनके खाने से तो न जाने क्या हो। इसीलिए तो उन्हें चींटी भी नहीं चाटती, चूहे सूँघते तक नहीं और मक्खी तो मारे बास के उनके पास भी नहीं फटकती। यहाँ पेड़ों के पुराने पन का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन कैसा हास्योत्पादक है।

नीचे लिखे पद्य में कृपण दाऊ की दानवीरता का कैसा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है—

पौरि के किवार देत घरै सबै गारि देत,
साधुन कों दोस देत, प्रीति न चहत हैं।
मंगन को ज्वाब देत, बात कहैं रोइ देत,
लेत देत भाँज देत, ऐसे निबहत हैं॥
बागे हू के बन्द देत, बारन को गाँठि देत,
पर्दनि की काँछ देत, देतई रहत हैं।
एतेऊपै सबै कहैं दाऊ कछू देत नाहिं,
दाऊ जी तो आठौ याम देतई रहत हैं॥

कवि ने मक्खीचूस दाऊ की दातृत्वशक्ति का कैसा ख़ाका खींचा है। उपर्युक्त सब चीज़ें देते रहने पर भी दान के नाम पर दाऊ जी जवाब भी नहीं देते। घर के किवाड़ देकर सो रहते हैं। हाँ, गाली देने में आप बड़े उदार हैं, यदि कोई दूसरा देता-लेता हो, तो उसकी भाँजी मार देने में भी आप बड़े कुशल हैं, और दूसरों को दोष देने में तो दाऊ की बराबरी कोई कर ही नहीं सकता। लोग भी क्या अजीब हैं, ऐसे दानी को भी कहते हैं कि वह कुछ देते ही नहीं।

पद्माकर जी ने नीचे लिखे पद्य में दूल्हा रूप धारी महादेव जी का कैसा अच्छा वर्णन किया है—

हँसि-हँसि भजें देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जे आवें हिमाचल के उछाह में।
कहै 'पद्माकर' सुकाहु सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखे सो हसेई तहाँ राह में॥
मगन भयेई हँसें नगन महेस ठाढ़े,
और हँसे एऊ हँस-हँस के उमाह में।
सीस पर गंगा हँसे, भुजनि भुजंगा हँसे,
हाँस ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में॥

इस छन्द में दिगम्बर वेश धारी शिव जी के विवाह का हास्यमय वर्णन है। बेचारे को देख कर सब हँस रहे हैं। गंगा, 'भुजंगा' ये, वे, जिसे देखो वही हँस रहा है। हँसी का हुल्लड़ मचा हुआ है।

आजकल के कुछ प्रसिद्धिलोलुप कवि कवि सम्मेलनों में अपनी कविता सुनाने के लिए कितने उत्सुक रहते हैं, इसका ख़ाका यशदत्त जी ने अपने नीचे के सवैया में बड़ी सुन्दरता से खींचा है—

मूँड़ खपाइ सुखाइ कै खून बड़े स्रम सों रचें साँची पतीजिए।
ताहू पै चाहक ना हम दाम के भूखे हैं नाम के एतो तो कीजिए॥
होय जो हिम्मत दैवे की—दीजिए दाद, न होय, यहू मत दीजिए।
जोरि के हाथ निपोरि के दाँत करैं बिनती कविता सुन लीजिए॥

ऐसे ही एक प्रशंसा के भूखे कवि जी की आत्मयोग्यता के सम्बन्ध में कवि यशदत्त जी ने नीचे लिखा पद्य लिखा है—

पिङ्गल पढ़ा नहीं न छूए कभी छन्द-ग्रन्थ,
जानता न रीति, गुण, दोष का विचार मैं।
नाम पै रसों के जानता हूँ बस छै ही रस,
खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कसैला, तीखा, खार मैं॥
जिनसे सजातीं अङ्गनाएँ निज अङ्ग उन—
हार नूपुरादि ही को जानूँ अलंकार मैं।
तो भी वाह-वाह लूटने को कवि मण्डल में,
माँग लाया करता हूँ कविता उधार मैं॥

ग्वाल कवि ने कुबड़ी दासी से प्रेम करने के कारण कृष्ण जी की कैसी मीठी चुटकियाँ ली हैं, देखिए—

ऊधो तेरे यार ऐसे है हैं रिझवार जाय,
जानती विचार तो पै सूधो हों न जायबो।
करती विचार भाँति भाँति के सुभाय भाय,
केती बड़ी बात हुती वाको अटकायबो॥
'ग्वाल कवि' पीठिन पै एक एक हाँड़ी बाँधि,
नीके मन मोहन को करतीं रिझाइबो।
या तो कहूँ कोई बहूरूपिया तलास कर,
सीख लेतीं हम सब कूबर बनायबो।

गोपिकाएँ कहती हैं, अरी सखियो, यदि शरीर के कुबड़ेपन से ही श्री कृष्ण प्रसन्न होते हैं, तो हमें भी वैसा ही बनना चाहिए। किसी बहुरूपिये को बुला कर सब जनी कूबड़ बनाना सीख लो। या फिर अपनी-अपनी पीठ पर एक-एक हाँड़ी बाँध कर चलो। ऊधो जी, आपके यार भी सब कुछ छोड़ कूबड़ पर रीझे हैं। अच्छे रिझवार हैं।

जनकपुरी में स्त्रियाँ रामचन्द्र जी से कैसा हँसी-मज़ाक करती हैं—

अति उदार करतूतिदार सब अवधपुरी की बामा।
खीर खाय पैदा सुत करतीं पति कर कछू न कामा॥

अयोध्या की स्त्रियाँ बड़ी विचित्र हैं, जिनके खीर खाने से ही पुत्र पैदा हो जाते हैं। ऐसा कहके उन्होंने रामचन्द्र जी की माता का मज़ाक उड़ाया,

क्योंकि उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ में यज्ञशिष्ट खीर खाई थी। यह सुनकर राम-चन्द्र जी भला कब चुप रहने वाले थे, वे तुरन्त ही बोल उठे—

कोउ न जनमे मात पिता बिन बँधी वेद की नीती।
तुम्हरे तो महि ते सब उपजें अस हमरे नहिं रीती॥

हमारे यहाँ तो वेद-मर्यादानुसार ही सन्तान उत्पन्न होती है। तुम अपने यहाँ की कहो, जो तुम्हारे यहाँ ज़मीन फाड़ कर बच्चे पैदा हुए हैं। सीता जी पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं, उसी ओर यह संकेत है।

हास्य रस के उदाहरणों में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

खाय कै पान विदोरत ओठ हैं, बैठि सभा में बने अलबेला।
धोती किनारी की सारी सी ओढ़त पेट बढ़ाइ कियो जस थैला॥
'बंस गोपाल' बखानि कहै सुनो भूप कहाय बने फिरें छैला।
सान करें बड़ी साहिबी की अरु दान में देत न एक अधेला॥

इस सवैया में किसी ऐसे ढोंगी का मज़ाक उड़ाया गया है, जो अपनी शान बनानी तो खूब जानता है, परन्तु देने के समय एक कौड़ी भी उसकी गाँठ से नहीं निकलती।

और भी देखिए, नीचे लिखा सवैया व्यंग्यात्मक हास्य का कैसा बढ़िया नमूना है—

बाल के आनन चन्द लग्यौ नख आली विलोकि अनूप प्रभासी।
आजु न द्वैज है चन्दमुखी मति मन्द कहा कहैं ए पुरबासी॥
वापुरो जोति सी जानै कहा अरी, हौं कहौं जो पढ़ि आई हौं कासी।
चन्द दुहूँ के दुहूँ इक ठौर है, आजु है द्वैज औ पूरन मासी॥

नायिका के मुख पर नख-क्षत देखकर सखी ने पद्य के तीसरे और चौथे चरण में हास्य की कैसी सुन्दर व्यञ्जना की है।

नीचे लिखे पद्य में गंग कवि ने औरंगज़ेब द्वारा उपहार में दी गई हथिनी का कैसा मनोरञ्जक वर्णन किया है—

तिमिर लंग लई मोल चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ साथ गई अकबर के दल के॥
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार छुड़ायो।
शाहजहाँ करि न्याय ताहि को माँड चटायो॥

बल रहित भई पौरुष थक्यो भगी फिरति बन स्यार डर।
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्हीं कवि गंग घर॥

यानी जो हथिनी तैमूरलंग, बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि के ज़माने में रही, वही अब दान में दे दी गई। हथिनी के पुराने पन का ठिकाना है। इस पद्य में हास्य के मिस यह दिखाया गया है, कि जब कोई चीज़ निरर्थक हो जाती है, तब उसे दान के रूप में दूसरों को देकर वाहवाही लूटने की इच्छा होती है। मरी बछिया बाम्हन के सिर, इसे ही कहते हैं।

नीचे के पद्य में नकलची बाबुओं का वर्णन किया गया है, मुलाहिजा फरमाइए—

बूट पतलून कोट पाकट में वाच पड़ी,
छज्जेदार टोपी छड़ी छतरी बगल में।
बोलें अँगरेजी खान-पान करें होटलों में,
साहिबी मुसाहिबी को लाते हैं अमल में॥
बाईसिकलों पै चढ़ें चूरटें हैं उड़ाते फिरें,
गोरे रंग ही की कमी पाओगे नकल में।
'भट्ट' अब ऐसे ही स्वदेशी बन जाओ सब,
देख लो नमूने नई सभ्यता के दल में॥

भारतीय सभ्यता को तिलाञ्जलि देकर विदेशी फ़ैशन में रँग जाने वाले लोगों के सम्बन्ध में उपर्युक्त छन्द लिखा गया है। वस्तुतः ऐसे लोगों में स्वदेशीयता की शायद ही कोई भावना शेष रहती हो, और देखिये, भाषा के सम्बन्ध में भी भट्ट जी क्या कहते हैं—

देवनागरी की राम रें-रें को प्रणाम कर,
बूढ़ी बोलियों का मान माथे न मढ़ावेंगे।
फ़ारस लों फ़ारसी की छार सी उड़ाय चुके,
उरदू के दायरे का दौर न बढ़ावेंगे॥
बाप ने पढ़ी थी अब आपने पढ़ी है वही,
प्यारी राज भाषा बाल बच्चों को पढ़ावेंगे।

ऐसे बड़भागी 'भट्ट' भारत की भारती को,
ऊल-ऊल उन्नति की चोटी पै चढ़ावेंगे ॥

मातृभाषा त्याग कर विदेशी भाषा को ही सब कुछ मान कर उसी को उन्नति का एक मात्र साधन समझने वाले देशभक्तों के सम्बन्ध में उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी गई हैं। इनमें व्यञ्जना द्वारा परभाषा प्रेमियों की फक्किका उड़ाई गई है। सच है, ऐसे ही लोगों द्वारा भारती की उन्नति होगी।

जैसा कि हास्य रस के प्रारम्भ में लिखा गया है, किसी के वेश, बोली या भाषा का अनुकरण ही हास्य रस का उत्पादक है। हाल ही में पुराने कवियों की कविताओं के कुछ अनुकरणात्मक परिहास (पैरोडी) भी प्रकाशित हुए हैं। उनमें हास्य की काफ़ी सामग्री है। महाकवि सूरदास की रचनाओं के अनुकरण में निम्नलिखित परिहास-पद पढ़िए—

विपति बुढ़िया पै आइ परी।
कहाँ वह खाट कहाँ वे खटमल कथरी कहाँ डरी।
माछर भिन-भिन करत फिरत नित दुखतें रैन भरी ॥
डगमग डील डुलावत डोलत जुरतें खूब जरी।
बेद हकीम पास नहिं फटकत खौं-खौं करत मरी ॥
देखत-देखत चीज चुरैया लै गयो छीनि दरी।
सटपटाति बौरी-सी बैठी अब का और धरी ॥
जुग-जुग भीर परी भगतन पै धीरज धारि अरी।
सूरदास थिर मन सों अजहूँ भजि भगवान हरी ॥

ग़रीब बुढ़िया खाँसी से खौं-खौं करती हुई अपनी दरी चुराए जाने की शिकायत कर रही है। परन्तु सूरदास जी कहते हैं—अरी, सन्तों पै बड़ी-बड़ी भीड़ पड़ी हैं, तू ऐसे समय में भगवान् को याद कर। वही तेरा उद्धार करेंगे। इसमें दरी चुराए जाने की तुलना सन्तों पर पड़ी भीड़ के साथ किए जाने के कारण वह हास्योत्पादक हो गई है। किसी की शैली का अनुकरण तो हास्यप्रद है ही।

महाकवि तुलसीदास जी की चौपाइयों का भी परिहास-पद्य सुनिये—

सब यानन ते श्रेष्ठ अति द्रुतगति गामिनिकार।
धनिक जनन के जिय बसी निस दिन करति विहार ॥

मञ्जुल मूर्ति सदा सुख दैनी, समुझि सिहावहिं स्वर्ग नसैनी।
उछरति, कूदति किलकति जाई, सब कहँ लागति परम सुहाई।
पौं-पौं करति सुहावति कैसे, मुनि मख शंख बजावहिं जैसे।
चारु चक्र धारिनि मन भावन, कलरव करति विमोद बढ़ावन।
छाँह करन हित छुएउ बिताना, विचरति फिरति बरन धरि नाना।
पीवहि तेल उड़ावहि धूरी, पद चारिन कहँ दुरगति पूरी।
विद्युत्-दीप करत उजियारी, जनु हरि-चन्द उगेउ तम टारी।
तेहि चढ़ि जन निज गर्व दिखावहिं, पद प्रभुता प्रमाद दरसावहिं।
मग बिच कीच उलीचति कैसे, फागुन फाग रचहिं जन जैसे।
बल विक्रम जब बात नसाई, सरकति नेक न उठति उठाई।

वाहन कुल की परम गुरु सब कहँ सुलभ न सोय।
रघुबर की जिन पै कृपा ते नर पावहिं तोय॥

उपर्युक्त परिहास में तुलसीदास जी की चौपाइयों का अनुकरण करते हुए, मोटरकार की महिमा का वर्णन किया गया है। उसके पहिये कैसे सुन्दर होते हैं, वितान कितना भव्य बना होता है, 'पौं-पौं' करती कैसी सुहावनी मालूम होती है। उसके युग लेम्पों को 'हरि-चन्द' सूर्य और चन्द्रमा से तुलना की गई है। इस वर्णन के पढ़ने से खूब हँसी आती है।

अब भूषण जी का परिहास-पद्य पढ़िए—

तोड़ दिये तोमड़े तड़ाक तरबूजन के,
फोड़े खरबूजन के खोपड़े धड़ाम से।
कासी फल कद्दू बली बैंगन बनार डारे,
जामुन पिचे न बचे आम कत्ले आम से॥
गाजर गँडारी कद्द-कद्द कांकरी को काट,
मोर्‌यो मुँह मूरी को मरोरे सब चाम से।
भूषन भनत चीमटा के चचा चाकूराम,
अस्त्र-शस्त्र काँपत तिहारी धूम धाम से॥

भूषण की शैली में 'चीमटा के चचा चाकूराम' का कैसा हास्यमय सुन्दर वर्णन है। फलों की दुनिया में इस कुण्ठित कृपाण ने ग़ज़ब ढा दिया है। त्राहि-त्राहि मचवादी है!!

महाकवि रसखान का निम्नलिखित परिहास-पद्य भी देखने लायक है—

या खुरपी अरु फावरिया पर घास भरी गठरी तजि डारों।
पैर चलाइबे खेत नराइबे को दुख भैंस चराइ बिसारों।
रसखान कबौं इन हाथन सों पटवारी-दरोगा के पायँ पखारों।
खौंसि कै छानि को फूँस फटेरो महाजन की मुड़िया पहँ मारो॥

उपर्युक्त पद्य 'या लकुटी अरु कामरिया' के ढंग पर लिखा गया है। उसमें एक ग़रीब किसान की दशा का हास्यमय वर्णन है।

महाकवि रत्नाकर जी की शैली के अनुकरण में परिहास-पद्य देखिये—

रैंक-रैंक रोयो कौंजरी को कुल दीपक यों,
घारी गिरधारी निठुराई मारी मति है।
लै लै कर टोकरी पुकारत बजार बीच,
पै न कोऊ भारी तरकारी बिकयति है॥
तोरई करेला घीया भिण्डिन की कहौं कहा,
टण्डे औ टमाटर न कोऊ पूछियत है।
कहै रतनाकर उबारो-तारो मारो चाहे,
आलुन के साग ते भई ये दुरगति है॥

यहाँ रत्नाकर जी की शैली पर अन्य शब्दों की अपेक्षा आलू की उत्कृष्टता दिखाई गई है। आलू ने सारी सब्जियों की बेक़दरी करा दी। कुँजड़ों को सख्त शिकायत है कि कम्बख्त आलुओं के आगे और किसी शाक की बिक्री ही नहीं होती।

स्वर्गीय कविरत्न सत्यनारायण का 'भयौ क्यों अनचाहत को संग' वाला पद्य बहुत प्रसिद्ध है। उसी का अनुकरण करते हुए उन्हीं की शैली पर रचा गया निम्नलिखित परिहास-पद पढ़िये—

भयौ क्यों अनचाहत को संग।
खुफिया पुलिस परी है पीछे करि डारे हम तंग॥
जहँ जहँ जात दिखात तहाँ ही खात न्हात बतरात।
चौंकि परति चंचल तुरंग सी फरकि जात जो पात॥
निरखत परखति रहति सदाही अन्तर नेक न लावति।
हमरी करनी-घरनी को लिखि लेखो तुरत पठावति॥

उघरी देह-अँगोछा काछे जित-जित प्रान बचाऊँ।
तित-तित वा छरछन्दों की मैं छुटा निरख तो जाऊँ॥
दीनबन्धु मेरी करनी को कैसहु कुफल चखाओ।
सत्य कहूँ पर इन खुपियन ते मेरो पिण्ड छुड़ाओ॥

कविवर सत्यनारायण जी ख़ुफ़िया पुलीस से तंग होकर उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। इस पद में जहाँ उनकी शैली का अनुकरण है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की ओर भी संकेत किया गया है। वे गर्मियों में प्रायः कंधे पर अंगोछा डाले नंगे ही घूमा करते थे।

हिन्दी की हास्य सम्बन्धिनी कविताओं के नमूने ऊपर दिये गये हैं, अब उर्दू के कुछ नमूने देखिये। महाकवि अकबर उर्दू के बड़े प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उन्होंने हास्य रस की बड़ी सुन्दर और उच्चकोटि की कविताएँ लिखी हैं।

परचा रक्खा जो उसने मैं ये समझा,
पाकिट में ये बीस रुपे का नोट गया।
घर पर खोला तो बस यही लिखा था,
क्या शेर थे, वाह-वाह मैं लोट गया॥

यहाँ भी शेर की क़द्रदानी में वाह-वाह के सिवा और कुछ न मिला। "कोरी वाह-वाह कोई कौड़ी भी न दान करे, सूम खड़े कविता तरंगिणी के घाट पे।"

छोड़ लिटरेचर को अपनी हिस्टरी को भूल जा,
शेख़ मस्जिद से तआल्लुक़ तर्क कर इस्कूल जा।
चार दिन की ज़िन्दगी है कोफ़्त से क्या फ़ायदा,
खा डबल रोटी, किलर्की कर, ख़ुशी से फूल जा॥

धर्म विहीन लोगों में 'खाओ-पियो मौज उड़ाओ' की जो भावना आ जाती है, उसी का वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है।

मग़रबी ज़ौक है और वज़अ की पाबन्दी भी,
ऊँट पर चढ़के थियेटर को चले हैं हज़रत।

एक ओर प्राचीन धर्म-मर्यादा का ख़याल है, दूसरी ओर पश्चिमीय नाटक सिनेमाओं का शौक़। फिर क्या था, ऊँट पर चढ़ कर थियेटर

देखने चल दिये। धर्म भी बचा रहा और शौक भी पूरा होगया। कैसी मीठी चुकटी है।

महाकवि अकबर के नीचे लिखे शेरों का भी मुलहिजा कीजिये—

सिधारे शैख़ काबे को हम इंगलिस्तान देखेंगे।
वह देखें घर खुदा का हम खुदा की शान देखेंगे॥

+ + +

जब ग़म हुआ चढ़ा लीं दो बोतलें इकट्ठी,
मुल्ला की दौड़ मस्जिद अकबर की दौड़ भट्टी।

+ + +

थी शबे तारीक़ चोर आए जो कुछ था ले गए।
कर ही क्या सकता था बन्दा खाँस देने के सिवा।

× × ×

मवक्किल छुटे उनके पंजे से जब,
तो बस क़ौम-मरहूम के सर हुए।
पपीहा पुकारा किये पी कहाँ,
मगर वह पिलीडर से लीडर हुए॥

उपर्युक्त पंक्तियों में अकबर साहब ने मीठी चुटकी लेते हुए कैसी गहरी बात कही है।

अकबर साहब मूँछ मुँड़ाकर कर्ज़न फ़ैशन इख़्तियार करने वालों के सम्बन्ध में कहते हैं—

कर दिया कर्ज़नने ज़न मर्दों की सूरत देखिये।
आबरू चेहरे की सब फ़ैशन बनाकर पूँछ ली।
सच ये है इंसान को यूरुप ने हलका कर दिया।
इब्तदा डाढ़ी से की और इन्तहा में मूँछ ली॥

मर्दानगी का निशान मूँछों को मुड़ाकर ज़नाना चेहरा बना लेने पर कैसी मजेदार चुटकी ली है। अच्छा फ़ैशन अख़्तियार किया, जिसने चेहरे की सब आबरू ही पोंछ ली। अकबर साहब की और भी हास्यमयी उक्तियाँ सुनिये—

क्यों सिविल सर्जन का आना रोकता है हमनशीं।
इसमें है इक बात आँनर की शफ़ा हो या न हो ॥
\+ \+ \+
खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है तो अख़बार निकालो ॥

महाकवि अकबर की हास्यमय सूक्तियाँ बड़े ग़ज़ब की हैं। वे थोड़े से शब्दों में बहुत बड़ी बात कह जाते हैं। उनके हास्य में मुँहफट्टपन नहीं है। वे जो कुछ कहते हैं व्यञ्जना द्वारा कहते हैं। उनके कलाम को पढ़कर हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा होकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। वे व्यंग्यात्मक हास्य लिखने में बहुत कुछ ख्याति लाभ कर चुके हैं। उनकी कितनी ही सूक्तियाँ तो लोकोक्तियों का रूप धारण कर चुकी और करती जा रही हैं।

अब ज़रा कविवर मैथिलीशरण जी के शब्दों में गणेश जी और षड़ानन का मुकद्दमा भी सुन लीजिए—

जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति,
सगण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं।
देखो अम्ब ये हेरम्ब मानस के तीर पर,
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं ॥
गोद भरे मोदक धरे हैं सविनोद उन्हें,
सूँड़ से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं कन्दुक-सा ऊपर उछालते हैं,
ऊपर ही झेल कर खेल कर खाते हैं ॥

—साकेत

गणेश जी गोद में लड्डू भरे बैठे हैं। उनमें से एक लड्डू अपनी सूँड़ से उठा पहले षड़ानन की ओर दिखा कर कहते हैं—'लो'। और जब षड़ानन लेने को हाथ बढ़ाते हैं, तो तुरन्त उसे ऊपर उछाल कर ऊपर से ऊपर ही सूँड़ द्वारा लपक कर आप ही खा जाते हैं। बाल-विनोद का कितना स्वाभाविक और हास्यमय वर्णन है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के मंगलात्मक या आशिषात्मक श्लोक बहुत मिलते हैं। नीचे गुप्त जी के उक्त पद्य से मिलता-जुलता एक संस्कृत का श्लोक दिया जाता है। देखिये—

हे हेरम्ब ! किमम्ब ! रोदिषि कथं ? कर्णौ लुठत्यानि भूः ।
किं रे स्कन्द विचेष्टितम् ? ममपुरा संख्या कृता चक्षुषाम् ।
नैनत्ते ह्यु चितं गजास्यचरितं ! नासा प्रमीताच मे ।
तावेवं सहसा विलोक्य हसितं व्यग्रा शिवा पातुवः ॥

स्वामिकार्तिक और गणेश जी खेलते-खेलते आपस में झगड़ पड़े। गणेश जी रोने लगे। उनका रोना सुन पार्वती जी ने पूछा—अरे गणेश, रोता क्यों है ? उत्तर में गणेश जी ने बताया, कि अग्निभू (कार्तिकेय) मेरे कान खींचता है। यह सुन पार्वती ने स्कन्द को डाटते हुए कहा—'क्यों रे स्कन्द ! यह क्या कुचेष्टा करता है ?' इस पर स्कन्द कहने लगे—"इसने भी तो पहले मेरी आँखें गिनी थीं।" (स्कन्द के पाँच मुख और दश आँखें हैं)। गौरी ने जब जाना कि गणेश का भी दोष है, तो वह उनसे बोलीं—'गणेश, तेरी यह बात ठीक नहीं है।' इस पर गणेश तुरन्त बोल पड़े—नहीं माता जी, पहले तो इसने ही मेरी नाक (सूँड़) नापी थी।' बालकों के इस प्रकार पारस्परिक अभाव अभियोग को सुन पार्वती सहसा हँस पड़ीं। वही प्रसन्न बदना पार्वती आपकी रक्षा करें।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की भी हास्यात्मक रचनाओं में से चूरन के लटके नीचे दिये जाते हैं—

चूरन अमलवेत का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पच लोना, उसको खाता श्याम सलोना।
मेरा चूरन जो कोई खाय, उसको छोड़ कहीं नहीं जाय।
चूरन नाटक वाले खाते, इसकी नकल बनाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिसमें जमा हजम कर जाते।

× × ×

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की 'हर गंगा' भी हास्य का सुन्दर नमूना है। देखिये—

आठ मास बीते जिजमान, अब तो करो दच्छिना दान। हर गंगा
आजु कालिह जो रुपया देव, मानो कोटि जग्य करिलेव। हर गंगा

माँगत हमको लागै लाज, पर रुपया बिन चलै न काज। हर गंगा
हँसी-खुसी से रुपया देउ, दूध-पूत सब हमसे लेउ। हर गंगा
जो कहुँ दैहो बहुत खिझाय, यह कौनै भलमंसी आय। हर गंगा

—प्रताप नारायण मिश्र

पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा का भी तुलसीदास के ढंग पर हास्यात्मक वर्षा वर्णन देखिये—

घन घमंड गरजत नभ घोरा। टका हीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माहीं। जिमि लीडर की मति थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराये। लीडर जिमि चन्दा-धन पाये।
बूँद अघात सहैं गिरि कैसे। लीडर बचन प्रजा सहै जैसे।
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस कपटी नेता-मन भाई।

—पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा

कविवर तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में अनेक स्थानों पर हास्य रस का पुट दिया है। उनमें से शिव जी के विवाह का प्रसंग नीचे उद्धृत किया जाता है—

× × ×

कर त्रिशूल अरु डमरू विराजा, चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा।
देखि शिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं, वर लायक दुलहिनि जग नाहीं।

× × ×

वर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करैहहु पर पुर जाई।
विष्णु वचन सुनि सुर मुसकाने, निज निज सेन सहित विलगाने।

× × ×

कोऊ मुख हीन विपुल मुख काहू, बिनु पद कर कोऊ बहु पद बाहू।
विपुल नयन कोऊ नयन विहीना, हृष्ट-पुष्ट कोऊ अति तनु खीना।
जस दूलह तस बनी बराता. कौतुक विविध होंहि मग जाता।
शिव समाज जब देखन लागे, बिडरिं चले वाहन सब भागे।
धरि धीरज तहाँ रहे सयाने, बालक सब लै जीव पराने।

× × ×

शिवहिं शम्भु गण करहिं सिंगारा, जटा मुकुट अहि मौर सम्हारा।
कुण्डल कंकण पहिरे व्याला. तन विभूति पट केहरि छाला।
शशि ललाट सुन्दर शिर गंगा, नयन तीन उपवीत भुजंगा।
गरल कंठ उर नर शिर माला, अशिव वेश शिव धाम कृपाला।

करुण रस

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगः शाश्वती समाः"
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"

महर्षि वाल्मीकि अपनी कुटी से शिष्यों सहित नदी-स्नान के लिए जा रहे थे। मार्ग में काम मोहित सारस के जोड़े में से एक को वधिक के बाण द्वारा विद्ध देखकर, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उस समय उनके मुँह से सहसा उपर्युक्त पंक्तियाँ निकल पड़ीं, जिनका अर्थ यह है कि—"अरे निर्दय निषाद (वधिक) तुझे संसार में कभी शाश्वत् प्रतिष्ठा (मुक्ति) प्राप्त न होगी; क्योंकि तैंने काम मोहित सारस के जोड़े में से एक का वध कर डाला।" महर्षि का हृदय इस क्रूर काण्ड के कारण करुणा से ओत प्रोत हो गया, और उनका यही भाव आदि महाकाव्य वाल्मीकि रामायण का मूल कारण हुआ। यदि उस समय वाल्मीकि जी के हृदय में करुणा का स्रोत न उमड़ता तो आज भगवान् रामचन्द्र का आदर्श चरित्र इस रूप में संसार के सामने न होता। अभिप्राय यह कि काव्य की सृष्टि कराने वाला करुण रस ही है। संस्कृत के अनेक काव्य इस रस से भरे हुए हैं। कितने ही आचार्यों ने तो करुण रस को इतना महत्त्व दिया है, कि वे उसे ही सब रसों का उत्पादक समझते हैं। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। महात्मा वाल्मीकि को क्रौञ्च वध से शोक हुआ और उनके हृदय में एकदम करुणा का समुद्र उमड़ने लगा। शोक की मात्रा के अनुसार ही, करुण रस के लघु करुण, अति-करुण महाकरुण आदि भेद किये गए हैं। शोक आशा पर निर्भर है। कितने ही शोक ऐसे होते हैं, जिनमें आशा बहुत ही कम रह जाती है, और कितने ही शोकों में आशा बलवती बनी रहती है।

करुणा का बड़ा महत्त्व है। परोपकार, अनुकम्पा सहानुभूति आदि करुणा के ही कुटुम्बी हैं। जिस व्यक्ति में करुणा पर्याप्त मात्रा में होती है;

उसमें सहृदयता होना स्वाभाविक है। सहृदय का हृदय दूसरे के दुःख को देखकर द्रवीभूत हो जाता है। संसार के सब लोग किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस सम्बन्ध के कारण दुखी मनुष्य के दुःख को देखकर करुणा के भाव जाग्रत होते ही रहते हैं। मनुष्य ही क्यों, पशु पक्षियों को भी दुखी देखकर सहृदयों को बड़ा कष्ट होता है। अगर संसार में करुणा न होती तो सहानुभूति और परोपकार के चिन्ह भी दिखाई न देते। संसार का स्रष्टा परमात्मा परम कारुणिक है, इसलिए उसने अपना यह गुण मनुष्य को भी प्रदान किया है, जिससे वह लोक-कल्याण के लिए उसका प्रयोग कर सके। अनाथालय, क्षेत्र, आश्रम, गोशाला, पाठशाला, प्रपा, धर्मशाला आदि करुणा के ही कारण दिखाई देते हैं। करुणा से प्रेरित होकर जब किसी कष्ट-पीड़ित की सेवा-सहायता की जाती है, तो उससे सेवक और सेव्य दोनों को ही बड़ा आनन्द पहुँचता है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार करुणा के कारण दूसरों को सुख होता है, उसी प्रकार अपने आत्मा को भी सन्तोष मिलता है। दान-पुण्य आदि परोपकार सम्बन्धी कार्य करने के पश्चात् हृदय में अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है।

करुणावृत्ति सब मनुष्यों में समान नहीं होती। किसी में कम और किसी में ज्यादा। जिन लोगों में करुणा का अंश न्यून और स्वार्थ का अधिक होता है, उनका हृदय कठोर बनकर खुदग़र्ज़ी से भर जाता है। परन्तु जिस हृदय में स्वार्थ की प्रबलता नहीं होती; उसमें करुणा देवी परोपकार रूप में परिवर्तित हो जाती है। मस्तिष्क शास्त्रियों के मतानुसार करुणा का स्थान मस्तिष्क के ऊपरी भाग की मध्य रेखा पर है। बाल्यावस्था से ही इसको विकसित करने का प्रयत्न होना चाहिये। कहते हैं कि जीवन के द्वितीय वर्ष से करुणा का स्थान बढ़ने लगता है। उस समय इस बात पर ध्यान देते रहना चाहिए कि बालकों में स्वार्थ की मात्रा न बढ़ने पावे। परोपकार-गाथाओं के सुनने, दीन-दुखियों की दशा देखने आदि से करुणा वृत्ति का विकास होता है। करुणा का जनक शोक है, चाहे यह शोक वियोग, चिर वियोग या मृत्यु से उत्पन्न हुआ हो, चाहे अर्थ हानि या इष्ट हानि से।

करुण दृश्यों को देखकर प्रायः लोग रो पड़ते हैं। ऐसी दशा में पूछा जा सकता है कि जब करुण में दुःख और रोदन है तो उसमें आनन्द कैसे

माना गया। इसका उत्तर स्पष्ट है। अगर इन दृश्यों में वास्तविक दुःख होता तो, उन्हें एक बार अवलोकन कर दूसरी बार देखना कोई पसन्द न करता, परन्तु ऐसा नहीं है। सत्यव्रती हरिश्चन्द्रादि करुण नाटकों को लोग बार-बार देखते हैं। इसका कारण यही है कि देखने वाले लोग हरिश्चन्द्र के कष्टों से तो दुखी होते हैं परन्तु उसे कठिन परीक्षा में पड़कर उत्तीर्ण होता देख उनका हृदय आनन्द से भर जाता है। जिस आदर्श के लिए हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे, उसकी ऊँची भावना दर्शकों के हृदय को हर्षित कर देती है। यही बात रामायण तथा अन्य करुण काव्यों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। एक ओर राम को वन जाते देख लोग रोते हैं, दूसरी ओर उनका ऊँचा आदर्श हृदय में आनन्द का भाव पैदा कर देता है। जिस समय वीरवर लक्ष्मण शक्ति लगने से मूर्छित हो जाते हैं, उस समय सब दर्शक बिलखने लगते हैं, साथ ही यह भी समझते हैं कि जिस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए, लक्ष्मण जी के प्राण-पखेरू शरीर-पिञ्जर से प्रयाण करना चाहते हैं, वह महान् है, दिव्य है, अलौकिक है। इसी आश्रय से सामाजिकों के हृदय में आनन्द की अनुभूति होती रहती है। इसके विपरीत कर्तव्य-भ्रष्ट रावण को देखिए, उसके साथ किसी की भी सहानुभूति नहीं होती। राक्षस लोग कट-कट कर धराशायी होते हैं, परन्तु दर्शक खुशी से तालियाँ पीटते और हर्ष-ध्वनि करते हैं। अभिप्राय यह कि आदर्श की उच्चता और उद्देश्य की पवित्रता के कारण महान् पुरुषों को अग्नि-परीक्षा में पड़ते देख दर्शकों को दुःख तो होता है, परन्तु साथ ही उनकी सत्य-प्रियता और न्याय-निष्ठा अन्य शुभ परिणाम की आशा से अलौकिक आनन्द की अनुभूति भी होती रहती है। यही लोकोत्तरानन्द बार-बार इस प्रकार के दृश्य देखने के लिए प्रेरित करता रहता है।

नाटकों को जाने दीजिये, नित्य प्रति के जीवन में देख लीजिये—देश सेवक देश-सेवा के अपराध में जेल जाते हैं, सगे-सम्बन्धियों और मित्र-मिलापियों को, उनके वियोग का दुःख होता है, परन्तु उद्देश्य की पवित्रता का विचार उस दुःख को आनन्द में बदल देता है। यदि इस प्रकार जेल-यात्रा में आनन्द न होता, तो जेल जाना कौन पसन्द करता और सगे-सम्बन्धी सजल नेत्र और गद्गद् स्वर से क्यों सहर्ष विदाई देते। इस उदाहरण से

भी स्पष्ट है कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए कष्ट सहने में कितना ही दुःख क्यों न हो, परन्तु परिणाम में आनन्द ही आनन्द है। जिन हुतात्माओं ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए, प्राणों की बाज़ी लगा दी, उनके पवित्र चरित्रों को हम बार-बार पढ़ते, आँसू बहाते और साथ ही आनन्दानुभव भी करते हैं।

कुछ लोग अश्रुपात या गद्गद् कण्ठ हो जाने को करुण रस का ही सूचक समझते हैं। परन्तु ऐसा तो हर्ष में भी होता है। बहुत दिनों बाद दो बिछुड़े मित्रों के मिलने पर भी दोनों की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। कण्ठ रुँध जाता है और बात नहीं बन आती। आनन्द कन्द ब्रजचन्द्र की कृष्ण चन्द्र से जब उनका चिरवियुक्त सखा सुदामा मिलता है, तो वे बड़े विकल होते हैं। प्रेमवश ही उनकी ऐसी दशा हो जाती है। बहुत से लोग इस अवस्था को भी करुण रस में परिगणित करते हैं, जो ठीक नहीं प्रतीत होती।

शोकपूर्ण परिस्थिति पैदा होने पर, सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य के हृदय में परमात्मा के प्रति अटल श्रद्धा के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। उस समय वास्तविकता का ज्ञान होकर, कर्तव्य-बुद्धि का उदय होता है। और न जाने क्या क्या मंसूबे बाँधे जाते हैं। परन्तु पीछे वही ढाक के तीन पात। महा कवि रहीम ने क्या ही अच्छा कहा है—

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुःख काहे को होय॥

इसी प्रसंग में उर्दू के मशहूर शायर फ़ानी साहब की उक्ति भी सुन लीजिये—

ग़म के ठहोंके कुछ हों बला से,
आके जगा तो जाते हैं।
नींद के हम मदमाते हैं,
जो जागते ही सो जाते हैं॥

वास्तव में करुण रस मनुष्य की आँखें खोल देता है, उसे दुरभिमान-दुर्ग से निकाल कर, सद्भावना और सहृदयता के सुरम्य सरोवर पर ला खड़ा करता है। उस समय उसे यही भासने लगता है, कि संसार अनित्य है,

परमात्मा की सर्व शक्तिमत्ता ही सब प्रकार सहायक हो सकती है। छल-प्रपञ्च और पर-पीड़न द्वारा स्वार्थसिद्धि करना पाप कर्म है, इत्यादि। परन्तु ज्योंही शोक का प्रभाव चित्त पर से हटा और करुण-दृश्य बदला त्यों ही मनुष्य के हृदय में अहंकार का सर्प फुंकारने लगा। फिर क्या है, वही राग-द्वेष और वही छल-कपट वही प्रतारणा और वही दम्भ। सच तो यह है कि करुण रस मानव-हृदय में एक दिव्य और भव्य भावना का उदय कर देता है। इसीलिए उसकी इतनी महत्ता मानी गई है। सुखान्त नाटकों की अपेक्षा दुःखान्त नाटक इसी लिए अधिक पसन्द किये जाते हैं। विप्रलम्भ या वियोग शृंगार पर तो करुण रस का अत्यधिक प्रभाव रहता है। महाकवि सूरदास ने गोपियों की वियोग-दशा का जो करुणाजनक चित्र अंकित किया है, वह देखने ही योग्य है।

करुण

शोक की परिपुष्टता का नाम करुण रस है। इष्ट के नाश या अनिष्ट की प्राप्ति से शोक की उत्पत्ति होती है।

करुण का स्थायी भाव शोक, देवता यमराज या वरुण और वर्ण कपोत जैसा होता है।

आलम्बन—प्रिय बन्धु, समाज या देश की अपार हानि, सगे-सम्बन्धी का मरण आदि इसके आलम्बन हैं।

उद्दीपन—दाह कर्म, प्राणियों की दुखित दशा, मृत प्रिय जनों की वस्तुओं का दर्शन, उनके गुण श्रवण आदि करुण रस के उद्दीपन हैं।

अनुभाव—रोना, पृथिवी पर गिरना, भाग्य को कोसना, मुख का विवर्ण हो जाना, गात्र शिथिल होना, उच्छ्वास, निःश्वास, प्रलाप आदि करुण रस के अनुभाव हैं।

संचारी भाव—वैराग्य, ग्लानि, चिन्ता, निर्वेद, मोह, व्याधि, स्मृति, स्वेद, विषाद, जड़ता. कम्प, अश्रु, आलस्य, मरण आदि इसके संचारी भाव हैं।

करुण रस के कुछ उदाहरण देखिए—

पुरतें निकसीं रघुबीर वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पट सूखि गए मधुराधर वै।

फिरि बूझति हैं चलनो व कितो पिय पर्णकुटी करिहौं कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ।

श्री सीताजी वन-गमन के समय अयोध्या से कुछ क़दम चलकर ही पूछने लगीं—अभी कितना और चलना है ? यह सुनकर रामचन्द्र जी की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली कि सीता जी अभी से पूछती हैं कि अभी कितना चलना है ? और सुनिए—

यहाँ पर सुकुमारी जानकी जी का महारानी पद से च्युत हो पैदल वन को जाना प्रियजन की इष्ट हानि होने से करुणा का आलम्बन विभाव है। उनका भोलेपन से "अभी कितनी दूर और चलना है" यह पूछना उद्दीपन विभाव है। जानकी जी का मुख सूख जाना, शरीर का शिथिल होना, साँस फूलना आदि अनुभाव तथा रामचन्द्र जी की आँखों से आँसू बह चलना आदि संचारी भाव हैं। इन्हीं सब से शोक स्थायी पुष्ट होकर करुणा रस की सृष्टि करता है। इसी प्रकार आगे के उदाहरणों में भी विभाव अनुभावादि की ऊहा कर लें।

× × ×

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करें।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करें।
'आलम' ज्यौं निसि कुञ्जन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करें।
नैनन में जु सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौं करें।

यहाँ श्रीकृष्ण के स्मरण में गोपियों का आँसू बहाना वर्णित है ।

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण के शक्ति लगने पर विलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ, बन्धु सदा तुव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजेउ पितु माता, सहेउ बिपिन बन आतप बाता।
सो अनुराग कहाँ अब भाई, उठहु बिलोकि मोर विकलाई।
जो जन तो बन बन्धु बिछोहू, पिता बचन नहि मनतेउ ओहू।
सुत बित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
अस विचारि जिय जागहु ताता, मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।
यथा पंख बिन खग पति दीना, मणि बिनु फणि करिवर कर हीना।

अस मम जीवन बन्धु बिन तोही, जो जड़ दैव जियावै मोहीं।
जैहौं भवन कवन मुख लाई, नारि हेतु प्रियबन्धु गँवाई।

संसार में सब कुछ मिल जाता है, परन्तु सहोदर भाई नहीं मिलता। यह कहते हुए, राम के शोक का पारावार नहीं है। जिस प्रकार बिना पंख के पक्षी, बिना मणि के फणीश और बिना सूँड़ के हाथी व्याकुल हो जाता है उसी तरह लक्ष्मण के बिना राम भी विकल हो रहे हैं।

महाकवि हरिऔध जी ने भी निम्नलिखित पद्यों में यशोदा जी की विकलता का कैसा करुण चित्र खींचा है—

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लखि मुख जिसका मैं आज लौं जी सकीहूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है॥

जिसका मुँह देखकर ही मैं आज तक जीवित रह सकी हूँ, आज वह मेरे नयन का तारा कहाँ चला गया।

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निश दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त माला,
वह नव नलिनी से नैन वाला कहाँ है॥

कृष्ण की याद में यशोदा जी कैसा करुण विलाप कर रही हैं। सुनने वालों का भी हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।

शंकर जी ने विद्वद्वर गणपति शर्मा के देहावसान पर नीचे लिखा करुण रस पूर्ण कैसा अच्छा छन्द लिखा है—

आपदा की आग ने उबाले शोक-सागर में,
हायरे अनभ्र वज्र पात का प्रमाण है।
छेद रहा सैकड़ों वियोगियों की छातियों को,
एक ही वियोगजन्य वेदना का बाण है॥
काल विकराल ने कुचाल की कृपाण गही,
क्यों न प्रेम कातर कटेंगे कहाँ त्राण है।

'शंकर' मिलावेगा मिलेंगे परलोक ही में,
प्राण हारी प्यारे गणपति का प्रयाण है ॥

कवि ने अपनी शोक पूर्ण अनुभूति को कैसे करुण शब्दों में व्यक्त किया है। एक-एक शब्द से करुणा छलकी पड़ती है। कवि के हृदय में जो शोक की ज्वाला जल रही है, वही शब्दों के रूप में बाहर फूट पड़ी है। 'वियोग जन्य वेदना' के एक ही बाण से 'सैकड़ों वियोगियों' की छातियों का छिदना कैसी अनूठी और अछूती सूझ है।

कविवर शङ्कर जी ने लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के मुँह से कहलवाया है...

आदि में औध वियोग भयो, बन योग दियो, सुख भोग नसायो।
सोक भयो परलोक गयो पितु सीय कों लंकपती हरि लायो।
आज महा रण रंक मैं घायल अंग उछंग में बन्धु दिखायो।
'शंकर' कष्ट न नष्ट भयो विधि ने दुख भाजन मोहि बनायो ॥

\+ + +

जानि कै मोहि अनाथ हरो दुख ज्यौं शिशु कष्ट हरैं पितु मैया।
हाय सुखेन लगावहु पार बुड़ावो न सोक-समुद्र में नैया।
'शंकर' वेगि सहाय करो अब कोऊ न राम को धीर धरैया।
रोवत हौं अवलोकि तुम्हैं दृग खोलि कै काहे न बोलत भैया ॥

अरे भाई, तुम तो मुझे जरा भी उदास देखकर विकल हो उठते थे, पर अब मैं बिलख-बिलख कर रो रहा हूँ, और तुम आँखें भी नहीं खोलते। वैद्य राज सुषेण शोक-सागर में डूबती हुई, मेरी नाव को अब तुम ही पार लगाओगे। इस समय राम साक्षात् करुणा की मूर्ति बने हुए हैं।

दुर्भिक्ष के समय क्षुधार्तों की करुण दशा देखकर कवि का हृदय द्रवित हो जाता है। उसी भाव को वह निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त करते हैं—

रौंद रौंद मारे महामारी वार-फ़ीवर ने,
मण्डली दुकाल की दरिद्रता ने घेरी है।
ओढ़ें गाँठि गूदड़े न रोटी भर पेट मिलै,
चैन का ठिकाना कहाँ चिन्ता बहुतेरी है ॥

ढोर कटने से जो रहेंगे उन्हें पालने को,
भूसा-घास करबी पुआल की न ढेरी है।
'शंकर' बचेंगे परिवार न अकिञ्चनों के,
भुक्खड़ों के अन्त ने बजाई जय मेरी है।

हा भगवान्! अब ऐसी विषम परिस्थिति में बेचारे अकिञ्चनों के प्राण कैसे बचेंगे। जहाँ खाने को टुकड़े और ओढ़ने को चिथड़े तक नहीं, वहाँ जीवन की रक्षा भगवान् ही करें तो हो।

कवि रत्न सत्यनारायण के निम्नलिखित पद्य करुण रस के कैसे सुन्दर उदाहरण हैं—

पियरी परी ओप कपोलन की तन में दुबराई बढ़ी अति भारी।
लटकाएँ लटें बिखरी मुख पै उर सोचति मोचति लोचन बारी।
अति दीखति आकुल सोग सनी करुणा रस की जनु मूरति प्यारी।
तन धारी वियोग विथा-सी किधौं बन आइ रही मिथिलेस दुलारी॥

वन में जानकी जी—साक्षात् करुणा की प्रतिमा-सी प्रतीत होती हैं। रंग पीला पड़ गया और शरीर दुबला हो गया है। बेचारी रात-दिन आँखों से आँसू बहाती रहती हैं।

नव दारुन वा अपमान सो तू निहचै दृग नीरहिं ढारति होइगी।
सिसु हो न समै पै सिया बन में कहुँ बेहद पीर सों आरत होइगी।
घिरि हाय अचानक सिंहन सो किमि बेबस धीरज धारति होइगी।
करि कै सुधि मेरी हिये में चहूँ तब तात ही तात पुकारति होइगी।

रामचन्द्र जी वन में निर्वासित सीता जी की याद करके कह रहे हैं—ओह! गर्भिणी जानकी वन में अकेली कैसे रहेगी। प्रसव समय बेचारी की कौन सहायता करेगा। सिंहादि हिंसक जन्तुओं के बीच घिर जाने पर वह क्या करती होगी? इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों में सिवा रोने-बिसूरने के वह अकेली अबला और कर ही क्या सकती है।

राजा दशरथ के देहावसान पर महाकवि मैथिलीशरण जी के साकेत से करुण रस की निम्नलिखित पंक्तियाँ दी जाती हैं—

+ + +

बस यही दीप निर्वाण हुआ, सुत-विरह वायु का बाण हुआ।
धुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर, कुछ दिखलाई न दिया भूपर।
अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना-सा सब संसार हुआ।
अर्द्धाङ्ग रानियाँ शोक कृता, मूर्च्छिता हुई या अर्द्ध-मृता ?
हाथों से नेत्र बन्द करके, सहसा यह दृश्य देख डरके।
'हा स्वामी' कह ऊँचे स्वर से, दहके सुमन्त्र मानो दव से।
अनुचर अनाथ—से रोते थे, जो थे अधीर सब होते थे।
ये भूप सभी के हितकारी, सच्चे परिवार-भार धारी।

\+ \+ \+

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा,
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"

× × ×

हा, लाल, उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल अयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने।
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्री खण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़ कर कौन दंड है मेरा।

\+ \+ \+

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में—मद में।
हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा,
वैतरणी-सी है, आज जान्हवी वरुणा।

कवि जगन्नाथदास रत्नाकर जी ने अपने एक सवैया में करुण का वर्णन इस प्रकार किया है—

लीन्यो रोकि जमुना-प्रवाह बाँसुरी के नाद जाको जसबाद लोक लोकन बखानेंगे।
कहै 'रत्नाकर' प्रलै की घन धार रोकि लीन्यो ब्रजराखि सहसाखि सखि मानेंगे।
उमगत सिन्धु रोकि द्वारिका बसाई दिव्य जुगजुग जाकी कवि कीरति बखानेंगे।
हमतो हमारी दसा दारुन बिलोकि नेकु रोकि लै हौं करुना प्रवाह तब जानेंगे।

वास्तव में हमारी दारुण दशा ऐसी ही दयनीय है, कि उसे देख दया-निधि का करुणा-प्रवाह रुक ही नहीं सकता।

तुलसीदास जी ने अपने रामचरित-मानस में जयन्त की करुणा दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

आतुर सभय गहेसि पग जाई, त्राहि त्राहि दयालु रघुराई।
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई, मैं मति मन्द जानि नहिं पाई।
निज कृत कर्म जनित फल पायउँ, अब प्रभु पाहि शरण तकि आयउँ।
सुनि कृपाल अति आरत बानी, एक नयन करि तजा भवानी।
कीन्ह मोह बस द्रोह, यद्यपि तेहि कर वध उचित।
प्रभु छाँड़ेउ करि छोह, को कृपालु रघुवीर सम॥

कविवर प्रताप नारायण मिश्र के शब्दों में भव ताप-ग्रस्त प्राणी की करुण-पुकार भी सुन लीजिए—

शरणागत पाल कृपाल प्रभो हमको इक आस तुम्हारी है।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नहिं दीनन को हितकारी है।
सुधि लेत सदा सब जीवन की अति ही करुणा बिसतारी है।
प्रतिपाल करै बिन ही बदले अस कौन पिता महतारी है।
जब नाथ दया करि देखत हो छुटि जात बिथा संसारी है।
बिसराय तुम्हें सुख चाहत जो अस कौन नदान अनारी है॥

कविवर श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने राजकुमार रोहित का देहावसान हो जाने पर महारानी शैब्या का करुण विलाप कैसे कारुणिक शब्दों में अंकित किया है—

उदासी घोर निशि में छा रही थी,
हवा भी काँपती थर्रा रही थी।

विकल थी जान्हवी की बारि धारा,
पटक कर सिर गिराती थी कगारा।
घटा घनघोर नभ पर घिर रही थी,
बिलखती चञ्चला भी फिर रही थी।
न थीं वह बूँद आँसू गिर रहे थे,
कलेजे बादलों के चिर रहे थे।
खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी,
फटी दो टूक छाती हो रही थी।
कलेजा हाय मुँह को आ रहा था,
भरा था दर्द वह तड़पा रहा था।
छुटा घर-बार, प्राणाधार छूटे,
रहे तुम एक कुल-आधार छूटे।
तुम्हारा देख कर मुख जी रही थी,
नहीं तो कौन था सुख जी रही थी।
छुटा सब कुछ छुटे हा लाल तुम भी,
लुटा सब कुछ लुटे हा लाल तुम भी।
अरे वह है कहाँ पर सर्प बसता,
मुझे भी क्यों नहीं है नीच डसता।
लगाये लाल को छाती चलूँ मैं,
लिए यह साथ ही थाती चलूँ मैं।
जिसे मैं जान ही सा जानती थी,
जिसे मैं देखकर सुख मानती थी।
कहाँ है हाय अब वह प्राण मेरा,
निराशा में विपत में त्राण मेरा।
कहाँ हो चल दिये तुम हाय छौना,
खिलाऊँगी किसे मेरे खिलौना।

यहाँ कवि का हृदय शैव्या के दारुण दुःख से द्रवीभूत होकर स्वयं भी रो पड़ा है। उक्त पद्य की एक-एक पंक्ति से करुणा का स्रोत प्रवाहित हो रहा है। उसके शब्द-शब्द में कवि-हृदय की अन्तर्वेदना परिलक्षित हो रही है।

गोकुल का दयनीय दशा देखकर कविवर प्रतापनारायण मिश्र ने कैसे करुण शब्दों में उसका चित्र अंकित किया है देखिए—

जिनके लरिका खेती करिकै पालैं मनइन के परिवार,
ऐसी गाइन की रच्छ्या माँ जो कछु जतन करौ सो थ्वार।
घास के बदले दूध पियावें मरि कै देयँ हाड़ औ चाम,
धनि वह तन मन धन जो आवै ऐसी जगदम्बा के काम।
को अस हिन्दू ते पैदा है, जो अस हाल देखि इक साथ,
रकत के आँसुन रोइ न उठि है, माथे पटकि दुहत्था हाथ।
सब दुख सुख तो जैसे-तैसे गाइन की नहिं सुनै गुहार,
जब सुधि आवै मोहि गैयन की नैनन बहै रकत की धार॥

वास्तव में गायों की दुर्दशा देख रोना आता है। जो घास के बदले में दूध नहीं-नहीं, अमृत देती है, जिसके हाड़-चाम तक हमारे काम आते हैं, ऐसी गायों की रक्षा के लिए जो कुछ भी किया जाय वह थोड़ा है।

भारत की दुर्दशा देखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो सचमुच रो पड़े हैं, आपकी कैसी करुणोत्पादक उक्ति है, सुनिए—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।
सब ते पहिले जेहि ईश्वर धन-बल दीन्हो,
सबते पहिले जेहि सभ्य विधाता कीन्हो।
सबके पहले जो रूप-रंग रस भीनो,
सब ते पहले विद्या फल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
जहाँ भये शाक्य हरिचन्द रु नहुष ययाती,
जहाँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहाँ भीम कर्ण अर्जुन की छटा दिखाती,
तहाँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहाँ देखहु तहाँ दुःख ही दुःख दिखाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

लोकमान्य तिलक के देहावसान पर देश की तत्कालीन करुण दशा का चित्र शंकर जी ने इस प्रकार खींचा है—

शोक-महासागर में जीवन जहाज आज,
भारत का डूबेगा रही न बात बस की।
धारती है भार तीस कोटि मन्द भागियों का,
मोद हीन मेदिनी तू नैक हू न धस की॥
टूट गया 'शङ्कर' अखंड उपदेश दंड,
दिव्य देश भक्ति की पताका हाय खस की।
तिलक वियोग विष बरस रहा है पर,
बरसी न बदली स्वराज्य सुधा रस की॥

जहाँ स्वराज्य-सुधारस की वर्षा होनी चाहिए थी, वहाँ आज तिलक-वियोग-विष बरस रहा है। शोक! महाशोक!!

महाकवि हरिऔध ने विधवाओं की दयनीय दशा का कैसे करुण शब्दों में वर्णन किया है, देखिए—

कैसे भला चैागुनो न चित चैन चूर हो तो,
क्यों न चन्द वदन विपुल हो तो पियरो।
कैसे रोम-रोम में समायो दुख ऊन हो तो,
कैसे हो तो कछुक दहत गात सियरो॥
'हरिऔध' विधवा विलाप जो करत नाहिं,
कैसे भला बावरो बनत तो न जियरो।
कैसे पिक कूक ते करेजो ना मसकि जात,
हूक ते न कैसे टूक-टूक हो तो जियरो॥

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध एक प्रकार की संहारक शक्ति है। जिसमें क्रोध अधिक होता है, वह बात-बात पर, बिगड़ बैठता है। कभी कभी तो क्रोधी आपे से बाहर होकर हाथा-पाई और धींगा-मुश्ती तक को तैयार हो जाता है। उस समय उसमें विवेक नहीं रहता, उसके मुँह से गर्वोक्तियाँ निकलना एक साधारण सी बात हो जाती है। क्रोध में अनिष्टकारी

प्रतियोगी से बदला लेने की भावना बराबर बनी रहती है। यद्यपि क्रोध वृत्ति प्रशंसनीय नहीं है, तथापि उचित अवसर पर उचित मात्रा में क्रोध का आना आवश्यक है। सांसारिक लोगों से यदि क्रोध तत्त्व नष्ट हो जाय तो आत्म-सम्मान या आत्मगौरव-रक्षा के कार्य में कमी आ जाय। सीता-स्वयंवर के समय वीरवर लक्ष्मण और पराक्रमी परशुराम का रौद्र रूप प्रसिद्ध है। जिस समय राजा जनक ने "वीर विहीन मही मैं जानी" कह कर राजाओं का अपमान किया, उस समय स्वाभिमान-सम्पन्न लक्ष्मण के क्रोधावेश के कारण ओठ फड़कने लगे और उन्होंने "कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ" आदि कह कर अपना रोष प्रकट किया। उस समय जनक की उक्ति सुनकर लक्ष्मण का चुप रहना कैसे उपचित हो सकता था।

क्रोध उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। बहुधा उसी समय क्रोध आता है, जब अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं होती, अथवा आशा के विरुद्ध परिणाम दिखाई देता है। अपमान या निन्दा करने वाले के विरुद्ध भी क्रोधाग्नि भड़क उठती है। कुछ लोगों को अपने चिड़चिड़े स्वभाव के कारण क्रोध की आदत-सी पड़ जाती है। वे बात-बात पर बिगड़ बैठते और ऊट-पटांग बकने लग जाते हैं। मानों उनके हृदय में शान्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। आए दिन संसार में जो भयङ्कर रक्तपात और नर-संहार होते रहते हैं, उनका मूल कारण क्रोध अर्थात् विनाशक शक्ति ही है। हिंसक लोगों में हिंसा प्रेम—प्राणघातक वृत्ति का उग्र रूप—इसी कारण होता है। शाप देना, सौगन्द खाना, घोर व्रत धारण करना, हिंसा परक प्रतिज्ञा, उग्रता, द्वेष, धिक्कार, वैर, पर-पीड़न आदि क्रोध वृत्ति के ही कार्य हैं। यह शक्ति वाणी और क्रिया दोनों के द्वारा प्रकाशित होती है। शाप या गाली देना इसका वाचनिक व्यापार है, हाथों या हथियारों से प्रहार करना कायिक। क्रोधी व्यक्ति ऐसे व्यंग्य वाण छोड़ता है, कि सुनने वाले का हृदय विदीर्ण हो जाता है। क्रोध की मात्रा कम होती है, तो उसके कार्य भी उग्र नहीं होते। मार्ग में आए हुए विघ्नों को न सह सकने, विपत्ति, रोग या हानि के कारण विवेक नष्ट हो जाने, अभीष्ट सिद्धि न होने, विरोधी आन्दोलन या अपवाद आदि कारणों से क्रोध की उत्पत्ति होती है। असत्य, अन्याय, दुष्टा-चार आदि न सह सकना, अबला, अनाथ या दीनों पर अनाचार होते

देखना, दुःख दायक रूढ़ियों के कारण समाज का अहित होना आदि भी क्रोध के उत्पादक हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया, उचित अवसर पर उचित मात्रा में क्रोध आवश्यक है। इसके प्रभाव से संसार के कार्य नहीं सध सकते, परन्तु किसी कार्य की अति सर्वत्र वर्जित की गई है। क्रोध की अधिक उग्रता होने पर, उसके निग्रह की आवश्यकता होती है।

रौद्र

जहाँ प्रबल एवं उद्दीप्त क्रोध की परिपुष्टि होती है, वहाँ रौद्र रस होता है। इसके आश्रय स्थान राक्षस, दानव तथा मनुष्य होते हैं।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध, देवता रुद्र और वर्ण अरुण वा रक्त है।

आलम्बन—शत्रु अथवा कपटी दुराचारी आदि व्यक्ति इसके आलम्बन हैं।

उद्दीपन—क्रोध, तिरस्कार और खोटे या कठोर वचन कहना, मारना आदि शत्रु की चेष्टाएँ इस रस के उद्दीपन हैं।

अनुभाव—भ्रूभंग, ओंठ चबाना, ताल ठोंकना, डाटना, ललकारना, डींग मारना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, स्वेद, रोमाञ्च, मद, वेपथु आदि इसके अनुभाव हैं।

संचारी—गर्व, चपलता, मोह, आमर्ष, उग्रता, क्रूरता, आवेग आदि इसके सञ्चारी हैं।

रौद्र रस में वाणी और शरीर की चेष्टाएँ रौद्र हो जाती हैं, अर्थात् आँखें लाल हो जाती हैं, चेहरा क्रोध के कारण तमतमा उठता है और ओंठ फड़कने लगते हैं। वीर रस में ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति क्रोध से नहीं, प्रत्युत उत्साह के कारण होती है।

कविवर पद्माकर ने नीचे लिखे पद्य में हनुमान जी के रौद्र रूप का कितना अच्छा वर्णन किया है—

> वारि टारि डारों कुंभ कर्णहि विदारि डारों,
>   मारों मेघनादै आजु यों बल अनन्त हों।

कहै 'पदमाकर' त्रिकूट ही कों ढाय डारों,
डरत करेई यातुधानन को अन्त हों ॥
अच्छहि निरच्छ कपि ऋच्छहि उचारों इमि,
तोअ तिच्छ तुच्छन कछूवै ना गनत हों।
जारि डारों लंकहिं उजारि डारों उपवन,
मारि डारों रावण कों तो मैं हनुमन्त हों ॥

क्रोधावेश में हनुमान जी अक्ष, मेघनाद कुम्भकर्ण और रावण को ही मार डालने की भीषण प्रतिज्ञा नहीं कर रहे, प्रत्युत राक्षसों का समूल विनाश कर लंका को जला खाक बना देने का भी प्रण कर रहे हैं।

यहाँ पर, रावण, कुम्भकर्णादि शत्रु वर्ग आलम्बन, हनुमान जी को बाँध लेना, कटु वाक्य कहना आदि उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन, ललकारना, अपने बल-विक्रम का बखान करना अनुभाव तथा गर्व, आमर्ष, क्रूरता आदि संचारी भाव हैं। इन सबके द्वारा क्रोध स्थायी की पुष्टि होने पर रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार आगे के उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिए।

निम्नलिखित कवित्त में कविवर रत्नाकर ने कुरुक्षेत्र के मैदान में भीष्म-प्रतिज्ञा करते हुए भीष्म पितामह की गर्वोक्तियों का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

भीषम भयानक पुकार्‌यो रन भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिन की गीति उठि जायगी।
कहै 'रत्नाकर' रुधिर सों रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जायगी।
जीति उठि जायगी अजीत पाण्डु पूतन की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी।
कै तो प्रीति रीति की सुनीति उठि जायगी कै,
आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी ॥

आज या तो युद्ध में शस्त्र-ग्रहण न करने की कृष्ण की प्रतिज्ञा ही भंग हो जायगी, या फिर अजेय पांडु-पुत्रों की विजय-सम्भावना ही जाती रहेगी।

देखना तो सही, यदि रण-भूमि में रुधिर की कीच न कर दूँ। और लोथों पर लोथें न बिछा दूँ तो मेरा नाम भीष्म नहीं। रत्नाकर जी के उपर्युक्त पद्य में रौद्र रस मूर्तिमान होकर प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

नीचे रत्नाकर जी का ही उसी प्रसंग में से एक पद्य और दिया जाता है, देखिए सान्तनु के सुभट सपूत आदित्य ब्रह्मचारी भीष्म जी क्या कहते हैं—

पारथ विचारो पुरुषारथ करैगो कहा,
स्वारथ समेत परमारथ नसैहों मैं।
कहै 'रत्नाकर' प्रचार्‌यौ रन भीषम यों,
आज दुरजोधन को दुख दरि दैहों मैं।
पंचन के देखत प्रपञ्च करि दूरि सबै,
पञ्चन को तत्व पञ्च तत्व में मिलैहौं मैं।
हरि प्रनहारी जस धारि कै धरा ह्वै सान्त,
सान्तनु को सुभट सपूत कहवै मैं॥

बेचारा पारथ मेरे आगे भला क्या 'पुरुषारथ' दिखावेगा। आज यदि मैंने पाँचों पांडवों को पञ्च तत्व में मिलाकर दुर्योधन का दुख-दल न दिया, तो मुझे शान्तनु महाराज का पुत्र मत कहना। मैंने भी आज यदि 'हरि-प्रण-हारी की उपाधि प्राप्त न की तो मेरा नाम भीष्म ही नहीं। रत्नाकर जी के इस कवित्त में भाव की तो बात ही क्या, शब्दों से भी रौद्र रस टपका पड़ता है।

भीष्म जी के पश्चात् अब पवनावतार भीम का रौद्र रूप देखिए। चीर-हरण कालीन द्रौपदी के अपमान का स्मरण कर इस समय वह साक्षात रुद्र मूर्ति बन गए हैं—

क्रोध कै कौरव नायक के सत बंधुन कौं रन में न सँहारि हौं!
सोनित पान के कारज लागि, कहा न दुसासन कौ हियौ फारि हौं!
त्यौं अपनो प्रन पालन कों न कहा दुरयोधन जंघ विदारि हौं।
सन्धि करै कछु गाँवनि लै तुव भाइ भले पै न ताहि विचारि हौं॥

यदि धर्मराज जी पाँच गाँव लेकर कौरवों से सन्धि करें तो भले ही कर लें। मैं उसकी लेश भी परवा नहीं करता। मैं तो जब तक अपनी

प्रतिज्ञानुसार स्वयं रुधिर-पान करने के लिए दुष्ट दुःशासन का हृदय नहीं बिदार लूँगा और कृष्णा के केश खींचने के बदले दुराचारी दुर्योधन की जाँघ न फाड़ लूँगा, तब तक चैन से नहीं बैठ सकता। कृष्ण एक सन्धि नहीं हज़ार सन्धि कर लें, परन्तु भीमसेन तो पापी कौरवों को संहार करेगा और अवश्य करेगा।

नीचे लिखे पद्य में कविराज शंकर ने शृङ्गार का रौद्र रस में वर्णन किया है—

ताकत ही तेज न रहेगो तेज धारिन में,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायँगे।
मीन बिन मोर मर जायँगे तड़ागन में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
खायगो कराल काल-केहरी कुरंगन कों,
सारे खञ्जरीटन के पंख झड़ जायँगे।
तेरी अँखियान सों लड़ेंगे अब और कौन,
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायँगे॥

नायिका की आँखें विश्व विजय कर चुकी हैं, अब कोई भी उनके आगे मैदान में ठहर नहीं सकता। उनके ज़रा ताकते ही बड़े-बड़े तेजस्वियों का तेज नष्ट हो जाता है। चन्द्र, भौम और शनि तीनों ग्रह भी उनके तेज के आगे मन्द पड़ जाते हैं। अभिप्राय यह है कि आँखों की सफ़ेदी, लाली और श्यामता* के आगे श्वेतवर्ण चन्द्र, लालवर्ण मंगल और कृष्णवर्ण शनि तीनों ही निष्प्रभ हो जाते हैं। कमल भी उनके मुकाबले में नहीं ठहरते और वे तालाब में डूब-डूब कर सड़ जाते हैं। इसी प्रकार मृग खञ्जन आदि कोई भी इन अलबेली आँखों का मुकाबला नहीं कर सकता। केवल मेरे अड़ीले दृग ही उनका मुकाबला कर सकते हैं।

पद्माकर जी ने भी निम्नलिखित पद्य में अपने पातकों के प्रति कैसा रुद्र रूप धारण किया है, देखिए—

जैसो तैं न मोसों कहूँ नैक हू डरातु हुतो,
ऐसो अब हौं हू तो सों नैक हू न डरि हौं।

---

* आँखों को अनेक जगह 'श्वेत-श्याम रतनार' कहा गया है।

कहै 'पदमाकर' प्रचण्ड जो परैगो तो,
उमण्डि कर तो सों भुज दण्ड ठोकि लरि हौं।
चलौ चलु चलौ चलु विचलु न बीच ही ते,
कीच बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरि हौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहिं,
गंगा के कछार में पछारि छार करि हौं॥

पद्माकर जी अपने दगादार अपार पातकों को गंगा के कछार में पछारे बिना नहीं रह सकते। वे कहते हैं कि अगर रास्ते में पिशाच पातक ने जरा भी 'तीन-पाँच' की तो वह बुरी तरह दबोच दिया जायगा। उसका कोई नाम लेवा भी शेष न रहेगा।

और देखिए राजा जनक की 'वीर विहीन मही मैं जानी की अनुचित वाणी सुनकर लक्ष्मण कैसे रोष में भर गए हैं—

अति अनखौहे ह्वै रिसौंहे सौंहैं भौंहैं तान,
लखन बखान कह्यौ आयसु जो पाऊँ मैं।
जन तो मुरारि तो मरोरि मोरि बारिधि में,
डारौं महि तोरि दन्त दिग्गज दिखाऊँ मैं॥
रावरे प्रताप-बल साँची कहूँ राघव जू,
मेरु कों उखारि छिति छोर लगि धाऊँ मैं।
अटकि रहे हौ कहा मुख ते निकारिये जू,
झटकि सरासन को चटकि चढ़ाऊँ मैं।

महाराज आप ज़रा मुँह से 'हाँ' कह दीजिए, फिर देखिए मैं इस पशुपति के सड़े-गले पुराने पिनाक को क्षण-भर में चढ़ा कर खण्ड-खण्ड करता हूँ या नहीं।

जानकी जी के हरे जाने पर भगवान् रामचन्द्र ने कैसा रुद्र रूप धारण किया है। रसिक बिहारी जी के शब्दों में उसका दर्शन कर लीजिए—

लोक तिहूँ जारौं सातों सागर सुखाय डारौं,
गिरिन ढहाय डारौं भूमि उलटाऊँ मैं।
रंच में विदारि डारौं दसों दिग पालन कों,
खगन समेत ससि सूरहिं गिराऊँ मैं।

नभतें पताल लैकै कितहूँ कहूँ जो नैक,
'रसिक बिहारी' प्राण प्यारी सुधि पाऊँ मैं।
जानकी न लाऊँ तौं पै क्षत्री न कहाऊँ,
राम नाम पलटाऊँ धनुषबान न उठाऊँ मैं ॥

जानकी को प्राप्त करने के लिए अगर आवश्यकता पड़ी तो मैं सातों समुद्रों को सुखा कर पहाड़ों को ढहा दूँगा, और सूर्य-चन्द्रमा समेत समस्त नक्षत्र मण्डल को भूमि पर पटक दूँगा। मुझे तनक पता लग जाना चाहिए, फिर मैं जैसे भी बनेगा, उन्हें ले आऊँगा। यदि ऐसा न करूँ तो मेरा नाम राम नहीं।

अब ज़रा कवि लछिराम जी का भी रौद्र रस सम्बन्धी पद्य देखिए—

लाल करि लोचन चढ़ाए बंक भौंहैं बैन—
बोलत लखन लाल देव दसरथ को।
ललकारि डारि हौं मरदि महि रावण को,
मेघनाद मुण्ड भेजों आसमान पथ को ॥
सारथी समेत सेना सागर में बोरों छिन,
पूरो करि 'लछिराम' देवन अरथ को।
चूर करि खोपरी दशन दश मुख पूरि,
धूरि में मिलाय दैहों रावण के रथ को ॥

शत्रु रावण के प्रति लक्षमण के हृदय में जो क्रोधानल धधक रहा है, उपर्युक्त पद्य में उसी वीर रस का वर्णन किया गया है। कैसी भीषण प्रतिज्ञा है। रावण के मुँह मर्दन कर उसे धूल में मिला देने का काम कुछ साधारण नहीं। परन्तु महावीर लक्ष्मण के लिए सब सम्भव है।

और भी देखिए—

फोरि डारों फलक जमीन जोरि डारों बल,
बारिधि में बैरिन के वृन्द बोरि डारों मैं।
रोरि डारों रन घन घोर डारों बज्री बज्र,
छोरि डारों बारिधि मर्याद टोरि डारों मैं ॥
अवध बिहारी रामचन्द्र को हुकुम पाऊँ,
चन्द्र कों निचोरि मेरु कों मरोरि डारों मैं।

मोरि डारों मान मानी मूढ़ महिपालन को,
नाक तोरि डारौं औ पिनाक तोरि डारों मैं ।।

उपर्युक्त पद्य में कवि ने लक्ष्मणजी के क्रोध का कैसा उत्कृष्ट और जोरदार वर्णन किया है। अगर उन्हें रामचन्द्र जी ने हुक्म दिया तो वे सारे अभिमानी राजाओं का मान मर्दन कर देंगे और उनके पिनाक तथा नाक दोनों को तोड़ डालेंगे।

लोग स्त्रियों को अबला बताते हैं, परन्तु वह भी ज़रूरत पड़ने पर कभी-कभी सबला बन जाती हैं। ऐसी ही किसी प्रबला नायिका ने 'बजमारे' बसन्त का अन्त कर देने के लिए कैसा रौद्र रूप धारण किया है, यह नीचे लिखे पद्य में पढ़िए—

मञ्जुल रसाल-मञ्जरीन कों विथोरि दै हों,
रसना बिहीन कै हों कोकिलन कारे को।
कुसुम समूह की कुसुमता निवारि दै हों,
मार दै हौं गुञ्जत मिलिन्द मतवारे को ।।
ए हो 'हरिऔध' जो सतैहैं दुख दैहैं मोहि,
बिरस बनै हों तो सरोज रसवारे को।
अन्तकलों सारे सुख तन्त को निपात कैहों,
अन्त करि दै हों या बसन्त बजमारे को ।।

अब वह नायिका रसाल की मञ्जुल मञ्जरियों और मतवारे मिलिन्दों को नष्ट किए बिना नहीं मानेगी। इतना ही नहीं, अब तो वह कोकिल और सरोजों को भी मिट्टी में मिलाकर ही दम लेगी। वसन्त बजमारे का अन्त ही न कर दिया तो बात ही क्या ?

कविवर तुलसीदास के रामचरित-मानस में प्रायः सभी रसों का वर्णन आया है, उनमें से रौद्र रस का एक स्थल नीचे उद्धृत किया जाता है—

रघुबंसिन में जहँ कोई होई, तेहि समाज अस कहै न कोई।
कही जनक जस अनुचित बानी, विद्यमान रघुकुल मणि जानी।
सुनहु भानु-कुल-पंकज-भानू, कहौं सुभाव न कछु अभिमानू।
जो राउर अनुसासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।

काँचे घट जिमि डारों फोरी, सकौं मेरु मूलक इव तोरी।
तव प्रताप महिमा भगवाना, का बापुरो पिनाक पुराना।
नाथ जानि अस आयसु होऊ, कौतुक करों बिलोकिय सोऊ।
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावों, जोजन सत प्रमान लै धावों।
तोरों छत्रक-दण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ,
जौ न करौं प्रभु पद सपथ पुनि न धरौं धनु भाथ।

+ + +

बोले चितय धनुष की ओरा, रे शठ सुनेसि सुभाव न मोरा।
बालक बोलि बधों नहिं तोही, केवल मुनि जड़ जानेसि मोहीं॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही, विश्व विदित क्षत्रीकुल द्रोही।
भुज बल भूमि भूप बिन कीन्ही, बिपुल वार महि देवन दीन्हीं।
सहस बाहु भुज छेदन हारा, परसु बिलोकि महीप कुमारा।
मात-पितहिं जनि सोच बस करसि महीप किसोर।
गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥

कविवर मैथिली शरण जी रौद्र रस का वर्णन कैसे ज़ोरदार शब्दों में करते हैं, देखिए—

गई लग आग सी सौमित्रि भड़के, अधर फड़के प्रलय घन तुल्य तड़के।
अरे मातृत्व तू अब भी जताती, ठसक किसको भरत की है बताती।
भरत को मार डालूँ और तुझको, नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।
युधाजित आततायी को न छोड़ूँ, बहिन के साथ भाई को न छोड़ूँ।
बुलाले सब सहायक शीघ्र अपने, कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने।
सभी सौमित्रि का बल आज देखें, कुचक्री चक्र का फल आज देखें।

उपर्युक्त पंक्तियों में लक्ष्मण जी के क्रोध का वर्णन है, वे कैकेयी को बड़े ज़ोर से डाट रहे हैं कि तैने यह क्या अनर्थ कर डाला। देखना है भरत को, कैसे राज्य लेते हैं। है किसी की शक्ति जो मेरे मुकाबिले में आए। कैकेयी तू मा बनती है। भला मा का यह काम है, जो तैने किया। तू मुझे समझती क्या है, मैं चाहूँ तो पृथिवी को पलट दूँ और आसमान में आग लगा दूँ।

महाकवि मैथिलीशरण जी की नीचे लिखी पंक्तियाँ भी कितनी ज़ोरदार हैं—

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूल कर कर-तल युगल मलने लगे।
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे होगये उठ कर खड़े॥
उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा।
मानो हवा के ज़ोर से सोता हुआ सागर जगा।
मुख बाल रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ॥
युग नेत्र उनके जो अभी थे, पूर्ण जल की धार से।
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार से।

अर्जुन के क्रोध का कैसा सबल वर्णन उक्त पंक्तियों में किया गया है।

महाकवि केशव की रामचन्द्रिका में परशुराम जी के रौद्र रूप का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है, देखिए—

बोरौं सबै रघुबंस कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की बाय उड़ाय कै लच्छन लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूजों भरत्थहिं।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दशरत्थहिं।

केशव जी के शब्दों से ही रौद्ररस टपका पड़ता है, फिर भावों की तो बात ही क्या। अगर रामचन्द्र ने मेरे विरुद्ध धनुष बाण से हाथ भी लगाया तो खैर नहीं, राम तो राम मैं उसके बाप दशरथ को भी अनाथ कर दूँगा। देखें फिर रघुकुल में कौन शेष रहता है।

नीचे लिखे सवैया में भी परशुराम जी के ही क्रोध का वर्णन है—

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राज सभै धनु कै दलिहौं दलिहौं बलु ताको।
छोटे मुँह उत्तर देत बड़ो लरिहैं मरिहैं करिहैं कछु साको।
गोरौ गरूर गुमान भरौ कहु कौशिक छोटो सो ढोटो है काको।

परशुराम जी के कथन में कितना गर्व भरा हुआ है—अरे कौशिक, जिसका कराल कुठार गर्भ तक के बालकों को काटने में कुशल है, वही मैं

तुमसे पूछता हूँ, कि यह छोटा-सा 'ढोटा' किसका है, जो मेरे आगे भी ऐसी गर्व-गुमान भरी बातें कर रहा है।

वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। पराक्रम, शरीर-बल, आत्मरक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, दृढ़ता पूर्वक कार्य करने की शक्ति, निर्भयता, युद्ध आदि करने की तत्परता आदि कार्यों से वीर रस का ग्रहण किया जाता है। इस वृत्ति के अति योग अथवा मिथ्या योग से झगड़े-टंटे, दंगे-फ़िसाद तथा युद्ध आदि हो जाते हैं। इस वृत्ति के तीन विभाग किये गये हैं, साहस, युयुत्सा और संरक्षण। जीवन भी एक प्रकार का युद्ध है। इसमें बराबर संघर्ष (Struggle) होता रहता है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। इन तीनों संघर्षों में, किसी न किसी रूप से, सब ही प्राणधारियों को अपनी शक्ति-अनुसार भाग लेना पड़ता है। अवसर-विरुद्ध शान्ति या कायरता पूर्ण सहन-शीलता कदापि प्रशंसनीय नहीं कही जाती। डाक्टर थोमस ब्राउन कहते हैं—

"हमारे भीतर एक ऐसी गुप्त शक्ति विद्यमान है, जो सदैव हमारा संरक्षण करती रहती है। जब तक आवश्यकता न हो, तब तक यह शक्ति सुषुप्त अवस्था में रहती है, परन्तु जिस समय इसको ख़ास ज़रूरत पड़ती है, उस समय वह पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाती है........." इसी सम्बन्ध में डाक्टर जार्ज कोम्ब कहते हैं—

शौर्य शक्ति का उपयोग प्रतियोगिनी शक्ति का प्रतिकार करने के लिए होता है, यह शक्ति अपनी मन्द अवस्था में सामान्य विरोध दर्शाती है, परन्तु जब वह पूर्ण रूप से जाग्रत होती है तो आक्रमण आदि का प्रारम्भ हो जाता है। साहस के कारण यह वृत्ति और भी प्रदीप्त और उत्तेजित हो जाती है। जिनमें शौर्य, शक्ति, विशेष मात्रा में होती है, उनमें उसका उपयोग करने की क्षमता भी अति अधिक पाई जाती है। वे युद्ध या विग्रह के अतिरिक्त बीच की बात पसन्द ही नहीं करते। उत्साह या साहस का उचित उपयोग प्रत्येक दशा में सुसंगत और लाभदायक होता है। आपत्ति, दरिद्रता, रोग आदि में आत्मिक शौर्य ही सहायता देता है।

जिस व्यक्ति में शौर्य का वेग होता है, उसकी वाणी में कर्कशता, स्वभाव में कठोरता और व्यवहार में उग्रता आ जाती है। किसी ने इस शक्ति को आत्मरक्षा (Self defence), किसी ने प्रतिकार शक्ति (Resistance) और किसी ने युयुत्सा (Combativeness) नाम से पुकारा है। राबर्टकोकस नामक मस्तिष्क शास्त्री ने इस शक्ति को प्रतिस्पर्द्धा शक्ति (Appositiveness) की संज्ञा दी है, मिस्टर ओ० एस० फ़ाउलर उपर्युक्त सब नामों को अस्वीकार करते हुए इसे बल (Force) कहते हैं। हमारे साहित्य में तो इस शक्ति का 'शौर्य' या 'बल' के नाम से ही उल्लेख किया गया है, क्योंकि इसके समस्त कार्यों में किसी न किसी रूप में वीरता की प्रधानता होती है।

जिन व्यक्तियों में वीरता की प्रधानता होती है, वे सर्वत्र अपनी बहादुरी का प्रदर्शन किया करते हैं। ऐसे लोग तोप के गोलों के सामने और आकाश से बरसती हुई आग के नीचे भी बड़ी धीरता से डटे रहते हैं। उनको अपनी उद्देश्य पूर्ति के मार्ग में मृत्यु का भी भय नहीं होता। वे बड़ी-बड़ी विपत्तियों को भी बड़े साहस के साथ सह लेते हैं। उनमें सदैव अग्रगन्ता बनने की विचार-धारा काम करती रहती है, महाराणा प्रताप और शेर शिवराज ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। इस वृत्ति के लोगों को कष्टमय जीवन और साहसिकता के विपज्जनक कार्य ही अधिक रुचते हैं। उनके हृदय में सदैव विजयी होने की सदभिलाषा विद्यमान रहती है। साहसी और वीर व्यक्ति अकेला ही सैकड़ों के आगे अड़ जाता है। अविवेक पूर्ण कार्य करने के कारण कभी कभी शौर्य-सम्पन्न व्यक्ति धिक्कार का भी पात्र बनता है। अपनी शक्तियों का उचित उपयोग न करने के कारण वह ऐसे घृणित कार्यों में फँस जाता है, जिन्हें समाज आदर की दृष्टि से नहीं देखता।

जिस व्यक्ति का शौर्य स्वदेशानुराग की तीव्र वृत्ति से प्रेरित और प्रभावित होता है, वह उसी में सर्वात्मना संलग्न हो जाता है। धर्म या दान में उत्साह होने से इसी ओर ढुल पड़ता है, शारीरिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण पराक्रम सम्बन्धी कार्यों में जुट जाना तो उसके लिए एक साधारण सी बात है। कैसे ही कठिन से कठिन कार्य क्यों न हों, परन्तु वीर व्यक्ति के लिए सब सरल बन जाते हैं। आत्म-बल की अधिकता होने पर ऐसे व्यक्ति सत्य का पथ ग्रहण कर, उसे अन्त तक निबाहते और असत्य का प्रतिकार करते हैं।

वीर लोगों को सब से पूर्व अपने शरीर और मन की स्वस्थता का ध्यान रखना पड़ता है, जिससे उनकी शक्ति का सदुपयोग हो, दुरुपयोग न होने पावे। वीर व्यक्ति का उद्धत या उद्दण्ड हो जाना उसकी विवेक शक्ति की न्यूनता का सूचक है। ऐसी दशा में वह नाना प्रकार के अनर्थ कर डालता है।

शौर्य का पूर्ण विकास होने पर मनुष्य की वाणी में बड़ा बल आ जाता है। उसके कथन में आकर्षण प्रतीत होने लगता है। गगन-वेधिनी गर्जना से श्रोताओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेना उसके लिए बहुत आसान होता है। वाणी में ही नहीं, लेखनी में भी शौर्य का प्रभाव दिखाई देता है। ओज पूर्ण भाषा लिखना निर्बलों या कायरों का काम नहीं है। साहस, दृढ़ता, अत्याचार आदि के प्रतीकार से शौर्य की वृद्धि होती है। भय तो वीर व्यक्ति के पास फटकता ही नहीं। शौर्य शक्ति के विकास के लिए, सार्वजनिक सभाओं तथा वाद विवादों में भाग लेना भी आवश्यक है। हीनत्व भावना (Inferiority complex) आदमी को किसी काम का नहीं छोड़ती। "यह काम मैं न कर सकूँगा।" "वह बड़ा है।" "मैं छोटा और तुच्छ हूँ" इत्यादि विचार शौर्य की उन्नति में बाधक हैं। आशावादी बनना प्रत्येक अवस्था में सुखकर और वीरत्व को बढ़ाने वाला है। जो बात सत्य और न्याय युक्त हो, उसी का पक्ष लेना और दिल खोलकर उसका समर्थन करना चाहिए। सत्य का प्रतिपादन करने से आत्मा को बल मिलता और शौर्य की वृद्धि होती है।

बालकों में उत्साह शीलता के विकास की बड़ी आवश्यकता है। बिना मनोबल के शरीर बल कुछ भी अर्थ नहीं रखता। अतएव बाल्यकाल से ही उपर्युक्त दोनों शक्तियों के विकास पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए प्रोत्साहन महौषध है। बिना उत्साह के कोई कुछ भी नहीं कर सकता। जिन लोगों में शारीरिक बल की तो प्रधानता होती है, परन्तु मनोबल अति न्यून परिमाण में रहता है, वे बली होकर भी कायर बने रहते हैं। इसीलिए उत्साह को वीर का स्थायी भाव माना गया है।

वीर कितनी ही तरह के होते हैं—धर्मवीर, दानवीर, युद्धवीर, रणवीर, वाग्वीर, कर्मवीर इत्यादि। किसी कार्य को तन्मयता पूर्वक सम्पन्न करने वाले सभी वीर कहे जा सकते हैं। अगर कोई लेखक परिश्रम पूर्वक किसी ग्रन्थ को

समाप्त करता है तो वह भी वीर है, अगर कोई व्यक्ति देश-भक्ति से प्रेरित होकर कष्ट सहता है तो वह भी (स्वदेश) वीर है। अगर कोई किसी को पानी में डूबने या रेल में कटने से बचाता है, तो वह भी वीर है। इसी प्रकार और भी कितनी ही तरह के वीर हो सकते हैं। जो वीर अपना अनिष्ट करने वाले को भी क्षमादान दे सकता है या शान्ति स्थापित करने में अग्रसर हो सकता है, वह सबसे बड़ा वीर है। अभिप्राय यह कि उत्साह की अधिकता से ही वीरता परिलक्षित होती है। यदि पतिप्राणा आदर्श देवियों में वीरता की भावना न होती तो वे शरीर-रक्षा के हेतु अपने प्राणों की आहुति देने और पातिव्रत धर्म के लिए भाँति-भाँति के संकट सहने को सहर्ष सन्नद्ध न हो पातीं। प्रत्येक देश और समाज में वीरत्व भावना का आदर हुआ है, और होता रहेगा। हमारे रामायण-महाभारत इतिहास ग्रन्थ तरह-तरह के वीर-विलास से भरे पड़े हैं। उनका प्रत्येक पात्र अपने वीरोचित कार्य-कलाप द्वारा किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देता और ऊँचे से ऊँचा आदर्श उपस्थित करता है।

साधारणतः युद्धादि में सैनिकों के कार्यों को ही वीर रस में परिगणित किया जाता है। काव्यों में भी मार काट में प्रवृत्त होने वालों का ही वर्णन होता है। परन्तु उत्साह स्थायी भाव होने के कारण वीर रस में वे सब ही आ जाते हैं, जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। अभिप्राय यह कि वीर रस युद्धों तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत उसका बहुत व्यापक क्षेत्र है।

पूर्ण उत्साह की पुष्टता को वीर रस कहते हैं। इसका आश्रय स्थान उत्तम पात्र होता है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, देवता महेन्द्र और वर्ण स्वर्ण के समान गौर है।

आलम्बन—शत्रु अथवा शत्रु के पराक्रम, ऐश्वर्य, शक्ति, प्रभाव आदि इसके आलम्बन हैं।

उद्दीपन—शत्रु की चेष्टा, उसकी ललकार, मारूबाजे, शस्त्रास्त्रों का शब्द, रण, कोलाहल, कड़खा गान आदि इसके उद्दीपन हैं।

अनुभाव—अंगस्फुरण, नेत्रों की अरुणिमा, युद्ध के सहायक उपादान, शस्त्रास्त्रों की खोज, सैन्य संग्रह आदि वीर रस के अनुभाव हैं।

संचारी भाव—रोमाञ्च, गर्व, असूया, उग्रता, धैर्य, मति, स्मृति, तर्क आदि इसके संचारी भाव हैं।

भेद

वीर रस के चार भेद माने गए हैं—१—युद्धवीर, २—दानवीर, ३—दयावीर, और ४—धर्मवीर।

युद्धवीर

जिसमें बल, विद्या, प्रताप आदि जनित उत्साह की पुष्टि हो, उसे युद्धवीर कहते हैं।

शत्रु का प्रताप, पौरुष, ऐश्वर्य, उमंग आदि वीर रस के आलम्बन हैं।

सेना का कोलाहल, युद्ध-वाद्य आदि इसके उद्दीपन है।

अंग स्फुरण, रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं।

गर्व, उग्रता आदि वीर रस के संचारी भाव कहे गए हैं।

दानवीर

जिसमें दान सामर्थ्य जनित उत्साह की पुष्टि होती है, उसे दानवीर कहते हैं।

याचक, तीर्थ यात्रा, दान पात्र आदि इसके आलम्बन हैं।

दान के देश, काल और पात्र का ज्ञान दानवीर के उद्दीपन हैं।

त्याग, उदारता, सर्वस्व दान आदि इसके अनुभाव हैं।

हर्ष, लज्जा आदि दानवीर के संचारी भाव कहाते हैं।

दयावीर

चित्त की आर्द्रता जनित उत्साह की पुष्टि जिसमें हो उसे दयावीर कहते हैं।

दीन दुखी, याचक आदि इसके आलम्बन हैं।

दुःख वर्णन, हृदय द्रावक विनय, दैन्य आदि दयावीर के उद्दीपन हैं।

मधुर भाषण, सान्त्वना प्रदान, दुख दूर करने की चेष्टा इसके अनुभाव माने गए हैं।

धृति, चञ्चलता, आदि दयावीर के सञ्चारी भाव होते हैं।

धर्मवीर

जहाँ धर्म जनित उत्साह की पुष्टि हो, वहाँ धर्मवीर रस होता है।

वेद शास्त्रों या पुराणों के वचनों और सिद्धान्तों में अटल श्रद्धा धर्मवीर का आलम्बन है।

वेद शास्त्रों की शिक्षाओं का सुनना इसके उद्दीपन हैं।

उपर्युक्त वेदादि की शिक्षाओं के अनुसार आचरण और व्यवहार इसके अनुभाव हैं।

स्मृति प्रतिपादित धृति क्षमा आदि धर्म के दश लक्षण इसके संचारी भाव हैं।

नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि ने युद्धवीर, दानवीर और दयावीर वीर रस के ये तीन ही भेद माने हैं।

कुछ लोगों का मत है, कि वीर रस के कर्मवीर और वचनवीर दो भेद और भी होने चाहिएँ।

अब जरा गंग कवि का वीर रस वर्णन भी देख लीजिए—

> झुकत कृपान मयदान ज्यौं उदोत भान,
>
> एकन ते एक मानो सुषमा जरद की।
>
> कहै कवि 'गंग' तेरे बल की बयारि लागे,
>
> फूटी गज-घटा घन-घटा ज्यौं सरद की॥
>
> एते मान सोनित की नदियाँ उँमड़ि चली,
>
> रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
>
> गौरी गह्यौ गिरिपति गनपति गह्यौ गौरी,
>
> गौरी पति गह्यौ पूछ लपकि वरद की॥

युद्ध भूमि की भयंकरता देख गणेश जी को इतना भय लगा कि वे दौड़ कर पार्वती जी के अञ्चल में छिप गए। उधर पार्वती भी डरी हुई थीं, वह भी दौड़कर महादेव जी से लिपट गई। ऐसी घबराहट पूर्ण अवस्था में महादेव जी भी स्थिर न रह सके और उन्होंने लपक कर बैल की पूँछ पकड़ ली। इस पद्य में वीर, भयानक और हास्य तीनों रसों का संकर है।

शङ्कर जी के नीचे लिखे पद्य में, रण-चण्डी की प्रार्थना कैसे वीरता पूर्ण भावों के साथ की गई है , देखिए—

अरी चण्डी, चेत चेत सारी शक्तियों समेत,
मद माते भूत प्रेत करें तेरे गुण गान।
कर कोप किलकार आँख तीसरी उघार,
ताकते ही तलवार भीरु भागें भय मान॥
गिरें बैरियों के झुण्ड फिरें रुण्ड बिन मुण्ड,
भरें शोणित से कुण्ड मचें घोर घमसान।
मद पीले गटागट्ट गले काट कटाकट्ट,
मरें पापी पटापट्ट हँसे रुद्र भगवान्॥

पद्य स्वयं ही मूर्तिमान वीर रस मालूम पड़ता है। रुद्र भगवान की प्रसन्नता के लिए, चंडी की कैसे शब्दों में मिन्नत-खुशामद की गई है, उसे सकोप किलकारने के लिए किस प्रकार उभाड़ा गया है।

नीचे लिखे सवैया में राघव की चतुरंगिनी सेना का कैसा कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है—

राघव की चतुरंग चमू चलि धूरि उठी जल हू थल छाई।
मानों प्रताप हुतासन धूम सों 'केशवदास' अकास अमाई।
मैटि कै पंच प्रभूत किधौं विधि रेणुमयी नव रीति चलाई।
दुक्ख निवेदन कों भुविभार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई॥

चतुरंग चमू के चलने से इतनी धूल उड़ी है कि उसके कारण जल, थल आकाश सब भर गए हैं। उस समय धूल को देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो विधाता ने पञ्च तत्वों को मिटाकर सब की धूलि ही धूलि बना दी हो। अथवा पाप-भार से दबी हुई पृथिवी, विष्णु भगवान् से अपना दुःख निवेदन करने के लिए स्वर्ग लोक को जा रही हो।

महाकवि भूषण ने महाराज छत्रशाल की करवाल का कैसे जोशीले शब्दों में वर्णन किया है, देखिए—

निकसत म्यान ते मयूखें प्रलै भानु कैसी,
हारै तम तोम से गयन्दन के जाल को।

लगति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
रुद्रहिं रिझावै दै दै मुण्डनि के माल को ॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को ।
प्रति भट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥

उसके म्यान से निकलते ही प्रलय के सूर्य की-सी किरणें चारों ओर फैल जाती हैं और वह हाथियों के झुण्ड को इस प्रकार विदीर्ण कर डालती है, जैसे सूर्य-रश्मियाँ घने अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देती हैं।

नीचे लिखे कवित्त में महाराज छत्रशाल की वीरता का कैसा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है—

भुज भुजगेश की है संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के ।
बखतर पाखरन बीच धसि जाति मीन—
पैरि पार जाति परवाह ज्यौं जलन के ॥
रैया राय चम्पत को छत्रसाल महाराज,
'भूषण' सकत को बखानि यों बलन के ।
पच्छी पर छीने ऐसे परे पर छीने वीर,
तेरी बरछी ने बरछीने हैं खलन के ॥

छत्रशाल की भुजंगिनी-सी भुजाली ने शत्रुओं के दल को पंख-कटे पक्षियों की भाँति भूमि पर सुला दिया है। छत्रशाल की तलवार क्या है, आफ़त है, जो शत्रुओं के अंगत्राण-जिरह बख़तर को काटती हुई ऐसे धँसी चली जाती है, जैसे मछली पानी में।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने नीचे लिखी पंक्तियों में वीर रस का कैसा अच्छा वर्णन किया है—

उठहु वीर तरवार खींच मारहु घन संगर ।
लौह लेखनी लिखहु आर्य बल शत्रु हृदय पर ।
मारू बाजे बजें कहूँ धौंसा घहराहीं,
उड़हि पताका शत्रु हृदय लखि-लखि थहराहीं ।

चारन बोलहिं आर्य सुजस बन्दी गुन गावैं,
छुटहिं तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं।
चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर,
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर।
छन महँ नासहिं आर्य नीच बैरिन कहँ करि क्षय,
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय।

चन्द्रहास की चमक, भालों की दमक और बन्दूकों तथा तोपों की धमक से शत्रुओं के होश उड़े जा रहे हैं। घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिग्घाड़ और धौंसों की धम्म-धम्म से वैरियों के दिल दहल गए हैं। आर्य वीरों ने अपनी वीरता की धाक जमादी है।

महाकवि तुलसीदास के नीचे लिखे पद्य में हनुमान जी की वीरता का कैसा अच्छा वर्णन किया गया है—

हाथिन सों हाथी मारे घोड़े घोड़े सों संहारे,
रथनि सों रथ विदरनि बलवान की।
चञ्चल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौजें भहरानी यातुधान की॥
बार बार सेवक सराहना करत राम,
'तुलसी' सराहैं रीति साहब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखो देखो लखन लरनि हनुमान की॥

अगर हाथियों से मुक़ाबला होता है, एक हाथी उठाकर दूसरे में मार देते हैं, इसी तरह घोड़ों में घोड़े और रथों में रथ मार कर उनका संहार करते हैं। कभी-कभी हाथों की चपेट और 'लूम' (पूंछ) की लपेट से भी काम लेते हैं। उनके सब आयुध स्वाभाविक हैं। कृत्रिम शस्त्रास्त्र उनके पास एक भी नहीं है।

और देखिए—

प्रबल प्रचण्ड बली वैरम के खान खाना,
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।

कहै कवि 'गंग' तहाँ भारी सूर बीरन के,
उमड़ि अखंड दल प्रलै पौन लहकी ॥
मच्यौ घमसान तहाँ तोप तीर बान चले,
मंडि बलवान किरपान कोपि गहकी ।
तुण्ड काटि मुण्ड काटि जोसन जिरह काटि,
नीमा जामा जीन काटि जिमी आनि ठहकी ॥

बली बैरम की तलवार शत्रु के सिर पर ऐसी जमकर बैठी कि, सिर को काटती और बख्तर समेत रुण्ड को चीरती हुई जीन और जामा समेत घोड़े के भी दो टुकड़े करती हुई भूमि पर आ कर ही रुकी ।

नीचे लिखे सवैया में भी तलवार का ही वर्णन है—

भोर ते साँझ लों सूर चलै अरु शूर चलै है कबन्ध परे लौं ।
ये सिरताज गनीमन को प्रण तो न टरै दुहुलोंक टरे लौं ।
ऐसी वही अरबी गरबी शिव शंकर हू यम लोक डरे लौं ।
सो सिर काटि गनीमन के तरवारि वही तरवा के तरे लौं ॥

यह तलवार भी शत्रु के सिर में धँस, शरीर को बीच से चीरती हुई पैरों के तलके पर जाकर ठहरी है ।

और देखिए, महाकवि पद्माकर ने लङ्का का सर्व संहार करते हुए वानर दल का कैसा वीरता पूर्ण वर्णन किया है—

सोंहैं अस्त्र ओड़ें जे न छोड़ें सीस सङ्कर की,
लङ्गर लंगूर उच्च ओज के अतङ्का में ।
कहै 'पदमाकर' त्यौं हुंकरत फुंकरत,
फैलत फलात फाल बाँधत फलङ्का में ॥
आगे रघुबीर के समीर के तनै के संग,
तारी दै तड़ाक तड़ा तड़के तमङ्का में ।
सङ्का दै दसानन को हङ्का दै सुवङ्कावीर,
डङ्का दै विजै को कपि कूद पर्‌यौ लङ्का में ॥

महावीर हनुमान विजय-दुन्दुभि बजाते हुए, निर्भयता पूर्वक लंका में कूद पड़े । अब लंका की कुशल नहीं, रावण की ख़ैर नहीं । दशों दिशाओं में पवन पूत ने हुंकार और फुंकार मचा दी है ।

हरिऔध जी ने वीर रस के उदाहरण में नीचे लिखा सुन्दर छन्द दिया है—

उठो उठो वीरो चीरो अरिन करेजन कों,
पीरो मुख परे बनी बात हू बिगरि है।
छटकि छटकि छाती छगुनी करैयन कों,
कौन आज उछरि उछरि कै कचरि है॥
'हरिऔध' कहै वीरवृन्द ना अबेर करो,
हाँकते तिहारी धीर हू ना धीर धरि है।
पारावार धार में उड़ैगी छार आँच लगे;
ठोकर की मारते पहार गिरि परि है॥

उत्साह और वीरता का कैसा मनोहर वर्णन है। वीरों की हुंकार से धीर का भी धीर भग जायगा, समुद्र में धूल उड़ने लगेगी और ठोकर की मार से पहाड़ चूर चूर हो जायँगे।

वीर रस के उदाहरण में कविवर रत्नाकर के नीचे लिखे छन्द कितने उत्कृष्ट हैं—

धरम सपूत की रजाय चित्त चाही पाय,
धायो धारि हुलसि हथ्यार हरबर में।
धायो 'रतनाकर' सुभद्रा को लड़ैतो लाल,
प्यारी उत्तरा हू की रुक्यौ न सरवर में॥
सारदूल सावक वितुण्ड झुण्ड में ज्यौं त्यौं ही,
पैठ्यौ चक्र व्यूह की अनूह अरबर में।
लाग्यौ हाथ करन हुलास पर बैरिन के,
मुख मन्द हास चन्दहास तरवर में॥

× × ×

वीर अभिमन्यु की लपालप कृपान वक्र,
सक्र असनी लौं चक्रव्यूह माँहि चमकी।
कहै 'रतनाकर' न ढालन पै खालन पै,
झिलिम झपालन पै क्यों हूँ कहूँ ठमकी!

आई कन्ध पै तो काँटि बन्ध प्रतिबन्ध सबै,
कोटि कटि सन्धि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस पै परी तो कुण्ड काटि मुण्ड काटि फेरि,
रुण्ड के दुखण्ड कै धरा पै आनि धमकी॥

वीर अभिमन्यु की कृपाण जहाँ पड़ती है, वहीं मैदान साफ़ कर देती है।

महाराज जयसिंह की प्रशंसा में लिखा निम्नांकित पद्य भी दानवीर का सुन्दर उदाहरण है—

बकसि बितुण्ड दये झुण्डन के झुंड रिपु—
मुण्डन की मालिका दई ज्यौं त्रिपुरारी कों।
कहै 'पदमाकर' करोरन को कोष दये,
षोडश हू दीन्हें महादान अधिकारी कों॥
ग्राम दये, धाम दये, अमित आराम दये,
अन्न जल दीने जगती के जीव धारी कों।
दाता जयसिंह दोय बातें तो न दीनी कहूँ,
शत्रुन कों पीठि और दीठि पर नारी कों॥

ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो महाराज जयसिंह ने दान में न दी हो। हाँ, अगर उसने नहीं दी, तो केवल शत्रुओं को पीठ और पर स्त्रियों को 'दीठ'।

और भी देखिए—

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पदमाकर' सो हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
पाइ गज धोखे कहूं काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरजा गजानन कों गोइ रही,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना॥

महाराज रघुनाथराव के जो कुछ हाथ पड़ जाता है, उसे ही वे दान कर देते हैं। हाथियों के तो उन्होंने झुण्ड के झुण्ड दान कर दिए। पार्वती जी

ने गणेश को इसीलिए अपनी गोद में छिपा रक्खा है, कि कहीं रघुनाथराव इन्हें पाकर हाथी के धोखे में किसी को दे न डालें।

दानवीर के उदाहरण में नीचे लिखा कवित्त भी कितना उत्कृष्ट है—

गाज उत दुन्दुभी अवाज इत होत सुर,
चाप उत इतै पचरंग परसतु हैं।
पौन पुरवाई उत तरल तुरंग इत,
मोर उत इतै ये नकीव सरसतु हैं॥
चपला चमक उत चन्द्र हास छवि इत,
उतै घन इतै ये गयंद दरसतु है।
उत अवनी पै इन्द्र नीर बरसत इत,
नृपति प्रताप हेम हीर बरसतु हैं॥

यहाँ जल की वर्षा करने वाले इन्द्र और दान रूप में सोना, हीरा, मोती आदि की वर्षा करने वाले महाराणा प्रताप दोनों की तुलना की गई है।

महा दानी छत्रशाल की दान वीरता का वर्णन कवि ने कितने विलक्षण और सुन्दर ढंग से किया है, देखिए—

अच्छुत दरभ जुत तरल तरंगन सों,
कोहै तू कहाँ सों आई रची ठ्यौंत सारी के।
सरिता हौं संकलप सलिल बढ़त आवै,
महाराज छत्रसाल दान व्रतधारी के॥
एतो क्यों गुमान कीन्हों मोहिन प्रनाम कीन्हों,
लाल त्यों अनखि बोली बोल भेद भारी के।
महादानि पानि तें उपज मेरी जानि गंगे,
पायन तें भई है तू बावन भिखारी के॥

महाराज छत्रशाल ने इतना दान दिया कि उसके संकल्प के जल से सरिता बन गई। उसे देख गंगा जी ने पूछा— अरी तू कौन है, कहाँ से आई है? और फिर कोई भी हो, तैने यह ढिठाई क्यों की कि मुझे प्रणाम भी नहीं किया? इस पर उपर्युक्त नदी बोली—अरी गंगे, मैं साधारण नदी नहीं हूँ जो तुझे प्रणाम करूँ। मेरा जन्म महादानी महाराज छत्रशाल के हाथों से

हुआ है, और तू भिखारी वामन का रूप धारण करने वाले विष्णु के पैरों से उत्पन्न हुई है।

महाकवि केशव का दान वीरता के सम्बन्ध में कैसा अच्छा उदाहरण है, देखिए—

'केशवदास' के भाल लिख्यौ विधि रंक को अंक बनाइ सँवार्‌यौ।
धोए धुऔ न छुड़ाए छुट्‌यौ बहु तीरथ के जल जाइ पखार्‌यौ।
है गयो रंक ते राव तबै, जब बीर बली नृप नाथ निहार्‌यौ।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाइ रह्यौ मुख चार्‌यौ॥

उपर्युक्त पद्य में भी केशवदास ने बीर-बली महाराज की प्रशंसा की है, जिसके कृपा पूर्वक देखने मात्र से केशव रंक से राजा हो गए। जो दरिद्रता विधाता ने उनके भाल में लिखी थी, उसे यों पल भर में दूर होते देख ब्रह्मा जी भी आश्चर्य सागर में गोते लगाने लगे।

कैटभ सों नरकासुर सों पल में मधु सों मुरसो जिन मार्‌यौ।
लोक चतुर्दश रक्षक 'केशव' पूरन वेद पुरान विचार्‌यौ।
श्री कमला कुच कुंकुम मण्डित पण्डित देव अदेव निहार्‌यौ।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसार्‌यौ॥

यहाँ महाराज बलि की दानवीरता का वर्णन किया गया है। जिन हाथों ने मधु, कैटभ, मुर प्रभृति अनेक राक्षसों का संहार किया और जो चौदहों लोक की रक्षा करने में समर्थ रहे, अपने वे ही हाथ करतार ने महाराज बलि के आगे फैलाए।

भूषण जी का नीचे लिखा कवित्त दानवीरता का कैसा अच्छा उदाहरण है—

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हियसाल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को॥
साजि-साजि गजतुरी पैदर कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।

और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहु को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।

भूषण जी छत्रशाल और साहु जी के आगे किसी भी राव राजा को कुछ भी नहीं समझते। भला जिनके प्रताप-भानु के आगे सूर्य मलिन हो जाता और दुरात्मा वैरियों के हृदयों में चिन्ता-चिता जलने लगती है।

कविवर नरोत्तम दास ने नीचे लिखे सवैया में दानवीरता का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

हाथ गह्यौ प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमने चित धारी।
तण्डुल खाय मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी।
खाय मुठी तिसरी अब नाथ, कहा निज बास की आस बिसारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी।

कृष्णजी ने सुदामा के दो मुट्ठी चावल खाकर उनके बदले में दो लोक तो उन्हें दे डाले, जब वे तीसरी मुट्ठी और भरने लगे, तब लक्ष्मी जी ने उनका हाथ पकड़ कर कहा—'नाथ, अब क्या तीसरा लोक भी सुदामा को दे डालना चाहते हो? कहीं अपने रहने के लिए भी जगह रहने दोगे या नहीं। या अब सुदामा को अपना जैसा बनाकर आप सुदामा का स्थान लेना चाहते हो।'

दानवीरता के उदाहरण में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने लायक है—

जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्ह दये दश माथ।
सो सम्पदा विभीषणहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

जो सम्पत्ति (लंका का ऐश्वर्य) शिव जी ने रावण को अपने दशों शिर भेंट करने पर दी थी, वही सम्पदा रामचन्द्र जी ने विभीषण को बड़े संकोच के साथ दी।

आगे धर्मवीर का भी एक उदाहरण दिया जाता है—

तृण के समान धन-धाम राज त्याग करि,
पाल्यौ पितु वचन जो जानत जनैया है।
कहै 'पदमाकर' विवेक ही को बानो बीच,
साँचो सत्य वीर धीर धीरज धरैया है॥

सुभृति पुराण वेद आगम कह्यौ जो पन्थ,
आचरत सोई शुद्ध करम करैया है।
मोह मति मन्दर पुरन्दर मही को धनी,
धरम धुरन्धर हमारो रघुरैया है॥

कवि पद्माकर कहते हैं, पितु-आज्ञा-पालन के लिए जो इतने बड़े साम्राज्य को तिनके के समान त्याग कर वन चल दिए, उन रामचन्द्र से अधिक धर्मवीर और कौन हो सकता है।

कविवर मैथिलीशरण का नीचे लिखा पद्य भी धर्मवीर का उत्कृष्ट उदाहरण है—

सुन कर निज गुरु की प्रेम भरी यह वाणी।
बोले उनसे प्रह्लाद जोड़ युग पाणी।
गुरुदेव, पिता जब पूज्य कहे हैं ऐसे,
तब परम पिता पूजाई न होंगे कैसे।
हे आर्य किसी का शत्रु न हरि को जानो,
अच्युत अनादि अखिलेश उन्हें तुम मानो।
हरि भजन छोड़ मैं करूँ स्वार्थ की घातें,
हा-हा खाता हूँ कहो न ऐसी बातें।

उपर्युक्त पद्य में भक्त प्रह्लाद की धर्म में कैसी दृढ़ता दिखाई गई है। वह अपने अडिग विश्वास के आगे गुरु की बातों को भी नहीं मानते। नहीं मानते इतना ही नहीं, उपयुक्त पंक्तियों द्वारा उनका खंडन भी करते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निम्नलिखित दोहों में भी कैसी वीर घोषणा की गई है—

बेचि देह दारा सुअन होय दास हू मंद।
रखि हौं निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद॥

× × ×

चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै न सत्य विचार॥

चाहे संसार उलट-पलट हो जाय, पर सत्यवर्त्ती हरिश्चन्द्र का सत्य विचार नहीं टल सकता।

और भी लीजिए—

सुनि 'कमलापति' विनीत बैन भारी तासु,
आसु चलिबे की लखी गति यों दराज की।
छोड़ि कमलासन पिछोड़ि गरुड़ासन हूँ.
कैसे कै बखानों दौर दौरे मृगराज की॥
जाय सरसी में यों छुड़ाय गज ग्राह ही तें,
ठाढ़े आय तीर इमि सोभा महाराज की।
पीत पट लै-लै कै अँगौछत शरीर,
कर कञ्जन ते पौंछत भुसुण्ड गजराज की॥

यहाँ कमलापति की दयावीरता का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है। अब दयावीर के उदाहरण भी देखिए—

पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन।
त्यौं 'पदमाकर' लात लगे पर विप्रहु के पग चौगुने चायन।
को अस दीन दयाल भयो दशरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयन्द उबारिबे को प्रभु बाहन छोड़ि उपाहने पायन॥

भला भगवान रामचन्द्र के सिवा ऐसा दयालु कौन है, जो गजराज तक का उद्धार करने के लिए नंगे पैरों पैदल दौड़कर पहुँचे। अजामिल जैसे पापी का जिन्होंने निस्तार कर दिया। अजी और तो और भृगुजी के लात मारने पर भी आप उलटे उनके पैर सहलाने लगे। भला इससे भी अधिक दयालुता क्या हो सकती है?

कविवर हरिकेश का नीचे लिखा पद्य वीर रस का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है—

उह उहे डंकन के सबद निसङ्क होत,
बहबही सत्रुन की सेना जोर सर की।
'हरिकेस' सुभट घटान की उमण्डि उत,
चम्पति को नन्द कोप्यो उमँग समर की।
हाथिन की मण्ड मारू राग की उमण्ड त्यों त्यों
लाली झलकति मुख छत्रसाल वर की।

फरकि फरकि उठैं बाहैं अस्त्र बाहिबे को,
करकि करकि उठैं करी बखतर की ॥

यहाँ पर शत्रु आलम्बन, उसकी सेना का जोर शोर के साथ आगे आना तथा मारू बाजों का बजना आदि उद्दीपन, वीरवर छत्रसाल के मुख पर और नेत्रों में लालिमा का झलकना, एवं शस्त्रास्त्र उठाने के लिए भुजाओं का फड़क उठना अनुभाव और रोमाञ्च, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हुआ उत्साह ही वीर रस का रूप धारण करता है।

भयानक रस

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। भयङ्कर परिस्थिति के कारण लोग थर-थर काँपने लगते हैं। मनुष्य ही नहीं, अन्य जीवों को भी भय लगता है। भेड़िया के आगे भेड़ या बकरी की कैसी बुरी दशा हो जाती है। भय में प्रायः जान जाने, कष्ट सहने या अन्य किसी प्रकार की हानि उठाने का खतरा होता है, इसीलिये इसका प्रभाव मन पर सबसे अधिक पड़ता है। भय से बचने के लिए, प्रयत्न करना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कुछ भय तो वास्तविक है, और कुछ कल्पित तथा भ्रम-जनित। कल्पित भय की यथार्थता ज्ञात होने पर उससे कोई नहीं डरता। जब यह ज्ञात हो जाता है कि मार्ग में सर्प नहीं है, बल्कि रस्सी ही सर्प के समान दिखायी देती है, तो वह कल्पित सर्प भय का कारण नहीं रहता। इसी प्रकार भूत-प्रेतादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अज्ञान-अवस्था में लोग भूत-प्रेतादि से डरते हैं, परन्तु जब वे अच्छी तरह समझ लेते हैं, कि भूतों का कोई अस्तित्व ही नहीं; वे कल्पित और भ्रम जनित हैं, तो उनका डर भी जाता रहता है।

अभिप्राय यह कि कोई वस्तु एक समय में भयङ्कर सिद्ध होकर वास्तविकता ज्ञात होने पर दूसरे समय में वैसी नहीं रहती। जब विद्यार्थी परीक्षा देने जाता है, या कोई गवाह गवाही देने के लिए न्यायालय में प्रवेश करता है तो उसके हृदय में भय का कुछ अंश होता है, जिसके कारण दिल की धड़कन बढ़ जाती है। और मुँह सूख जाता है, क्योंकि उस समय थूक की ग्रन्थियों से थूक आना बन्द हो जाता है। सब विद्यार्थियों और गवाहों के

सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। दण्ड, लोकापवाद, आन्दोलन आदि का भी बड़ा भय होता है। दण्ड के डर से आदमी अपराध करने से बचे रहते हैं, कितने ही कार्य अनुनय-विनय से नहीं हो पाते, परन्तु दण्ड, लोकापवाद या आन्दोलन के डर से तुरन्त हो जाते हैं। जो लोग कुकर्म के क्रूर परिणाम से डरते रहते हैं, उनसे पाप-कर्म नहीं बनते। राजा, समाज और परमात्मा की दण्ड-व्यवस्था से कदाचित् ही कोई बचता हो। बहुत-से निर्भीक लोग समाज अथवा राजा के दण्ड-विधान से बचने का तो ज्यों त्यों प्रबन्ध कर लेते हैं, परन्तु न्यायकारी परमात्मा के कठोर शासन से अपने को नहीं बचा पाते। क्रोध की भाँति भय की भी उपयोगिता और अनुपयोगिता है। जहाँ मिथ्या भ्रम से सम्बन्ध है, वहाँ भय निरुपयोगी एवम् हानिकारक है, परन्तु जहाँ वास्तविक भय का प्रसंग है वहाँ असमर्थ होने के कारण उससे अपने को बचाना ही पड़ता है। कुछ लोग स्वार्थ-संकोचवश सत्य कहने या ठीक-ठीक मनोभाव प्रकट करने से डरते रहते हैं, यह डर ही हीनत्व भावना का द्योतक है। ऐसा करने से बड़ी हानि होती है। डर प्रायः उसी समय लगता है, जब शारीरिक अथवा आत्मिक बल में कमी आ जाती है और भय पूर्ण परिस्थिति मन पर पूरा क़ाबू कर लेती है। एक वे लोग हैं जो शेर की शक्ल देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं, और एक वे हैं जो बड़ी वीरता से उसका सामना करते तथा उसे मार कर दम लेते हैं।

एक आदमी साहस पूर्वक विषैले साँप को अपनी चुटकी में दबाकर उसे बिल्कुल बेकाबू कर देता है; परन्तु दूसरा उसे देखने मात्र से घबरा जाता है। ये सब बातें मन की शक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। जिसमें जितना ही साहस और शौर्य होगा, उतना ही वह निर्भय और निडर सिद्ध होगा। जो मनुष्य असमर्थ होने के कारण प्राण-घातक परिस्थिति से डरता और परमात्मा या राज्य के कठोर दण्ड से भय खाकर पापों एवम् अपराधों से बचता है, वह भय की उपयोगिता सिद्ध करने में सहायता देता है। ईश्वर और राजा के दण्ड विधान से न डरने के कारण ही आज बड़े से बड़े पापों और भयङ्कर से भयङ्कर अपराधों की सृष्टि हो रही है। मतलब यह कि जहाँ भय हानिकारक है वहाँ वह लाभदायक भी है। मृत्यु के समय कुकर्मों का बारबार स्मरण आकर उनके दण्ड का भय मनुष्य को बुरी तरह

तंग करता रहता है। क्योंकि उस समय सारे जीवन के पापों का चित्र चित्त पर खिंच जाता है और यही भाव भयंकर बनकर मरणासन्न को भयभीत करता है। उस समय परमात्मा की याद आकर उसी ओर लौ लग जाती है।

भय के कारण रक्त और श्वास की गति में अन्तर पड़ने से शरीर में भी कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। जिसके लक्षण मुँह पर अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं। भय से मस्तिष्क में ऐसी शिथिलता या निस्तब्धता हो जाती है कि फिर भयभीत व्यक्ति को आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता। वह उस ताबड़तोड़ दशा में अनेक ऊट-पटाँग काम कर डालता है। कभी-कभी तो ऐसी भाग दौड़ और छीन-झपट के काम हो जाते हैं, जो शायद साधारण अवस्था में कदापि सम्भव न होते। एक बार एक व्यक्ति दूर से ही तेंदुए की शक्ल देखकर घबरा गया और भय के आवेग में ऊँचे वृक्ष पर अनायास ही चढ़ गया। सामान्य अवस्था में शायद वह प्रयत्न करने पर भी उस पेड़ पर न चढ़ पाता। भय के समय धैर्य और साहस से काम लेने की बड़ी आवश्यकता है।

भय के कारण आत्म-संरक्षण के भाव जाग्रत हो जाते हैं। पहले तो मनुष्य आशंकित अनिष्ट के भय से डरता है, परन्तु जब अनिष्ट हो जाता है, तब भय भय न रहकर शोक में परिणत हो, करुण रस का रूप धारण कर लेता है। जब कभी समान भय उत्पन्न होता है, तो उसके द्वारा संघटन-कार्य में अच्छी सहायता मिलती है। भय पूर्ण परिस्थिति का सामना करने के लिए सब लोग भेद-भाव भूल कर मिल जाते हैं। यहाँ तक कि उस समय शत्रुओं में भी प्रतिकूल भावना नहीं रहती।

इन्द्रिय विक्षोभ सहित भय की परिपुष्टि को भयानक रस कहते हैं।

भयानक रस का स्थायी भाव भय, देवता काल और वर्ण कृष्ण होता है।

भयानक दृश्य, भयङ्कर शब्द, निर्जन वन आदि स्थान, स्वजन वध अथवा बन्धन आदि इसके आलम्बन हैं।

भयोत्पादक शब्द सुनना, भयङ्कर दृश्य या प्राणियों को देखना, निर्जन

वन, श्मशान आदि में जाना, गुरुजनों अथवा राजा का अपराध करना, हिंस्र जन्तुओं का कार्य कलाप आदि भयानक रस के उद्दीपन हैं।

हाथ पैरों का काँपना, गद्गद् वाणी, प्रलय, मूर्च्छा, स्वेद, रोमाञ्च, चेहरे का विवर्ण हो जाना, मुख सूखना, इधर उधर ताकना, छाती का धड़कना आदि इसके अनुभाव हैं।

मोह, त्रास, ग्लानि, लज्जा, अपस्मार, सम्भ्रम, दैन्य, शंका, मृत्यु आदि भयानक रस के संचारी भाव हैं।

भयानक रस के पात्र कायर, नीच पुरुष और स्त्री आदि होते हैं।

अब भयानक रस के उदाहरण देखिए। सीता-स्वयंवर के समय भगवान् रामचन्द्र जी द्वारा शिव जी का धनुष तोड़े जाने पर तीनों लोकों में कैसा भय छा गया, इसी का वर्णन नीचे लिखे कवित्त में किया गया है—

> कोल कच्छ देव फैत फैलत फनी के मुख,
> धँसि गई धरा धराधर-उर धर के।
> हर के रहे न भानु भर के तुरंग कहूँ,
> भागि चले बाहन विरंचि-हरि-हर के॥
> झम्पित गगन झुकि कम्पित भुवन हल—
> कम्पित डुबन गुन खैंचे रघुबर के।
> दन्ती दबे आसन सकाने पाक सासन,
> न कोऊ थिर आसन सरासन के करके॥

शिव जी के धनुष टूटने का घोर शब्द होते ही तीनों लोकों में हलचल मच गई। धरा धसक गई, जिसके कारण शेषनाग के फनों से फेन बहने लगा। पर्वतों के उर विदीर्ण हो गए। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देवों के बाहन भीत हो भागने लगे। दिग्गज चलायमान हो उठे और इन्द्र भी डर गए। यहाँ पर भयङ्कर शब्द ही भय का आलम्बन है। धरा का धसकना पर्वतों का विदीर्ण होना आदि दृश्य उसके उद्दीपन हैं। इसी प्रकार भय ग्रस्त इन्द्रादि का सकपकाना, दिग्गजों का काँप उठना आदि अनुभाव और त्रास, दैन्य, शंका आदि संचारी भाव हैं। इन्हीं सब के संयोग से भय पुष्ट

होकर भयानक रस रूप में परिवर्तित होता है। आगे के उदाहरणों में भी इसी प्रकार कल्पना कर लेनी चाहिए।

नीचे लिखे छप्पय में भी सीता के स्वयंवर-समय धनुष-भंग के कारण उपस्थित भय का वर्णन है—

कहलि पोल अरु कमठ उठत दिग्गज दस दलि मलि।
घसकि धसकि महि मसकि जाति सह सर्पफणि फणि दलि॥
उथल पुथल जल थल ससंक लंका दल गल बल।
नभ मण्डल हल हलत चलत ध्रुव अतल वितल तल।
टंकोर घोर घन प्रलय धुनि सुनि सुमेरु गिरि गिरि गयो।
रघुवंस वीर जब तमकि पग धमकि-धमकि धरि धनु लयो॥

रघुवीर रामचन्द्र के धनुष हाथ में लेते ही, संसार में प्रलय का सा दृश्य उपस्थित होगया। पृथिवी धसकने लगी और जल-थल में उथल-पुथल मच गई, सर्वत्र भय और त्रास का आतंक स्थापित होगया।

कविवर तुलसीदास ने धनुष-भंग का वर्णन इस प्रकार किया है—

भरि भुवन घोर कठोर रव रवि-वाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल विचारहीं।
को दण्ड खण्डेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं॥

धनुष-भंग की टंकार सुनते ही दिग्गज दहल गये और चिंघाड़ मारकर बुरी तरह काँपने लगे। सुर-असुरों ने कानों में उँगलियाँ दे लीं, उन्हें वह शब्द ऐसा भयङ्कर प्रतीत हुआ कि उनके होश-हवास उड़ गए।

पद्माकर जी का नीचे लिखा कवित्त भी भयानक रस का बड़ा अच्छा उदाहरण है—

झलकत आवै झुण्ड झिलम झलान झप्यौ,
तमकत आवैं तेगवाही औ सिला ही हैं।
कहै 'पद्माकर' त्यौं दुन्दुभी धुकार सुनि,
अक बक बोलें यों गनीम औ गुनाही हैं॥
माधव को लाल कालहूते विकराल दल—
साजि धायो ए दई दई धों कहा चाही है।

कौन को कलेऊ धौं करैया भयो काल अरु,

काप यों परैया भयो गजब इलाही है ॥

माधव के लाल का विकराल दल देख कर और उसके धौंसों की धम्म-धम्म सुन कर अपराधी शत्रु भौचक्के से रह गए और दैव को याद कर अपनी कुशल मनाने लगे।

महाकवि भूषण के नीचे लिखे पद्य में भी भयानक रस का सुन्दर वर्णन है—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,

दिल्ली दहसत चितै चाह करषति है।

बिलखि बदन बिलखात बिजैपूर पति

फिरत फिरंगिन की नारी फरकंत है ॥

थर थर कांपत कुतुबसाह गोलकुण्डा,

हहरि हबस भूप भीर भरकति है।

राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि,

केते पाद साहन की छाती दरकति है ॥

शेर शिवराज के नगाड़ों की धाक सुन, कुतुबशाह थर-थर कांपने लगे और शत्रुओं की छाती धड़कने लगी।

और देखिए, यहाँ वियोगिनी की आह निकल जाने की आशंका मात्र से कितना भय छा गया है—

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,

भाप बन अम्बर ते ऊँची चढ़ जायगी।

दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघलकर,

घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।

झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारा पति,

जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी।

काहूँ विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं

जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी ॥

शंकर कविराज ने भय का कैसा अनूठा कारण खोज निकाला है। कहीं शत्रु की सैन्य देख भय पैदा हुआ है, कहीं धनुष टूटने का भयङ्कर शब्द

सुनकर और कहीं आग लगने आदि के कारण। परन्तु यहाँ वियोगिनी की आह निकलते ही भयङ्कर प्रलय-काण्ड उपस्थित होने की आशंका से ही सब भीत हो रहे हैं।

महाकवि हरिऔध का भी निम्नलिखित पद्य इस प्रसंग में पढ़ने लायक है—

शिव की समाधि भई भंग भीम नाद भयो,
कंपे लोक पाल धीर ध्रुव ना धरे रहे।
सहमें सुरासुर सशंकित दिगन्त भयो,
सारे पारावार न प्रपञ्च से परे रहे॥
'हरिऔध' प्रलय विभूति कौ विकास देखि,
भुवन सु भूधर भयातुर अरे रहे।
भीत भए भूत भारी भीरुता धरा में धँसी,
सित भानु डरे भानु भभरे खरे रहे॥

यहाँ शंकर जी की समाधि भंग होने पर तीनों लोक में त्रास छा गया है, उसका वर्णन किया गया है।

रत्नाकर जी के गंगावतरण से भयानक रस के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं, देखिए—

उड़त फुहारन को तारन प्रभाव पेखि,
जम हिय हारे मनों मारे करकनि के।
चित्र से चकित चित्र गुप्त चपि चाहि रहे,
वेधे जात मण्डल अखण्ड अरकनि के॥
गंग छींट छटकि परै न कहूँ आनि इतै,
दूत इमि तानत बितान तरकनि के।
भागे जित तित तें अभागे भीति पागे सबै,
लागे दौरि दौरि दैन द्वार नरकनि के॥

यहाँ पर गंगा जी की पतित-पावनी फुहारों का पवित्र प्रभाव देख कर यमदूत और चित्रगुप्त आदि भय के मारे नरकों के फाटक बन्द कर रहे हैं।

और देखिए—

बोधि बुधि विधि के कमण्डल उठावत ही,
धाक सुरधुनि की धसी यों घट घट में।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
विवस विलोकत लिखे से चित्रपट में॥

लोक पाल दौरन दसो दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात वर वट में।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि तट में॥

अभी गंगा जी सुरधाम से नीचे आई भी नहीं हैं, केवल उन्हें मर्त्य लोक में उतारने को ब्रह्मा जी ने अपना कमण्डल ही उठाया है कि तीनों लोकों में हलचल मच गई। उक्त पद्य में रत्नाकर जी ने भयानक रस का कैसा सुन्दर चित्र अंकित किया है।

लंका में हनुमान जी द्वारा आग लगाए जाने पर वहाँ के निवासियों में कैसा त्रास छा गया है। नीचे लिखे पद्यों में उस अग्नि काण्ड का वर्णन पढ़िए—

जहाँ तहाँ बुबकी बिलोकी बुबकारी देत,
जरत निकेत धावो धावो लागी आगि रे।
कहाँ तात मात भ्रात भगिनी भामिनी भाभी,
ढोटा छोटे छोहरा अभागे भागि-भागि रे॥

हाथी छोरो घोरा छोरो महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो सोबै सो जगावो जागि जागि रे।
'तुलसी' बिलोकी अकुलानी यातुधानी कहैं,
बार बार कह्यौ पिय कपि सों न लागि रे॥

अरे भागो, सब छोड़कर भाग चलो। प्राण बच जायँ, वही क्या थोड़े हैं, सब सामान को आग लग जाने दो। हमने तो पहले ही कहा था कि इस बन्दर को मत छेड़ो।

और देखिए :—

लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय कों न माय बाप पूत न सम्हारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुन्ध अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बार बार हीं॥
हय हिहिनात भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेल पेल रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिल्लात बिललात अकुलात अति,
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं॥

तुलसीदास जी कहते हैं—आग के लगते ही सब घर-बार छोड़ भाग चले। यहाँ तक बाल-बच्चों की भी सुध न रही। लोग जलते-झुलसते, रोते-चिल्लाते अन्धा धुन्ध भागे चले जा रहे हैं।

भगवन्त कवि ने भी लंका-दहन का वर्णन बड़े भयानक शब्दों में किया है, देखिए—

पौन पूत आगि को लगाय 'भगवन्त' कवि,
लगत न घाव काहू तुपक न तीर को।
रातो भयो असमान तातो भयो भासमान,
कारो पीरो नीर भयो नीरधि के तीर को॥
लंका लागी जरन बरन रनवास लाग्यो,
व्याकुल ह्वै असुर धरै न रन धीर को।
सुरन को जाप है कै सीता को सराप है कै,
रावन को पाप कै प्रताप रघुवीर को॥

अरे यह आग नहीं है, बल्कि देवताओं का अभिशाप, सीता की बददुआ, रावण का पाप और रामचन्द्र जी का प्रताप, सब एक साथ इकट्ठे होकर राक्षसों का संहार करने आ गए हैं।

नीचे लिखे छप्पय में श्मशान का कैसा भयंकर चित्र खींचा गया है—

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि कै नर नारी।
फट फटाय दोऊ पंख उलूकहु रटत पुकारी।

अंधकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव।
रोवत सियार गरजत नदी स्वान भौंकि डरपावहीं।
संग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं॥

वर्षा ऋतु की भयावनी रात में नदी-तट वर्ती श्मशान का बड़ा भयंकर दृश्य होता है, उसी का वर्णन ऊपर किया गया है।

अब महाकवि रत्नाकर के श्मशान का वर्णन पढ़ लीजिए—

हर हरात इक दिसि पीपर को पेड़ पुरातन,
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन।
वर्षा ऋतु के काज और हू लगत भयानक,
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक।
ररत कहूँ मण्डूक कहूँ झिल्ली झनकारे,
काक मण्डली कहूँ अमंगल मन्त्र उचारें।
भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी,
सनै-सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी।
भए इकट्ठे आनि तहाँ डाकिनि पिसाचगन,
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन।
आकृति अति बिकराल धरे कुइला से कारे,
वक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे।

कैसा स्वाभाविक वर्णन है। पढ़ते समय आँखों के आगे भयानकता का चित्र सा खिंच जाता है।

भुवन धुंध रित धूलि धूलि धुंधरित सु धूमहु,
'पद्माकर' परतच्छ स्वच्छ लखि परति न भूमहु।
भग्गत अरि परि पग्ग लग्गत अँग अंगन,
तहँ प्रताप पृथिपाल ख्याल खेलत खुलि खग्गन।
तहँ तबहिं तोप तुंगध्यि तड़पि तड़तड़ात तेगनि तड़कि।
धुपि धड़-धड़-धड़-धड़ धड़ा धड़-धड़-धड़ात् तद्धा धड़कि॥

पद्माकर जी ने युद्ध क्षेत्र का कैसा स्वाभाविक वर्णन किया है। पद्य को पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है, मानो हमारे सामने ही तोपें गरज रही हैं।

पद्माकर जी का नीचे लिखा दोहा भी देखने लायक है—

एक ओर अजगरहि लखि एक ओर मृगराय।
विकल बटोही बीच ही पर्‌यौ मूर्च्छा खाय॥

बेचारा बटोही अजगर और सिंह के बीच में पड़ जाने से मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

और देखिए—

लखन सकोप वचन जब बोले, डगमगानि महि दिग्गज डोले।
सकल लोक सब भूप डराने, सिय हिय हरष जनक सकुचाने।

यहाँ लक्ष्मण जी के क्रोध भरे वचन सुनकर ही संसार भयभीत हो गया है।

हरिऔध जी ने भयानक रस का बड़ा सजीव चित्र खींचा है, देखिए, यह कविता उक्त रस का कैसा अच्छा उदाहरण है—

धँस के धरातल में धँसि जै है नाना जीव,
ज्वाल माल जगे गेह धू धू धू धू जरिहैं।
परि परि पावक में विपुल पहार पंक्ति,
प्रलय पटाका है प्रचण्ड रव करि हैं॥
'हरिऔध' बार बार भू पै बज्रपात ह्वैहै,
काल पेट दहत भुवन भूरि भरि हैं।
काँचे घट तुल्य सारे लोक फूटि-फूटि जैहैं,
टकराए कोटि-कोटि तारे टूटि परि हैं॥

अगर यह सब कुछ होगया तो प्रलय में शेष ही क्या रह जायगा। फिर तो पहाड़ों की पंक्तियाँ तक प्रचण्ड पावक में पड़कर प्रलय-पटाखों की तरह चटाक-चटाक छूटने लगेगीं, वज्रपातों का तो ठिकाना ही न रहेगा। नक्षत्र भी आपस में टकराने लगेंगे।

वीभत्स रस

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा या ग्लानि है। जिन वस्तुओं, प्रसंगों स्थानों, कार्यों और दृश्यों से घृणा के भाव पैदा होते हैं, वे ही वीभत्स रस

के उत्पादक हैं। मरघट में चिताओं की चड़चड़ाहट, माँस-मेद की दुर्गन्धि, श्वान आदि का माँस-भक्षण, गिद्ध, कौओं द्वारा अँतड़ियाँ निकाला जाना, इत्यादि कार्य वीभत्स रस के द्योतक हैं। मल, मूत्र आदि देखकर तो सबको ही घृणा होती है। कुछ लोग तो इतने गन्दे रहते हैं, कि उनके फूहड़पन के कारण हृदय ग्लानि से भर जाता है। किसी को तो अश्लील और घिनौने शब्द निकालने की आदत-सी पड़ जाती है, इन सबसे ही ग्लानि या जुगुप्सा के भाव जाग्रत होने लगते हैं। कभी-कभी स्त्री, पुरुषों से ऐसे पाप-पूर्ण गन्दे काम बन जाते हैं, जिनके कारण उससे घोर घृणा होती है, और फिर उनसे मिलने को चित्त नहीं चाहता। ऐसा व्यापार भी वीभत्स रस का द्योतक होता है। आप किसी के घर जाइये, यदि वहाँ चीज़ें अस्त-व्यस्त दशा में पड़ी हैं, खाट-खटोले ऊट-पटाँग तरह से रक्खे हैं, चौके में मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, दाल में मिट्टी पड़ रही है, शाक उघरा रखा है, पानी के घड़ों पर कौए चोचें मार रहे हैं, आटे को बिल्ली नोचे लिये जाती हैं, छोटी छोटी चिड़ियाँ कभी इस चीज़ पर फुदककर बैठती हैं, तो कभी उस पर, उनके गंदे पंजों से सारे पदार्थ अपवित्र हो रहे हैं इत्यादि, इस प्रकार की अवस्था को भी वीभत्स की संज्ञा दी जाती है। उस समय यह ख़याल नहीं किया जाता कि भोजन-सामग्री को वीभत्स रस में क्यों सम्मिलित किया जाय। जैसा कि ऊपर कहा गया, जहाँ जहाँ ग्लानि और घृणा है, वहाँ वहाँ ही वीभत्स रस है।

अभिप्राय यह कि माँस, मेद, रुधिर, मज्जा, अस्थि अथवा ऐसी ही अन्य घिनौनी वस्तुओं का वर्णन ही वीभत्स नहीं है, प्रत्युत जिन कर्मों, दृश्यों, वर्णनों, प्रथाओं से घृणा होती है वे सब ही वीभत्स रस में गिने जाने योग्य हैं। जहाँ मलिन मनोवृत्ति, क्रूरता आदि हों वहाँ भी वीभत्स रस होता है।

वीभत्स दृश्य स्वास्थ्य विघातक माने गए हैं, उनके कारण कभी कभी करुणा की उत्पत्ति तथा सुकर्मों की ओर प्रवृत्ति होती है। वीभत्स रस विषय विरक्ति में सहायता देता है और इसके कारण युद्ध की भयंकरता भी पुष्ट होती है।

कुछ लोग पूछ सकते हैं, भला घिनौनी बातों का वर्णन भी 'रस' हो सकता है। इसका उत्तर यही है कि अवश्य हो सकता है। जुगुप्सा पूर्ण बातों

काव्यमय वर्णन में पाठकों को खूब रुचि होती है। मान लीजिए, किसी कवि को किसी युद्ध का वर्णन करना है, उस युद्ध में शत्रु दल की हार पर हार हो रही है। सैनिकों के रुधिर से नदियाँ बह रही हैं, लाश पर लाश पड़ी है, गिद्धों और कौओं का व्यापार जारी है। ऐसी अवस्था में यदि कवि इन सब बातों का शब्द-चित्र नहीं खींचता तो वह अपने कर्तव्य-पालन में कमी करता है, इस वर्णन से पाठकों को शत्रु की दुर्दशा, तुच्छता और पराजय का भले प्रकार परिचय मिलता है और उसकी करारी हार तथा सैनिकों की इस प्रकार दुर्गति देखकर एक प्रकार की आनन्दमयी ग्लानि होती है, जो वीभत्स रस को सिद्ध करती है।

किसी फूहड़ स्त्री, गन्दे महल्ले, या घर का काव्यमय वर्णन पाठक के लिए आनन्द का ही कारण बनता है, देखिये नीचे लिखे छन्द में एक फूहड़ का कैसा विचित्र वर्णन किया गया है।

> माता ही को मास तोहि लागतु है मीठो मुख
> पियत पिता को लोहू नेक न अघाति है।
> भैयन के कंठन को काटत न कसकति,
> तेरो हियो कैसो है जु कहत सिहाति है।
> जब जब होति भेंट मेरी भटू तब तब,
> ऐसी सौहैं दिन उठि खाति न अघाति है।
> प्रेतनी पिशाचिनी निशाचरी की जाई है तू,
> कैसोंराय की सौं कहु तेरी कौन जाति है।

इसके पढ़ने से जहाँ उस मैली-कुचैली गन्दी स्त्री के प्रति घोर घृणा होती है, वहाँ उसकी दशा का हूबहू काव्यमय शब्द-चित्र अंकित हुआ, देखकर पाठक को आनन्द भी प्राप्त होता है। यही वीभत्स रस की उपयोगिता है।

जहाँ ग्लानि और घृणा की परिपुष्टि होती है, उसे वीभत्स रस कहते हैं।

वीभत्स रस का स्थायीभाव ग्लानि वा घृणा, देवता महाकाल और वर्ण नील है।

सड़ी-गली और दुर्गन्धित वस्तुएँ, मांस, रुधिर, पीव, चर्बी, विष्ठा, मूत्रादि वीभत्स रस के आलम्बन हैं।

सड़े-गले और कीड़े पड़े हुए पदार्थों पर मक्खियाँ भिनभिनाते देखना, घिनौनी वस्तुओं की चर्चा सुनना, या कहना आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं।

थूकना, मुँह फेर लेना, नाक सिकोड़ना या बन्द करना, आँख मूँदना, कम्प, रोमाञ्च आदि वीभत्स रस के अनुभाव हैं।

अपस्मार, मोह, आवेग, व्याधि, मरण आदि इस रस के संचारी भाव हैं।

शंकर कविराज ने नीचे लिखे पद्य में फूहड़ का कैसा वीभत्सता पूर्ण वर्णन किया है—

> भौंड़े मुख लार बहै आँखिन में ढीड़ राधि—
> कान में सिनक रेंट भीतिन पै डार देति।
> खर्र-खर्र खुरचि खुजावै मटुका सो पेट,
> टूँड़ी लौं लटकते कुचन कों उघार देति॥
> लौटि-लौटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि,
> बीनि-बीनि ढींगर नखन धरि मार देति।
> लूँगरा गंधात चढ़ी चीकट सी गात मुख—
> धौवे ना अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति॥

वाह! फूहड़ क्या बहार दे रही है!! उपर्युक्त पद्य में, भौंड़े मुख से लार का बहना, आँखों से ढीड़ और कान से राध का चुचाना आदि घृणा के आलम्बन हैं। रेंट सिनक कर भीतों पर डालना, 'ढींगर' बीन-बीन कर मारना आदि उसके उद्दीपन। उक्त घिनौनी बातों को देख नाक सिकोड़ना, थूकना आदि स्वाभाविक हैं, वे ही घृणा के अनुभाव हुए। इन सबके मिलने से ही यहाँ वीभत्स रस उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना चाहिए।

कविवर रत्नाकर के निम्नलिखित श्मशान वर्णन में कैसी वीभत्सता भरी हुई है—

> कहुँ लागति कोउ चिता कहूँ कोऊ जाति बुझाई।
> एक लगाई जाति एक की राख बहाई।
> विविध रंग की उठति ज्वाल दुरगंधनि महकति।
> कहुँ चरबी सों चट चटाति कहुँ दह दह दहकति।

कहुँ फूँकन हित धर्यो मृतक तुरतहि तहँ आयो।
पर्यौ अंग अध जर्यो कहूँ कोऊ कर खायो।
कहूँ श्वान इक अस्थि खंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारो महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत।
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत।
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे।
भए इकट्ठा आनि तहाँ डाकिनि पिशाचगन।
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन।
आकृति अति विकराल धरे क्वैला से कारे।
वक्र बदन लघुलाल नयन जुत जीभ निकारे।
कोउ कड़ाकड़ हाड़ चावि नाचत दै ताली।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली।
कोउ अँतड़ी की पहिरि माल इतराय दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत।
कोउ मुंडनि लै मान मोद कंदुक लौं डारत।
कोउ रुंडनि पै बैठि करेजो फारि निकारत।

और भी देखिए—

कोटि कुंड मुंडनि के रुंड में लगाय तुंड,
झुंड झुंड पान कै कै लोहू भूत चेटी है।
घोड़न चबाय चरबीन सों अघाय लेटी,
भूख सब मरे मुरदान में समेटी है॥
लाल अंग कीन्हे सीस हाथन में लीन्हें,
अस्थि भूषन नगीने आंत जिन पै लपेटी है।
हरष बढ़ाय अँगुरिन को नचाय पियें
सोनित पियासी सी पिसाचिनि की बेटी है॥

ऊपर के पद्य में हाथियों का लहू पीना, घोड़ों को चबाना, अँतड़ी लपेटी हड्डियाँ हाथों में धारण करना आदि कार्य घृणा के उत्पादक हैं।

महाकवि भूषण ने वीभत्स रस में तलवार का वर्णन कितनी सुन्दरता से किया है—

रहत अछक पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जो नाँगी डर काहू के डरै नहीं।
भोजन बनावै नित चोखे खान खानन के,
सोनित पचावै तऊ उदर भरै नहीं॥
उगिलत आसौ तऊ सुकल समर बीच,
राजै राव बुद्ध-कर बिमुख परै नहीं।
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौलौं,
जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं॥

तलवार का नंगी रह कर रुधिर पीना, चोखे 'खान खानाओं' को खाना, और गजराजों की गजक बनाना आदि सभी कार्य घृणा व्यञ्जक होने से वीभत्स. रस के उत्पादक हैं।

और देखिए नीचे लिखे छप्पय से कैसा वीभत्स रस प्रवाहित हो रहा है—

सिर पै बैठो काग आँखि दोउ खात निकारत।
खेंचत जीवहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उपारत।
श्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खान विचारत।
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यौ सब को हियो॥
मनु ब्रह्म भोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो॥

आज किसी यजमान ने भुक्खड़ों को कैसा अच्छा भोज दिया है।

कविवर रामचरित उपाध्याय ने भी नीचे लिखी पंक्तियों में वीभत्स रस का कितना उत्कृष्ट वर्णन किया है—

अतिथि हैं श्वान गीदड़ गिद्ध तेरे।
सदा सब हैं मनोरथ सिद्ध तेरे।
× × ×
कहीं जल में बहे शव जा रहे हैं।
उन्हीं पर काक कहखे गा रहे हैं।

कहीं शव सड़ रहे हैं पास तेरे।
लगे पर क्यों हृदय में त्रास तेरे।
कहीं पर हो रहा है घोर हा-हा।
कहीं पर गूँजता है शान्त स्वाहा।

शवों पर बैठकर काक काँव-काँव के कड़खे गाते हैं। इधर-उधर पड़े शव सड़ रहे हैं जिन पर मक्खियाँ भिनक रही हैं। उक्त सभी सामग्री वीभत्स रस की उत्पादक हैं।

अब कविवर मैथिलीशरण जी का वीभत्स-वर्णन भी पढ़ लीजिए—

इस ओर देखो रक्त की यह कीच कैसी मच रही,
है पट रही खंडित हुए बहु रुंड मुंडों से मही।
कर पद असंख्य कटे पड़े शस्त्रास्त्र फैले हैं तथा,
रंग स्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा।
झुकते किसी को थे न जो नृप मुकट रत्नों से जड़े,
वे अब शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े।
पेशी समझ माणिक्य को वह विहग देखो ले चला,
पड़ भोग की ही भ्रान्ति में संसार जाता है छला।

युद्ध भूमि का कैसा घिनोना चित्र ऊपर की पंक्तियों में अंकित किया गया है।

शंकर जी के नीचे लिखे दोहे भी वीभत्स के अच्छे उदाहरण हैं—

रहि घूँघट की ओट में कबहुँ न त्यागी लाज।
सो द्वै नैना काढ़ि कै कागनु खाये आज॥

× × ×

अगणित जन जिनके चरण चूमते हे शिर नाय।
तिनकी सूखी खोपड़ी खड़कें ठोकर खाय॥

उक्त दोहों को पढ़कर मनुष्य के हृदय में इस असार संसार के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न होकर वीभत्स रस का संचार होने लगता है।

कविवर सनेही जी की आगे लिखी पंक्तियों में भी वीभत्स का बड़ा अच्छा वर्णन है—

कहीं धक-धक चिताएँ जल रही थीं।
धुआँ मुँह से उगल बेकल रही थीं।
कहीं शव अध जला कोई पड़ा था।
निठुरता काल की दिखला रहा था।

× × ×

नीचे लिखे सवैया में क्रोध की मूर्ति नायिका का कैसा चित्र खींचा गया है—

होत ही प्रात जो घात करै नित पार परोसिन सों कल गाढ़ी।
हाथ नचावति मूँड़ खुजावति, पौरि खड़ी रिस कोटिक बाढ़ी।
ऐसी बनी नखते सिखलौं 'ब्रजचंद' ज्यों क्रोध समुद्र ते काढ़ी।
ईंट लिए बतराति भतार सों भामिनि भौन में भूत सी ठाढ़ी।

उक्त पद्य में वर्णित 'भूत सी भामिन' के क्रिया-कलाप से घृणा होती है, अतः यहाँ वीभत्स रस हुआ। और देखिए—

सासु के विलोके सिंहनी सी जमुहाई लेति,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुँह बावती।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकारे बैठी,
देवर के देखे डाकिनी सी डरपावती॥
भनत 'प्रधान' मोछें जारती परोसिन की,
खसम के देखे खौंव खौंव करि धावती।
कर्कसा कसाइनि कुलच्छिनी कुबुद्धिनी ये,
करम के फूटे घर ऐसी नारि आवती॥

प्रधान कवि के उक्त कवित्त में भी किसी कर्कशा का वर्णन घृणा व्यञ्जक होने से वीभत्स का उत्पादक है।

वीभत्स के उदाहरण में नीचे लिखी पंक्तियाँ भी पढ़ने लायक हैं—

कट कटहिं जम्बुक भूत प्रेत पिशाच खप्पर साचहीं।
वैताल वीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नाच हीं।
अन्त्रावली गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम पुर बासिन मनहु बहु बाल गुड्डि उड़ावहीं॥

+ + +

कादर-भयंकर रुधिर-सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त बहति भयावनी।
जल जन्तु गज पदचर तुरग रथ विविध बाहन को गनै।
शर शक्ति तोमर परशु चाप तरंग चर्म कमठ घनै॥

यहाँ युद्ध भूमि में होने वाले भूतप्रेतादि तथा काक, गीध, श्वान, श्रृगाल आदि के क्रिया-कलाप घृणा उत्पन्न करते हैं, अतः यह वीभत्स रस हुआ।

नीचे लिखे पद्य में कविवर हरिऔध ने बालिकाओं और विधवाओं पर अत्याचार करने वाले नर-पिशाचों का कैसा घृणोत्पादक चित्र खींचा है—

साँप ते डरावने भयावने हैं भूतन ते,
काक जैसे कुटिल अपार अरुचिर हैं।
अपजस-भाजन कलंक के निकेतन हैं,
कामुकता-मन्दिर के निन्दित अजिर हैं॥
'हरिऔध' मानव सरूप माँहि दानव हैं,
आँखि-कान अछत ते आँधर बधिर हैं।
हाड़ जे चिचोरत बिचारी बिधवान के हैं,
भोरी बालिकान के जे चूसत रुधिर हैं॥

वस्तुतः ऐसे लोग मानव के रूप में दानव ही हैं।

रामचरित मानस में भी वीभत्स रस का अच्छा वर्णन किया गया है, नीचे उसी में से कुछ चौपाइयाँ उद्धृत की जाती हैं।

मज्जहिं भूत पिशाच बिताला, प्रथम महा झोटिंग कराला।
खींचहिं गीध आँत तट भए, जनु बसी खेलहिं चित दए।
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं, इकते छीनि एकलै खाहीं।
बहु भट बहे चढ़े खग जाहीं, जनु नावरि खेलहि सरि माहीं।
स्रवहिं शैल जनु निर्झर बारी, शोणित सर कादर भयकारी।

उक्त चौपाइयों में युद्ध क्षेत्र की वीभत्सता का वर्णन किया गया है।

अब भूषण जी का वीभत्स वर्णन भी सुन लीजिए—

भूप शिवराज कोप करि रन मण्डल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकता के दरबारे में।

काटे भट विकट रु गजन के सुंड काटे,
पाटे उर भूमि काटे दुवन सितारे में ॥
'भूषन' भनत चैन उपजै सिवा के चित्त,
चौसठ नचाई सबै रेवा के किनारे में।
आतन की ताँत बाजी खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।

उपर्युक्त पद्य में नाचना, गाना, बजाना आदि का वर्णन भी वीभत्स के साथ हुआ है।

सत्यनारायण जी के नीचे लिखे पद्य में भूत-पिशाच कैसा पर्व मना रहे हैं। देखिए—

अति ताप तें अस्थि पसीजन सों कढ़े मेद की बूँदन जो टपकावें।
तिन धूम धुमारिन लोथिन कों ये पिशाच चितान सों खैंचि के खावें।
ढिलियाय खस्यौ कच माँस सबै जिहि सों जुग सन्धि हू भिन्न लखावें।
अस जंघ नली गत मज्जा मिली सद पी चरबी परबी-सी मनावें ॥

पिशाच गण चिता में से अध जली लाशों को खींचकर खाकर और जाँघ की हड्डी में से पिगलकर बहती हुई चरबी को पीकर अति प्रसन्न होते हैं।

और देखिए, राम-रावण के युद्ध में रुधिर से स्नान करके भूत पति कैसे नाच रहे हैं—

इतहि प्रचंड रघुनन्दन उदंड भुज,
उतै दशकंठ बढ़ि आयौ डरु डारि कै।
'सोमनाथ' कहै रन मंड्यौ फर मंडल में,
नाच्यौ रुद्र सोनित सौं अंगनि पखारि कै।
मेद गूद चरबी की कीच मची मेदिनी में,
बीच-बीच डोलें भूत भैरौं मद धारि कै।
चायनि सों चंडिका चबाति चंड मुंडनि कों,
दंतनि सों अंतनि निचोरै किलकारि कै ॥

सोमनाथजी के उपर्युक्त पद्य में पृथिवी पर मज्जा-मेद के बिखरने से कीच हो जाने और चंडिका के मुंड चबाने का वर्णन वीभत्स रसोत्पादक है।

इस प्रसंग में कवि लछिराम का निम्नलिखित कवित्त भी पढ़ने योग्य है।

समर समीप रामचन्द्र और रावण के,
बानन की बरसा घटा-सी घिरि जाति हैं।
कोटिन सुभट परैं परिहरि प्राण भूमि,
तिन्हैं हेरि गीधन की सेना मँडराति हैं॥
कवि 'लछिराम' कालिका की किलकारैं सुनि,
जंग जोरि जोगिनी-जमाति हरषाति हैं।
खोपरी के प्यालन में करति रुधिर पान,
आँतन की माला गर चरबी चबाति हैं॥

राम रावण के युद्ध में प्राण त्यागकर पड़े हुए करोड़ों योद्धाओं के शवों पर गिद्धों की सेना मँडरा रही है। जोगिनियों की जमात प्रसन्न होती हुई खोपड़ियों के प्यालों में भर-भर कर रुधिर पान कर रही है। पिशाचों की मंडली आँतों की माला गले में डाले चरबी चाटती हुई घूम रही है। वीभत्स रस का कितना उत्कृष्ट वर्णन है।

अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायी भाव आश्चर्य है। अलौकिक घटना या वस्तु के देखने, सुनने, अथवा उसका अनुमान आदि करने से इस रस का बोध होता है। जिस विचित्र और लोकोत्तर दृश्य को देखकर मनुष्य की बुद्धि चकराती और उसका कारण जानने में अक्षम-सी हो जाती है, वही अद्भुत रस है। घटना की लोकोत्तरता या विचित्रता से एक प्रकार का अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है। मनुष्य का मस्तिष्क उस विचित्रता का कारण जानने के लिए आतुर होता है, और यदि यह कारण भी विचित्र हुआ तब तो आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। परमात्मा की सृष्टि विचित्रताओं और आश्चर्यों से पूर्ण है। जिधर आँख उठा कर देखिये उधर ही उस जगन्नियन्ता की विस्मय-कारिणी कारीगरी दिखायी देती है। बड़े बड़े वैज्ञानिकों के सिर पटकने पर भी उस महामहिम का गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आया। भौतिक विकास की विभूतियाँ भी आश्चर्यजनक हैं, परन्तु वे वैज्ञानिक आधार पर आविष्कृत होने के कारण, उतनी आश्चर्यमयी नहीं, जितनी सृष्टि की स्वाभाविक

विचित्रताएँ। हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, टेलिग्राफ़ आदि सर्व साधारण के लिए भले ही आश्चर्यजनक हों परन्तु उनका कारण समझने वालों के लिए वह वैसी नहीं रहतीं। आश्चर्य तो वहाँ है, जहाँ कारण और कार्य दोनों लोकोत्तर हों—दोनों का अनुमान करके बुद्धि चक्कर में पड़ जाती हो। अद्भुत रस में हास्य रस की अपेक्षा अधिक विपरीतता होती है। जिसमें हास्य की मात्रा नहीं होती, उसे अद्भुत रस अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। अद्भुत रस का सबसे बड़ा प्रभाव मनुष्य पर यह पड़ता है, कि उसे संसार की विस्मयकारिणी विचित्रताओं को देखकर, उनके कारणों के जानने की इच्छा होती है। अन्वेषण शक्ति बढ़ती और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को समझने की जिज्ञासा जगती है। विचित्रता पूर्ण विश्व को देखकर परमात्मा की सत्ता महत्ता में अटल विश्वास हो जाना तो स्वाभाविक है।

विस्मय की परिपुष्टि को अद्भुत रस कहते हैं।

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय अथवा आश्चर्य, देवता ब्रह्मा या गन्धर्व और वर्ण पीत है।

विचित्र वस्तु, अलौकिक चरित्र, व्यापार, वार्ता तथा दृश्य इसके आलम्बन विभाव हैं।

आश्चर्य में डाल देने वाले कार्यों या वस्तुओं का देखना, अलौकिक गुणों या बातों का सुनना, इच्छित वस्तु की अचानक प्राप्ति, अत्यन्त प्रतिष्ठा पाना, माया, इन्द्रजाल आदि अद्भुत रस के उद्दीपक हैं।

नेत्र विकास, एक टक देखते रहना, रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, स्तम्भ, गद्गद् स्वर, सम्भ्रम आदि इसके अनुभाव हैं।

वितर्क, आवेग, भ्रान्ति हर्ष, कम्पन, उत्सुकता, चञ्चलता, प्रलाप, स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद् कंठ, रोमाञ्च आदि अदभुत रस के सञ्चारी भाव हैं।

देखिए शङ्कर जी ने अपने नीचे लिखे कवित्त में कामदेव द्वारा समस्त संसार को जीत लेने का वर्णन कैसे अद्भुत ढंग से किया है—

> ऐसो सूरमान को शिरोमणि प्रतापी पुत्र,
> पायो मन चञ्चल नपुंसक कहाये ने।

सेवा करें रस राज ऋतुराज साथी सदा,
ब्याही रति रमणी छबीली छबि छाये ने।
काम केलि बन्धन में बाँध नर-नारिन कों,
बोरे प्रेम-सिन्धु में मनोज नाम पाये ने।
'शङ्कर' के कोप ने अनङ्ग करि डार्यौ तऊ,
सारो जग जीति लियो हीजड़ा के जाये ने॥

यहाँ चञ्चल और नपुंसक मन के पुत्र होना, आलम्बन विभाव है। उस मनोभव काम के अनङ्ग होने पर भी उसके द्वारा समस्त संसार का जीता जाना उद्दीपन विभाव है। इस प्रकार की आश्चर्यजनक और अनहोनी बातों को सुन या देखकर सम्भ्रम पूर्वक मनुष्य के नेत्रों का विकसित हो जाना अनुभाव और वितर्क उत्सुकता आदि सञ्चारी भाव हैं। अतः यहाँ अदभुत रस हुआ।

नीचे के सवैया में कैसे विचित्र ढंग से 'पावक-पुंज में पंकज' फुलाया गया है—

झूमति आई नवेली भटू जनु जोवन हाथी अनंग ने हूल्यौ।
ठाढ़ी भई मन भावन के ढिंग 'शङ्कर' नेह उमंग सों ऊल्यौ।
लाल दुकूल के घूँघट में धन को मुख देखि धनी सुधि भूल्यौ।
बौरे की भाँति पुकारि उठ्यौ अरे पावक-पुञ्ज में पंकज फूल्यौ॥

अग्नि में कभी कमल नहीं खिला करता, वह तो जल ही में विकसित होने की चीज़ है, परन्तु कवि ने अपनी नव नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा द्वारा इस असम्भव को सम्भव-सा कर दिखाया है।

लाल साड़ी के घूँघट में छिपे हुए नायिका के मुख मण्डल को देखकर नायक की सुधि बुधि बिसर गई और वह बावले की भाँति पुकार उठा— 'अरे! अग्नि की लपटों में कमल कैसे खिल उठा। यहाँ लाल साड़ी के घूँघट को पावक-पुञ्ज और मुख को पङ्कज से उपमा दी गई है।

शङ्कर जी का अद्भुत रस सम्बन्धी एक सवैया और भी देख लीजिए—

'शङ्कर' तेल मलै रज को मृग नीर में न्हाइ सुबेस बनावै।
भूषण धार खपुष्पन के सब ओर दिगम्बर देह दुरावै॥

नाम असिद्ध असम्भव की धन देख अभौतिक रूप दिखावै।
पुत्र अभावहिं गोद लिए बिन बारन माँग सँवारति आवै॥

यहाँ असिद्ध नामक असम्भव की 'धन' (पत्नी) का कैसा विचित्र वर्णन किया गया है। मृग-मरीचिका के जल में स्नान कर बालू का तेल लगाना, दिगम्बरों द्वारा शरीर ढक कर आकाश-पुष्पों के भूषण सजाना, अभाव नामक पुत्र को गोद में खिलाना और बिना बालों के माँग सँवारना एक से एक अद्‌भुत कार्य हैं।

महाकवि हरिऔध ने अद्‌भुत रस के उदाहरण में नीचे लिखा पद्य दिया है—

देहिन को सुचित सनेहिन समान करि,
पंख अति मंजुल पवन के हिलत हैं।
चन्द के मनोरम करनि ते अवनि काज,
चाँदनी के सुन्दर बिछावने सिलत हैं॥
'हरि औध' कौन कहै काके अनुकूल भए,
सीपन में मोती मन भावने मिलत हैं।
कीच माँहि अमल कमल विकसित होत,
धूलि माँहि सुमन सुहावने खिलत हैं॥

कीचड़ जैसी गन्दी चीज़ से कमल समान सुन्दर वस्तु का उत्पन्न होना, तथा धूल में गुलाब जैसे फूल खिलना कम आश्चर्य की बातें नहीं हैं।

कविवर पद्‌माकर के नीचे लिखे पद्य में अद्‌भुत रस का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है—

सात दिन सात राति करि उतपात महा,
मारुत झकोरें तरु तोरें दीह दुख में।
कहै 'पद्‌माकर' करौ त्यौं धूम धारन हूँ,
एते पै न कान्ह काहू आयो रोष रुख में।
छोर छिगुनी के छत्र ऐसो गिरि छाइ राख्यौ,
ताके तरे गाय गोप-गोपी खरे सुख में।
देखि-देखि मेघन की सेन अकुलानी रह्यो--
सिन्धु में न पानी अरु पानी इन्द्र मुख में॥

इन्द्र ने कुपित होकर व्रज पर प्रलय काल की-सी वर्षा की, आँधी चलाई, बड़े-बड़े वृक्ष जड़ से उखाड़ कर फेंक दिए। सात दिन सात रात अनवरत मूसलधार वर्षा होते रहने के कारण सिन्धु का पानी समाप्त होगया, और मेघों को आशा एवं प्रोत्साहन देते-देते इन्द्र का मुख सूख गया। इतना सब कुछ करके भी वह व्रज का कुछ भी न बिगाड़ सका, क्योंकि वहाँ तो कृष्ण ने गोवर्धन को उठा व्रज के ऊपर छतरी की भाँति तान रक्खा था। उसके कारण व्रज पर एक बूँद भी नहीं गिर सकी, कहिए, है न आश्चर्य की बात।

कवि लछिराम का नीचे लिखा कवित्त अद्‌भुत रस का सुन्दर उदाहरण है—

लंकनाथ हेरि जाके लरजि रह्यौ है हिय,
मन्दर उठायो जो दिगम्बर सुबेस को।
राजा राजकुँवर सुभट पुर तीन हू के,
बल करि थाक्यौ जो थकावन सुरेस को।
कवि 'लछिराम' जोर-सोर अचरज छायौ,
कम्प सरसायौ पल ही में देस-देस को।
कर में तिनूका सम करिकै कुमार राम,
मन्द मुसिकाय तोर्‌यौ धनुष महेस को॥

जिस रावण ने मन्दराचल को उठा लिया था, वह भी शिव जी के धनुष को न उठा सका। परन्तु रामचन्द्रजी ने उसे पल-भर में तिनके की तरह उठा कर तोड़ डाला। कैसे आश्चर्य की बात है।

कवि केशव का भी अद्‌भुत रस सम्बन्धी एक सवैया पढ़ लीजिए—

आप सितासित रूप चितै चित श्याम शरीर रँगै रँग राते।
'केशव' कानन हीन सुनै सुकहै रसकी रसना बिन बातें।
नैन किधौं कोऊ अन्तर्यामी री जानत नाहिं न बूझति ताते।
दूर लौं दौरत है बिन पायन दूर दुरी दरसै मति जाते॥

वह बिना कानों के सुनता और बिना वाणी के बोलता है। नेत्र न होते हुए भी घट-घट की बातें देखता और बिना पैरों दूर तक दौड़ लगाता है।

ये सब बातें आश्चर्य-सागर में डाल देने वाली होने से अद्भुत रस की उत्पादिका हैं।

और भी देखिए—

गगन बगीचे बीच बेत के चरत फूल,
मृग जल पीके लेत प्यास को बुझाई है।
कल्पना पुरी को ग्वाल गूँगों और पंगु एक,
डोलै संग बोलै बोल करन हटाई है॥
हवा के घड़ा में दूध दुहि कै अखंड जाको,
भित्ति वारे चित्रन कों देत सब प्याई है।
भावी पुर माँझ देखो प्रात सों लगाय साँझ,
भाँति-भाँति बछड़े बियाति बाँझ गाई है॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण जी के उपर्युक्त कवित्त में गगन के बगीचे में बेत के फूल खाने वाली, मृग तृष्णा का पानी पीने वाली बाँझ गाय का ब्याना और गूँगे तथा लुंजे ग्वाल का उसके साथ डोलना एवं हवा के घड़े में दूध दुहकर भीत पर बनी तसवीरों को पिलाना आदि सभी असम्भव बातों का वर्णन है, जिन्हें पढ़ सुनकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

उदाहरणार्थ महा कवि केशव जी का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

माखन के चोर मधु चोर दधि दूध चोर,
देखत हों देखत ही हियौ हरि लेत हैं।
पुरुष पुराण और पूरण पुराण इन्हें,
पुरुष पुराण सो कहत किहि हेत हैं॥
'केसोदास' देखि-देखि सुरन की सुन्दरी वै,
करतीं विचार सब सुमति समेत हैं।
देखि गति गोपिका की भूलि जात निजगति,
अगतिन कैसे धौं परम गति देत हैं॥

न जाने कृष्ण को वेद-पुराण और ऋषि मुनि पुराण पुरुष क्यों कहते हैं? अरे ये तो माखन चुराते, दही दूध चुराते, यहाँ तक कि देखते ही देखते हम लोगों के हृदय भी चुरा लेते हैं। जो गोपिकाओं की चाल पर मुग्ध होकर

अपनी मति भूल जाते हैं, वह भला अगतिकों को कैसे परम गति प्रदान करते होंगे। आश्चर्य है !

और भी मुलाहिज़ा कीजिए—

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बँधिबो है मृणाल सों मत्त करी जुही फूल सों शैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि 'शङ्कर' रैनु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥

मूर्खों को कविता समझा सकना उतना ही कठिन है, जितना समुद्र को सीपी में भर लेना, पृथिवी को कनिष्ठिका उँगली पर रख लेना, बालू से तेल निकालना आश्चर्यजनक काम कर सकना। आश्चर्यजनक बातों का वर्णन होने से यहाँ भी अद्भुत रस है।

नीचे लिखे कवित्त में कैसी अद्भुत नायका का वर्णन किया गया है—

मैं मैं करती है भेंड़ें भोंड़े मुख भाषण पै,
चाटि-चाटि चौंड़े को कलोल करैं कूकरी।
लोमड़ी खिलावें खेल बानरी बिलोकती हैं,
गावें गुण गीदड़ी सराहती हैं, शूकरी॥
भूतनी पलोटें पाय, चाकरी चुड़ैल करें,
डामा डोल डोलें डरें डाइनि डरूकरी।
'शंकर' के सारे गण पूजें यों पुकारते हैं,
ईश ने हमारी ठकुरानी ठीक तू करी॥

ऊपर के पद्य में सभी अनहोनी सी बातों का वर्णन होने से यहाँ अद्भुत रस है।

नीचे लिखा पद्य भी इस प्रसंग में पढ़ने लायक है—

आँखों का बिगाड़ा रोग अन्धा किया चाहता है,
घाटा घुसा जीवन सुधार की कमाई में।
हाय सुख शङ्कर न पाता एक पल को भी,
भासे दयाभाव न दरद दुख दायी में॥
गोलाकार कालिमा को श्वेतिमा दबोच बैठी,
धौरा पन डेले ने धकेला अरुणाई में।

तुच्छ काले तिल में महातम समाया मानो,
सोता गज मच्छर के पैर की बिवाई में ॥

छोटे से काले तिल में इतना विस्तृत और व्यापक अन्धकार घुस बैठा है, मानो मच्छर के पैर की बिवाई में हाथी सो रहा हो । आँख के काले तिल में विकार आ जाने पर फिर सर्वत्र अंधकार के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि संसार व्यापी अन्धकार-समूह उस छोटे से तिल में केन्द्रीभूत होगया हो । इसी के लिए कवि ने 'सोता गज मच्छर के पैर की बिवाई में' से उपमा दी है । यहाँ यह असम्भव वर्णन ही अद्भुत रस का व्यञ्जक है ।

शङ्कर कविराज का नीचे लिखा कवित्त अद्‌भुत रस का क्या ही सुन्दर उदाहरण है—

जाके आदि अन्त को न योगी जन जानत हैं,
नेति नेति वेद ने अनेक वार गाई है ।
भूमि जल पावक समीर नभ काल दिशा,
आदि में अमाई पर पूरी न समाई है ॥

× × ×

ऐसी बड़ी ब्रह्म की बड़ाई गुरु देव जू ने,
ज्ञान द्वारा 'शङ्कर' के ध्यान में धसाई है ॥

जिसके आदि अन्त को त्रिकालदर्शी योगी लोग भी नहीं जान पाते, जिसकी सत्ता-महत्ता पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा आदि सब में ठसाठस भरी है, परन्तु पूरी इनमें भी नहीं समा सकी । उस ब्रह्म की ऐसी बड़ी बड़ाई को गुरुदेव ने दयाकर के ज्ञान के द्वारा शंकर के ध्यान में घुसा दिया कैसी आश्चर्य-जनक बात है !

महाकवि तुलसीदास की विनय पत्रिका से अद्‌भुत रस का एक पद नीचे उदधृत किया जाता है ।

केशव, कहि न जाय का कहिये ।
देखत तुव रचना विचित्र अति समुझि मनहिमन रहिये ॥

शून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे।
धोये मिटै न मरे भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रवि-कर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥

यहाँ निराकार भीत पर बिना रंगों के चित्र बनाना, सूर्य की किरणों में जल का होना और उसमें भी भयानक मकर का रहना आदि सभी विस्मयोत्पादक बातें हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का नीचे लिखा सवैया अद्भुत रस का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

ज्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाब को फूल लजायो।
त्यों 'हरिचन्द जू' पंकज के दल सों सुकुमार सबै अँग भायो।
अमृत मे युग ओंठ लसैं नव पल्लव सों कर क्यों है सुहायो।
पाहन सो मन होत सबै अँग कोमल क्यों करतार बनायो॥

जब नायिका का हृदय पत्थर जैसा कठोर है, तो विधाता ने उसके अन्य अङ्ग गुलाब, कमल या नव पल्लव के समान सुकुमार व्यर्थ ही बनाए हैं।

नीचे लिखा सवैया भी अद्भुत रस का अद्भुत उदाहरण है—

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावें।
जाहि अनादि अखण्ड अनन्त अछेद अभेद सुवेद बतावें।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावें।
ताहि-अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछि पै नाच नचावें।

जिस परमब्रह्म को वेदों ने अखण्ड, अनन्त, अछेद्य और अभेद्य बताया है; शेष, गणेश, महेश, दिनेश और सुरेश भी जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं, नारदादि ऋषि मुनि तपस्या करते करते थक गए, पर उसका पार न पा सके, उसी को अहीरों की लड़कियाँ जरा सी छाछ के लिए नाच नचाती हैं। खूब !

रसखान जी के नीचे लिखे सवैया में भी अद्भुत रस का बड़ा सुन्दर वर्णन है—

ब्रह्म में ढूँढ्यौ पुरानन गानन वेद ऋचा सुनि चैागुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कि तू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।

टेरत हेरत हारि पर्‌यौ 'रसखानि' बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुर्‌यौ वह कुञ्ज कुटीर में बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन।

जो ब्रह्म, वेद-पुराणों में खोजने पर भी न मिला, जिसे खोजते-खोजते मैं परेशान हो गया, वही आज अचानक मिल गया! और मिला भी कहाँ! वन-कुञ्ज में राधिका जी के पैर पलोटते हुए।

अब केशव जी का भी अद्‌भुत रस वर्णन देखिए—

कर्ण से दुष्ट से पुष्ट हते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे।
सोदर से न दुशासन से सब साथ समर्थ भुजा उस तारे।
साथी हजारन के बल 'केशव' खैंचि थके पट कोऊ न डारे।
द्रौपदि को दुर्योधन पै तिल अंक तऊ उघर्‌यौ न उघारे॥

कर्ण जैसे बलवान् जिसके योद्धा, दुष्ट दुःशासन सरीखे जिसके भाई और स्वयं जिसमें हज़ारों हाथियों का बल था, ऐसा दुर्योधन भी द्रौपदी का चीर खींचते-खींचते थक गया, पर उसका तिल भर भी अंग नगा न कर सका। है न अचरज की बात!

अद्‌भुत रस के उदाहरण में मैथिली बाबू का नीचे लिखा छन्द देखिए—

उस एक ही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस-जिस ने किया?
मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
जिस भाँति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घन घटा।
सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्र-छटा।
तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा।
आचार्य! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा।

यहाँ अकेले बालक अभिमन्यु का अनेक महारथी शत्रुओं से एक साथ युद्ध करके उन्हें मार डालना या समर से पराङ्मुख कर भगा देना, कितने आश्चर्य की बात है!

पद्माकर जी ने नीचे लिखे पद्य में अद्‌भुत रस का कैसा अच्छा वर्णन किया है—

मुरली बजाई तान गाई मुसक्याय मन्द,
लटकि लटकि भई नृत्य में निरत है।

कहै 'पद्माकर' गोविन्द को उछाह अहि—
विष को प्रवाह प्रति मुख ह्वै झिरत है ॥
ऐसो फैल परत फुसकरत ही में मनों,
तारन को वृन्द फूत्कारन गिरत है ।
कोप करि जौलों एक फन फुफुकावै काली,
तौलों बन माली सौऊ फन पै फिरत है ॥

काली नाग जिस समय फुसकार मारता है, उस समय उसके फनों में से गिरते हुए विष-विन्दु ऐसे जान पड़ते हैं, मानों आकाश से तारे झर पड़े हों। परन्तु कृष्ण मुरली बजाते हुए उसके फनों पर नाचते फिरते हैं। उन पर काली के विष का जरा भी असर नहीं होता।

पद्माकर जी का नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने लायक है—

घन बरसत कर पर धर्यौ, गिरि गिरिधर निःशंक ।
अजब गोप सुत चरित लखि सुरपति भयो सशंक ॥

× × ×

रामचरित मानस से अद्भुत रस की कुछ चौपाइयाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

सती दीख कौतुक मग जाता, आगे राम सहित सिय भ्राता ।
फिर चितवा पाछे सोई देखा, सहित बन्धु सिय सुंदर बेखा ।
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना, सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना ।
देखे शिव विधि विष्णु अनेका, अमित प्रभाव एक ते एका ।
वंदत चरन करत पग सेवा, विविध वेष देखे सब देवा ।

सती विधात्री इन्दिरा देखी अमित अनूप ।
जिहि जिहि वेश अजादि सुर तिहि तिहि तनु अनुरूप ॥

× × ×

बिन पग चलै सुनै बिन काना, कर बिन कर्म करै विधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिन वाणी वक्ता बड़ योगी ।

× × ×

दिखरायो मातहिं जो अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति राजही कोटि-कोटि ब्रह्मंड॥

उपर्युक्त पंक्तियों में भी सब विस्मयोत्पादक बातों का ही वर्णन है।

शान्त रस

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। यह रस मानव हृदय को अपार शान्ति प्रदान करने वाला है। सांसारिक विषय वासनाओं और भोग-विलासों से विरक्त होकर, जब मनुष्य परम प्रभु परमात्मा की अद्भुत सत्ता-महत्ता में अटल विश्वास रख, उसी के गुण, कर्म स्वभाव का अनुगामी बन, उसी में लीन होने लगता है, तब इस रस का प्रादुर्भाव होता है। शान्त रस से सम्बन्धित होने पर न किसी को मोह माया सताती है, और न किसी प्रकार की तृष्णाएँ शेष रहती हैं। जीवन का उद्देश्य एकमात्र भगवद्भक्ति बन जाता है। शान्त रस के प्रादुर्भाव का कोई समय निश्चित नहीं किया जा सकता, जिस समय और जिस अवस्था में निर्वेद की प्रधानता होकर उत्कट वैराग्य की दिव्य आभा प्रस्फुटित होने लगता है वही शान्त रस का समय है। बुढ़ापे में शान्त रस की प्रधानता इसलिये मानी जाती है कि उस समय सारी शक्तियाँ क्षीण और मंद पड़ जाती हैं, मन भर जाता है, उत्साह की कमी हो जाती है, ऐसी दशा में विवश होकर, ईश्वर-चिन्तन की ओर प्रवृत्ति होती है; परन्तु यह बात सब वृद्धों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। बहुत से लोगों के शरीर तो बूढ़े हो जाते हैं, परन्तु उनकी तृष्णा तथा विषयेच्छा उत्तरोत्तर बलवती बनती जाती है। कितनों ही को अल्पायु में ही निर्वेद के कारण शान्त रस की सम्प्राप्ति होने लगती है। कभी-कभी विषय-विरक्ति के विशेष कारण भी पैदा हो जाते हैं। अर्थात् जीवन में कोई ऐसी घटना हो जाती है, जो तुरन्त ही मन को सांसारिक विषयों से मोड़ कर केवल परमात्मा की ओर कर देती है।

वास्तव में शान्त रस मनुष्य को मानवता के उच्च आदर्श पर लेजा कर उसे परम पद प्राप्त कराने वाला है। इस रस में न लोभ है, न मोह, न शोक है न भय और न राग, न द्वेष आदि मनोविकार ही शेष रह जाते हैं। सर्वत्र एकत्व बुद्धि काम करती है; प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक स्थान पर

सर्व शक्ति सम्पन्न परमात्मा का ही पवित्र प्रादुर्भाव दिखायी देता है। जिसे शान्त रस का आनन्द प्राप्त है, उसे संसार के क्षणिक सुख-भोगों में कुछ भी तत्व दिखायी नहीं देता। उसकी दृष्टि में परमात्मा ही सार वस्तु है, शरीर की भी सुधि उसे नहीं रहती। वह आज नष्ट हो या अभी अथवा पचास वर्ष बाद या उससे भी आगे। इस प्रकार की बातें उसके लिए गौण बन जाती हैं। हम लोग जिन भगवद्भक्त, वीतराग साधु-सन्तों के चारु चरित्र पढ़ते हैं, वे सब शान्त रस के ही अनन्य उपासक थे। शान्त रस की उपलब्धि सहज ही में नहीं हो जाती, जिसके शुभ संस्कारों का उदय होता है, और परमात्मा जिस पर असीम अनुग्रह करता है, वही बड़भागी शान्त रस का अधिकारी होता है।

हमारे देश में परमात्मा की भक्ति का बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। 'सब तज, हर भज' की लोकोक्ति आज भी सुनाई पड़ती है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं कि आधि-व्याधियों से तपाये मन तथा आत्मा को अगर कहीं शान्ति मिलती है, तो वह निर्वेद जनित शान्त रस में ही। जो लोग शान्ति प्राप्त करने के लिए विषय-भोगों की ओर दौड़ते हैं, अत्यन्त निराश होते हैं। और उन्हें वहाँ पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। हिन्दू धर्मशास्त्र आध्यात्मिक तत्व ज्ञान से भरा पड़ा है। उसके उत्कृष्ट सिद्धान्त आज भी अशान्त आत्माओं को सच्ची शान्ति प्रदान करने में सर्वोपरि सिद्ध हो रहे हैं। तत्त्व ज्ञान में आडम्बर या कृत्रिमता के लिए तो कोई स्थान ही नहीं। जहाँ बनावट होती है वहाँ से वास्तविकता कोसों दूर भाग जाती है। यही कारण है कि 'तत्व ज्ञान' और 'विराग' के नाम पर अगणित लोग इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, परन्तु न उन्हें स्वयम् शान्ति है और न वे दूसरों के जीवन को शान्त बना सकते हैं। कुछ लोगों ने विराग या तत्व ज्ञान का नाम 'कर्महीनता' अथवा निकम्मापन समझ रखा है। परन्तु ऐसा नहीं है, तत्वज्ञानी के लिए निज का कुछ नहीं रहता, उसका स्वार्थ कुछ नहीं है उसके भाई-बन्धु कोई नहीं हैं। सारा विश्व उसका परिवार और प्राणिमात्र उसके भाई बन्धु हैं। ऐसी दशा में वह जो कुछ करता है, सर्वथा निष्काम होकर निर्भय बुद्धि से सबके हितार्थ करता है। वह विश्व की विराटता में अपनी शुद्ध सत्ता को मिला कर कम से कम आत्मिक दृष्टि से, अपने को बिलकुल भुला देता है।

ऐसे महामति वीतराग ज्ञानी को जो अनिर्वचनीय आनन्द उपलब्ध होता है, वही देव दुर्लभ शान्त रस है। उसी की गुण-गरिमा से सारे शास्त्र भरे पड़े हैं। वही मानव जीवन का सच्चा उन्नायक और वही यथार्थ शान्ति प्रदान करने वाला, अद्भुत भाण्डार है। निर्वेद शान्त रस में स्थायी और अन्य रसों में संचारी बन कर रहता है। इसका कारण यह है कि जब तत्व ज्ञान द्वारा निर्वेद जाग्रत होता है, तब तो उसकी स्थायी संज्ञा होती है और जब वह साधारण इष्ट हानि अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उदय होता है तो व्यभिचारी कहाता है।

शान्त रस में किसी प्रकार के मनोविकार नहीं रहते, चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है। सांसारिक सुख-दुःख, राग-द्वेष, चिन्तादि का लेश भी शेष नहीं रहता। केवल अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वैराग्य में संसार की अनित्यता, विषय वितृष्णा, पश्चात्ताप, विशुद्ध भावना आदि की प्रधानता होती है। इसमें विषय भोग जन्य सुख तो नहीं रहता, परन्तु लोकोत्तरानन्द की अनुभूति होती रहती है। कुछ लोगों ने शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' माना है, जो काम क्रोध तथा संकल्प विकल्प रहित अन्तःकरण की स्वस्थावस्था से उत्पन्न होता है।

काम क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता का नाम शान्त रस है।

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद अथवा शम, देवता विष्णु या नारायण और वर्ण कुन्द पुष्प अथवा चन्द्रमा के समान शुक्ल है।

संसार की असारता और अनित्यता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप बोध इसके आलम्बन हैं।

सद्गुरु प्राप्ति, सत्संग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन, मृतक, श्मशान आदि शान्त रस के उद्दीपन हैं।

रोमाञ्च, आनन्दाश्रु, गद्गद कण्ठ इत्यादि शान्त रस के अनुभाव हैं।

धृति, मति, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव हैं।

महाकवि मैथिली शरण जी के साकेत से शान्त रस का उदाहरण दिया जाता है—

बोले फिर मुनि यों चिता की ओर हाथ कर,
देखो सब लोग, अहा! क्या ही आधिपत्य है!

त्याग दिया आप अज-नन्दन ने एक साथ,
पुत्र हेतु प्राण, सत्य कारण अपत्य है।
पा लिया है, सत्य, शिव, सुन्दर-सा पूर्ण लक्ष्य,
इष्ट हम सब को इसी का आनुगत्य है।
सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य-सुन्दर है,
सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है।

राम के वियोग में अजनन्दन (दशरथ) ने 'प्राण त्याग दिये। यह निर्वेद का आलम्बन हुआ। फिर शव को श्मशान में लेजा कर चिता चुनी गई। ये श्मशान दर्शन और चिता चयन आदि उद्दीपन हुए। इस समस्त घटना को देख, जो रोना धोना हुआ, आँसू बहाए गए यही सब अनुभाव, और फिर 'राम नाम सत्य है' ऐसी मति का उत्पन्न होना संचारी भाव हैं। इन सबसे निर्वेद पुष्ट होकर शान्त रस के रूप में परिणत हुआ। आगे भी ऐसा ही जानना।

शंकर जी के नीचे लिखे सवैया में निर्वेद का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है, देखिए—

रोवत मात पिता बनिता दुहिता सुत मित्र कुलाहल छायो।
लोगन बाँधि मसान में लाय चिता चुनि फोरि कपार जरायो॥
फूँकि पजारि गए सब गेह कुटम्ब को एकहु काम न आयो।
'शङ्कर' लायो न लैके चल्यौ कछु आयो अकेलो अकेलो सिधायो॥

जगत में प्राणी न कुछ लाया था, न यहाँ से कुछ लेकर जायगा, वह तो अकेला आता है और अकेला ही जाता है।

कविराज शङ्कर जी का नीचे लिखा कवित्त शान्त रस का सुन्दर उदाहरण है—

'शङ्कर' अखण्ड एक अक्षर की एकता में,
स्वाभाविक साधन अनेकता का साधा है।
तारतम्यता के साथ विश्व की बनावट में,
पोल और ठोस का प्रयोग आधा-आधा है॥
नाम रूप ज्ञान से क्रिया की कर्म कल्पना से,
नित्य निरुपाधि चिदानन्द में न बाधा है।

सामाधिक धारणा में ऐसा ध्रुव ध्यान है तो,
पुरुष मुकुन्द है प्रकृति प्यारी राधा है ॥

उपर्युक्त पद्य में नित्य, निरुपाधि, चिदानन्द पूर्ण पुरुष को मुकुन्द और प्रकृति को राधा बताया गया है।

महाकवि तुलसीदास के नीचे लिखे पद्य से तो शान्त रस छलका पड़ता है—

मेरे जाति पाँति ना काहू की जाति पाति चहौं,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो 'तुलसी' को एक नाम को॥
अति ही अयाने उपखानों नहीं बूझैं लोग,
साहब को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलौ कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौ जो हौं सो हौं राम को॥

उन्हें संसार से कितनी उपरामता हो गई है। वे अब न जाति से सम्बन्ध रखते हैं न परिवार से नाता। उनका तो अब केवल राम से नाता है।

और भी देखिए—

तुम करतार जग रच्छा के करन हार,
पूरन मनोरथ हौ सब चित चाहे के।
यह जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो,
हूजिये सहाय ताप मेटो दुख दाहे के॥
जो यों कहौ तेरे हैं रे करम अनैसे हम,
गाहक हैं सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि उतरेंगे पार तो पै.
हम करतार करतार तुम काहे के॥

जब अपने कर्मों द्वारा ही पार उतरेंगे, तब हम स्वयं ही 'करतार' हैं, तुम फिर 'दाल-भात में मूसलचन्द' कौन होते हो। हमने तो सुना था, तुम

सबके मनोरथ पूरे करते हो, इसीलिए हम आपकी शरण आए थे। पर यहाँ तो बिलकुल पोल निकली। जब सुकृत्य करने पर ही भव से तर सकते हैं, तब फिर हम अपने आप तर जायँगे। तुम बीच में कौन? सेनापति जी ने भगवान् को कैसा करारा उलाहना दिया है।

महा कवि तुलसीदास जी के नीचे लिखे सवैये भी शान्त रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं—

पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुही-सर पंकज-पानि लिये।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं, सरयूतट चौहट हाट हिये।
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिये॥

जिसने ऐसे बालरूप भगवान् से स्नेह नहीं किया, उसके अन्य जप, योग, समाधि आदि सब व्यर्थ हैं।

जड़ पंच मिलै जेहि देह करी करनी लघुता धरनीधर की।
जनकी कहु क्यों करिहै न सम्हार जो सार करै सचराचर की।
'तुलसी' कहु राम समान को आन है सेवकी जासु रमा घर की।
जग में गति तेहि जगत्पति की परवाहि है ताहि कहा नर की॥

जो कीरी से लेकर कुञ्जर तक प्राणियों ही की नहीं अन्य स्थावर जंगम सभी की सुध रखता है, ऐसे जगत्पति की शरण में जाने वालों को फिर साधारण मनुष्यों की क्या परवा?

देखिए नीचे लिखे पद्य में शक्ति रूपिणी वृषभानु कुमारी का कैसा गुण-गान किया गया है—

जाको नेति नेति कहि वेद न बखाने भेद,
नारद न जानें नहीं काहू ठीक पारो है।
संभु सुर सुरपति सुक मुनि आदि दै कै,
करि जोग जग्य जप, तप, तन गारो है।
हठ की अधार वृषभान की कुमारि ऐसी,
तीन लोक जाकी कृपा कोर को पसारो है।
चार मुख वारो विधि कहै का विचारो दस-
सत मुख वारो राधा गुन कहि हारो है॥

वेदों ने भी जिसका वर्णन करते-करते अन्त में नेति-नेति ही कहा, इन्द्रादि देवों और नारदादि ऋषि मुनियों ने जिसकी खोज में अनेक जप-तप, योग-यज्ञ, करते-करते अपने शरीर घुला दिए, उस प्रकृति स्वरूपा राधा का गुन-गान भला चार मुख वाला बेचारा ब्रह्मा क्या कर सकता है।

कविवर देव जी का उदाहरण भी लीजिए—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसे परलोक नरलोक बर लोकन में,
लीन्हों मैं असोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि देव गुरुजन जाहिं,
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं।
बृन्दावन वारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वाही सूरत पै वारी हौं॥

भले ही कोई कुलटा बतावे चाहे कलंकिनी, पर मैंने तो उस पीतपट वाले पर अपना तन-मन वार दिया है। मुझे अब लोक-परलोक से कोई वास्ता नहीं।

और भी देखिए—

गंग के चरित्र लखि भाखै जमराज इमि,
एरे चित्र गुप्त मेरे हुकुम में कान दै।
कहै 'पदमाकर' ये नरकन मूँदि कर,
मूँदि दरवाजन को तजि यह ध्यान दै।
देखि यह देव नदी कीन्हे सब देव याते,
दूतन बुलाय कै बिदा के वेगि पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामचा हू,
खातो खत जान दै बही को बहि जान दै।

गंगा जी ने सब पापियों को पवित्र कर दिया। अब तो सुकर्मी या कुकर्मी का कोई भेद ही नहीं रहा। ऐसी दशा में अब लेखा-जोखा रखने की क्या ज़रूरत ! हटाओ इस बही खाते के खटराग को और विदा करो

यमदूतों को। बन्द करो नरकों के दरवाज़े । अब तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है ।

महा कवि देव का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

चाहै सुमेरु कों छार करै अरु छार कों चाहे सुमेरु बनावै ।
चाहै तो रंक ते राव करै चाहै राव कों द्वारहि द्वार फिरावै ॥
रीति यही करुनानिधि की 'कवि देव' कहै विनती मोहि भावै ।
चींटी के पायँ में बाँधि गयन्दहिं चाहै समुद्र के पार लगावै ॥

प्रभु को सब सामर्थ्य है, वह क्षण में सुमेरु को राई और राई को सुमेरु बना सकता है । वह चाहे तो गजराज को चींटी के पैर में बाँध कर समुद्र पार करा सकता है ।

महाकवि सूरदास तो शान्त रस के आचार्य ही ठहरे । आपका भी एक पद पढ़ लीजिए—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै ।
कमल नयन को छोड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छाड़ि पिया सो दुर्मति कूप खनावै ।
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यौ क्यों करील फल खावै ।
'सूरदास' प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

इस पर तो टीका-टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता ही नहीं । यह तो मूर्तिमान शान्त रस ही ठहरा ।

सूरदास जी का एक पद और भी देखिए—

तजो रे मन हरि विमुखन को संग ।
जिनके संग कुमति उपजति है, परत भजन में भंग ॥
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग ॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग ।
गज को कहा न्हवाए सरिता धरे खेह पुनि छंग ॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' कारी कामरि पै चढ़त न दूजो रंग ॥

सूरदास की कमली तो काले कृष्ण के रंग में रँग कर काली हो गई। अब इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता।

कविवर रसखान ने शान्त रस का वर्णन इस प्रकार किया है—

मानुष हों तो वही रसखानि बसों व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हों तो कहा बसु मेरो चरों नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हों तो बसेरौ करों वहि कालिन्दी कूल कदंब की डारन।

मुझे पशु, पक्षी, पहाड़, मनुष्य चाहे जिस योनि में जन्म मिले, पर प्रत्येक दशा में मैं व्रज में ही बसना चाहूँगा। मुझे न स्वर्ग चाहिए न अपवर्ग। मेरे लिए तो कालिन्दी-कूल और कदम्ब की डालें ही सब कुछ हैं।

अब तुलसीदास जी का शान्त रस सम्बन्धी सवैया भी पढ़ लीजिए—

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजन मंजु बनी मनि माल हिये।
नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये।
अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।
मन मों न बस्यौ अस बालक जो 'तुलसी' जग में फल कौन जिये॥

भगवान का ऊपर वर्णित बाल स्वरूप यदि हृदय में नहीं बसा, तो जगत में जन्म लेने का फल ही क्या प्राप्त किया।

कृष्ण का विराट रूप देखकर अर्जुन को जो शान्ति प्राप्त हुई, उसका वर्णन मैथिली बाबू ने नीचे की पंक्तियों में किया है—

गद्‌गद्‌ हृदय से पार्थ तब बोले बचन श्रद्धा भरे,
लीला तुम्हारी है विलक्षण हे अखिल लोचन हरे ?
इस आपदा से त्राण मेरा कौन करता तुम बिना ?
प्रत्यक्ष दिखलाकर सभी दुख कौन हरता तुम बिना ?

× × ×

जो कुछ दिखाया आज तुमने वह न भूलेगा कभी,
क्या दृष्टि में फिर और ऐसा दृश्य झूलेगा कभी ?
कहते हुए यों पार्थ फिर हरि के पदों में गिर गए,
प्रभु किये तब प्रकट उन पर प्रेम भाव नए नए।

\+ + +

महाकवि हरिऔध जी ने शान्त रस का कैसा सुन्दर उदाहरण दिया है—

मिलि जैहैं धूर में धराधर धरातल हू,
काल कर सागर सलिल को उलीचि है।
बड़े-बड़े लोकपाल विपुल विभव वारे,
पल में बिलैहैं ज्यों बिलाति वारि बीचि है।
'हरिऔध' बात कहा तुच्छ तन धारिन की,
कबौं मेदिनी हू मीच भै ते आँख मींचि है।
सरस बसन्त है बिरसै सरसैहैं नाहिं,
बरसि सुधा रस सुधाकर न सींचि है॥

आखिर एक दिन यह संसार धूल में मिल जायगा। बड़े-बड़े तुंग धारियों का वैभव क्षण भर में, जल तरंगों के समान नष्ट हो जायगा। साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या. किसी न किसी दिन, मौत के भय से इस महिमा मयी मेदिनी को भी आँखें मीचनी पड़ेगी। फिर न बसन्त इसमें अपनी छबीली छटा दिखावेगा और न सुधाकर ही इस पर सुधा बरसावेगा।

केशव जी का नीचे लिखा सवैया शान्त रस का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाँव बिलै है।
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहै है।
'केसव' काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐ है।
चेत रे चेत अजौं चित अन्तर अन्तक लोक अकेलोही जैहै॥

जो राम को बिसार कर और संसारी झंझटों में फँसते हैं, वे बड़ी भारी भूल में हैं। वे इस बात को नहीं सोचते कि अन्त में अकेले ही जाना है।

ग्वाल कवि का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

जान पर्यौ मो कों जग असत अखिल यह,
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है।
याते परिवार व्यवहार जीत-हारादिक,
त्याग करि सब ही बिकसि रह्यौ मन है।
'ग्वाल कवि' कहै मोह काहू में रह्यौ न मेरो,
क्योंकि काहू के न संग गयो तन धन है।

कीन्हौं मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य,
अलख अपार चारु चिदानन्द घन है ॥

आप कहते हैं—मैंने तो ख़ूब विचार कर देख लिया, इस असार संसार में एक प्रभु का भजन ही सार है, वही साथ जायगा। और सब बखेड़ा तो यहीं पड़ा रह जायगा।

शंकर जी सांसारिक झंझटों से त्रस्त होकर, प्रभु शंकर से कैसी करुण प्रार्थना करते हैं—

कर कोप जरा मन मार चुकी बल हीन सरोग कलेवर है।
परिवार घना धन पास नहीं भुज भग्न दरिद्र भरा घर है।
सब ठौर न आदर मान मिलै मिलता अपमान अनादर है।
मुझ दीन अकिंचन की सुधि ले सुख दे प्रभु तू यदि 'शंकर' है।

आर्त की उक्ति है कि बुढ़ापे ने सारे अरमान कुचल डाले, शरीर रोगों का घर बन गया, पूरा परिवार है, साथ ही दारुण दरिद्रता की अपार अनुकम्पा भी। हे प्रभु, तू सब का कल्याण करने वाला है, इसलिए मुझ अकिंचन की भी तू ही सुध ले।

कवि कुल गुरु तुलसीदास जी का नीचे लिखा सवैया शान्त रस का कैसा सुन्दर उदाहरण है—

झूमत द्वार मतंग अनेक जंजीर जरे मद अम्बु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु तें बढ़ि जाते।
भीतर चन्द्र मुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते।
ऐसे भए तो कहा 'तुलसी' जो पै जानकीनाथजू के रंग राते ॥

मत्त मतंग, तेज तुरंग, ऐश्वर्य, प्रताप सब तो हुए और प्रभु-चरणों में अनुराग न हुआ, तो अन्य सब चीज़ों का होना न होना बराबर है।

अब ज़रा पद्माकर जी का भी एक पद्य पढ़ लीजिए—

भोग में रोग वियोग सँयोग में योग ये काय कलेश कमायौ।
त्यौं 'पद्माकर' वेद पुराण पढ्यौ पढ़ि कै बहुवाद बढ़ायौ।
दौर्यौ दुरासा को दास भयौ पै कहूँ बिसराम को धाम न पायौ।
खायौ गँवायौ सु ऐसे ही जीवन हाय मैं राम को नाम न गायौ।

कोई अन्त समय में कैसा पश्चाताप कर रहा है। हा! मैंने तो दुनिया में आकर केवल पेट भरने में ही जीवन गँवाया। एक क्षण के लिए भी प्रभु का स्मरण नहीं किया।

वात्सल्य रस

अधिकतर आचार्यों ने वात्सल्य रस को स्वतन्त्र रस नहीं माना, उसकी गणना शृंगार रस के अन्तर्गत की है। उनका कहना है कि जब रति, भाव रूप रह कर देवता, गुरु आदि से सम्बन्ध रखती है तो उसकी 'भाव' संज्ञा होती है। इसी भाव के अन्तर्गत वात्सल्य भी आ जाता है। क्योंकि शिष्य और पुत्र, गुरु तथा देवता आदि से भिन्न नहीं हो सकते। अतएव वे भी इसी भाव में आ जाते हैं। सोमेश्वराचार्य का कहना है कि स्नेह, भक्ति और वात्सल्य तीनों रति के ही भेद हैं। समान स्थिति के व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम 'रति' उत्तम में अनुत्तम की रति भक्ति, और अनुत्तम में उत्तम की रति वात्सल्य कहलाती है। उदाहरणार्थ पति-पत्नी दोनों बराबरी के दर्जे के होते हैं, उनके प्रेम को रति कहेंगे। पिता-पुत्र या गुरु-शिष्य में पिता और गुरु उत्तम हैं और पुत्र तथा शिष्य अनुत्तम। अतएव अनुत्तम में उत्तम की प्रीति का नाम वात्सल्य है, और अनुत्तम है अर्थात् पुत्र और शिष्य के स्नेह को भक्ति कहेंगे। इसी पक्ष के समर्थन में कुछ लोगों का यह भी कथन है कि 'सन्तान' शृङ्गार का ही परिणाम है, अतएव उसे शृङ्गार रस में ही परिगणित करना चाहिये। स्वतन्त्र रस मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वात्सल्य को दसवाँ रस मानने वालों में साहित्य दर्पणकार और शृङ्गार प्रकाशकार मुख्य हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी इसी मत के समर्थक हैं। महाकवि हरिऔध ने भी अपने 'रस कलस' में वात्सल्य को दसवाँ रस मानने की ज़बर्दस्त वकालत की है। वास्तव में बाल-लीला को देखकर माता-पिता को जो तन्मयता होती है, वह बड़ी ही आनन्ददायिनी है। ऐसा कौन सहृदय है जो बालकों को हँसते, खेलते, मुस्कराते और तोतली बोली में बातें करते देख-सुन कर आनन्द-विभोर नहीं हो जाता। जिनको परमात्मा ने सन्तान-सुख प्रदान किया है, वे इस रस का आस्वादन भले प्रकार करते रहते हैं। कभी-कभी तो माता-पितादि वात्सल्य के कारण बालकों के साथ

बालक बनकर बड़ी तन्मयता से खेलने लगते हैं। उस समय उन्हें कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती। जिस समय पुत्र-जन्म का शुभ संवाद कानों में पड़ता है, उस समय हृदय में वात्सल्य रस का जो समुद्र उमड़ता है, उसे माता-पिता तथा अन्य अभिभावक अच्छी तरह जानते हैं। फिर वात्सल्य रस से सब भाषाओं के साहित्य भरे पड़े हैं। ब्रज भाषा में तो कृष्ण जी की बाल-लीला का वर्णन कर महाकवि सूरदास ने कमाल ही कर दिया है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी भी भला राम की बाल कथा सुनाने में कब पीछे रह सकते थे। उन्होंने भी वात्सल्य का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया है। जिस वात्सल्य की इतनी महत्ता हो, जिसे संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया हो, उसे उपेक्षा पूर्वक नव रसों में न गिनना उचित नहीं जान पड़ता।

किसी स्थायी भाव को रसत्व तक पहुँचाने के लिए अनुभाव, विभाव और संचारी भावों की भी आवश्यकता होती है, सो वात्सल्य में वे सब विद्यमान हैं। नीचे महाकवि तुलसीदास का सवैया पढ़िये, आपको उसमें कितना चमत्कार दिखायी देगा—

वर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

इस सवैया में "वात्सल्य स्नेह विभाव, 'घुँघरारी लटें' बोल आदि उद्दीपन, मधुर छबि अवलोकन आदि अनुभाव और हर्ष संचारी भाव" हैं। अब कहिए उसके रसत्व में क्या सन्देह रह गया। स्थायी भाव को जिन सहायक या साधक कारणों की आवश्यकता होती है वे सब मौजूद हैं। फिर वात्सल्य रस को रस मानकर उसके आस्वादन का आनन्द क्यों न उठाय जाय? जैसा ऊपर कहा गया, बालकों की बाल लीला देख-सुनकर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अनिर्वचनीय है। उनको देखकर सारे ग़म ग़लत हो जाते हैं, उनकी हँसती हुई आकृति और बालजनोचित विलासिता मनहूस से मनहूस और क्रूर से क्रूर व्यक्ति के हृदय को भी आनन्द से भर देती है। ऐसी दशा में वात्सल्य को रस क्यों न माना जाय? जो लोग वात्सल्य को शृंगार रस के

अन्तर्गत समझते हैं वे उसके साथ न्याय नहीं करते, रति और वात्सल्य में बड़ा भेद है। रति से हृदय में जो भावना जाग्रत होती है, वह वात्सल्य से नहीं, और वात्सल्य के कारण जिन भावों का उदय होता है, वह रति से नहीं हो सकता। अतएव दसवाँ वात्सल्य रस मानना ही चाहिए। अस्तु;

वात्सल्य रस का स्थायी भाव स्नेह है। सन्तान पर प्रेम, पितृ स्नेह, लालन-पालन प्रवृत्ति आदि वात्सल्य वृत्ति के कार्य हैं। पशु-पक्षियों के पालने में भी यही शक्ति काम करती है, यह वृत्ति पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती है। क्योंकि सन्तान का पालन पोषण आदि कार्य प्रकृति ने मुख्यतः उन्हीं को सौंपा है। इस वृत्ति के दुरुपयोग, मिथ्या योग अथवा अतियोग से हानि होती है। बालकों के जीवन बिगड़ जाते हैं और उनका ठीक-ठीक सुधार या विकास नहीं हो पाता। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों में भी वात्सल्य वृत्ति की प्रधानता है। क्रूर से क्रूर स्वभाव वाले पशु भी अपनी सन्तान के लालन-पालन में अत्यन्त विनम्र और प्रेम युक्त बन जाते हैं. उसका कारण यही वात्सल्य है। कुमारी कन्याएँ या विवाहिता युवतियाँ छोटे छोटे बालकों पर बड़ा स्नेह करती हैं। उन्हें बच्चों से बड़ी ममता होती है। यदि वात्सल्य वृत्ति न होती तो असहाय शिशुओं का पालन-पोषण कोई न करता। मनुष्यों के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि वे इस आशा से सन्तान का पोषण करते हैं कि उससे आगे चलकर उन्हें सुख मिलेगा, वह उनकी सेवा सहायता करेंगे। परन्तु पशु पक्षियों के सम्बन्ध में तो यह बात भी ठीक नहीं उतरती। वे तो बदले की भावना के बिना ही अपनी सन्तान का लालन-पालन करते हैं। वास्तव में मनुष्य भी अपनी सन्तान का पालन-पोषण वात्सल्य वृत्ति से प्रेरित होकर ही करता है। सन्तान के द्वारा लाभ उठाने की बात तो अत्यन्त गौण होती है। संसार में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपनी सन्तान को शायद सबसे अधिक दिनों तक प्यार करता है। अन्य पशु-पक्षी तो सन्तान के समझ होने पर उसका मोह त्याग देते हैं, परन्तु मनुष्य का मोह आजन्म बना रहता है। दूसरी बात यह भी है कि मनुष्यों की सन्तान अन्य प्राणियों की अपेक्षा देर में समर्थ और स्वावलम्बी बनती है। अतएव उसे (सन्तान को) चिर काल तक वात्सल्य सुख भोगने का अवसर मिलता है। प्रजा की उत्पत्ति और अभिवृद्धि प्रकृति की सर्वोपरि पुकार है। इन दोनों कामों के बिना

सृष्टि के सब व्यापार ही नष्ट हो जाते, और संसार, संसार न रहता। न भोग रहते और न भोक्ता।

परमात्मा का भी कैसा विचित्र विधान है, जहाँ वह काम वृत्ति को परिपूर्ण कर पुत्रोत्पत्ति की प्रेरणा करता है वहाँ सन्तान के पालन-पोषण के लिये वात्सल्य की वृत्ति का भी उदय करता है। जिसके द्वारा बच्चे परिवरिश पाकर सांसारिक कार्यों को चलाते हैं। वात्सल्य अपने सन्तान तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि कुछ अंशों में दूसरों के बालकों तक भी उसका असर जाता है। शिशु पालन (Nursing) का जितना अच्छा कार्य स्त्रियाँ कर सकती हैं, उतना अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। सन्तान-पालन के लिए अत्यन्त बुद्धिमता, साहस और प्रेम की आवश्यकता है। इन सब कार्यों में स्नेह द्वारा ही प्रवृत्ति होती है। यह स्नेह ही वात्सल्य का रूप धारण करके पालन-पोषण का कार्य कराता रहता है। मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि में से अनेक ऐसे होते हैं, जो सन्तान के संरक्षण में अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देते हैं। संसार में माता के स्नेह से बढ़कर किसी का स्नेह नहीं है। अपने बालक को दुखो देखकर, माता के हृदय में जो वेदना होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य में वात्सल्य भाव अत्यधिक मात्रा में होता है, तब उसका अंश दूसरों के बालकों को भी मिलता है। कुत्ते-बिल्ली हिरन आदि को पालने में यही शक्ति प्रेरणा करती है। गृहस्थ स्त्रियों में वात्सल्य की मात्रा अधिक पायी जाती है। जिन स्त्रियों के सन्तान नहीं होती, वे कुत्ता-बिल्लियों को पालकर ही अपने प्रेम या वात्सल्य को विकसित करती रहती हैं। पौदे लगाना तथा उन्हें सींच कर बड़ा करना भी एक प्रकार की वात्सल्य वृत्ति ही है।

खेद है कि पश्चिमीय देशों में कुछ स्त्रियाँ अपनी सन्तान को दूसरों से पलवा कर स्वयम् भोग विलास में रत रहती हैं। ऐसे पर-पोषित बालकों को वास्तविक वात्सल्य-सुख प्राप्त नहीं होता। हम तो समझते हैं ऐसे माता-पिता को सन्तान पैदा करने का अधिकार ही नहीं। वात्सल्य तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—एक वे लोग जिनमें अत्यधिक वात्सल्य होता है, और जो अपनी सन्तान के अतिरिक्त अन्यों के बालकों को भी स्नेह दृष्टि से देखते हैं, दूसरे वे लोग जो अपने बालकों तक ही अपना स्नेह सीमित रखते हैं और

तीसरे वे लोग जिन्हें अपनी सन्तान से भी बहुत कम प्रेम होता है। ऐसे लोग प्रायः बालकों के प्रति रूखा और कठोर बर्ताव करते रहते हैं।

वात्सल्य वृत्ति के विकास के लिए इस बात की आवश्यकता है कि बालकों के साथ स्नेह पूर्वक खेला जाय, उन्हें रत्नों से भी अधिक समझा जाय। उनकी निर्दोष वृत्ति पर ध्यान रक्खा जाय और उनके साथ बर्तने में बड़ी मृदुता, नम्रता और धीरता से काम लिया जाय। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि वात्सल्य को सीमा से आगे न बढ़ने देना चाहिए। बालकों के लिए हर वक्त चिन्तित रहना, और उन्हें प्रेम वश कुछ न करने देना अथवा उन्हें बिगड़ने से न रोकना आदि अनुचित काम हैं। वात्सल्य तीन प्रकार का माना गया है। १—अपत्य स्नेह—जिसमें पशु-पक्षियों तक के बच्चों पर प्रेम किया जाता है। २—वात्सल्य भाव—जिसमें अड़ोसी-पड़ोसी आदि के बच्चों पर भी प्रेम किया जाता है और तीसरा स्व-संतति प्रेम।

वात्सल्य

जहाँ स्नेह स्थायी भाव की पुष्टि होती है वहाँ वात्सल्य रस माना गया है। वात्सल्य रस का स्थायी भाव स्नेह, देवता ब्राह्मी आदि माताएँ और वर्ण कमल गर्भ के समान है।

पुत्र, शिष्य, शिशु आदि वात्सल्य रस के आलम्बन हैं।

शिशु की चेष्टाएँ, शिष्य या पुत्र की विद्या, शूरता, दया आदि इसके उद्दीपन हैं।

आलिङ्गन, अंग स्पर्श, सिर चूमना, सस्नेह निहारना, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि वात्सल्य रस के अनुभाव हैं।

अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारी भाव हैं।

महाकवि सूरदास का नीचे लिखा पद वात्सल्य रस का कितना सुन्दर उदाहरण है—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल की आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगि सों आवै तोकों कान्ह बुलावै।

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि कार करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुर्लभ सो नंद भामिनि पावै।

यहाँ बाल कृष्ण वात्सल्य के आलम्बन, उनका कभी आँखें मूँद लेना, कभी ओठ फड़काना आदि कार्य उद्दीपन, यशोदा जी का लोरियाँ गा-गा कर सुलाना अनुभाव और हर्ष संचारी भाव है। इन सब के सहयोग से स्नेह पुष्ट होकर वात्सल्य रस के रूप में परिणत हुआ। इसी प्रकार आगे भी समझ लीजिए।

सूरदास जी के नीचे लिखे पदों में भी वात्सल्य रस कूट कूट कर भरा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बैनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत पोंछत नागिन सी भुँइ लोटी।
काचो दूध पियावति पचि पचि देति न माखन रोटी।
'सूर स्याम' चिरजिव दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी।

और देखिए—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों तू जसुमति कब जायो।
कहा कहों यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात,
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात।
गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर,
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर।
तू मोही कों मारन सीखी दाउँहि कबहुँ न खीझै,
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत,
'सूर स्याम' मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत।

नीचे लिखे पद्य में वात्सल्य का कितना सुन्दर चित्र खींचा गया है—

मैया मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुही छींके पै भाजन ऊँचे धर लटकायो,
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ।
मुख दधि पोंछि कहत नँद नंदन दौना पीठि दुरायो,
डारि साँट मुसुकाय तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो ।
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो,
'सूरदास' प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो ॥

यशोदा जी हाथ में छड़ी लेकर जिस समय कृष्ण को डाटती हैं—'ढीठ, तू बड़ा पाजी हो गया है । बता दही कैसे खाया ? उस समय कृष्ण जी मुँह पोंछ और दौना पीछे छिपा कर भोलेपन से कहते हैं—'मैया मैं नाहीं दधि खायो ।' साथ ही अपनी निर्दोषिता की पुष्टि में प्रमाण भी देते जाते हैं । कृष्ण की बाल सुलभ मीठी और चतुराई-भरी बातें सुन यशोदा का क्रोध काफूर हो गया और उनके हृदय में वात्सल्य रस का सरोवर उमड़ने लगा ।

कविवर रसखान का भी वात्सल्य सम्बन्धी एक पद्य पढ़ लीजिए—

धूरि भरे अति शोभित श्याम जू कैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनी बाजति पीरी कछौटी ॥
वा छवि कों 'रसखानि' विलोकनि वारत काम कला निज कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥

रसखान जी ने बाल कृष्ण का कैसा चित्र अंकित किया है, जिसे पढ़ते ही उनके प्रति पाठक का प्रेम-भाव उमड़ पड़ता है ।

महाकवि तुलसीदास ने भी अपने इष्ट भगवान रामचन्द्र जी की बाल-लीलाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मन मोंद भरैं ॥
कबहूँ रिसियाय कहैं हठि के पुनि लेत सुई जेहि लागि अरैं ।
अवधेश के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन-मन्दिर में विहरैं ॥

ऊपर के पद्य में रामलला की बालोचित चेष्टाओं का कैसा अनोखा वर्णन है।

और भी देखिए—

तन की दुति श्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि करैं॥
दम कैं दतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल विनोद करैं।
अवधेश के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन मन्दिर में विहरैं॥

राम जी का धूलि-धूसरित श्याम-शरीर कितना सुन्दर मालूम देता है। जिस समय वह किलक कर अपने दो दूध के दाँत चमका देते हैं, उस समय ऐसा जान पड़ता है कि बिजली कौंध गई।

तुलसी जी का नीचे लिखा सवैया भी वात्सल्य का सुन्दर उदाहरण है—

वर दन्त की पंगति कुन्द कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारी लटें लटकै मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥

तुलसीदास ने रामलला के घुँघराले बालों, ललित-लोल कुंडलों और मधुर तथा तोतले बोलों पर अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये।

नख-शिख

पवित्रता, उत्तमता, स्वच्छता, रमणीयता, विनय, कोमल, कल्पनाशक्ति, माधुर्य, कवित्व, पुष्प, गन्ध, वस्त्र, इत्र आदि सौन्दर्य के अन्तर्गत हैं। सौन्दर्य-वृत्ति का उपयोग सृष्टि में फैले हुए सौन्दर्य का अनुभव करने तथा अपनी कल्पना द्वारा दूसरों को उसका अनुभव कराने के लिए होता है। सृष्टि में जो कुछ है, सब सुन्दर है। किसी को कोई चीज़ अच्छी लगती है, किसी को कोई। सृष्टि रचना की उत्तमता, उसके पदार्थों का उपयोग, वसन्त के सुवासित पुष्पों का परिमल, ग्रीष्म-गरिमा, सूर्य और चन्द्रमा का अस्तोदय, समुद्र का उतार-चढ़ाव, अनन्त आकाश में असंख्य नक्षत्र, उनकी रचना, क्रिया और गति, कलकल निनादिनी नदियाँ, रंग-बिरंगे पक्षी, उनका भाँति-भाँति का कलरव, मृदु, कोमल, एवं तीव्र ध्वनि, बाग-बगीचा और वनस्पति,

उनके रूप रंग और शोभा-सुगन्धि, नर-नारी, जीव-जन्तु इत्यादि सभी में किसी न किसी प्रकार का सौन्दर्य विद्यमान है। इन सब सौन्दर्यों में मनुष्य के मन अथवा आत्मा की सुन्दरता बिलकुल निराली है। उसके स्वभाव, बल, सामर्थ्य तथा आन्तरिक शक्तियों के सौन्दर्य की समता कोई नहीं कर सकता। मस्तिष्क-शास्त्रियों का कहना है, कि मनुष्य के मस्तिष्क में सौन्दर्य वृत्ति का विशेष स्थान निश्चित है।

यदि मनुष्य में सौन्दर्य-वृत्ति न होती, तो संसार की सरसता का अनुभव कौन कर सकता था। इस वृत्ति ही द्वारा मनुष्य संसार का आनन्द उपभोग करने में समर्थ होता है। उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक जीवन में पूर्णता विकसित करने वाली यही शक्ति है, इसी से वह पवित्र और उच्च बनता है। पशुपन की अधमता इससे ही दूर होती हैं। जिन स्त्री या पुरुषों में सौन्दर्य-शक्ति अधिक विकसित होती है उनकी सुरुचि, उच्चभावना, कला-प्रियता और कोमल कल्पना शक्ति बढ़ जाती है। उनकी कविता और वक्तृता में सुन्दरता और सरसता का प्रवेश हो जाता है। स्वभाव शान्त बन जाता है। वे जिस वस्तु को देखते हैं, उसके सौन्दर्य का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से करते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के तो वे बड़े ही भक्त और प्रशंसक बन जाते हैं।

जिन लोगों में सौन्दर्य-वृत्ति साधारण रूप से होती है, उनकी बात-चीत और रीति-भाँति में स्वाभाविक सुन्दरता का अभाव होता है, और जिनमें यह शक्ति होती ही नहीं, उनका जीवन शुष्क, कर्कश, त्रुटि पूर्ण और सुरुचि हीन बन जाता है। स्त्री और पुरुष दोनों को सुन्दर वेश-भूषा का शौक़ होता है। सुन्दर रूप-रंग और मनोरम प्राकृतिक दृश्यों के देखने एवं उनका वर्णन करने से सौन्दर्य-वृत्ति का विकास होता है। जितना ही कोई व्यक्ति सौन्दर्य प्रेम में निमग्न होगा, उतनी ही उसकी सौन्दर्य-वृति बढ़ेगी। जो लोग ऋतुओं की मनोमोहक सुन्दरता पर मुग्ध रहते हैं, वे ही उसकी महिमा जान सकते हैं। सौन्दर्य-वृत्ति-विकास के लिए सुसंस्कृत और पवित्र पुरुषों की संगति और मृदु भाषिणी सुन्दरियों का सम्पर्क बहुत आवश्यक है। सौन्दर्य-वृत्ति का दुरुपयोग बड़े अनर्थ का कारण बन जाता है। इससे दुर्गुणों और दुर्वासनाओं का जन्म होता है। असमय में प्रेम-प्रवृति आरोग्य और आयुष्य का नाश करने वाली होती है। इस वृति का दुरुपयोग बुद्धि

और विचार शक्ति की कमी के कारण ही होता है। विषय-वासना और सौन्दर्य-प्रेम में आकाश-पाताल का अन्तर है। पहला मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाता और पिछला उसे मानवता के आदर्श की ओर अग्रसर करता है। बालकों में सौन्दर्य-वृत्ति के विकास के लिए पहले ही से सतर्क रहना चाहिए। उनके आचार-विचार, रहन-सहन, व्यवहार आदि में सौन्दर्य के प्रवेश होने की बड़ी आवश्यकता है। उनमें ललित कलाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य-निरीक्षण की ओर सुरुचि पैदा करनी जरूरी है।

काव्य-शास्त्र में इसी सौन्दर्य-वृत्ति की भावना को लेकर कवियों ने सब ही प्रकार का सौन्दर्य-वर्णन किया है। पशु-पक्षी, नदी-नाले, वन-उपवन, वृक्ष-वनस्पति, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्र, स्त्री पुरुष, ऋतु, काल, देश इत्यादि किसी का भी सौन्दर्य इनके वर्णन से नहीं बच पाया। बचे भी क्यों? जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ उसकी अनुभूति भी है। स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन कवियों ने समष्टि और व्यष्टि दोनों रूप से किया है—यानी उनके सारे शरीर का वर्णन भी और अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पृथक्-पृथक् भी। व्यष्टि रूप से अङ्ग-सौन्दर्य के क्रमबद्ध वर्णन का नाम नख-शिख रक्खा गया है। नख-शिख का अर्थ है नख से लेकर शिख (शिखा) पर्यन्त। इसे ही उर्दू वाले 'सरापा' कहते हैं जिसका मतलब हुआ सर से पैर तक। 'नख-शिख' या 'सरापा' में कवि लोग नायिकाओं के विविध अंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया करते हैं। हिन्दी में नख-शिख लिखने का बहुत रिवाज रहा है। प्राचीन कवियों के नख-शिख वर्णन से पोथे के पोथे भरे पड़े हैं। इन नख-शिखों में अंगों का वर्णन करते हुए कितने ही कवियों ने अपनी कल्पना शक्ति का कमाल कर दिखाया है।

'नख शिख' को उद्दीपन विभावों में रक्खा गया है। कुछ लोगों का कहना है कि जब नायिका का सम्पूर्ण शरीर आलम्बन है, तब 'नख-शिख' के रूप में उसके पृथक्-पृथक् अङ्गों का वर्णन उद्दीपन विभावों में क्यों माना गया? इसका समाधान यही हो सकता है कि नायिका को देखकर हृदय में जो रतिभाव जाग्रत होता है, नायिका के सौन्दर्य पूर्ण अङ्ग विशेषों का चिन्तन और स्मरण उसको अधिकाधिक उद्दीप्त करने में सहायक होता है। जिस नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्ग जितने अधिक सुन्दर होंगे, उसके प्रति रति-भाव भी उतना ही अधिक उद्दीप्त होगा। जहाँ अंग सौष्ठव की कमी या उसका

बिलकुल अभाव होगा, वहाँ नायिका के होते हुए भी रति भाव उद्दीप्त न होगा। यही कारण है जो नख-शिखों की उद्दीपनों में गणना की गई है।

कुछ आचार्यों ने नख-शिख की उद्दीपन विभावान्तर्गत सखी के कर्मों में गणना की है। सखी अपने मण्डन कर्म द्वारा नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की जो सजावट करती है, उसी का वर्णन नख-शिख वर्णन है। जो हो, किसी भी विचार से रखिए, नख-शिख को उद्दीपन विभावों में रखना होगा।

पग-तल वर्णन

[पग-तल का सौन्दर्य वर्णन करने में उनकी उपमा कामदेव की ध्वजा, चन्दन के पत्तों, कमल के वर्ण आदि से दी जाती है।]

देखिए, पग-तल के वर्णन में किसी कवि ने क्या ही सुन्दर पद्य लिखा है—

कोक नद इन्दीवर पुण्डरीक कहे पाई—
छबि बहु बरन बरन ही के भाय की।
सहज सुगन्ध रये दिनकर बन्धु भये,
कर कमलन लये राजा और राय की॥
सुन्दर सुभाये सीस शंकर चढ़ाए ऐसी—
पदवी को पाये रसराज चित चाय की।
कीन्हें तप बहुत विचारे कमलन पर,
समता न पाई तेरे तरवन पाय की॥

अर्थात् कमलों ने विविध विध तप कर कोकनद, इन्दीवर आदि अनेक सुन्दर नाम भी पाए सुगन्ध युक्त मनोहर शरीर भी प्राप्त किया, सूर्य से मैत्री भाव भी लाभ किया, वे राजा महाराजाओं के हाथों में—यहाँ तक कि देवताओं के शिरों पर भी सुशोभित हुए, परन्तु बेचारे नायिका के पैर के तलवों की समता फिर भी न प्राप्त कर सके।

और भी देखिए, राधिका जी के पग-तलों के सम्बन्ध में कविवर रघुनाथ जी क्या कहते हैं।

शोभा के निवास कै प्रकास के निकेत मंजु—
कैधों यह उदधि अमोघ बस भारी के।

कैधौं रस हास के तड़ाग या सुधा के सिन्धु,
सौति-मदहारी किधौं यह सुकुमारी के ॥
भनै 'रघुनाथ' बसें हिये हमरे में सदा,
सब सुखदाता वृषभानु की दुलारी के।
अरुण अमन्द चारु विमल सोहाग भरे,
कमल गुलाब रंग पग तल प्यारी के ॥

सचमुच वृषभानु की दुलारी के पग-तल क्या हैं, सौन्दर्य के सदन या प्रकाश के निकेतन हैं, अथवा हास के सरोवर या सुधा के सिन्धु हैं।

पग-वर्णन

[पगों का सौन्दर्य-वर्णन करने में उनकी उपमा कमलों से दी जाती है।]

पगों का वर्णन करते हुए कवियों ने कैसी कलित कल्पनाओं और उत्प्रेक्षाओं से काम लिया है, देखिए—

कोऊ केतु नीर विवि पल्लव पटीर कैधौं,
विद्रुम की पीठि पर बारिज बरन हैं।
जानु युग नाल फूले सुन्दर सरोज दोऊ,
अति ही सुदेस महा मन के हरन हैं।
उन्नत अँगूठा नख-आभा आँगुरीन पर,
चन्द्रकला आई किधौं राहु के डरन हैं।
हौं हूँ हेरि हारी, रीझे रसिक बिहारी हँस—
गति अनुसारी की धौं प्यारी के चरन हैं ॥

अजी, ये नायिका के चरण नहीं हैं, दो सुन्दर सरोज फूले हैं। नायिका के युग जानु ही इन दोनों सरोजों के नाल हैं। और उन्नत अँगूठों में जो नखों की चमक दिखाई देती है, वह वास्तव में चन्द्रमा की कला है, जो राहु के भय से नायिका के पैरों में आ छिपी है। कैसी ऊँची उड़ान है।

विधि उपजाये पुनि कमला बसाये आनि,
सूर सों मिलाये कर घाम सीत खायौ है।
हरि गह्यौ हाथ तातें अति ही सनाथ भयो,
मान सर वासी सीस शंकर चढ़ायौ है ॥

काम को सहाय भयौ, रस-गंध-रूप भयौ,
तीनों लोक माँझ यश तेरो सुनि पायौ है।
तदपि ये नागरी के चरण कमल चारु,
ताकी समता को नूर रंचक न आयौ है॥

कमल ने ब्रह्मा की नाभि से जन्म पाया, फिर वह लक्ष्मी जी का निवास-स्थान बना, घाम और शीत में एक टाँग से खड़े रह कर तपस्या करता रहा, विष्णु भगवान् के हाथों में बसा, शंकर जी के सिर पर चढ़ा, कामदेव का सहायक बना और सूर्य का भक्त रहा। यह सब करने से उसकी तीनों लोकों में तो प्रसिद्धि हो गयी, परन्तु नागरी के चरणों के समान वह फिर भी न हो सका। क्या ख़ूब!

अरुणता एड़िन की रवि-छवि छाजत है,
चारु छवि चन्द आभा नखन करे रहैं।
मंगल महावर गुराई बुध राजत हैं,
कनक बरन गुरू बानक धरे रहैं॥
शुक्र सम ज्योति शनि-राहु-केतु गोदना हैं,
'मुरली' सकल सोभा सौरभ भरे रहैं।
नवौं ग्रह भाइन तें सेवक सुभाइन तें,
राधा ठकुराइनि के पायन परे रहैं॥

उपर्युक्त पद्य में तो कवि ने नवों ग्रहों को राधिका जी के चरणों पर वार दिया है। कवि की कलपना ही तो ठहरी!

कैधों मान सर ही के विमल कमल दोऊ,
सोहैं जपा जावक सुरंग अनुहारी के।
कैधौं सुर तरु के सुपल्लव विमल राजैं,
कैधौं ये विराजैं भानु भ्रमतम हारी के॥
'द्विज' कहै कैधौं रति-पति के मुकुट वारी,
लाल मणि माणिक अमित गुण भारी के।
लोभित रहत मन-मोहन को जामें ऐसे,
शोभित चरण वृषभानु की दुलारी के॥

इस पद्य में भी द्विजदेव जी ने चरणों के सम्बन्ध में कैसी-कैसी उत्प्रेक्षाएँ की हैं। कभी वह उन्हें मानसर के सरोज समझते हैं और कभी कल्पवृक्ष के पत्ते। एवं कभी उन्हें उनमें कामदेव के मुकुटों की भ्रान्ति हो जाती है।

पद-लालिमा

[पैरों की लालिमा के वर्णन में कविजन कमल, गुलाब, वंधूक आदि के पुष्पों, इन्द्र वधू, मूँगा, लाल, महावर, नूतन सूर्य किरणों, पके कुँदरू, मजीठ, ईंगुर आदि से उपमा देते हैं।]

देखिए, कवि श्रीधर जी पद-लालिमा का वर्णन किस ढंग से करते हैं—

कौहर केतीक इन्द्र बधू के वरण जीते,
मँहदी के वन्दन की झलकी सहल की।
सहज ही रंगदार. जावक सुरंग भार,
होत न सँभार डगें भरती कहल की॥
'श्रीधर' अरुण छवि छटा छहराय रही,
छिति में बिछाई मानों पाँखुरी कमल की।
ज्यों ज्यों प्यारी मंद मंद पायन धरति आवै,
पौंध सी भरति आवै त्यों त्यों मखमल की॥

अर्थात् नायिका के पदों की लालिमा ने महावर, इन्द्र वधू, महँदी आदि सब की अरुणिमा को जीत लिया है और उनकी कोमलता ने कमल की पंखड़ियों को भी मात दे दिया है। वह जहाँ-जहाँ पैर रखती है वहाँ-वहाँ भूमि मखमल-सी हो जाती है।

अब उदैनाथ जी का पद-लालिमा वर्णन भी सुन लीजिए—

अरुण कमल अरुणोदय परम मित्र,
तिनहूँ को लाली ते लजावति है अंग तू।
'उदैनाथ' ईंगुर गुलाल गुड़हर लाल,
निदरत लाल ऐसे करत प्रसंग तू॥
बाजत न नूपुर कहत चरनन छ्वै-छ्वै,
जा में सुख पावै हरी सोई करि ढंग तू।
पायन में मेंहदी लगाई राधे कौन काज,
सहज ललाई को बिगारे जानि रंग तू॥

नायिका के पैरों की लालिमा इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि उसके आगे अरुण कमल, ईंगुर, गुलाल, गुड़हर आदि सब फीके पड़ गये हैं।

कविवर शम्भु जी का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

बिम्बा, प्रबाल, बँधूक, जपा, गुललाला गुलाब की आभा लजावति।
'शम्भु जू' कञ्ज खिले टटके किसलै बटके भटके गिरा गावति॥
पाँव धरे अलि ओर जहाँ तिहिं ओर ते रंग की धार सी धावति।
मानो मजीठ की माठ ढुरी एक ओर तें चाँदनी बोरति आवति॥

शम्भु कवि ने तो लालिमा के वर्णन में कमाल ही कर दिया। नायिका अपने पगों की अरुणिमा से विम्बाफल, प्रवाल, बंधूक पुष्प, जपा आदि को लज्जित करती है; इतना ही नहीं, बल्कि वह जहाँ जहाँ पैर रखती है, वहाँ वहाँ ऐसा जान पड़ता है, जैसे लाल रंग की धारा बह चली हो। जिस समय वह बिछी हुई चाँदनी पर चलती है, उस समय तो यह मालूम देता है, मानो चाँदनी मजीठ के मटके में बोर दी गयी है।

एड़ी वर्णन

[एड़ी की सुन्दरता-वर्णन में उसके लिए ईंगुर या मूँगा के रंग, कमल, गुलाब, दुपहरिया के फूल, अनार या कौहर के फल से उपमा दी जाती है।]

देखिए, कवि काशीराम एड़ियों का वर्णन किस खूबी के साथ करते हैं—

मन्दर है चित्त इन्द्रबधू के बरन होत,
प्यारी के चरन नवनीत हू ते नर में।
सहज ललाई जाति बरनी न 'काशीराम',
चुई सी परति छवि बाँकी गति भर में॥
एड़ी ठकुराइन की नाइन गहति जब,
ईंगुर सों दौरि आवै रंग दरबर में।
दीन्हों है कि दीवे है निहारि सोचे बार बार,
बावरी सी ह्वै रही महावरी लै कर में॥

ठाकुराइन के चरण कोमलता में तो नवनीता से भी अधिक नरम हैं, लालिमा में इन्द्र वधुओं को भी मात करते हैं। सच तो यह है कि उनकी स्वाभाविक ललाई उनमें से चुई-सी पड़ती है। नाइन जब कभी उनमें

महावर लगाने बैठती है, तो उनकी सहज अरुणिमा देख हकी-बकी-सी रह जाती है। वह उन्हें बार-बार देखती और सोचती है कि मैं इनमें महावर लगा चुकी हूँ, या अभी लगानी है।

नीचे लिखे दोहे में भी एड़ियों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। देखिए—

जो हरि जग मोहित करै, सो हरि परे बेहाल।
कोहरि सी एड़ीन ते को हरि लियो न बाल॥

बाला ने कोहर सदृश अरुण वर्ण एड़ियों से किसे अपने वश में नहीं कर लिया। अजी, औरों की तो बात ही क्या चलाई, जो हरि संसार को मोहित करने वाले हैं, वे भी तो उन्हें देख कर विह्वल हो गये हैं। भावों के साथ-साथ दोहे की शब्द-योजना भी देखते ही बनती है। खूब!

पदांगुलि-वर्णन

[पैरों की उँगलियों का वर्णन कविजन चम्पा कली, प्रियतम की जीवन मूरि आदि से उपमा देकर किया करते हैं।]

देखिए उनके वर्णन में कविवर चिन्तामणि का नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है—

इन्दिरा के मन्दिर में दशहूँ दिशा की किधौं,
इन्दिरा है जैतवार अरुण नगन की।
कौल ढिग कंचन की बिछिया मराल बाल,
तिनके धौं लाल मुख पाँति है नखन की॥
'चिन्तामणि' कीधौं मृदु चरण धरत दुति,
पल्लव बिछौना की निशानी है मगन की।
काम मन्त्र मोहिनी के जपिबे को विद्रुम की,
गुरियाँ की बाम की अँगुरियाँ पगन की॥

नायिका की उँगलियाँ क्या हैं, नायक के वश करने के निमित्त काम मंत्र जपने की गुरियाँ हैं। खूब!

और देखिए—

अरुण कमल पग पाँखुरी की पाँति लसै,
सरस सघन शोभा मन के हरण की।

दीरघ न लघुताई, पातरी सुहावनी हैं,
देखे दुति होति जाति विद्रुम वरण की ॥
नख की निकाई नीकी आरसी सी सोहति है,
जामें देखी जाति शोभा सौति के तरण की ।
'भरमी सुकवि' कहि आवति न मेरी मति—
पाँगुरी भई है, लखि आँगुरी चरण की ॥

कविवर भरमी जी की बुद्धि तो नायिका के चरणों की 'आँगुरी' देख कर बिलकुल पाँगुरी (पंगु-कुण्ठित या ठगी-सी) हो गई है । उससे तो उनके विषय में कुछ कहते ही नहीं बनता ।

पद-नख-वर्णन

[पद-नखों के सौन्दर्य की उपमा चन्द्रमा, पुष्प, तारे, सूर्य, मणि आदि से दी जाती है]

देखिए, निम्नलिखित कवित्त में पद-नखों का वर्णन कैसी सुन्दरता से किया गया है—

चरण सरोवर के तट पाँति हंसन की,
पदुमालया की देहरी में हीरे जरे हैं ।
पग पारवती के गणेश पूजे कुंद ही सों,
मेलते सजीव के उठाय ठाढ़े करे हैं ॥
नख तारे गगन के चन्द के बसीठी आये,
नेक निशि भूल्यो रवि बैर जिय धरे हैं ।
नूर की निकाई न बताई जाइ प्राणपति,
ऐसे प्यारी-पाय सब सुखमा सों भरे हैं ॥

ये नायिका के पद-नख नहीं हैं, वरन् चरण रूपी मानसरोवर के तट पर हंसों की पाँति आ विराजी है । अथवा आकाश के तारे चन्द्र के बसीठ बन कर उसके आस-पास आ बैठे हैं । क्या अद्भुत उड़ान है !

अब कविवर मतिराम जी का पद-नख वर्णन भी सुन लीजिए । आप कहते हैं—

राधे के चरण युग अरुण-अरुण रूप,
लालिमा न बलि ऐसी लालन में होती हैं ।

कोमल सुमन इते शोभा भरे शोभित हैं,
दाहन मरत जपा भये मानो गोती हैं ॥
तामें सुधाधर से विविध भाँति राजत हैं,
कहैं 'मतिराम' नख मिले बनि जोती हैं।
यातें एक उपमा अधिक भासी मेरे जीय,
पंकज दलन अग्रधरे मानो मोती हैं ॥

अरे साहब, राधिका जी के पद-नखों के सम्बन्ध में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि ये चरण नहीं, अरुण कमल हैं, और आप जिन्हें नख बताते हैं, वे बड़े-बड़े मोती हैं, जो कमल की पंखुड़ियों के अग्रभाग में सजा कर रख दिये गये हैं। ठिकाना है, इस सूझ का!

गुल्फ़-वर्णन

[गुल्फों का वर्णन करने में उनकी उपमा रेशम की गाँठ के समान छवि, कामदेव की कपूर की कोठी, रति के डिब्बे, कंचन के ताले या रूप के मूल से दी जाती हैं।]

नीचे लिखे पद्य में गोरी की गोरी-गोरी गुल्फों का कैसा सुन्दरतापूर्ण वर्णन किया गया है, देखिए—

करेगी कहा तू दृग-अञ्जन दै राधे पग,
भञ्जन कै हरी बुद्धि नन्द के दुलारे की।
लाल नख लाल आँगुरीन लखि लीन भयो,
लाली लखि लाल वाके चरण किनारे की ॥
तरवा सुरंग एड़ी ईंगुर की रँगी रंग,
छवि है तरंग अंग कारे चटकारे की।
गोरी तेरी गोरी गोरी गोल गुलफन पर,
नजर निगोड़ी गड़ी जुलफन वारे की ॥

और भी देखिए, नीचे के पद्य में कवि ने गुल्फों के सम्बन्ध में कैसी-कैसी उत्प्रेक्षाएँ की हैं—

चरण कमल करि हाटक की शोभा देत,
पूरी मनि मानो लट नागिनी उलफ की।

रम्भा तरु उलटि कपूर पूर राखिबे की,
कोठी है जुगल कम काम के कुलफ की।
साजत सुदेश गाँठ गिरी है दिनेश कैधों,
रेशम-रसे की रूप-भूप के सुलफ की।
एड़िन सों आड़ राजै पायन दुहूँ बिराजै,
अति छबि छाजै लाल गोरी के गुलफ की॥

पिंडुरी-वर्णन

[पिंडुलियों का वर्णन करते समय उनकी करभ और दीप-शिखा से उपमा दी जाती है।]

कविवर चिन्तामणि जी ने पिंडुलियों का वर्णन कैसे सुन्दर ढंग से किया है, देखिए—

सार घनसार को लै केसरि कनक चूर,
सानि सुधा सलिल सँवारी है किसोरी की।
चीकनी करभ ही सों करी है बिरंचि पुनि,
ताते तैसी भई है युगति नहिं थोरी की॥
रम्भा-छवि छीनि लीन्हीं, रम्भा-छवि छीन कीन्हीं,
'चिंतामणि' तिलोत्तमा रति मति भोरी की।
जे हरि के उर बसी जे हरि सों अति लसी,
ऐसी गोरी-गोरी गोल पींडुरी हैं गोरी की॥

विधाता ने कपूर का सत्व और केसर तथा सोने का चूरा सुधा में सान कर उस मसाले से राधिका जी की पिंडलियाँ बनाई हैं। तभी तो वे ऐसी जान पड़ती हैं, मानों उन्होंने कदली स्तम्भ की शोभा चुरा ली है। यही कारण है कि उनके आगे रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं की ही नहीं बल्कि रति की भी छवि क्षीण जान पड़ती है, और इसीलिए वे हरि के हृदय में बस गई हैं।

और भी सुनिये—

गोरी गोलारी सुढारी सी साँचे की देखत देहन कोमल काकी।
रम्भ कुसुम्भ किधौं हैं किंधौं छबि छीनत कंचन के कलिका की।

काम गढ्यौ बढ़ई ह्वै किधौं रति के रति कीबे को या पलिका की।
'तोष' विलोकि विलोचन मैं न बसी बलि पींडुरिया मलिका की॥

कविवर तोष जी ने पिंडलियों के सम्बन्ध में कैसी अनोखी कल्पना की है। आप कहते हैं—ये नायिका की पिंडलिया नहीं हैं बल्कि रति के रमण करने के वास्ते सुन्दरी के शरीर रूपी पलँग के पाए हैं, जो कामदेव ने बढ़ई बनकर स्वयं अपने हाथों से बनाए हैं।

जंघा (जानु) वर्णन

[जंघाओं के वर्णन में हाथी की सूँड़, केले के वृक्ष, कामदेव के तरकस, सोने के खम्भ आदि से उपमा दी जाती है।]

कविवर चिन्तामणि जानुओं का वर्णन किस विलक्षण ढंग से करते हैं, देखिए—

वृषभानु-नन्दिनी की जानु जैतवार याते,
मेरे जान रम्भा-खम्भ अति ही सकात है।
'चिन्तामणि' कहै वाके काँपत रहत पत्र,
याही डर वाको अति सीरो भयो गात है।
कोमल वैरण कर कसहूँ सो हारत हूँ,
कहा कहौं या विचारि चित अकुलात है।
ये ही यन्त्र करिबे कों मेरे जान बार-बार,
करी कर करिन के निकट ही जात है॥

वृषभानु नन्दिनी की जंघाओं को देखकर कदली स्तम्भ लज्जित और भीत हो गए, इसीलिए उनके पत्ते थरथर काँपते हैं, और शरीर ठंडा पड़ गया है। उधर हाथी की सूँड़ भी राधिका जी की जांघों के आगे अपने आपको कुरूप और कर्कश पाकर, विकल हो इधर-उधर छुट-पटाती रहती है। ओ हो! हाथी जो बार-बार दौड़-दौड़ कर कदली वन में जाते हैं, उसका भी रहस्य अब समझ में आ गया। क्योंकि करी-कर (हाथी की सूँड़) और कदली-स्तम्भ दोनों ही राधा जी की जंघाओं से पराजित हो चुके हैं, इसलिए परस्पर मन्त्रणा करने के लिए वे बार-बार इकट्ठे होते हैं।

और भी सुनिए—

कोमल कमल-मुखी तेरे ये जुगल जानु,
मेरे बलबीर जू के मनहिं हरत हैं।
सौरभ सुभाय सुभ रम्भा सो सदन अरु,
'केसव' करभ हू की सोभा निदरत हैं॥
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सों,
देखि-देखि गजराज लाजन मरत हैं।
मोच-मोच मद रुचि सकल सकोच सोच,
सुधि आए सुंडन की कुंडली करत हैं॥

नायिका की जंघाओं को देख कर गजराज का सारा मद चूर-चूर होगया, और मारे संकोच के बेचारे ने सिर नीचे झुका लिया। उसे जब अपने इस पराभव की याद आती है, तब वह सूँड़ की कुण्डली बनाने लगता है।

निम्नलिखित पद्य में जंघाओं का वर्णन कितनी सुन्दरता से किया गया है—

कदली डुलाइ कर पल्लव करत मने,
हौं तौ वनवासी मोहि किजिये न सर है।
कारो करकस जानि करी हू सकेलि कर,
धुनै सीस देत प्यारी जान पटतर है॥
तब याकी सूरति करभ एक रच्यौ विधि,
सोऊ रसराज उपमा के न सुघर है।
एरी तेरी जानु रति समै पिय ही के कर,
करभ निलज पर्यौ सब ही के कर है॥

यदि नायिका के जानुओं की उपमा कदली स्तम्भ से दें, तो वह पहले ही पल्लव-पाणि हिलाकर कहता है—"भला मैं वनवासी उनकी समता कैसे कर सकता हूँ।" हाथी की सूँड़ से समता करना चाहें, तो वह भी उसे काली और कर्कश जानकर सूँड़ समेट लेता तथा अपने शीश पर धूलि रख कर अपनी अकिञ्चनता प्रकट करता है। यदि करभ से तुलना करें तो यह भी अति अनुचित है। कहाँ जने-जने के हाथ में डोलने वाला निर्लज्ज करभ, और

कहाँ प्रतिक्षण वस्त्राच्छादित रहने वाले नायिका के सलज्ज जानु। "कहहु तो कहाँ चरण कहाँ माथा।"

नितम्ब वर्णन

[नितम्बों के वर्णन में उनकी चक्रवाक, द्वीप, नदी के कूल आदि से उपमा दिया करते हैं।]

कविवर केशव जी नितम्बों का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

चहूँ ओर चित्तचोर चाक चक्य चक्रमणि,
सुन्दर सुदरशन दरशन ही ने हैं।
दितिसुत सुखनि घटाइबे को सुख रूप,
सुरनि बढ़ाइबे को 'केशव' प्रवीने हैं॥
सब ही के मननि हरन करि हरि हू के,
मन मथिबे को मनमथ हाथ लीने हैं।
रुचि शुचि सकुचि सकेलि कै तरुणि तेरे,
काहू नये चतुर नितम्ब चक्र कीने हैं॥

अब ज़रा नितम्बों के सम्बन्ध में नूर कवि की कल्पना भी देख लीजिए—

पिय रति श्रमता के थाँभिबे की ठौर कीन्हीं,
रूप के नगारे मैन उलटि कै राखे हैं।
कीधौं काम माल ताकी नाल सी सिखत सिखी,
की धौं पीठि देवी ताके शुद्धि घर भाखे हैं॥
कीधौं चक्र चतुराई ताही के हैं आगे धरे,
कोविद के मारिबे को 'नूर' अभिलाखे हैं।
शोभा सब जग की सँवारि कै धरी है मानो,
तरुनी के नीके ये नितम्ब रचि राखे हैं॥

और देखिये, कविवर तोष जी नितम्बों के बारे में क्या कहते हैं—

की धौं द्वार मार जू के दोऊ चारु चौतरा हैं,
की धौं चक्रवाक चितचोर सुर नीके हैं।
चामीकर चक्र चीन्हें जात याहि चिन्तना ते,
चित ये चपल नैनी जौन करनी के हैं॥

रति के सहायक हैं 'तोष' सुखदायक हैं,
राखिबे के लायक अगर वरुनी के हैं।
संवरारि रागी जू के तँबूरा विराजत कै,
मैन ही के तंब कै नितम्ब तरुनी के हैं॥

उपर्युक्त कवित्तों के अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं, उन्हें प्रवीण पाठक स्वयं ही भले प्रकार विचार सकते हैं।

कटि-वर्णन

[कवियों ने कटि की सुन्दरता उसके अधिक से अधिक क्षीण होने में मानी है, और उसकी उपमा केहरि-कटि सितार, मृणाल के तार, बाल, मुंदरी आदि से दी है।]

कटि के वर्णन में कवियों की कल्पना-कुरंगी ने कैसी-कैसी कुलाचें भरी हैं, इसके कुछ नमूने नीचे देख लीजिए—

सिंहनी के करिहाँ ते छीन कञ्जनाल कर्‌यौ,
कञ्जनाल हूँ ते नागबेलि हू न घटि है।
नाग बेलि हू ते छीन जान्ये गुनवन्त गुन,
गुन हू ते छीन बर-बार कर्‌यौ वटि है॥
बार हू ते छीन तार 'चंदन' विचार कर,
तार मकरी को रच्यौ सच्चय निपटि है।
मकरी के तार हू ते चारु सुकुमार अति,
करी करतार यह तेरी छीन कटि है॥

उक्त पद्य में नायिका की कटि मकड़ी के जाले से भी बारीक बताई गई है। अब कविवर चिन्तामणि की उड़ान देखिए—

सुन्दरि को मध्य विधि बड़े ही यतन रच्यौ,
ताते अनुपम एक औरै रूप ठयो है।
चारि को तो अंक पल में हजार करे रच्यौ,
तैसो कहै कोऊ सो तो मूढ़ गुण लयो है॥
'चिन्तामणि' राधिका की कटि चितै सिंह-कटि,
हारि गो निपट सोच ताके मन भयो है।

अब कहूँ सुनिये न लाज ही ते मेरे जान,
तब ही ते मृगराज मही छोड़ि गयो है ॥

राधिका जी की कटि को चार के अंक से उपमा देना तो महा मूर्खता होगी, अजी उनकी कमर ने तो सिंह की कमर को भी मात दे दिया है। इसी लिए तो सिंह मारे लज्जा के जंगल में जा छिपा है और अपना-मुँह दिखाना भी पसन्द नहीं करता।

अब ज़रा केशवदास जी की भी सूझ देखिए। इन्होंने तो नायिका की कटि को कोरी कल्पना बता दिया है, वास्तव में वह है नहीं। सुनिए—

भूत की मिठाई जैसी, साधु की झुठाई जैसी,
स्यार की ढ़िठाई जैसी छीन छहों ऋतु हैं।
घीरा कैसो हास 'केसौदास' दासी कैसो सुख,
सूर कैसी संक अंक रंक कैसो वितु है ॥
सूम कैसो दान, महामूढ़ कैसो ज्ञान, गौरी—
गौरा कैसो मान मेरे जान समुदितु है।
कौने है सँवारी वृषभानु की कुमारी यह,
तेरी कटि निपट कपट कैसो हितु है ॥

अर्थात् ऊपर वर्णित चीज़ें जैसे कल्पना मात्र या नाम मात्र को होती हैं, वैसे ही राधिका जी की कटि भी है। वस्तुतः वहाँ है कुछ भी नहीं।

कविवर शंकर जी ने कटि का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, उसे भी पढ़ लीजिए—

पास के गये पै एक बूँद हू न हाथ लगै,
दूर सों दिखात मृग तृष्णिका में पानी है।
'शंकर' प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर,
जान पड़े अम्बर में नीलिमा समानी है ॥
भाव में अभाव है, अभाव में धौं भाव भर्यौ,
कौन कहै ठीक बात काहू ने न जानी है।
जैसे इन दोउन में दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है।

कमर की 'अकथ कहानी' के साथ, गम्भीर दार्शनिक भाव को, इस ख़ूबी के साथ नत्थी कर देना शङ्कर जी का ही काम है।

कविवर तोषनिधि जी का भी कटि-वर्णन पढ़िए, आपकी सूझ भी निराली है—

कोऊ कहै बारसी सिवार-सी कहत कोऊ,
कोऊ कञ्ज तार सी बतावत निशङ्क हैं।
मेरे जान सिरफ लुनाई की लपेट लागी,
ताही की लहक औ लचक होत बङ्क है॥
'तोष निधि' जो पै बे अधार को बहम बाढ़ै,
तो पै परतच्छ को प्रमान कौन टङ्क है।
जैसे भूमि-अम्बर के मध्य में न खम्भ कोऊ,
तैसे लोल लोचनी के अङ्क में न लङ्क है॥

अरे साहब, लोग भी क्या वहम में पड़े हैं। कोई नायिका की-कमर को सिवार-सी बताते हैं, और कोई बाल-सी बयान करते हैं। परन्तु मेरा ख्याल तो यह है कि वहाँ कुछ है ही नहीं। यदि आप यह शङ्का करें कि जब नायिका के कमर नाम की कोई चीज़ है ही नहीं तो फिर उसका ऊपरी धड़ किसके आधार पर ठहरा है, इसके समाधान के लिए भूमि और आकाश का प्रत्यक्ष सबूत मौजूद है। जैसे भूमि पर आकाश बिना खम्भे के डटा है, वैसे ही नायिका का ऊपरी भाग भी पैरों पर टिका हुआ है। अस्तु, अब इससे भी बढ़ कर एक और कल्पना देखिए—

कीन्हो कमलासन कला निधि वदन तेरो,
सकुच्यौ कमल सार बासर निसरि गो।
भयो है उताल रचिबे को तेहि काल बाल,
बाहस विडरि वाको साहस सिसरि गो॥
टेढ़ी कीन्हीं भौहें, कच कीन्हें कुटि लौ है फेरि,
कलिका भए ते वाको आसन खसरि गो।
गोप जनि जान्यो ख्याल जगत जनायो यह,
यातें वाकों कटि को बनाइबो विसरिगो॥

कविवर तोषनिधि का तो ख़्याल ही था कि नायिका के अङ्ग में लङ्क नाम की कोई चीज़ नहीं है। परन्तु उक्त कवित्त में तो दावे के साथ कहा गया है कि नायिका के शरीर में कमर हरगिज़ नहीं है। विधाता उसका बनाना ही भूल गया है। इसका सबूत लीजिए—जिस समय ब्रह्मा जी बाला के शरीर की रचना करने लगे और उन्होंने उसका मुख-चन्द्र बनाया, तो उसे देखते ही ब्रह्मा जी का आसन (कमल) चलायमान हो गया—सिकुड़ने लगा। इससे ब्रह्मा जी के होश-हवास उड़ने लगे। और हाथ-पाँव फूल गये। फिर भी बेचारे जल्दी-जल्दी दूसरे अंगों की रचना करने लगे, तो उन्होंने घबराहट में भौंहें टेढ़ी बना दीं, बाल भी कुञ्चित कर दिये और वे उसकी कमर बनाना तो भूल ही गये। ख़ूब! क्या ही अनोखी कल्पना और कैसी ऊँची उड़ान है। सचमुच कवि-प्रतिभा इसे ही कहते हैं।

नाभि-वर्णन

[नाभि को कवियों ने रस का कुण्ड, रूप की बाँवी, छवि सरिता का भँवर, शृङ्गार की गुफा, विधाता की दवात, कामदेव की मथानी आदि से उपमाएँ दी हैं।]

देखिए, किसी ने नाभि का क्या ही अच्छा वर्णन किया है—

शिशुता के भाजिबे को गहरी गुफा है कैधौं,
रस की तरंगिनी में भौंर मझधार को।
लच्छन बतीस हू के शोभा को भँडार यह,
सौतिन को गरब गयो है एक बार को॥
कीधौं सुधा-कुंड देखि गहरे गई है मति,
उपमा न आवति न पावति विचार को।
रूप को नगर काम भूप ने बसायो तामें,
नाभि रस-कूप मन मोहै रिझवार को॥

लीजिए, नाभि का वर्णन करते-करते उसे सुधा का कुंड समझ कवि जी की बुद्धि भी उसमें गहरा गोता लगा गई, फिर भी उसे उसके अनुरूप कोई उपमा न मिली।

अब ज़रा चिन्तामणि जी का भी नाभि-वर्णन सुन लीजिए। आप कहते हैं—

अंधकार मध्य मुनि मैन की गुफा है कीधौं,
रूप ठग काज हेत बीच तम कूप है।
श्याम ही तमाल तरु को है आल-बाल कैधौं,
व्याल को विवर अति सुभग सरूप है॥
'चिंतामणि' कैधौं नीलमणि की सुपान बाँधि,
भूमि गृह रच्यौ एक मनसिज भूप है।
अति ही गँभीर रोम राजी के निकट कैधौं,
तरुणी को नाभि कूप लसत अनूप है॥

चिंतामणि जी ने तो नाभि को तहखाना ही बना दिया और उसमें घुसने के लिए रोम-राजि रूप नील मणि की सीढ़ियाँ भी लगा दीं। खूब !

+ + +

किसी उर्दू कवि ने नाभि के तिल का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

ख़ाले सियाह नाफे मुदव्वर के पास है।
जो हिन्दसा कि पाँच था वह अब पचास है।

कवि ने नायिका की गोल नाभि के पास तिल देखकर उसे पचास बना दिया। उर्दू में पचास O. इस प्रकार लिखा जाता है, अर्थात् तिल के कारण नाभि की शोभा दस गुणी बढ़ गई। यह भाव !

उदर-वर्णन

[उदर की उपमा मानसरोवर, पीपल का पत्ता, कमल-दल आदि से दी जाती है।]

देखिए, नूर कवि ने उदर के वर्णन में मानसरोवर का कैसा सुंदर रूपक बाँधा है—

'नूर' रस छलकै, सुनाभि भौंर झलकै नि-
हारि लाल ललकै लग्यौ धौं लोभ सर है।
त्रिवली तरंग है रूमावली सिवार संग,
मकर अनंग कहैं नागरि सुनर है॥

मुख सुधा सर मध्य मीन दृग देखि-देखि,
भर कै परस के सरस बाफ घर है।
हंस कुच कौल हार मोतिन के माल गरे,
उदर तनोदरी को मानो मानसर है॥

उदर रूपी मानसर में शोभा रूपी जल भरा है। नाभि रूपी भँवर पड़ रहे हैं। त्रिवली की तरंगें और रोम राजि का सिवार है। स्तन युग ही कँवल या हंस हैं। नायिका के गले में जो मुक्ताहार पड़ा है, उसने मानसर में मोतियों की कमी पूरी कर दी है।

और भी सुनिए—

कोमल अमल दल कमल नवल कैधौं,
कीन्हों है विरंचि सब छबि को सहेट है।
उदित प्रभाकर की दुति आन छाई कैधौं,
चमकत चारु खोत लोचन लपेट है॥
सुंदर थली है भली मदन विराजिबे की,
जाकी सम कीन्हें होत उपमा तरेट है।
चीकनो परम मखमल ते नरम ऐसो,
प्यारी जू को पेट लेत मन को लपेट है॥

विधाता ने नायिका का उदर नहीं बनाया, वरन् छवि रूपी नायिका के अभिसार के लिए संकेत स्थान बनाया है। क्योंकि कामदेव के बैठने की स्थली यही है।

उदर के वर्णन में कविवर लीलाधर जी का भी एक पद्य पढ़ने लायक़ है। देखिए—

ललित वलित लौटें परी जाके बीच कैधौं,
लहरें बढ़ावति सरूप पारावार है।
नाभी सर तट न्हान जान को विमल हेम-
सीढ़ी बँधवाई मैन भूपति उदार है॥
'लीलाधर' दरस-परस सुख कारी जामें,
बरस-बरस छवि छलक प्रचार है।

मुद रति बारो रच्यौ उदर तिहारो ऐसो,
कुदरति बारी कहियतु करतार है ॥

सचमुच करतार बड़ा ही 'कुदरत' वाला है, जो ऐसी-ऐसी अनोखी वस्तुएँ बनाता रहता है। यहाँ नाभि-सर में प्रवेश करने के लिए, पेट की सलवटों के सम्बन्ध में सीढ़ियाँ की कल्पना की गई है।

त्रिवली-वर्णन

[त्रिवली का सौन्दर्य वर्णन करते समय, सँकरी गली, सीढ़ियाँ, नदी, रथ-चक्र की लीक आदि से उसकी उपमाएँ दी जाती हैं।]

लीजिए, त्रिवली के वर्णन में कवि रघुनाथ जी का एक पद्य पढ़िए—

मन-हंस बसिवे को रूप की नदी में कैधौं,
निकसी पुलिन पाँति काँति हेम लोने की।
सैसव सों लरिबे कों यौवन महीप कै धौं,
कीन्हीं मेंड़ मोरचे की साध जीत होने की॥
नैन बस करिबे कों कहै कवि 'रघुनाथ',
त्रिवली तिया की कैधौं तीनि रेख टोने की।
कुच-भार धरिबे को देखि अति छीन कटि,
कैधौं काम बाँधी है बनाइ दाम सोने की॥

कवि रघुनाथ जी कहते हैं कि नायिका के शरीररूपी रूप की नदी में नायक के मनरूपी हंस के बैठने के लिए त्रिवली रूपी पुलिन है। अथवा यौवन-महीप ने शैशव से लड़ने के लिए, युद्ध क्षेत्र में त्रिवली का मोर्चा बनाया है। या ऐसा जान पड़ता है कि नायिका के शरीर को कुदृष्टि से बचाने के लिए टोना की ये तीन रेखाएँ खींच दी हैं। अथवा नायिका की क्षीण कटि पीन स्तनों के भार से झुक न जाय, इसलिए कामदेव ने तीन सोने की पेटियाँ बाँध दी हैं।

और भी देखिए—

कैधौं मैन भूपति के रथ के सुचक्र चले,
तिन ही की लीकें उर-भूपै जान तौन है।

कैधौं मैन ठग की गली ये भली ठगिबे की,
कैधौं रूप-नदी ह्वै त्रिधार कियो गौन है ॥
ऐसी छवि देखी एरी मोहे मनमोहन जू,
याते मैं हू जानी ये ही मोहिबे को भौन है।
एक बली सबही को बस करि राखत है,
त्रिवली जो करै बस अजरज कौन है ॥

अरे साहब, बली (बलवान्) तो एक ही बहुतों को वश में कर लेता है, जहाँ त्रिवली (तीन बली) एकत्र हों, वहाँ जगत का वशीभूत हो जाना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। फिर यहाँ नायिका की त्रिवली ने यदि मोहन का मन मोह लिया, तो इसमें अचम्भे की कौन बात है।

रोम-राजी वर्णन

[रोम-राजी की उपमा प्राय: अन्धकार, धुआँ और चींटियों की पाँति से दी जाती है।]

नीचे लिखे पद्य में रोम-राजी का कैसा सरस वर्णन किया गया है—

कैधौं यह पान पै बसीकर को मन्त्र लिख्यो,
देखि छवि मोहै कौन ? त्रिया पंचसर की।
हृदय-सरोवर सिंगार रस जल कैधौं,
उमड़ि चल्यौ है नाभि कुण्डिका गहर की।
छोटे-छोटे आखरन अबला लिखाये यातें,
आपनी सबलताई सूरता समर की।
जिन्हें देखे नैनन की गति मति भाजी यह,
तेरी रोमराजी कैधौं बाजी-बाजीगर की ॥

यहाँ रोमराजी की उपमा पान पर लिखे वशीकरण मन्त्र, हृदय-सरोवर में भरे हुए शृङ्गार-रस रूपी जल आदि से दी गई है, ।

और भी देखिए, कवि केशव इस प्रसंग में क्या कहते हैं।

कैधौं काम बागवान बोई है सिंगार बेलि,
सींचि के बढ़ाई नाभी-कूप मन मोहिये।

कीधौं हरि नैन खंजरीटन के खेलिबे की,
भूमि 'केसौदास' नख पंक रेख रोहिये ।।
कीधौं चलदल पान पिय को कपट ज्वर—
टूटिबे को मन्त्र लिखि लोचननि जोहिये ।
सुन्दर उदर सुभ सुन्दरी की रोमराजी,
कैधौं चित्त चातुरी को चोटी चारु सोहिये ।।

नायिका के उदर पर रोमावली नहीं है, यह तो कामदेव-माली ने शृङ्गार रस की बेलि बोई हुई है, जिसे वह नाभि-कूप के जल से सींचा करता है। अथवा कृष्ण जी के नयन-खंजरीटों के खेलने से ये उनके पञ्जों के निशान बन गए हैं। केशव जी भी क्या अनोखी उपमा ढूँढ़ कर लाए हैं।

कुच वर्णन

[कवि जन कुच-सौन्दर्य वर्णन करते समय उनकी उपमा शिव, गिरि, घट, कमल, चक्रवाक, गुम्बज, फूलों के गुच्छा, हाथी के कुम्भ, श्रीफल आदि से देते हैं।]

कुचों के वर्णन में कविवर तोष जी का पद्य पढ़िए—

कैसे कहौं कोक वे तो शोक ही में रहैं निसि,
ये तो ससि मुखी सदा आनँद सों हेरे हैं।
कैसे कहौं करि-कुम्भ वे तो कारे करकस,
ये तो चीकने हैं चारु हार ही सों घेरे हैं ।।
कैसे कहौं कौल वे तो पकरे विथुरि जात,
ये तो गोरे गाढ़े आछे ठाढ़े आप नेरे हैं।
याही है प्रमान 'तोष' उपमान आन प्यारी,
तरुनाई तरु ताके फल कुच तेरे हैं ।।

भाव स्पष्ट है, व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

अब कवि आलम के कुच-वर्णन का नमूना देखिए—

मौनी विधि गंगा तीर करत तपस्या कैधौं,
काम के तुका से लागे उठन उठौना के।

यौवन नरेस के चौगान के निसान कैधौं,
श्रीफल ते सरस खिलाने फूल दौना के।
'श्रालम' सुकवि कलधौत के कलस कैधौं,
श्रानँद के कन्द की मनोज रस हौना के।
स्वेत कंचुकी में कुच ढाँपे नंदनन्दन प्यारी,
फटिक के सम्पुट में द्वै सरोज सौना के॥

श्रौर भी लीजिए—

कैधौं रति जंग के सुभट युवराज सो हैं,
कंचुकी सुरंग केस उन्नत श्रमाने हैं।
दृग कमनेत के कटाक्ष सर छाँड़िबे कौं,
मानो ये विरंचि रचे रुचिर निसाने हैं॥
कैधौं द्वै कलिन्दी कूल कोक सुभ्र सौंहैं कै धौं
उरज उतंग लखि कान्ह मन माने हैं।
यौवन महीप श्रंग श्रागम सुगम जानि,
मदन फरास कैधौं तम्बू युग ताने हैं॥

कविवर शङ्कर ने नायिका के कुचों को यौवन-मानसरोवर के हंस माना है, देखिए—

यौवन मानसरोवर में कुच हंस मनोहर खेलन श्राए।
मोतिन के गलहार निहार श्रहार विहार मिले मन भाए।
कंचुकी ुज पतान की श्रोट दुरे लट नागिन के डर पाए।
देखि छिपे छिपके पकड़े घर 'शंकर' बाल मराल के जाए।

स्तनों के वर्णन में निम्नलिखित कवित्त भी बड़ा श्रच्छा है—

यौवन कुँदेरे कै धौं काम छोहरा के काज,
कंचन के लटुवा धरे धौं भाय नीके हैं।
रूप के केदार में सकेलि राखी रूप रासि,
कै धौं ये मनोरथ के फले फल घीके हैं।
कैधौं रसराज चारु छबि गात मूरि लिये,
मार उपचार कौं कुमार श्रस नीके हैं।

को कहै कहा विचारे, श्रीफल से वारे कीधौं,
छवि साँच ढारे प्यारे कुच कामिनी के हैं ॥

इस प्रसंग में कविवर दास जी का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

कंज के सम्पुट हैं, पै खरे हिय में गड़ि जात ज्यों कुन्तकी कोर हैं।
मेरु हैं पै हर हाथ न आवत चक्रवती पै बड़ेई कठोर हैं।
भावती तेरे उरोजन में गुण 'दास' लखे सब ओरई ओर हैं।
सम्भु हैं, पै उपजावे मनोज, सुवृत्त हैं पै पर चित्त के चोर हैं ॥

लोग स्तनों को जो कमल के सम्पुट से उपमा देते हैं, वह बिलकुल झूठ है, क्योंकि ये तो बाण की नोंक के समान हृदय में चुभ जाते हैं।........ कोई कुछ भी बतावै, पर दास कवि ने तो इनमें और ही और गुण देखे हैं। ये तो शंभु होते हुए भी काम को उद्दीप्त करते हैं, तथा सुवृत्त (गोलाकार) सदाचारी होते हुए भी दूसरों का चित्त चुरा लेते हैं।

देखिए किसी कवि ने महादेव और स्तनों की तुलना कैसे सुन्दर ढंग से की है—

वै धरें अङ्ग भुजंग के भूषण, एऊ भुजंग रहैं हिय धारे।
वै धरें चंद सँवारि कै भाल पै एऊ नखच्छद-चंद सँवारे।
संभु की औ' कुच की समता कवि कोविद भेद इतोई बिचारे।
संभु सकोप ह्वै जार्‌यो मनोज उरोज मनोज जगावन हारे ॥

उधर शंकर जी भुजंग-भूषण धारण करते हैं, तो इधर नायिका के स्तन भी हृदय में विष धारे हैं।* महादेव जी अपने मस्तक पर चन्द्रमा सजाते हैं, तो ये भी नखच्छद रूपी चन्द्रमा से सुशोभित हैं। इन दोनों में अन्तर

---

* स्तनों में अमृत और विष दोनों ही रहते हैं। ये बालकों के लिए सुधा प्रदान करते हैं, और वृद्धों के वास्ते विष। जैसा कि शंकर जी ने कहा है—

बाल युवा अरु वृद्ध कों, सुधा, सुरा, विष दैन।
काढ़े कञ्चन कलश युग, रूप सिन्धु मथि मैन ॥

है, तो केवल इतना कि महादेव जी ने क्रुद्ध होकर मनोज को भस्म कर डाला था, और ये मनोज को उद्दीप्त करते हैं।

कंचुकीयुत कुच-वर्णन

कंचुकी से ढके कुचों के वर्णन में नीचे लिखा सवैया कवि-कल्पना का कैसा उत्कृष्ट नमूना है—

प्रात समै वृषभानु सुता चलि आवति ही जमुना जल न्हाये।
बारि सों चीर लग्यौ सब देह में दूनी दिपै छबि ओप बढ़ाये॥
दरियाई की कंचुकी में कुच की छबि यों छलकै कवि देत बताये।
बाज के त्रास मनों चकवा जलजात के पात में गात छिपाये।

इस प्रसंग में नीचे लिखे दोहे भी पढ़ने लायक हैं—

नील कंचुकी में लसत यों तिय कुच की छाँह।
मानो केसर रँग भर्यौ, मरकत सीसी माँह॥

× × ×

बिधु वदनी, तव कुचन की पाय कनक सी जोति।
रँगी सुरंगी कंचुकी नारंगी सी होति॥

पीले और लाल रंग का मिल कर नारंगी रंग बन जाना लोक प्रसिद्ध ही है। दोहे में कैसा स्वाभाविक वर्णन है। नारंगी शब्द का यहाँ रंग और आकृति दोनों ही दृष्टियों से कितना उपयुक्त प्रयोग हुआ है।

करतल-वर्णन

[स्त्री के करतल (हथेली) की सुन्दरता का वर्णन नए पत्तों और कमल की पँखुरियों से उपमा देकर किया जाता है।]

देखिए, कविवर काशीराम ने नायिका के करतल का वर्णन करने में कैसी अनूठी कल्पना की है।

ऊदी होति नीलमणि बरणि सकै धौं कौन,
चुन्नी छपि जाति नीठि-नीठि दीठि न परै।
याही जानि जौहरी जवाहिर धरत ढाँपि,
पीरी होत पैगू ते भगोठें छबि का धरै॥

देत लेत बनत न घटत हमारो माल,
आपुनो अनौखे नाह सोरह गुनौ करै।
बाला-हाथ मुकुता लै प्रकसे प्रवाल होत,
'काशीराम' रजत रुपैया होत मोहरै॥

नायिका किसी जौहरी की दुकान पर मणि-माणिक की ख़रीदारी करने आई है। वह जब नीलमणि अपने हाथों में लेती है, तो उसका रंग ऊदा हो जाता है, यानी हथेलियों की लाल कान्ति के पड़ने से नीलमणि ऊदी-ऊदी दिखाई देने लगती है। चुन्नी तो नायिका के हाथों में जाकर बिलकुल ही छिप जाती है, निहार-निहार कर देखने पर भी दिखाई नहीं देती। चुन्नी और हथेली दोनों का एक रंग होने से हाथ में उसका न दिखाई देना स्वाभाविक है। जौहरी ने जब ऐसी दशा देखी तो अपने रत्न ढक-ढक कर रख लिये और कहने लगा—जाइए, हमारा आपका सौदा न पटेगा। भला ठिकाना है, आपके हाथ में जाते ही हमारे माल का तो मोल घट जाता है, और आपका माल सोलह गुने दाम का हो जाता है। अर्थात् आप जब हमारे मोती अपने हाथ में लेती हैं, तब वे तो हथेली की लाल आभा पड़ने से मूँगा से जान पड़ते हैं। और अपना चाँदी का रुपया जब देने लगती हो, तो वह हाथ की लाल कान्ति पड़ने से सोने की मुहर-सा मालूम पड़ने लगता है। ख़ूब, कवि ने कैसे सुन्दर और विचित्र ढंग से हथेलियों की सुंदरता का वर्णन किया है। उसकी सूझ कहाँ से कहाँ पहुँची है। जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि। ऐसी ही जगह के लिए कहा गया है।

और भी देखिए—

कंचन के पल्लव में छोटी-बड़ी लीक मानो,
लिख्यो है उचाट मन्त्र विधि मोह सों भयो।
सुधा की स्रवन मणि माणिक लसत सोई,
आँगुरी किरन ज्यों प्रभाकर उदै भयो॥
मेंहदी रचित नख कैधौं मैन-पंचबाण,
खरसान धरै सोने पानी तिनकों दयो।
आँचर को ओट तें अचानक ही दीठि पर्‌यो,
तेरो हाथ देखे मन मेरो हाथ ते गयो॥

घूँघट का अंचल थामे हुए नायिका के हाथ को देख कर कवि कहता है, कि हथेली में मेंहदी से जो चित्रकारी की है, वह ऐसी जान पड़ती है, मानो स्वर्ण पत्र पर वशीकरण मंत्र लिखा है। मणि-भूषणों से युक्त उँगलियों से ऐसी प्रभा प्रस्फुटित हो रही है कि उसे देख प्रभाकर का सा भ्रम होने लगता है। मेंहदी रचे हुए नखों से युक्त पाँचों उँगलियाँ कामदेव के पंचबाण-सी प्रतीत होती हैं, जिनके अग्रभागों—फलों पर मानो जंग लगने के भय से सोने का पानी चढ़ा दिया है। सच तो यह है, कि नायिका के हाथ को देख कर मेरा मन हाथ से जाता रहा है।

कविवर सेनापति ने करतल का वर्णन क्या ही अनोखे ढंग से किया है, ज़रा उसे भी पढ़ लीजिए—

> कोमल कमल कर-कमल विलासिने के,
> रचि पचि कीन्ही विधि सदर सुधारी है।
> राजत जराऊ आँगुरीन में अँगूठी पुनि
> द्वै-द्वै छला दुति राखि पोरि यों सँवारी है॥
> मेंहदी के बूँद माँ विराजत हैं बीच लाल,
> 'सेनापति' देखि पाये उपमा विचारी है।
> प्रात ही अनन्द ते अरुण अरविन्द मध्य,
> बैठी इन्द्र गोपिन की मानों पाँति बारी है॥

नायिका के कोमल कमल जैसे कर-पल्लवों में जड़ाऊ आभूषणों की शोभा जो थी, वह तो थी ही, परन्तु उनमें रचाई हुई मेंहदी की बूँदों ने तो बड़ी ही अलौकिक सुंदरता उत्पन्न कर दी है। अब तो वे ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे प्रातः काल नव विकसित अरुण कमल पर आनन्द-मुग्ध इन्द्र वधुओं की 'पाँति' बैठी हो।

हथेलियों के वर्णन में नीचे लिखा सवैया भी कितना उत्कृष्ट है—

> दैन लगी मेंहदी दुलही कर बैठी तिया यक नागरि नेरी।
> होइ लट्टू गई बाल विलोकि ललाई अलौकिक वा कर केरी॥
> देइ न दूरि करै न धरै न टरै टकतें न हलै चित चेरी।
> यों चुभि दीठि चलै न उतै इतै चाहि रही लिए हाथ हथेरी॥

जब नागरी दुलहिन के हाथों में मेंहदी लगाने लगी, तो उसकी हथेली की अद्भुत लालिमा को देख वह उस पर लट्टू हो गई। अब वह न तो हाथों में मेंहदी लगाती है, और न हाथों को छोड़ती है। मुँह बाये भौचक्की-सी उन्हें देख रही है।

इस प्रसंग में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने लायक है—

बड़े कहावत आपु हो, गरुवे गोपीनाथ।
तौ बदि हौं जौ राखि हो, हाथनु लखि मन हाथ॥

गोपीनाथ, अपने मुँह चाहे जितने मियाँ मिट्ठू बन लो, परन्तु मैं तो तभी समझूँगी, जब उस ललना के लाल-लाल हाथों को देखकर भी मन अपने हाथ से न जाने दोगे।

अँगुरी-वर्णन

[उँगलियों की सुंदरता के वर्णन में चम्पाकली, कल्पतरु की मंजरी, कामदेव के बाण आदि से उपमा दी जाती है।]

कविवर बलभद्र जी ने अपने नीचे लिखे कवित्त में उँगलियों का कैसा सुंदर चित्र खींचा है—

फूले मधु माधवी के पुहुप पुनरभव,
मानों 'बलभद्र' पंच साखा देवतर की।
केसरि कली-सी कलधौत की फली-सी कैधौं,
फूली भली भाँति कंजलता कामसर की॥
कोमल कमल अग्र दस चक्र चिन्ह राजें,
जीती दसों दिसनि की सोभा सुर-नर की।
तेरे कर बसत कनक तन धारी तंत्र,
कैधौं कर पल्लव किसोरी तेरे कर की॥

उँगलियों के वर्णन में नीचे लिखा दोहा भी लाजवाब है। कोई नायिका चम्पा की कली अपने हाथ में लेकर सखी को दे रही है। उसकी उँगलियों और चम्पा कली में इतनी समानता है, कि सखी चम्पा कली के धोखे में उँगलियों को पकड़ लेती है। देखिए—

चम्पकली कर गहि कुमरि हुती सखी कों देति ।
वह बौरी धोखे परी अँगुरी गहि गहि लेति ॥

कर-नख-वर्णन

[नख-सौंदर्य के लिए तारा, रत्न, कुसुम आदि से उपमा दी जाती है।]

कविवर कालिदास ने नायिका के नखों का वर्णन इस प्रकार किया है—

देखे अनदेखे हरि तजत न अंक तेरो,
विमल मयंक मुखी मोहे कोटि निख लों ।
'कालिदास' रीझि-रीझि करत सराह प्यारो,
क्यों न यह छवि लागै बैरिन कों विष लों ॥
लाल कुरबिन्द अरबिन्द इन्द्रबधू बारों,
विद्रुम ललाई नीचे करि राखी इख लों ।
तेरे कर-नख की बनक को विलोकि उठै,
सौतिन के अनख की आगि नख-शिख लों ॥

नायिका के जिन सदर नखों पर कालिदास जी ने लाल, विद्रुम, कुरविन्द, इन्द्रवधू, अरविन्द आदि सब वार दिए, भला वे सपत्नियों को विष से क्यों न लगेंगे ।

कर-नखों के वर्णन में नीचे लिखे दोहे भी बहुत उत्तम हैं—

यों मेंहदी रंग में लसत नखन झलक 'रसलीन' ।
मानों लाल चुनीन तर दीने डाँक नवीन ॥

रसलीन जी कहते हैं कि मेंहदी के रंग से रंजित नखों में से ऐसी आभा फूट रही है, जैसे लाल नग के नीचे नवीन 'डंक' रख देने से, वह चौगुना चमक उठता है । और देखिए—

सोहति कर-अँगुरीन पै झलक नखन की काँति ।
बैठी विद्रुम बेलि पै जनु उड़ुगन की पाँति ॥

कराङ्गुलियों के अग्रभाग में शुभ्र नखों की ऐसी शोभा जान पड़ती है, मानो मूँगा की शाखाओं पर नक्षत्रों की अवली आ विराजी हो । कैसी अनूठी कल्पना है !

पीठ-वर्णन

[पीठ की उपमा कदली पत्र, कामदेव की या सोने की पाटी आदि से दी जाती है ।]

नीचे लिखे पद्य में पीठ का कितना सुंदर वर्णन किया गया है, देखिए—

कैधौं यह केस भेष रस को नरेस वाके,
देस की सुदेस भूमि सोभा रस भीनी है ।
कैधौं यह मदन की पाटी मंत्र पढ़िबे की,
सूरति सुकवि बनी हाटक नवीनी है ॥
जीवन के मंदिर की भीति है सुढार कैधौं,
राज रतिराज रुचि सन रचि कीन्ही है ।
एरी वीर तेरी यह पीठि नेक दीठि परी,
देखत ही ईठ सबही को पीठि दीनी है ॥

कामिनी की कमर केश-पाश रूपी रस-राज की क्रीड़ा-भूमि है, या कामदेव के पढ़ने की स्वर्ण-निर्मित पट्टी ? अथवा जीवन-मंदिर की सुंदर दीवार है, जिसे कामदेव रूपी राज ने अपने हाथों से रच-पच कर बनाया है। हे सखी, तेरी इस पीठ में ऐसा क्या जादू है, कि उसे तनक देख कर ही नायक ने सबको पीठ दे दी, अर्थात् अन्य सब नायिकाओं की ओर से उसने मुँह फेर लिया ।

अब पीठ की प्रशंसा में भरमी कवि का भी एक कवित्त पढ़ लीजिए—

आरसी विमल पर नारी को सँवारी कैधौं,
रूप के प्रवाह काम भूप चल्यो जात है ।
कैधौं कलधौत की सी भूमि सुर मारग में,
मान को सुभाव कैधौं कदली के पात है ॥
कैधौं यह भोड़र के तबक तिलौछि धरे,
'भरमी सुकवि' कोऊ उपमा न आत है ।
सरस सुघाट सुख-आनँद की बाट कैधौं,
प्यारी तेरी पीठि देखि दीठि न समात है ॥

नायिका की पीठ को देख कर भरमी जी भी 'भरम' (भ्रम) में पड़ गए हैं। वे उसे कभी सुंदर दर्पण समझने लगते हैं और कभी सुर-मार्ग को स्वर्ण निर्मित सड़क। कभी उन्हें उसमें भुड़-भुड़ के पत्रों का भ्रम हो जाता है, और कभी कदली दल का आभास होने लगता है। पीठ पर लटकती हुई वेणी को देख कर भरमी जी को ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह सौंदर्य का सुंदर प्रवाह है, जिसमें वेणी रूप काम-भूप तैर रहा है।

ग्रीवा-वर्णन

[कंठ सौन्दर्य की उपमा शंख, कपोत-कण्ठ आदि से दी जाती है।]

कविवर केशवजी ने अपने नीचे लिखे कवित्त में कण्ठ का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है।

सुर नर प्राकृत कवित्त रीति आरभटी,
सात्विकी सुभारती की भारतीयां भोरी की।
कैधौं 'केसौदास' कल गानता सुजानतानि—
संकता सों बचन विचित्रता किसोरी की।
वीणा वेणु पिक सुर सोभा हू त्रिरेख रुचि,
मन, वच. क्रमन कि पिय मन चोरी की।
अम्बु साई की सों मोहे अम्बिका हू देखि देखि,
अम्बुज नयन कम्बु ग्रीव गोल गोरी की॥

शंख समान गोरी-गोरी ग्रीवा गोरी की देखकर, गौरी भी उस पर मुग्ध हो गई हैं। किशोरी के कल कण्ठ ने वीणा और कोयल के कलित स्वर चुराने के साथ ही प्रियतम का मन भी चुरा लिया है। यही क्यों, उसने भोरी भारती (सरस्वती) की गान कला और वचन विचित्रता का भी अपहरण कर लिया है। कविता की सात्विकी आरभटी आदि रीतियाँ भी उसके कंठ में आ विराजी हैं। फिर भला अम्बिका उस पर मुग्ध क्यों न हो जातीं।

और भी देखिए—

सुख को सदन देखि मदन मुदित होत,
बारिज बरन सुभ नाल सों बिसेखिये।

चारों रीति नवों रस हाव-भाव की प्रतीति,
छबि सों लपेटि हेम पिण्डी कै उरेखिये।
कैधौं मणि कंठ तीन लोक की तरुनि जीति,
दुति तें ही भाँति-भाँति तीनों रेख लेखिये।
कनक के कम्बु कमनीयता के अम्बु भेंटे,
आनँद की सींव कै अमोल ग्रीव देखिये॥

लगे हाथों कविवर कमलापति जी का भी कण्ठ वर्णन पढ़ लीजिए—

लखि कै वहि प्रान पियारी के कण्ठहिं कम्बु लई सुधि तालन की।
तिहुँ लोक की सुन्दरता लै त्रिरेख दई विधि, जोति के जालन की।
'कमलापति' कौन बखानि सकै छबि छीनत मानिक मालन की।
इमि गोरे गरैं लसै पीक मनों दुति लाल गुलूबन्द लालन की॥

कामिनी के कमनीय कण्ठ को देखते ही, शंख ने लज्जित हो सीधा समुद्र का रास्ता लिया और वह वहाँ मुँह छिपाकर जा बैठा। ऐसा क्यों न होता, विधाता ने भी तो तीनों लोकों की शोभा समेटकर, उससे किशोरी के कण्ठ में तीन रेखाएँ बना दी हैं, फिर भला उसके आगे बेचारा शंख कैसे ठहरता। गोरी की जो गौरवर्ण ग्रीवा मणि-मालाओं की भी छबि छीन लेती है, उसके सौन्दर्य का बखान भला कौन कर सकता है।

चिबुक-वर्णन

ठोढ़ी के वर्णन में कविवर बलभद्र जी ने कितना सुन्दर कवित्त लिखा है, देखिए—

कनक वरन कोकनद के वरन और,
झलकति झाँई तामें बसन रदन की।
कीन्हीं चतुरानन चतुर ऐसी रचि-पचि,
अलप-सी चौकी चारु आसन मदन की।
अंगुल से बान उपमान की अवधि सब,
सुमिल सुपान मानो श्रीय के सदन की।
सुन्दर सुढार है चिबुक नव नायिका की,
कैधौं 'बलभद्र' पातसाही है बदन की॥

कनक की-सी कान्ति और अरविन्द के से सुन्दर रंग वाली नायिका की इस ठोड़ी को चतुर चतुरानन ने अपने हाथों से रच-पच के तैयार किया है। करना ही चाहिए था, आख़िर तो वह मदन-महीपति के विराजने की मुलायम सी चौकी है। कोई-कोई इसे नायिका के मुख रूपी 'श्रीय' (श्रीलक्ष्मी) के सदन (लक्ष्मी का घर कमल है और यहाँ नायिका का मुख कमल जैसा है) की सुन्दर सीढ़ी बताते हैं। यह भी न सही, वह नायिका के शरीर रूपी साम्राज्य का सिंहासन तो है ही, इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं।

चन्दन कवि ठोढ़ी के विषय में क्या कहते हैं, उनकी भी सुन लीजिए—

कैधौं है रसाल फललाल कै सुघर सीप,
भरी रसजाल विधि स्वकर सहेली की।
कंचन की सारि कै सँवारि काहू कारीगर,
खेलिबे कों सारिपासा कामरति केली की।
निरमल गोल सीसी सोहत है चन्दन सों,
'चंदन' बिलोके मति फिरत न चेली की।
मोंड़ी-मोंड़ा, तरुणी-तरुण, वृद्ध मोहे सब,
कमल की बोड़ी कैधौं ठोढ़ी है नवेली की।

नवेली नायिका की ठोढ़ी के लिए चन्दन कवि ने कितनी उपमाएँ खोज-खोज कर इकट्ठी की हैं। कभी उसे पका हुआ रसाल-फल बताया है और कभी सुन्दर सीप। कभी उसको रति और कामदेव के पासा खेलने की 'सारि' से उपमा दी है और कभी निर्मल गोल शीशी से उसकी तुलना की है। वे कहते हैं कामिनी की इस कमल-कोरक जैसी ठोढ़ी ने बाल-वृद्ध और युवती-युवा सबको मुग्ध कर लिया है।

चिबुक का तिल या गोदना

[चिबुक के तिल की उपमा, काजल, रस, छींट, राहु का दाँत, शनि, काम शर की फाँक आदि से दी जाती है।]

देखिए, तिल के लिए लोग कैसी-कैसी अद्भुत उत्प्रेक्षाएँ कर रहे हैं—

काहु कही कि गुलाब कली पर भौंर को चेंटुआ आनि अर्यौ है।
सोन डबा में जवाहिरी मैन मनों नग नीलम चारु जर्यौ है।

प्यारी की ढोढ़ी बिराज रह्यौ तिल, देखि विचार यहै मैं कर्‌यो है।
भौंहै बनावत मानो विरंचि की लेखनी तें मसि-बिन्दु झर्‌यो है॥

कोई उसे गुलाब कली पर बैठा भौंरे का बच्चा समझता है, कोई कहता है—कामदेव जौहरी ने ठोड़ी रूपी सोने के डिब्बे में नील मणि रख छोड़ा है। किन्हीं का विचार है कि यह भौंरा-वौंरा कुछ नहीं है, यह तो नायिका की भौंहें बनाते समय विधाता की कलम से स्याही की बूँद गिर पड़ी है।

इस विषय में अब कविवर केशवदास की कल्पनाएँ भी सुन लीजिए—

सोभन सिंगार रस की-सी छींट सोहै फोंक—
काम शर की-सी कहो जुगतिन जोरि-जोरि।
राहु के सो रदन रह्यो हैं चुभि चंद माँहि,
तमी को सोहाग किधौं डारो तृन तोरि-तोरि।
चतुर बिहारी जी को चित्त-सों चिहुटि रह्यो,
चित येतें 'केसोदास' लेत चित चोरि चोरि।
तनक चिबुक तिल तेरे पर मेरी सखी,
बार डारों तरुनी तिलोतमा-सी कोरि-कोरि॥

नायिका की ठोड़ी पर तिल ऐसा प्रतीत होता है, मानो सुन्दर श्रृङ्गार रस का छींटा पड़ गया हो, या कामदेव के बाण की नोंक चुभी रह गई हो। अथवा चन्द्रमा में राहु का दाँत गड़ गया हो या मनमोहन का मन ठोड़ी से आ चिपका हो। यही कारण है, जो यह देखने मात्र से दर्शकों के मन मोह लेता है।

इस प्रसंग में कवि दिनेश जी का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने योग्य है—

प्यारी की ढोड़ी को विन्दु 'दिनेस' किधौं बिसराम गुविन्दके जी को।
चारु चुभ्यो कणिका मणि नील को कैधौं जमाव जम्यौ रजनी को।
कैधौ अनंग सिंगार को रंग लिख्यौ वर मन्त्र बसीकर पी को।
फूले सरोज में भौंरी बसी किधौं, फूल ससी में लसै अरसी को॥

राधिका जी की ढोड़ी पर तिल क्या है, मानों गोविन्द का मन विश्राम कर रहा है। अथवा नील मणि की कणिका उसमें चुभी हुई है, वा रात्रि का

जमाव जमा हुआ है। यह भी नहीं, तो कामदेव ने प्रिय के वश करने लिए शृंगार रस के रंग से वशीकरण मन्त्र लिख दिया है। या फिर फूले हुए सरोज में भौंरी आ बैठी है, अथवा चन्द्रमा पर किसी ने अलसी का फूल चढ़ा दिया है।

चिबुक-तिल के सम्बन्ध में कविवर बिहारी की भी उक्ति पढ़िए—

ललित स्याम लीला ललन चढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यौ मनौ गुलाब प्रसून॥

इसी आशय का विक्रम का दोहा भी देखिए—

अति दुति ठोड़ी बिन्दु की, ऐसी लखी कहूँ न।
मधुकर सूनु छक्यो पर्‌यौ मनौ गुलाब प्रसून॥

अधर वर्णन

[अधर की उपमा बिम्बाफल, प्रवाल और नव पल्लव से दी जाती है।]

निम्नलिखित पद्य में अधर का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है—

कैधौं विधु ऊपर बँधूक के कुसुम धरे,
कैधौं बिम्ब पाके परे यौवन जनाये हैं।
विद्रुम वरण विवि खारक 'दिनेस' कैधौं,
पल्लव प्रसून के कि सोभा सरसाये हैं॥
अध अनुराग भाग ऊपर सोहाग रूप,
राजत रुचिर कैधौं अमृत कनाये हैं।
यौवन के रंग के प्रसंग लाल विधि दोऊ,
अधर मधुर सुधासार सों बनाये हैं॥

नायिका के सुन्दर अरुण वर्ण ओष्ठ ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे चन्द्रमा के ऊपर किसी ने बँधूक पुष्प या पके बिम्बाफल रख दिए हों।

और देखिए—

जाकी मधुराई लै सुधाई सुरलोक छिपी,
ऊख को छिप्यौ है री पियूष अपरनि में।
देखत ही विद्रुम भये हैं जड़ रूप अरु,
बिम्ब महि हीन भये जिनके डरनि में।

पान अंग पातरो भयो है तबही तें पेखि,
एरी ब्रज नारी अब रहै को सरनि में।
सुरति सुकवि तिन्हैं सकै को बरनि प्यारी,
तेरे अधरन की न उपमा धरनि में॥

अरे साहेब, जिनकी माधुरी चुराकर सुधा सुरलोक में जा छिपी, विद्रुम जिन्हें देखते ही जड़ होगए, बिम्बाफल जिनसे लज्जित हो वृक्षों पर जा लटके, ऐसे नायिका के अधरों की उपमा भला पृथिवी के किस पदार्थ से दी जा सकती है?

कविवर हरिऔध जी का नीचे लिखा सवैया भी कितना सुन्दर है।

बर विद्रुम में कहाँ लाली इती, कहाँ कोमलता जपा ऐसी गहै।
कहाँ लाल में लाल प्रकाश इतो, समता कहाँ बापुरो बिम्ब लहै॥
कहाँ ऊख मयूख में एती मिठास पियूष हू ना 'हरिऔध' कहै।
जेती चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अधरा में अहै॥

भला विद्रुम में इतनी लालिमा कहाँ जा नायिका के ओठों की समता कर सके। जपा कुसुम में रंग तो है, परन्तु इतनी कोमलता नहीं। लाल में भी अधरों के समान चमक नहीं, फिर बिम्बाफल तो बेचारा किस गिनती में है। और हाँ, इनका जैसा मिठास तो न ऊख में है, न पियूष में। सच बात तो यह है, कि संसार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं, जिसमें अधरों की भाँति सुन्दरता, मृदुता, सुकुमारता और मधुरता सब एक जगह मौजूद हो।

अधर-माधुर्य के वर्णन में बिहारी जी कहते हैं—

छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नहि बतराय।
ऊख महूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय॥

विक्रम की उक्ति भी सुन लीजिये—

कहि मिश्री कह ऊख रस, नहीं पियूष समान।
कलाकन्द कतरा अधिक तू अधरा रस पान॥

शङ्कर जी के वर्णन को भी पढ़ लीजिए, देखिए, उनकी कविता ओठों का सुरंगी रस पान कर कैसी रसीली बन गयी है—

अम्बर में एक यहाँ दौज के सुधाकर दो,
छोड़ें वसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की।

फूले कोकनद में कुमुदनी के फूल खिले,
देखिए विचित्र दया भानु भगवान की।
कोमल प्रवाल के से पल्लवों पै लाखा लाल,
लाखे पर लालिमा विलास करे पान की।
आज इन ओठों का सुरंगी रस पान कर,
कविता रसीली भई शङ्कर सुजान की॥

नायिका की बातें जो इतनी प्रिय लगती हैं, उनका कारण भी ये सुधा-रस भरे अधर ही हैं। देखिए—

पियत रहत अधरान को रस अति मधुर अमोल।
ताते मीठे कढ़त हैं बाल बदन तें बोल॥

क्यों है न पते की बात !

दशन-वर्णन

[दाँतों के सौन्दर्य वर्णन में मोती, मणि, हीरा, कुन्दकली, अनार के दाने आदि से उपमा दी जाती है।]

नीचे दाँतों के सम्बन्ध में विभिन्न कवियों के कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

कैधौं द्विजराजी द्विजराज जू को सेवति है,
कैधौं यह शारदा-स्वरूप दरसत है।
कैधौं इन्दिरा के चारु हार की अरुण मणि,
चिन्तामणि इन्दिरा के घर में लसत है।
कैधौं विधु मण्डल में दामिनी बिराजति है,
ऐसी कछू सुषमा समूह निकसत है।
विमल बदन बीच दन्तन की दुति कैधौं,
कमल के कोस बीच दार्यौ बिलसत है॥

नायिका के दाँतों को देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो द्विजों की पंक्ति चन्द्रमा में विराज रही है। अथवा लक्ष्मी जी के हार की मणियाँ उनके घर-कमल (यहाँ नायिका का मुख कमल समान माना है) में बिखरी पड़ी

हों। या यों समझिए कि चन्द्र-मण्डल में बिजली आ विराजी है, अथवा कमल-कोश में दाड़िम के दाने फैले पड़े हैं।

और देखिए—

कैधौं कली बेला की चमेली सी चमकि परै,
कैधौं कीर कमल में दाड़िम दुराये हैं।
कैधौं मुकताहल महावर में राखे रँगि,
कैधौं मणि मुकुर में सीकर सुहाये हैं॥
कैधौं सातों मण्डल के मण्डन मयंक मध्य,
बीजुरी के बीज सुधा सींचि कै उगाये हैं।
'केसौदास' प्यारी के बदन में रदन छबि,
सोरहों कला कों काटि बत्तिस बनाये हैं॥

अरे साहब, कौन कहता है कि ये नायिका के दाँत हैं। ये तो बेला या चमेली की कलियाँ हैं, या किसी तोते ने कमल-पुष्प में अनारदाने छिपा के रख छोड़े हैं। यह भी नहीं, तो ये महावर में रंगे हुए मोती या मणि-मुकुर पर पड़े हुए ओस बिन्दु हैं। हमारा तो अनुमान यह भी है, कि ये चन्द्र मण्डल में सुधा से सींचकर उगाए हुए बिजली के बीज हैं। या फिर विधाता ने चन्द्रमा की सोलहों कलाओं के दो-दो टुकड़े करके नायिका के मुख में लगा दिए हैं। इस पर एक दूसरे कवि कहते हैं –

कैधौं मित्र मित्र में बसाई है किरनि तातें
फूलोई रहत अनुमान यह पायो है।
कैधौं ससि-मण्डल में झाईं उडु मण्डल की,
कैधौं हास रस निज नगर बसायो है॥
दसन की पाँति कुन्द कलिन की भाँति आछी,
सोहति है कान्ति गुन कोबिदन गायो है।
मानहु बिरंचि तेरी बानी कों चतुररानी,
दोलर कै मोतिन को हार पहरायो है॥

नहीं जनाब, यह तो सूर्य ने अपने दोस्त कमल में अपनी किरणें बसा दी हैं, और यही कारण है, जो यह हर वक्त प्रफुल्ल रहता है। यह चन्द्रमा में तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, अथवा हास्य रस ने अपना अलग नगर बसा

लिया है। यह भी हो सकता है कि विधाता ने नायिका की वाणी से प्रसन्न होकर यह मोतियों की दुहरी माला उसे पहना दी हो।

कवि की उपर्युक्त उत्प्रेक्षाएँ सुन कविवर आलम जी से न रहा गया, वे भी चट से बोल ही उठे—

सुधा को समुद्र तामें दुरे हैं नक्षत्र कैधौं,
कुन्द की कली की पाँति बीन बीन धरी है।
'आलम' कहत ऐन दामिनि के बीज बये,
बारिज कै मध्य मानों मोतिन की लरी है॥
स्वाति ही के बुन्द बिम्ब विद्रुम में बास लीनो,
ताकी छबि देखि मति मोहन की हरी है।
तेरे हँसे दसन की ऐसी छबि राजति है,
हीरन की खानि मानो ससि माँहि करीं है॥

नहीं साहब, आप भी क्या बहकी-बहकी बातें करते हैं। अजी, ये तो सुधा के समुद्र में आकर छिपे हुए नक्षत्र हैं। अथवा किसी ने कुन्द की कलियाँ चुन-चुनकर यहाँ रख दी हैं। यह भी हो सकता है कि किसी ने कमल-पुष्प में मोतियों की माला रख दी हो, या फिर स्वाति की बूँदें सीपी के बदले विद्रुम में आ पड़ी हैं। जिस समय नायिका हँसती है, उस वक्त तो बिलकुल ऐसा जान पड़ता है, जैसे चन्द्र मण्डल में कोई हीरों की खानि निकल आई हो।

फूलि फुलवारी रही, उपमा न जाति कही,
कैसे कै सराहों तामें जोति अधिकानी है।
'आलम' कहत हेरी मोतिन की पाँति धरी,
हीरन की कांति छबि देखि कै लजानी है॥
दाड़िम दरकि गए इनके सम न भए,
रवि की किरनि कैसी चमक बखानी है।
तनक हँसनि में दसन ऐसे देखियत,
दीपत नखत मानों दामिनि दुरानी है॥

सच तो यह है कि नवेली नायिका के दाँतों की उचित उपमा कहीं मिलती ही नहीं। हीरा और मोतियों की पाँति तो इन्हें देखकर स्वयं ही

मारे लज्जा के हतप्रभ हो जाती है। बेचारे दाड़िमों ने बहुत कुछ त्याग और तप किया, पर वे भी इनकी उपमा के योग्य न हो सके। नागरी के तनक हँसने में दाँत ऐसे जान पड़ते हैं, मानों चमकते हुए नक्षत्रों में बिजली घुस पड़ी हो।

इस पर एक दूसरे कवि कहने लगे—

कैधौं मुकता हल हैं पहल के आबदार,
जावक रँगाइ अरविन्द मुख भरे हैं।
कैधौं लाल विद्रुम अमोल मनि मानिक के,
दाम न जवाहिरी डबा में खोलि धरे हैं॥
दाड़िम के बीज कैधौं सुधा में सिराये, हंस,
सदन सुधाकर के मंदिर में भरे हैं।
प्यारी को बदन कैधौं, काम के सदन माँहि,
मदन जरैया ने जवाहिर से जरे हैं॥

इस पद्य में कवि ने पान खाए हुई नायिका के दाँतों का वर्णन किया है। वह कहता है—या तो ये पहलदार मोती हैं, जो जावक के रंग से रँग कर कमल-कोश में भर दिए हैं, या ये विद्रुम और दूसरे वेशक़ीमत मणि-माणिक्य हैं, जिन्हें जौहरी ने जवाहिरी डिब्बे में रख छोड़ा है। या किसी ने दाड़िम के दाने सुधा-सरोवर में डाल दिये हैं, अथवा सुधाकर के मंदिर में राज हंसों की पाँति घुस बैठी है। कभी-कभी यह भी अनुमान होता है, कि नायिका के शरीर रूपी कामदेव के मन्दिर में किसी जड़िया ने ये जवाहिरात जड़ दिए हैं।

अब एक पद्य मिस्सी लगे हुए दाँतों के वर्णन में पढ़ लीजिए—

वारिज में विलसै अलि पाँति किधौं अली अच्छर मंत्र बसी के।
मैन महीप सिंगार पुरी, निज बाँह बसाई है मध्य ससी के॥
आनँद सो दरसी दसनावलि स्याम मिसी मिलि ऐसी लसी के।
फूलन की फुलवारिन में मानो खेलत हैं लरिका हबसी के॥

मिस्सी से रँगे हुए सुंदरी के दाँत ऐसे मालूम देते हैं, जैसे कमल-पुष्प में मकरंद मत्त मधुप-माला बैठी हो। अथवा यह मदन महीपति ने अपने

रहने के लिए चंद्र-मंडल के बीच शृङ्गार पुरी बसाई है। यह भी हो सकता है कि सुंदर पुष्प वाटिका में कुछ हबशियों के लड़के मिल कर खेल रहे हों।

वाणी-वर्णन

[कविजन वाणी की उपमा वीणा या वंशी के स्वर, केकी, कीर, या कोकिल के कंठ, किन्नरों के गान, भ्रमरों के गुंजन आदि से देते हैं।]

देखिए कविवर हनुमान जी ने कैसा सुंदर वाणी का वर्णन किया है—

कोकिला की कीर की पपीहा पिक सारिका की,
मोरन के कारिका की सिद्धि पाठसाला है।
सारद की नारद की वीणा वेणु बाँसुरी की,
सुरन की रागन की रागिनी की माला है॥
करखन मोहन बसी करन याही विषे,
'हनूमान' मोहि गयो नंद जू को लाला है।
दाखन की रानी मंजु माखन सुधा की सानी,
जन बर दानी बानी तेरी ब्रज बाला है॥

राधिका जो की वाणी क्या है, कोयल, मोर, पपीहा, तोता, मैना आदि की पाठशाला है। अथवा नारद, शारदा आदि की वीणाओं और बाँसुरी आदि स्वरों तथा राग-रागिनियों की माला है। इतना ही नहीं, वह मिठास में भी दाखों की रानी है और मक्खन तथा सुधा में सनी हुई है। यही कारण है कि उसे सुनते ही मोहन मुग्ध हो गए हैं।

और भी देखिए—

सुधा के समुद्र की लहर सी कढ़त रहै,
याही को सुनाय लाल कीने तू अधीन है।
बन उपवन बैठि आपको दुरावै यातें,
मेरे जाने यहै कल कंठी कंठ हीन है॥
'बलदेव' ऐसी ना रची है, ना रचैगो विधि,
मोतिन की उपमा करन लागी छीन है।
कमल के कोश बैठि गुंजरत भौंर कैधौं,
बानी माँझ बानी तू बजाई आनि बीन है॥

कविवर बलदेव जी कहते हैं कि नायिका की कंठ स्वर-लहरी ऐसी जान पड़ती है, मानों सुधा के समुद्र की लहरें आ रही हों। यहाँ आह्लाद जनक होने के कारण सुधा-सागर की लहरों से वाणी की तुलना की है। वैसे भी जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार वाणी ध्वनि भी लहरों के रूप में ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है। कोयल का कंठ स्वर तो नायिका के स्वर के आगे बहुत ही भोंड़ा जान पड़ता है, इसी लिए तो कोयल मारे लज्जा के वन-पर्वतों में छिपती फिरती है। अहा! जिस समय वह कल कंठी बोलने लगती है, उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानों कमल-कोश में बैठे भ्रमर गुंजार रहे हैं, या उसकी वाणी में स्वयं वाणी (सरस्वती) बैठी हुई वीणा बजा रही हो।

मुख-राग-वर्णन

[मुख-राग का वर्णन कमल की अरुणिमा, अङ्गराग, अनुराग, रूप-भूप, रतिराज आदि से उपमा देकर किया जाता है।]

देखिए, नीचे लिखे पद्य में मुख-राग का कैसा सुन्दर वर्णन है—

कैधौं कमला के गेह कमल की लाल माल,
दिवाकर ताकी ताको झलकत रंग है।
कैधौं अनुराग फैलि रह्यौ बानी रानी जू को,
जब काहू-काहू मति करत प्रसंग है॥
कैधौं आली तेरे लाल ओठन की लाली छाई,
मन भाई मेरे बनमाली जू के संग है।
मोहत अनंग कैधौं सोभा को सुभग अंग,
कैधौं मुख प्यारी तेरे पानन को रंग है॥

नायिका के मुख-राग के सम्बन्ध में कवि कैसी-कैसी कलित कल्पनाएँ करता है। कभी वह उसे कमला (लक्ष्मी) के घर (कमल) में रक्खी हुई लाल कमल की माला समझता है, और कभी महारानी वाणी जी का बिखरा हुआ अनुराग अनुमान करता है।

मुसकान-वर्णन

[नायिका के मुसकाने या हँसने की उपमा बिजली चमकने, चंद्र-

ज्योत्सना, अमृत-प्रकाश, मोह-महिमा, मृग-तृष्णा, प्रेम और मोहनी आदि से दी जाती है।]

पद्माकर जी ने मुसकान का वर्णन इस प्रकार किया है—

गुल गुलकंद के सुमंद करी दाखन को,
देखोरी दुचंद कला कंद की कमाई सी।
कहै 'पदमाकर' त्यौं साहिबी सुधा की सबै,
ब्रज वसुधा में ते कहाँ धौं परी पाई सी॥
खारक खरी को मधु हू को माधुरी को सुभ,
सरदा सिरी कों मिसरी कों लूट लाई सी।
साँवरी सलौनी के सलोने अधरान में सु-
मंद मुसकान भरी मंजुल मिठाई सी॥

गोपिका की मुसकान के माधुर्य ने फूल, गुलकंद, दाख, कलाकंद आदि सबकी मधुरता मंद कर दी है। अर्थात् उसमें इन सबसे बढ़ कर मधुरिमा है। पता नहीं, ग्वालिन की मुस्कराहट ने ब्रज वसुधा में सुधा की सरसता कहाँ से पा ली है। जान पड़ता है—शहद, सरदा, मिसरी आदि सब का मिठास लूट कर उसने अपने में भर लिया है।

और देखिये :—

सहज सहेलिन सों जुतिय विहँसि-विहँसि बतराति।
सरद चन्द की चाँदनी मन्द परति सी जाति॥

जिस समय नायिका सहेलियों के साथ मन्द-मन्द मुस्कराती हुई बातें करती है, उस समय शारदी चन्द्रिका मन्द सी पड़ने लगती है।

कपोल-वर्णन

[कपोलों के वर्णन में कामदेव के दर्पण, शरद चन्द्र, गुलाब के फूल की पाँखुड़ी, मक्खन के गोले, और महुए के ताजे फूल आदि से उपमा दी जाती है।]

कवि कालिदास ने कपोलों का वर्णन इस प्रकार किया है—

चपला के ऐसे चारु चमके है छवि पुंज,
छेदि निसरत भीने घूँघट निचोल हैं।

'कालिदास' आस-पास तरल तरौनन की,
जोति किरनावली ललित अति लोल हैं ॥
कान्ह अवलोकत बदन प्रतिबिम्ब निज,
कनक सरूप मानो मुकुर अमोल हैं।
लेत मन मोल कहैं दृगन की तोल ऐसे,
गोरे-गोरे गोल बने प्यारी के कपोल हैं ॥

नायिका के गोल कपोलों की चारु चमक घूँघट के झीने पट में होकर बाहर फूटी पड़ती है। ब्रज-चन्द्र उन्हें मुकुर समझ कर उनमें अपना प्रतिबिम्ब निहारते हैं। वस्तुतः उनमें ऐसी ही चमक है। जो भी उन्हें देख लेता है, वही उनका क्रीत दास बन जाता है।

इस प्रसंग में बलभद्र जी का भी एक पद्य पढ़ लीजिए—

सुखमा भरत भरे प्रेम के साँचे ढरे,
सुधा लौं सुधारि धरे मुकुर सुदेस हैं।
आभा की निकाई है केदार कैधौं काँतिन के,
तीनों पुर रूप परिजन के नरेस हैं ॥
रपटत लोचन चिलक देखि 'बलिभद्र'
झलकत चौंधो, किलकनि को नतेस हैं।
गोरे गंड मंडल अखंड जोतिवंत तेरे,
छवि के छपाकर कै दुति के दिनेस हैं ॥

इस पद्य में भी कपोलों की उपमा कान्ति के केदार (खेत), छवि के छपाकर (चन्द्रमा), द्युति के दिवाकर (सूर्य) आदि से दी गई है। उनकी चिकनाहट पर आँखें रपट जातीं और चमक से वे चौंधिया जाती हैं।

देखिए कविवर चिंतामणि कपोलों के विषय में क्या कहते हैं—

सोहत हैं 'चिंतामणि' नगन जटित दिव्य,
कंचन की बेली कैसे सुन्दर नबेली के।
सकल जगत माँहि एक सुकृती हो तुम,
नायक नवल ऐसी नायिका नबेली के ॥
एक ठौर देखो छवि आपनी औ, उनकी जू,
प्रतिबिंब आप रूप आनंद की केली के।

सुबरन आरसी से सीसे मे अमोल कैसे,
गोरे-गोरे गोल हैं कपोल अलबेली के ॥

यहाँ भी कपोलों की तुलना सोने की आरसी, शीशा आदि से की गई है।

इस सम्बन्ध में कमलापति जी का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

नहिं जानिये कौने बिरंचि रचे समता कहाँ माखन गोलन की।
किमि काम के दर्पन कीन्हें कहाँ सुखमा इनके सँग तोलन की॥
'कमलापति' देखि छके से रहे, सुधि नेक रही नहिं बोलन की।
तब कैसे के भाखि सकैं उपमा अनमोल ये गोल कपोलन की॥

कमलापति जी मक्खन के गोले जैसे गोल कपोलों को देख कर ऐसे मुग्ध हो गए, कि उन्हें कुछ उपमा देने की सुध-बुध ही न रही।

कपोलों की गाढ़ का वर्णन

[गालों के गड्ढों की उपमा कामदेव का तालाब, पानी के भँवर, हास्य-रस के कुंड या कुँए आदि से दी जाती है।]

देखिए, कविवर देव जी ने कपोलों की गाढ़ का कितना सुंदर वर्णन किया है—

घाँघरो घनेरो लाम्बी लटै लटै लाँक पर,
काकरेजो सारी खुली अध खुली टाड़ वह।
गोरी गजगौनी दिन दूनी दुति होनी 'देव',
लागति सलौनी गुरु लोगन के लाड़ वह॥
चंचल चितौनि चित चुभी चित चोर वारी,
मोर वारी बेसरि सुकेसरि की आड़ वह।
हँसि-हँसि बोलन की गोरे-गोरे गोलन की,
कोमल कपोलन की जी में गड़ी गाड़ वह॥

नायिका का घूमदार घाँघरा, लंक पर लटकती हुई लम्बी लटें, अधखुली 'टाड़', गज की-सी गति, चंचल चितवन, मोर के लटकन से युक्त बेसर और केसर की आड़ (बिन्दी) आदि तो नायक के हृदय में गड़ ही जाती हैं,

पर बात करते समय, मुस्कराते हुए उसके गोरे, गोल और कोमल कपोलों में पड़ जाने वाली गाढ़ भी चित्त में चुभ जाती है, यह कैसी अचंभे की बात है।

गाढ़ के वर्णन में नीचे लिखा सवैया कितना उत्कृष्ट है।

नैन गड़ैं तो गड़ैं उनमें छवि मैन के बानन की सरसाति है।
जो कुच कोर कठोर गड़ौ तो गड़ौ वह तो कठिनै दिन राति है॥
वै अलबेले तुहूँ अलबेली जिन्हैं मुख मोरि इतै मुसकाति हैं।
कौन अचम्भो कहो यह ताके कपोल की गाढ़ हिये गड़ि जात है॥

यदि नायिका के नयन नायक के हृदय में गड़ जाते हैं, तो ठीक ही है, क्योंकि उनमें कामदेव के वाणों की छवि छलकती रहती है। यदि कुचों की कोर नायक के हृदय का भेदन कर, उसमें घुस जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि वे तो जन्म से ही कठोर हैं, और कठोर भी इतने कि स्वयं अपनी जन्म-भूमि को फोड़ कर उत्पन्न हुए हैं। परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है, कि मुस्कराते समय उसके कपोलों में पड़ने वाली गाढ़ भी नायक के हृदय में गड़ जाती है। खूब, गाढ़ का भी हृदय में गड़ जाना कैसी सुन्दर सजीव और अनोखी कल्पना है!

कपोल-तिल-वर्णन

[कपोल के तिल की उपमा भ्रमर, नीलमणि, नीलकमल, चन्द्र में शनि का निवास, राहु के दाँत, विधाता की स्याही के विन्दु आदि से दी जाती है।]

कपोल-तिल के वर्णन में पद्माकर जी का नीचे लिखा कवित्त बड़ा सुन्दर है—

कैधौं रूप राशि में सिंगार रस अंकुरित,
कैधौं तम कन सोहै तड़ित जुन्हाई में।
कहै 'पद्माकर' सु कैधौं काम-कारीगर,
नुकता दियो है हेम फरद सुहाई में॥
कैधौं अरविन्द में मलिन्द सुत सोयो आय,
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई में।

कैधौं फँस्यो इन्दु में कलिन्दी जल-विन्दु अरु,
गरक गुविन्द कैधौं गोरी की गुराई में ॥

नायिका के कपोल पर तिल क्या है, मानो सौन्दर्य के ढेर पर शृङ्गार रस का अँकुआ उगा है। या विद्युत के प्रकाश में कोई अंधकार का कण शेष रह गया है।………अथवा प्रफुल्ल अरविन्द पर भौंरा सो रहा है, या चन्द्र-बिम्ब में कालिन्दी के जल की बूँद पड़ गई है। यदि यह कुछ भी नहीं, तो निश्चय ही गोरी की गुराई में गोविन्द गरक हो रहे हैं।

इसी भाव का कविवर श्रीपति का भी एक पद्य पढ़ लीजिए—

फूले पारिजात में लखात हैं मधुप कैधौं,
सुषमा सरोवर में रसराज पैठो है।
रति के मुकुर पै धरी है नीलमणि कैधौं,
कामिनी के बदन परम छवि जैठो है।
'श्रीपति' रसिक राज सुन्दर गुलाब बीच,
मृग मद बिन्दु रूप परम परैठो है।
कोमल कपोल पर तिल है अमोल मानो,
पूरण मयंक में असंक सनि बैठो है ॥

यह फूले हुए पद्म-प्रसून में मधुकर बैठा है, या सौंदर्य के सरोवर में शृङ्गार रस स्नान कर रहा है। रति के दर्पण पर नीलमणि रक्खी हुई है या सुन्दर गुलाब के फूल पर कस्तूरी की बूँद पड़ गई है अथवा पूर्ण चन्द्र-मण्डल पर शनि ग्रह आ बैठा है। क्या बात है ? कुछ समझ में नहीं आता।

इस प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी बड़ा अच्छा है, देखिए—

रूप की रासि में कै रसराज को अंकुर आनि कढ्यौ सुभ हौना।
कै ससि ने तम-ग्रास कियो, तिहिं को रह्यो शेष दिखात सो कौना।
प्यारी के गोल कपोलन पै 'द्विजराज' रह्यौ तिल स्याम सलौना।
कै मधुपान पर्‌यौ अलमस्त, किधौं अरबिन्द मिलिन्द को छौना ॥

अरे साहब, यह तिल नहीं है, बल्कि चन्द्रमा ने जो अन्धकार खाया है, उसी का यह एक कोना शेष रह गया है। अथवा मधुपान करके मस्त हुआ भौंरे का बच्चा विकसित अरविन्द पर निश्चिन्त होकर सो रहा है।

श्रवण-वर्णन

[श्रवणों का वर्णन करने में उनकी उपमा राग के रवन पात्र, शोभा के पवित्र भवन, मन-महीप के मन्त्री या मित्र और लाज के नेत्र आदि से दी जाती है ।]

देखिए, श्रवण वर्णन में केशव जी क्या कहते हैं—

रागिन के आगर विराग के विभाग कर,
मन्त्र के भँडार गूढ़ रूढ़ के रवन हैं ।
ज्ञान के विवर कैधौं तन के तनक तन,
कनक कचोरी हरि-रस अचवन हैं ।
स्रुतिन के कूप किधौं मन के सुमित्र रूप,
किधौं 'केसौदास' रूप भूप के भवन हैं ।
लाज के नयन किधौं, नयन सचिव किधौं,
नयन कटाच्छ सर लच्छ्य कै स्रवन हैं ।।

केशवदास जी के उपर्युक्त छन्द में श्रवणों के प्रायः सभी उपमानों का उल्लेख आ गया है । और देखिए—

कैधौं हैं अतिथि प्रिय वचन के रसराज,
कैधौं मित्र लोचन के विमल विसेखिये ।
सोने केधौं दोने रति काम अंग कीबे काज,
सुधाधर आस-पास धरे सोई देखिये ।।
पूरण मुदित सिव पूजन करत चन्द,
कनक अरघ ताके दुहूँ ओर पेखिये ।
तीच्छन कटाच्छ सर गति अवरोध कैधौं,
सुन्दरी के सुन्दर स्रवन युग पेखिये ।।

पूर्ण चन्द्रमा शिव जी का पूजन कर रहा है, इसलिए उसने दो सोने के अर्घ पात्र अपनी दोनों ओर रख छोड़े हैं । कानों के सम्बन्ध में यह कैसी अनूठी कल्पना है ।

इस प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

कैधैां सुधाकर जू दुहूँ ओर सुधारि धरे सु सुधा के द्वि दौन हैं ।
कैधैां निसान ये लोचन बान के भौंहें कमान के काम के त्रौन हैं ।

कौन है जो नहिं मोहइ देखि किधैां सर्वज्ञ है तो नहिं मौन हैं।
भौन हैं ज्ञान के कान के दोन हैं स्रोन हैं तीय के जीय के रौन हैं॥

कान क्या हैं, मुख मण्डल रूपी सुधाकर के दोनों ओर सुधा रस भरे दो दोने रक्खे हैं। या भौंह-कमानों से निकले हुए कटाक्ष-बाणों के निशान हैं, अथवा काम के बाणों के लिए तूणीर हैं।

नसिका-वर्णन

[नासिका की उपमा तिल फूल, तोते की चोंच, तरकस आदि से दी जाती है।]

नासिका के वर्णन में कविवर केशव जी का एक छन्द नीचे दिया जाता है—

'केशव' सुगन्ध स्वास सिद्धन की गुफा कैधौं,
परम प्रसिद्ध सुभ सोभन सुवासिका।
कैधौं मनमथ मन मीन की कुबेनी कैधौं,
कुन्दन की सींव लोल लोचन विलासिका।
मुकता मणिन की है मुकुत पुरी सी कैधौं,
कैधौं सुर सेवत है कासी की प्रकासिका।
त्रिभुवन रूप ताको तुंग तोय निधिता के,
तोय की तरंग कै तरुनि तेरी नासिका॥

यहाँ केशव जी ने नासिका को सुगन्धित श्वास रूपी सिद्धों की गुफा, मनमथ के मन रूपी मीन के लिए कुबेनी, आँखों के मध्य स्वर्ण निर्मित सीमा और रूप-सागर की तुंग तरंग बताया है। कवियों की उड़ान ही जो ठहरी।

आगे नासा-वर्णन सम्बन्धी एक पद्य और उद्धृत किया जाता है—

सोभा कों सकेलि ऊँची बेलि बलिभद्र,
राखो समलोचन कुरंगन को रोसु है।
दीपति को दीपक कै मुख दीप को सुमेरु,
मृदु मुख सारस को सिफकन्द जोसु है।

कलप तरोवर की कलिका सुगंध फूली,
उपमा अनूपनि को विविध निसोसु है ।
तिल को सुमन है कि नासिका तरुनि तेरी,
सुरनि की सरणि कि सौरभ को कोसु है ॥

कविवर बलभद्र कहते हैं, तरुणी यह तेरी नाक है या शोभा का पहाड़—अथवा मुख रूपी द्वीप का सुमेरु है, या कल्पतरु की कलिका । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह तिलका फूल है ।

अब कविवर शंकर जी का नासिका वर्णन पढ़ लीजिए—

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीति करतार ने लगाई है ।
नाक में निवास करने को कुटी 'शंकर' की—
छवि ने क्षपाकर की छाती पै छवाई है ।
कौन मान लेगा कीर तुण्ड की कठोरता में,
कोमलता किंशुक प्रसून की समाई है ।
सैकड़ों नकीले कवि खोज-खोज हारे पर,
तेरी नासिका की कहूँ उपमा न पाई है ॥

नाक क्या है, इस पर शंकर जी ने कैसी-कैसी अनूठी कल्पनाएँ की हैं । युवावस्था में अक्सर लोगों की आँखें लड़ाकू हो जाती हैं । वह जहाँ अवसर पाती हैं, लड़ जाती हैं । इसलिए विधाता ने यह विचार कर कि तरुणी की लड़ाकू आँखें कहीं आपस में ही न लड़ जायँ, इसलिए बीच में नासिका रूपी भिन्नता की भीत लगा दी है । अथवा सुन्दरता ने स्वर्ग में निवास करने के लिए चन्द्र-मण्डल के ऊपर अपनी कुटिया छवा ली है । कुछ कवि लोग नायिका की नाक को तोते की चोंच से उपमा देते हैं । भला इस बात को कौन समझदार मान लेगा । आप ही बताइए, तोते के कठोर तुण्ड में तिल-सुमन सरीखी नासिका की कोमलता आ सकती है ? कभी नहीं । भई, सच तो यह है, कि सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज कर हार गये, पर इस नासिका की यथार्थ उपमा किसी को भी नहीं मिली । खूब ! भावों के साथ-साथ कवि की शब्द योजना भी देखने लायक है ।

कविवर गोकुल जी ने भी नासिका के सम्बन्ध में खूब ही लिखा है। देखिए—

तिलौन समान तुले तिल के प्रसून-पुञ्ज,
सोभा सरसत विधि बाँधी हैं सुलाँक की।
किंसुक अगस्त कलिहू में न सुगंध रती,
श्वास में सुवास खुलै कोठरी मृगाँक की।
'गोकुल' विलोकि लागे कीर-भीर हू हकीर,
छहरत छवि ऐसी मुकुत बुलाक की।
नाक नर नाग लोक नाकहू निहारे अरु,
निखरी निकाई नीकी नागरी की नाक की॥

अजी, तिल-प्रसून तो उस नागरी की नाक की तुलना तिल भर भी न कर सके। फिर किंशुक और अगस्त के फूलों की तो बात ही क्या चलाई, क्योंकि उनमें सुगन्ध का लेश भी नहीं, और यहाँ नासिका के श्वास में इतनी गन्ध है, कि यह जान पड़ता है, मानो मृग मदकी कोठरी खोल दी हो। रहे कीर, सो वे तो नायिका की नाक के आगे बिलकुल हक़ीर जान पड़ते हैं। उनकी चोंच में तो न सुगन्ध है और न कोमलता। सच तो यह है, कि तीनों लोक में खोजने पर भी इस नाक की सी सुन्दरता नहीं मिल सकती।

नासिका-वेध-वर्णन

सुनि चित चाहै जाके कंकन की झनकार,
करत है सोई बात होत जो विदेह की।
शेष भनि आजु है सु काल्हि नाही कान्ह जैसी,
निकसी है राधे की निकाई कछू नेह की।
फूल की सी आभा सब सोभा लै सकेलि धरी,
फूलि ऐहौ लाल सुधि भूलि जैहौ गेह की।
कोटि पचै कवि तऊ बरनी बनै न फबि,
बेसरि उतारे छवि बेसरि के बेह की॥

दुनिया भर के कवि चाहे कितना ही सर क्यों न खपाएँ, परन्तु संसार में उन्हें नासिका के छिद्र की उपमा नहीं मिल सकती।

नासा-वध की प्रशंसा में नीचे लिखा दोहा भी कैसा सुन्दर है—

बेधत अनियारे नयन बेधत कर न निषेध।
बरबस बेधत मोहियो, तो नासा को वेध॥

नासिका-भूषण-वर्णन

नीचे लिखे कवित्त में नथ का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है—

कैधौं पिय नेह मई कीरति हँसनि लैके,
भूले हेम भूले भूले ध्यान समरथ के।
कैधौं मति मन खग फन्दा तामें मित्रवस,
बैठि कवि, कुज सोम थाने मनमथ के॥
ऐसी भाँति देखिये री मोहे मन मोहन जू,
कहाँ लों बखान करों सूरति अकथ के।
भूले ज्ञान गथ के सुलोक लाज पथ के सुका—
के नैन न थके निहारे तेरी नथ के॥

नायिका ने नाक में जो बेसर पहनी हुई है, वह मानों नायक के मन रूपी पक्षी को फँसाने के लिए कामदेव का फन्दा है। और नथ में जो दो सफ़ेद और एक लाल, तीन मोती पड़े हैं, वे शुक्र, मंगल और सोम* ये तीन ग्रह हैं, जो मदन के मित्र होने के नाते-मित्र के कार्य के लिए, यहाँ पहरेदार बन के बैठे हैं, जैसे ही कोई आकर इस फंदे में फँसता है, वैसे ही ये पहरेदार उसे और दृढ़ता पूर्वक जकड़ देते हैं। यही कारण है कि जो कोई नायिका की नथ को एक बार देख लेता है, वह उस पर मुग्ध हो जाता है। अजी और की तो क्या चले, मनमोहन तक इस फन्दे में फँस गए। ख़ूब, कैसी अद्भुत कल्पना है। कवि की इस अनोखी सूझ पर किस सहृदय का हृदय लोट-पोट नहीं हो जायगा, और किस के मुँह से वाह नहीं निकल पड़ेगी।

निम्नलिखित दोहा भी कैसा भाव पूर्ण है—

बेसरि मोती धन्य तुहि, को बूझै कुल जाति।
पियत रहत तिय अधर को रस निधरक दिन राति॥

---

* शुक्र तथा सोम का रंग श्वेत और मंगल का लाल माना गया है।

हे नथ के मोती, इस संसार में तेरा जीवन सफल है, जो तू रात-दिन निश्चिन्त भाव से नायिका के अधरामृत का पान करता रहता है। सत्य है, तप के प्रभाव से सब दोष मिट जाते हैं। फिर कोई जाति-पाँति नहीं पूछता। यद्यपि तेरा जन्म अधम काँच-कुल में हुआ है, तो भी क्योंकि चूँकि तू अग्नि में तपा और पर-कारज के लिए तैंने अपना शरीर विंधवाया, उसी तपस्या का फल अब भोग रहा है। अब कोई तेरी जाति का विचार भी नहीं करता।

लोचन-वर्णन

[आँखों की सुन्दरता वर्णन करने के लिए कविजन कमल, खंजन, भौंर, चकोर, मीन या मृग नेत्रों से उपमा देते हैं।]

देखिए नीचे लिखे कवित्त में नेत्रों का कैसा सुंदर वर्णन किया गया है—

कंज दुति भंजन हैं, खंजन के गंजन हैं,
रञ्जन करत जन मंजन सँवारे हैं।
सोभा के सदन कोटि मोहत मदन मीन,
मद के कदन मृग दूरि करि डारे हैं॥
लाज-गुन-गेह नेह-मेह बरसैं अछेह,
देह न सँवारे जात जबते निहारे हैं।
कारे कजरारे अनियारे झपकारे सित,
बारे रतनारे प्यारी लोचन तिहारे हैं॥

नायिका की आखों ने खंजन, मीन और मृगों का तो मान-मर्दन कर दिया है। लाज के तो मानों ये घर हैं। इनसे निरन्तर नेह का मेह बरसा करता है। जब से ये कारे-कजरारे, सितवारे और रतनारे नयन निहारे हैं, तब से देह की भी सुध बिसर गई है।

और भी देखिए—

हिय हरि लेत हैं निकाई के निकेत हँसि—
देत हैं सहेत निरखत करि सैन हैं।
सेना हरिनी के हूते दृग अति नीके राजैं,
हरत दरद यों करत चित चैन हैं॥

चाहत न अंजन सरिक मन रंजन हैं,
खंजन सरस रस राग रीति ऐन हैं।
दीरघ ढरारे अनियारे नेकु रतनारे,
कंज से निहारे कजरारे थारे नैन हैं॥

सखी, तुम्हारी आँखों में कुछ ऐसा जादू है, कि जिसकी भी ओर तुम ज़रा देख लेती हो, उसी का हृदय तुम्हारे अधीन हो जाता है। लोग हरिणी के नेत्रों की तारीफ़ के पुल बाँधा करते हैं; पर तुम्हारे दीरघ, ठरारे, अनियारे और रतनारे नयनों के आगे मुझे तो वे बिलकुल तुच्छ जँचते हैं।

अब ज़रा मुबारक जी की भी सुन लीजिए, नेत्रों के सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं—

पानिप के पनिप सुघरताई के सदन,
सोभा के समुद्र सावधान मन मौज के।
लाजन के वोहित पुरोहित प्रमोदन के,
नेह के नकीब, चक्रवर्ती चित चोज के॥
दया के दिवान पतिव्रत के प्रधान युग—
नैन ये 'मुबारक' विधान नव रोज के।
मृग के महाराज, मीनन के सिरताज,
साहिब सरोज के मुसाहिब मनोज के॥

मुबारक जी ने तो अपने इस पद्य में नेत्रों को सदन, समुद्र, वोहित, पुरोहित, दीवान, नकीब, महाराज, मुसाहिब और न जाने क्या-क्या बना दिया है।

इस प्रसंग में एक पद्य और भी पढ़ लीजिए। देखिए कवि ने नेत्रों का कैसा सजीव चित्र खींचा है—

बंधु विधु कोर में चकोर कैसो जोरा बैठ्यौ,
कैधौं एक साथ मृग बाल द्वै बढ़ाए हैं।
कैधौं मीनकेत के युगल मीन जंग जुरे,
कैधौं खंजरीट राखि पींजरा पढ़ाए हैं॥
मिलत जिआइवे कौं विछुरत मारिबे कौं,
कैधौं ये पियूष विष बोरि कै कढ़ाये हैं।

कैधौं विधि पूरन मयंक मुख पूजा करि,
अलिन सहित मानो नलिन चढ़ाये हैं ॥

नायिका के नयन ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे चंद्रमा में चकोर का जोड़ा बैठा हो, अथवा मीनकेतन की ध्वजा के दो मीन एकत्र हो गए हों। विधाता ने मिलते समय जीवन-दान देने और बिछुड़ते समय प्राण हर लेने के लिए इनमें अमृत और विष दोनों भर दिए हैं। कभी ऐसा ज्ञात होता है, मानो ब्रह्मा जी ने चंद्रमा की पूजा करके उस पर भौंरों सहित दो कमल-पुष्प चढ़ाए हैं।

इस प्रसंग में नीचे लिखे दोहे भी पढ़ने योग्य हैं—

आइ लगत बेचत मनहिं रस निधि कर बिन दाम।
नयनन में नयनाहिं ये याते नयना नाम ॥

× × ×

संगति दोष लगै सबै कहै जु साँचे बैन।
कुटिल बंक भ्रू संग ते भए कुटिल गति नैन ॥

महाकवि बिहारी ने आँखों के सम्बन्ध में कैसा सुन्दर दोहा लिखा है—

लाज लगाम न मानही नैना मो बस नाहिं।
ये मुँह जोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ॥

आँखों के सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहा तो प्रसिद्ध ही है, इसकी समता शायद ही किसी साहित्य का कोई पद्य कर सके—

अमी हलाहल मदभरे, श्वेत, स्याम रतनार।
जियत-मरत झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इक बार ॥

आँखों में तीन रंग हैं, सफ़ेद, काला और लाल। सफ़ेद अमृत है, काला विष और लाल शराब। अर्थात् आँखों में ये तीनों चीज़ें भरी हुई हैं। इन आँखों की किसी पर ज़रा भी चितवन पड़ जाती है तो वहीं जीने, मरने और झुक-झुक पड़ने का दृश्य दिखाई देने लगता है। अमृत का काम जिलाना, विष का काम मारना, और शराब का काम मस्त कर देना है। दोहे की दो लकीरों में कैसा सुन्दर और विस्तृत भाव भरा गया है। धन्य है।

कविवर शंकर ने भी आँखों के वर्णन में कैसा सुन्दर कवित्त लिखा है—

ताकत ही तेज न रहैगो तेजधारिन में,
मंगल मयंक मंद पीले पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे तड़ागन में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
खायगौ कराल-काल केहरी कुरंगन को,
सारे खंजरीटन के पंख झड़ जायँगे।
तेरी अँखियान सों लड़ेंगे अब और कौन,
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायँगे।

इन अलबेली आँखों के मुकाबले में संसार की कोई उपमा नहीं ठहर सकती। इनके तेज के आगे बड़े से बड़े तेजस्वी निस्तेज हो जायँगे। नायिका के जरा तिरछी चितवन से ताकते ही बड़े-बड़े की धोती ढीली हो जाती है। मंगल, मयंक (चन्द्र), और मन्द (शनि) ये तीनों ग्रह भी इन आँखों के आगे निष्प्रभ हो जायँगे। (यहाँ आँखों की लालिमा, सफ़ेदी और स्याही से उक्त तीनों ग्रहों की तुलना की गई है, क्योंकि इनके रंग क्रम से लाल सफ़ेद और काले होते हैं)। कमल इनके आगे लज्जित होकर तालाबों में जा डूबते हैं और मृग खंजन आदि इनसे परास्त होकर जंगलों में जा छिपते हैं।

नेत्र वर्णन में कविवर सेनापति भी किसी से पीछे नहीं रहे। वे भी लिखते हैं—

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नेक न कमल उपमा को नियरात है।
नीके अनियारे अति चंचल ढरारे प्यारे,
ज्यौं-ज्यौं मैं निहारे त्यौं-त्यौं खरे ललचात है॥
'सेनापति' सुधा सी कटाच्छनि बरसि ज्यावें,
जिनकों निरखि हियो हरखि सिरात है।
कान लौं बिसाल काम भूप के रसाल बाल,
तेरे दृग देखे मेरो मन न अघात है॥

तेरे लोचनों ने खंजन, कुरंग और मीन सबको जीत लिया है। जिस

समय ये कटाक्षों द्वारा अमृत वर्षा-सी करते हैं, उस समय हृदय आनन्द और उल्लास से भर जाता है। इन्हें देखते-देखते तबियत भरती ही नहीं।

अब ज़रा रात्रि जागने के कारण लाल लोचनों का वर्णन भी पढ़ लीजिए—

राति के उनीदे अलसाते मदमाते राते,
राजैं कजरारे दृग तेरे ये सुहात हैं।
तीखी-तीखी कोरन अकोरि लेत कोटि जिय,
केते भये घायल औ' केते तलफात हैं॥
ज्यौं-ज्यौं लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार-बार,
त्यौं-त्यौं बल बुन्दन के बारे झुकि जात हैं।
कैबर के भाले कैधौं नाहर-नहर वाले,
लोहू के पियासे कहाँ पानी ते अघात हैं।

शेख कवि कहते हैं—अरी, तेरे ये उनीदे, अलसाए, मदमाते, लाल लोचन अपनी तीखी कोरों से करोड़ों के हृदय बेध देते हैं। तू जो बार-बार इन्हें धोने के मिस पानी पिलाती है, तेरा यह प्रयास व्यर्थ है। भला ख़ून के प्यासे भी कभी पानी से अघाते हैं?

उनींदी आँखों का वर्णन कविवर आलम ने भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

प्रेम रगमगे जगमगे जागे यामिनी के,
जोवन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि-झुकि झंपि उघरत हैं॥
कहै कवि 'आलम' निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िवे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते याही में रहत हैं॥

रात की उनींदी, अलसायी और मदमाती-'राती' आँखों की सुन्दरता ऐसी जान पड़ती है, जैसे पद्म की पंखड़ियों पर भौंरा थिरकता फिरता हो। यह भौंरा उड़ क्यों नहीं जाता, इन्हीं में क्यों घूमता रहता है, इसके लिए

आलम कहते हैं—भौंरा उड़ना तो चाहता है, परन्तु ज्यों ही उसे मुख-चन्द्र दृष्टि पड़ता है, त्यों ही वह रात्रि के भ्रम से वहाँ का वहीं, बैठ जाता है। रात में उड़कर कहाँ जाय ?

और भी देखिए—

दीरघ दरारे आछे डोरे रतनारे लागे,
कारे तहाँ तारे अति भारे ये सुरंग हैं।
कहै कवि 'गंग' जनु दूध ही सों धोये पुनि,
को ये विकसित सित असित दुरंग हैं॥
पारद सरिस चीर थिर में थिरकि जात,
तिरछे चलत मानो कूदत कुरंग हैं।
खेंचे न रहत अनुराग हू के बाग वर,
प्यारी जू के नैन किधौं मैन के तुरंग हैं॥

गंग कवि ने तो नायिका के नेत्र चंचल घोड़े ही बना दिए, जो अनुराग की बाग में बँधे रहने पर भी इधर-उधर दौड़ ही जाते हैं।

नेत्रों के सम्बन्ध में नवी जी का नीचे लिखा कवित्त भी पढ़ लीजिए—

मृग केसे मीन केसे खंजन प्रवीन केसे,
अंजन सहित सित असित जलद से।
चर से चकोर से कि चोखें खाँड़ कोर से कि,
मदन मरोर से कि माते राते मद से॥
'नवी' कवि ऐना से कि और नैन बैना से कि,
सियरे सलौना से कि आछे मृग मद से।
पय से पयोधि से कि और सौंधे सौंध से कि,
भारे कारे भौंर से कि प्यारे कोकनद से॥

उक्त पद्य में तो नेत्रों को, मृग, मीन, खंजन, जलद, खाँड़े की कोर, चकोर, भौंर और न जाने क्या-क्या बना दिया है।

शृङ्गार वर्णन करते समय कवियों ने जितना नेत्रों पर लिखा है उतना शायद और किसी विषय पर नहीं लिखा। निम्नलिखित पद्य भी कितना सुन्दर है—

झूमत झुकत भरे मद के अरुन नैन,
मानो मैन तून हैं कढ़त जाते सर हैं।
हाव किल किञ्चित सरूप धरे नाथ कैधौं,
मोहन वसीकर उचाट के अमर हैं॥
कैधौं मीन पैरत सहाव के सरोवर में,
मनिक जटित भूमि खंजन सुंदर हैं।
कैधौं अनुराग को लपेटि कै सिंगार बैठ्यौ,
कैधौं कौल पाँखुरी में डोलत भँवर हैं॥

नायिका के नेत्र मानों मदन के तरकस हैं, जिनसे कटाक्ष बाण निकलते हैं—या रूप-सरोवर में दो मछलियाँ तैरती फिरती हैं अथवा मणि जटित भूमि पर खंजन खेलते फिरते हैं। यह भी हो सकता है कि अनुराग को ओढ़ कर शृंगार रस बैठा हो या कमल में भौंरा घूमता हो।

और देखिए, कवि ऊधौराम ने आँखों में नाव का कैसा सुन्दर रूपक बाँधा है—

यौवन प्रवाहता में छवि की तरंग उठै,
भौंह की मरोरन सों भौंर मतवारे हैं।
बालम की मूरति मलाह माँझ बैठि रही,
छूटे लाल डोरे तेई गुन रतनारे हैं॥
पूतरि हलनि सोई पतवारि 'ऊधौराम',
लाज बादवान पाल बरुनी सँवारे हैं।
रूप के सरोवर में पैरि-पैरि डोलत हैं,
आँखियाँ न होइ ये तो काम के निवारे हैं॥

उपर्युक्त रूपक में जल तरंगें, भँवर, मल्लाह, गुन, पाल, पतवार आदि सभी आँखों में दिखा दिए हैं। नाव से सम्बन्धित कोई चीज़ छूटने नहीं पाई।

इसी प्रकार नीचे लिखे ग्वाल कवि के कवित्त में घोड़े का रूपक बाँधा गया है—

सोहत सजीले सित असित सुरंग अङ्ग,
जीन सुचि अंजन अनूप रुचि हेरे हैं।

सील भरे लसत असील गुन साज दै कै,
लाज की लगाम काम कारीगर फेरे हैं॥
घूँघट फरस तामें फिरत फबीले फूले,
लोक कवि 'ग्वाल' अवलोकि भये चेरे हैं।
मोर वारे मन के त्यौं पन के मरोर वारे,
तोर वारे तरुनी तुरंग दृग तेरे हैं॥

घोड़ों के लिए आवश्यक कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जो ग्वाल कवि के इस रूपक में न हो। ज़ीन, लगाम, साज़, चाबुक, सवार, घोड़े का थान, आदि सभी मौजूद हैं।

नीचे लिखे पद्य में भी घोड़े की ही कल्पना है, पर इसका अपना ढंग निराला है। देखिए—

पलकैं अमोल तामें बरुनी छुवा लसत,
लाज वारी कोरें पग परम सुढंग हैं।
'श्रीपति' सुकवि लौने पैकरे बने हैं कोने,
रचि पचि बिधना सँवारे सब अंग हैं॥
जापै चढ़ि रूप के सुभट प्रेमराज काज,
बिरह गनीमन सों जीति लेत जंग हैं।
दिन रैनि पिय मन बीथिका में नाचत हैं,
प्यारी तेरे नैन कैधौं मैन के तुरंग हैं॥

ऊपर के पद्य में तो केवल घोड़ा ही दिखाया गया है, परन्तु श्रीपति जी ने अपने घोड़े पर विरह रूपी शत्रु से प्रेमनगर की रक्षा करने के लिए रूप महाराज के सुभट भी सवार करा दिए हैं।

निम्नलिखित सवैया भी अपने ढंग का निराला ही है—

प्रान पियारी सिंगार सँवारि लिये कर आरसी रूप निहारै।
चन्द्र से आनन की दुति देखत पूरि रह्यो उर आनँद भारै॥
अंजन लै नख सों रमनी दृग आँजनि यों उपमान विचारै।
चीरि कै चोंच चकोरन की मानों चोंखे चंद चुरावत चारै॥

कवि ने अंजन आँजती हुई नायिका को देख कैसी अद्भुत कल्पना की

है। रमणी आँखों में काजल नहीं लगा रही बल्कि चन्द्रमा चकोर के चेंदुआ की चोंच चीर कर उसे चारा चुगा रहा है। ख़ूब ! सूझ की बलिहारी।

भृकुटी-वर्णन

[टेढ़ीलता, कामदेव के धनुष, भौंरे के पंख और काम-खड्ग के म्यान से भौंहों की तुलना की जाती है।]

देखिए कविवर केशव जी ने भृकुटियों का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

कैधौं लगी पंकज के अंक पंक लीक कैधौं,
'केसव' मयंक अंक अंकित सुभाय को।
मन्त्र है सुहाग को कि मन्त्र अनुराग को कि,
मन्त्रन को बीज अध ऊरध अभाय को।
आसन सिंगार को कि काम को सरासन है,
सासन लिख्यौ है प्रेम पूरन प्रभाय को।
रोख रुख वेष विष पियुष बिसिख मैन,
भामिनी की भौंहैं कैधों भौन हाय भाय को।

महाकवि केशव जी नायिका की भौंहों को देख कर कहते हैं—या तो यह पंकज के शरीर में पंक का निशान लग गया है या चन्द्रमा के अङ्क में शशाङ्क अंकित है, अथवा शृङ्गार रस का आसन है या कामदेव का शरासन है।

इस सम्बन्ध में नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

भोरी किशोरी की गोरी-सी देह सुदामिनि की दुति देति विदारैं।
नारि नवै सब नारिन की जब नारि के रूप अनूप निहारैं॥
भौंह दुहून को भाव सखी, सुरकी डर ते न टरैं पल टारैं।
भीजे मनों मुख अम्बुज के रस भौंर सुखावत पंख पसारैं॥

नायिका की भौंहें ऐसे जान पड़ती हैं, मानों मुख-सरोज के रस में भीगा हुआ भौंरा अपने पंख फैलाए, उन्हें सुखा रहा है।

शङ्कर जी ने भृकुटियों का कितना सुन्दर वर्णन किया है, मुलाहिज़ा फ़रमाइए—

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखे दो कमानें ताक तानी है।
शङ्कर कि भारती के भावने भवन पर,
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किम्बा लट नागिनी की साँवली सँपेलियों ने,
आधे विधु बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियों का कैसा बड़ा पानी है।

वास्तव में भृकुटी कटारियों का बड़ा कड़ा पानी है, इसने न जाने कितनों के कलेजे नहीं काट डाले।

भाल-वर्णन

[मस्तक की सुन्दरता के लिए सोने की पट्टी, शोभा की सभा, चौथाई चन्द्रमा आदि से उपमा दी गई है।]

भाल वर्णन सम्बन्धी कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

रूप की नदी में पार पाइबे को पारो है कि,
काम के अखारो है कि रति के भँडार है।
लाज को महल प्यारे मंडल की आँखिन के,
बैठिबे को पैंड़ो है कि प्रेमरस सार है।
राहु जानि बारन के भारन डराने याते,
चन्द्रमा को मानो अध खंड अवतार है।
यौवन को द्वार कै निकाई के निकार भोरी—
गोरी के लिलार कैधौं सोभा के सिंगार है॥

उक्त कवित्त में भाल की उपमा रूप-नदी में तैरने की डोंगी, कामदेव के अखाड़ा, रति के भंडार, लाज के मंडल केश पाश रूपी राहु के भय से भीत अर्ध उदित चन्द्र आदि से दी गई हैं।

देखिए केशव जी भाल के सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

'केसव' असोक कैधौं सुन्दर सिंगार लोक,
कनक-केदार कैधौं आनँद के कन्द के।

सोभा को सुभाव कैधौं प्रभा को प्रभाव देखि,
मोहे हरि राव सखी नन्दन सुनन्द को।
चमकत चारु रुचि गंगा को पुलिन कैधौं,
चकचौंधे चित्त मति मन्द हू अमन्द को।
सेज है सुहाग की कै भाग की सभा सुभाग,
भामिनी को भाल कैधौं भाग चारु चन्द को॥

केशव जी ने भी आनन्द-कन्द के सुनहरी खेत, गंगा के किनारा, सुहाग की सेज, भाग्य की सभा, चन्द्रमा के टुकड़े आदि से मस्तक की उपमाएँ दी हैं।

अब भाल की बेंदी के सम्बन्ध में देखिए कवि क्या कहते हैं—

सोहत अंग सुभाय के भूषन भौर के भार लसै लट छूटी।
लोचन लोल अमोल विलोकत, तीय तिहूँ पुर की छबि लूटी॥
माथ लटू भये लालन जू लखि, भामिनि भाल की बन्दन बूटी।
चोप सों चारु सुधा-रस लोभ, विंधी बिधु में जनु इन्द्र बधूटी॥

जिस बेंदी को देख लाल उस पर लट्टू हो गए हैं, वह ऐसी सुन्दर जान पड़ती है, मानों सुधा-रस के लोभ से चन्द्रमा में इन्द्रवधू आ चिपटी हो। यहाँ मस्तक को चन्द्र और बेंदी को इन्द्रवधू से कितनी उपयुक्त उपमा दी गई है।

नीचे लिखे सवैया में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है—

नैननि सैननि हावन भावन डोलनि बोलनि भाँति सुहाती।
राखे हैं जो बसके मन लाल मनोहर रूप प्रवीन सदाती।
भाल में सेंदुर बिन्दु लखें उपमा न हिये ललकै अविकाती।
मानो रही लपटाय बनाय कै इन्द्र बधू लगि इन्द्र की छाती॥

यहाँ भी कवि ने इन्द्र बधू को इन्द्र की छाती से चिपटाया है।

मुख-मण्डल-वर्णन

मुख मण्डल की पूर्ण चन्द्रमा, कमल, दर्पण आदि से उपमा दी जाती है।]

यहाँ मुख-मण्डल के वर्णन में दास कवि का एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

दधि के समुद्र न्हायो, पाई न सफाई तऊ,
तायो आँच रुद्र जी के सेखर कृसानु की।
सुधाधर भयो सुधा अधरन देत द्विज,
राज हू अकस द्विजराजी के प्रभान की।
घटि-घटि पूरि-पूरि फिरत दिगन्त अजौं,
उपमान बिनु भयो खानि अपमान की।
'दास' कलानिधि केतो कला कै दिखावै पै न-
नेकु छबि पावै राधे बदन विधान की॥

चन्द्रमा ने राधिका जी के मुख की समता प्राप्त करने के लिए कितने प्रयत्न किए—बेचारा दधि के समुद्र में वर्षों गोते लगाता रहा, महादेव जी के मस्तक पर बैठ, उनके तीसरे नेत्र की अग्नि में वर्षों तपा, और भी दिग्दिगन्त में न जाने क्या-क्या साधना करता फिरा। अनेक बार तपस्या करते-करते बेचारे ने अपने शरीर को घुला दिया, फिर भी राधा के मुख की समता न कर सका। लोग जो इसे सुधाधर कहते हैं, वह भी इसलिए कि इसे राधिका जी के अधरों ने सुधा प्रदान की है, और इसमें जो चमक है, वह भी राधिका जी की द्विजराजी (दन्तपंक्ति) की दी हुई है। तभी तो इसका नाम द्विजराज पड़ गया है। सिवा कलङ्क के, इसके पास अपना तो कुछ भी नहीं है।

इस प्रसंग में कवि चिन्तामणि की कल्पना भी सुन लीजिए—

सुन्दर बदन राधे शोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारि बदन बनाय कै।
ताकी रुचि लेन को उदित भयौ रैनपति,
राख्यौ मति गूढ़ निज कर बगराय कै॥
कहै कवि 'चिन्तामणि' ताहि निशि चोर जानि,
दन्हीं है सजाय पाक शासन रिसाय कै।
यातें निशि फिरै अमरावती के आस-पास,
मुख में कलंक मिसु कारिख लगाय कै॥

जब चन्द्रमा अन्य अनेक उपाय करके राधिका जी के मुख की सी कान्ति न पा सका, तो उसने वृषभानु लली के मुख में से ही उसे चुराने की कोशिश

की। लेकिन हज़रत को इन्द्र ने ऐन मौके पर जा पकड़ा। उसी अपराध में इनके माथे पर काला टीका लगाकर आपको यह सजा की गई कि दिन-रात अमरपुरी के चारों ओर गश्त लगाया करो। तभी से बेचारा सदा आकाश में घूमा करता है।

अब राम कवि का नीचे लिखा पद्य भी पढ़ लीजिए, देखिए आप क्या कहते हैं—

वह जो प्रकाशमान लागत विभावरी में,
या तो आठौ यामहू विमल जोति धारिये।
वाके अंक राजत कलंक रंक राव सदा,
याके हिय माँझ बसै मोहन मुरारि ये॥
वाको बपु छीण दिन प्रति अवलोकियत,
याके अंग पूरण प्रभा सों प्रेम पारिये।
कहै कवि 'राम' छबि धाम प्राण प्यारे ए जू-
राधे-मुखचंद पै शरद चंद वारिये।

अजी भला राधिका जी के मुख की समता चन्द्रमा कैसे कर सकता है। चन्द्रमा केवल रात में ही चमकता है, दिन में तो उसका मुख बुरी तरह मलीन हो जाता है, पर राधा का बदन आठों पहर अपनी प्रभा छिटकाता रहता है। इसी तरह उसमें कलंक लगा हुआ है, और इसमें मोहन मुरारी की झाँई दिखाई देती है। वह रोज-रोज घटता बढ़ता है, पर यह सदा एक रस पूर्ण रहता है। अजी आप समता की बात कहते हैं? मैं कहता हूँ राधा के बदन पर ऐसे करोड़ों शरद चन्द्र वार कर फेंक देने चाहिए।

और भी देखिए—

सोरहै कला कलित जानत जगत वै तो,
मुख रूप इनमें बत्तीस कला छाई है।
पूनो ही में पूरण प्रकाश को निवास होत,
ये तो सदा पूरण प्रकाश अधिकाई है।
सुधा के स्रवत कन उहाँ ते इहाँ वचन—
सुधा की सी धार सदा अति सुखदाई है।

आनँद के कन्द सुनु ए री नँद नन्द प्यारी,
चन्द ते अधिक मुख चन्द छवि पाई है ॥

चन्द्रमा में केवल सोलह कला हैं, परन्तु राधिका जी के मुख में बत्तीस कला (दाँत) मौजूद हैं। वह केवल पूनों के दिन पूरी तरह प्रकाशित होता है, पर यह सदा ही अपनी आभा से ब्रज को आलोकित करता रहता है। चन्द्र में से सुधा की केवल कुछ बूँदें टपकती हैं, पर इसमें से सदा ही वचन-सुधा-धारा प्रवाहित होती रहती है। भला इसकी बराबरी कैसी! कहाँ राजा भोज और कहाँ गँगुआ तेली।

और देखिए—

मुख देखन कों पुर बधू जुरि आईं नँद-नन्द।
सब की अँखियाँ ह्वै गईं घूँघट देखत बन्द ॥

मुख की चकाचौंध मे सब की आँखें चुँधिया गईं। कितना अत्युक्ति पूर्ण वर्णन है।

उर्दू कवि नासिख की भी उक्ति सुन लीजिए—

घर से बाहर मेरे रश्के माह को आने न दो।
चाँदनी पै शुभा होगा सायर दीवार का ॥

उस चन्द्र वदनी को घर से मत निकलने दो, उसके प्रकाश के आगे चाँदनी दीवार की साया सी मालूम देगी।

नीचे लिखा शेर भी बहुत खूब—

शमारू कहना उसे सौदा है तारीकीए अक़्ल।
शमा का अक्स उसके आरिज़ पर कलफ़ है माहका ॥

महाकवि बिहारी क्या कहते हैं, सुनिए—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ई रहै, आनन ओप उजास ॥

वहाँ तो नायिका के मुखचन्द्र की चाँदनी के कारण सदैव पूर्णमासी ही रहती है, ठीक-ठीक तिथि जानने के लिए पत्रा के पन्ने पलटने पड़ते हैं। पत्रा न हो तो तिथि ही न मालूम हो सके।

मख के वर्णन में बेनी कवि का आगे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

मानव बनाए, देव-दानव बनाए, यक्ष किन्नर बनाए पशु-पच्छी नाग कारे हैं।
द्विरद बनाए, लघु-दीरघ बनाए, केते सागर उजागर बनाए नदी नारे हैं॥
रचना सकल लोक-लोकन बनाय ऐसी जुगति में 'बैनी' परबीनन के प्यारे हैं।
राधे को बनाय मुख धोए हाथ जाम्यौ रंग, ताको भयो चन्द्र कर झारे भए तारे हैं॥

अरे साहब, जिस चन्द्र की सराहना करते करते आप नहीं अघाते, वह तो नायिका के मुख का धोवन है।

नाथ कवि का नीचे लिखा कवित्त भी पढ़ने लायक है।

तेरो मुख रचि कै निकाई को निकेत राधे,
चारु मुख चन्द न रच्यौ है और तेरो सो।
छबिन को घेरो सो सुहाग को उजेरो सब,
सौतिन की आँखिन में पारत अँधेरो सो॥

कान्ह की सों कवि 'नाथ' केतो पचि रह्यौ जाकी,
उपमा नवीनी मन हेरि हारौ मेरो सो।
ताकी सम ताहिरी बताऊँ कहि का कों जाहि,
चाकर सो चन्द अरविन्द लागै चेरौ सो॥

जो चन्द्रमा राधा जी के मुख के आगे चाकर-सा प्रतीत होता है, और जो कमल उसके सामने चेरा सा जान पड़ता है, उन्हीं से भला मुख मण्डल की उपमा कैसे दूँ।

अब लगे हाथों ज़रा केशव जी की करामात भी देख लीजिए—

ग्रहनि में कीन्हों गेह सुरनि दे देख्यौ देह,
शिव सों कियो है नेह जाग्यों युग चार्‌यो है।
तपिन में तप्यो तप जपिन में जप्यो जप,
'केसोदास' बपु मास-मास प्रति गार्‌यो है॥
उडुगण ईश, द्विज ईश ओषधीश भयो,
यदपि जनत ईश सुधा सों सुधार्‌यौ है।
सुनि नँद नन्द-प्यारी तेरे मुखचन्द सम,
चन्द पै न भयौ छन्द कोटि करि हार्‌यौ है॥

बेचारे चन्द्रमा ने भरसक कोशिश की परन्तु वह वृषभानु नन्दिनी के मुख-मंडल के समान न हो सका और न हो सका।

केश वर्णन

[नायिका के केशों का सौन्दर्य-वर्णन साँप के कुमार, मोर के पंख, भौंर भीर, यमुना का पानी, अमावस की रात का अन्धकार, सिवार, नील-नलिनी के तार और काले बादल आदि से उपमा देकर किया जाता है।]

देखिए, निम्नलिखित कवित्त में केश-पाश के सम्बन्ध में कैसी-कैसी कल्पनाएँ की गई हैं—

घेरो मुखचन्द्र के विधुन्तुद-मयूख जाल,
कैधौं सखी सुन्दर सिखंडि के निकुर हैं।
कैधौं सुर तरु वलि घेरे घन धुरवा के,
छवि छटा बीच अन्धकार के अँकुर हैं॥
कैधौं निधि कोमल कुहू के तंत अवतार,
कैधौं मखतूल तार बंकुर विथुर हैं।
कैधौं वर इन्दीवर केसर वलित कैधौं,
ललित लली के अति मेचक चिकुर हैं॥

नायिका के शिर पर बाल हैं, या मुख रूपी चन्द्रमा को राहु की किरणों ने घेर रक्खा है। यह सुन्दरी का केश कलाप है, या सुर वल्लरी के ऊपर काली घटाएँ छा रही हैं। नहीं नहीं, यह तो नील कमल है, जिसकी वेणी रूप नाल पीछे लटकी हुई है, तथा ऊपर चूड़ा मणि (शिरोभूषण) रूप केसर स्पष्ट दिखाई दे रही है।

और लीजिए, देखिए कवि चिन्तामणि ने कैसी ऊँची उड़ान भरी है—

एरी वृषभानु की कुमारी सुकुमारी देखि,
मोहन छबीले स्याम तेरी छबि रत हैं।
कहै कवि 'चिन्तामणि' सुन्दर रसिक लाल,
तेरे तन कान्ति वर्णन में निरत हैं।
एरी तेरे बारन हरी है शोभा भौरन की,
जानति सु काहे को ये कौलन फिरत हैं।

मिलि सब फरियाद करिबे को टेरत सो,
मानो कमलासन कों हेरत फिरत हैं ॥

अरी सुन्दरी, क्या तुम जानती हो, ये भौंरे कमलों पर क्यों मँडराते फिरते हैं। सुनो, हम बताएँ, देखो तुम्हारे बालों ने जो इन बेचारों की शोभा छीन ली है, सो ये उसकी फ़रियाद ब्रह्मा जी से करना चाहते हैं। क्योंकि इन्हें बताया गया है कि ब्रह्मा जी कमल में रहते हैं, इसलिये प्रत्येक कमल पर घूम-घूम कर कमलासन को खोजते फिरते हैं। कहिए है न कमाल की कल्पना।

कवि मुबारक जी क्या कहते हैं, उनकी भी सुन लीजिए—

लाँबे लहकार सुकुमारे सटकारे कारे,
मृग मद धारे मखतूल कैसे तार हैं।
तम को निवास कैधौं तामस प्रकास कैधौं,
सर में सिंगार के ये सुथरे सेवार हैं ॥
मार सिर मौर कै 'मुबारक' ये भौंर कैधौं,
चातुरी के चौंर मन मेचक के सार हैं।
ससि के समीप कैधौं राहु की रसन सी है,
नागिन के बार कै सुहागिनि के बार हैं ॥

समझ में नहीं आता कि कस्तूरी में रँगे रेशम के लच्छे हैं, या अंधकार एकत्र हो गया है। शृङ्गार रस के सरोवर में सिवार फैला है अथवा कामदेव का मुकुट या भौंरा की भीड़ है। हो न हो, ये चन्द्रमा की ओर लपलपाती राहु की जीभें हैं। इन्हें सुन्दरी के बाल कहें या नागिन के बार।

और भी देखिए—

लाँब सुललित लहकारे सटकारे कारे,
कंचन के खम्भ फैले पन्नग कुमार हैं।
मधुकर भार मखतूल कैसे तार कैधौं,
मरकत मनि छबिदार तम धार हैं।
राजै मणि कंठ रसराज के कुमार कैधौं,
सुषमा सरोवर के सुथरे सिवार हैं।

अंजन के सार पिय मन के हरउ हार,
कैधौं या छबीली के छबीले छूटे बार हैं ॥

यहाँ भी छबीली के छिटके हुए बालों को, सोने के खम्भे पर लटकते हुए सँपोलों, अन्धकार की धाराओं, रूप सरोवर के सिवार, काजल के सार आदि से उपमा दी गई है !

केश-वर्णन में यह दोहा भी बड़ा सुन्दर है—

सहज सु चिक्कन स्याम रुचि सुचि सुगन्ध सुकुमार ।
गनत न मन-पथ अपथ लखि बिथुरे सुथरे बार ॥

इन बालों को देखकर मन मतंग ऐसा मतवाला हो जाता है, कि फिर वह राह-कुराह कुछ भी नहीं विचारता ।

अलक (लट) वर्णन

देखिए अलक के सम्बन्ध में कवि हनुमान क्या लिखते हैं—

आजु लखी ललना लवंग लतिका सी लौनी,
अंगन ते जाके आभा उमगै अपार है ।
खरी ही सरोवर पै लैकर सखीन संग,
कीन्हों 'हनुमान' तहाँ तरक विचार है ॥
मोतिन की माल चारु कुच पै लखात तापै,
परी मुख ऊपर ते लट सुकुमार है ।
मानों संभु सीस पै निहारि गंग जू कों मिलै,
चली चन्द्र बिम्ब ते कलिन्दजा की धार है ॥

नायिका के हृदय पर पड़ी मोतियों की माला और मुख पर से लटकती हुई लट, दोनों को देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानों शंकर जी के सिर पर से बहती हुई गंग धार से मिलने के लिए चन्द्रमंडल में से यमुना की धारा बह कर आई है ।

आगे लिखा पद्य भी कितना उत्कृष्ट है—

सोने सो शरीर तापै आसमानी रंग चीर,
औरै ओप कीनी रवि रतन तरौना द्वै ।

सोमनाथ कहैं इन्दिरा सी जगमगै बाल,
गाढ़े कुच ठाढ़े मानो ईश युग मौना है।
कारी घुँघुवारी मन्द पवन झकोर लागे,
फरहरैं अलक ये कपोलन के कौना है।
सो छबि अमन्द मानो पान सुधा बुन्द करि,
इन्द्र पर खेलत फनिन्दन के छौना है॥

इस पद्य में भी मुँह पर लहराती हुई काली लटों को, चन्द्रमा पर खेलते हुए सर्प के बच्चों से उपमा दी है।

नीचे लिखा कवित्त भी पढ़ने लायक है—

सरस सुगन्ध घालि सीस तें अन्हाय बाल,
रोरी बिन्दु भाल की विशाल छबि जोई है।
धारी सेत सारी सो किनारी जर तारी कोर,
रसिक बिहारी प्यारी मुख पै समोई है॥
भींजी लटैं लाँबी आय चिपटी उरोजन पै,
हेरि यह उपमा अनूप उर गोई है।
सीत-भीत आतप में मानों गिरि ऊपर यों,
ठौर-ठौर पन्नगी पसार पूँछ सोई है॥

स्नान करने के बाद स्तनों पर लटकी हुई लटें ऐसी जान पड़ती है, जैसे जाड़े के मारे सापिनें, हिमालय पर धूप में आ सोई हों।

अब जरा नीलकंठ जी का लट वर्णन भी पढ़ लीजिए—

तैसी चख चाहन चलन उतसाहन सों—
तैसो विधि वाहन विराजत बिजैठो है।
तैसो भृकुटी को ठाट तैसोई ललाट दिपै,
तैसोई बिलोकिबे को पी को प्रान पैठो है।
कहै कवि 'नीलकंठ' तैसी तरुनाई तामें,
जोबन नृपति सो फिरत ऐंठो ऐंठो है।
छूटी लट भाल पर सोहै गोरे गाल पर,
मानो रूप माल पर ब्याल ऐंठि बैठो है॥

गाल पर लटकी लट ऐसी शोभित हो रही है, मानों रूप की धरोहर पर सर्प कुंडला मारे बैठा हो।

पजनेश जी ने लटों का वर्णन इस प्रकार किया है, सुनिए-

कवि 'पजनेश' मनमथ के श्रवण पर,
संबुल झुलत भाल वृषभान नन्दिनी।
सुन्न दै सुधार्‌यो विधि बुध विधु अंक बंक,
दस गुनी दीपति प्रकासैा जग बन्दिनी।
स्वेद कन मध्य दीठि रक्षक दिठौना जापै,
छूटी लट डुलत कला जनु कलिन्दिनी।
मुख अरविन्द ते समेटि मकरन्द बुन्द,
मानों निज नन्दनै चुनावति मलिन्दिनी॥

उपर्युक्त पद्य में नायिका के कपोलस्थ तिल के आस-पास लटकती हुई लट की उपमा, मुख रूपी अरविन्द में से मकरन्द इकट्ठा कर अपने बच्चे को खिलाती हुई भौंरी से दी है।

लटों के वर्णन में गंग कवि का नीचे लिखा सवैया कैसा सुन्दर है—

श्री नन्दलाल गुपाल के कारण कीन्हों सिंगार जु राधे बनाई।
कंकुम आड़ सुकंचन देह दिपै मुकुताहल की झलकाई॥
सीस तें एक छुटी लट सुन्दर आनि कै यों कुच में लपटाई।
गंग कहै मानों चन्द के बीच ह्वै संभु को पूजन नागिनी आई॥

चन्द्रमा के बीच होकर नागिन महादेव जी की पूजा करने आई है। क्या ख़ूब!

अलकें तो मुख की शोभा बढ़ाने के लिए बड़ी ज़रूरी हैं। उनके कारण ही मुख की आभा इतनी सुन्दर दिखाई देती है। देखिए—

मुखहि अलक को छूटिबो अवसि करे दुतिमान।
बिन बिभावरी के नहीं जगमगात सित भान॥

चन्द्रमा रात्रि के कारण ही अधिक चमकता है। बिना रात के उसकी सूरत पर भी बारह बजने लगते हैं।

पाटी-वर्णन

निम्नलिखित कवित्त में पाटियों का वर्णन कैसी सुन्दर रीति से किया गया है—

कीधौं राहु डरते धरी है चन्द्र ढाल बिबि,
कीधौं राहु गहि रह्यो चन्द्रमा को आय कै।
कीधौं तम भूमि आछी, कीधौं प्रेम की कसौटी,
कीधौं विधि पढ़िबे की पाटी करी चाय कै॥
कीधौं रस आदि की बनाई दोऊ क्यारी भली,
कीधौं घन घटा रही चन्द्रमा पै छाय कै।
सुन्दर सुहावनी है चित्त ललचावनी है,
बाट पारी पाटी पारि बैठी है बनाय कै॥

या तो राहु के भय से चन्द्र ने अपने ऊपर ढाल रख ली है, या राहु ने चन्द्रमा को ग्रस लिया है। या फिर यह प्रेम की कसौटी है या कामदेव के पढ़ने की पट्टी। अथवा श्रृंगार रस की दो क्यारियाँ हैं, या चन्द्रमा के ऊपर छाई हुई घन घटा।

देखिए, कविवर दिनेश जी पाटियों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

कैधौं बैनी पन्नगी के फन दुहूँ ओर कैधौं,
दृग मृग रोकिबे की रूप-भूप घाटी है।
मुख-विधु ताने हैं वितान युग मेरे जान,
कमलन ऊपर सिवारन की टाटी है॥
कैधौं करतल रसराज राखे माथे दोऊ,
दिपति 'दिनेश' तातें ललित लिलाटी है।
एरी आगे मोहन मयूर से निरखि नाचें,
सघन कै घन पटली की परिपाटी है॥

नायिका के माथे पर यह पाटियाँ नहीं हैं, बल्कि वेणी रूपी सर्पिणी के फन हैं या नेत्र रूपी हरिणों को घेरने के लिए रूप-भूप ने दो घाटियाँ बनवा रक्खी हैं। मेरे जाने तो मुख रूपी चन्द्रमा के ऊपर श्याम रंग के दो शामियाने ताने हैं या फिर कमल के ऊपर सिवार की टट्टी आ पड़ी है; अथवा रसराज

ने अपने दोनों हाथ नायिका के माथे पर रख दिये हैं। ये श्याम घन-घटाएँ भी हो सकती हैं, क्योंकि इन्हें देख कर मोहन का मन-मयूर नाच उठता है।

पाटियों की प्रशंसा में नीचे लिखा दोहा भी पढ़ने लायक है—

पाटी दुति युत भाल पै, राजि रही यहि साज।
असित छत्र तमराज मनु धर्‌यो शीश द्विजराज॥

बाला के भाल पर चमकदार पाटियाँ ऐसी सुहावनी जान पड़ती हैं, मानो तमराज ने चन्द्रमा के ऊपर काली छतरी लगा रक्खी हो।

माँग-वर्णन

माँग के वर्णन में नूर कवि का नीचे लिखा कवित्त कितना सुन्दर है—

तामसी तमो गुण को जानि कै सतो गुण धौं,
रूपे की सलाका तासु ऊपर चलाई है।
कैधौं जग जीति काम साँग सन्दली पै धरी,
कैधौं सुधा धार राहु सदन में आई है॥
कैधौं कोऊ ऋषि ताकी मनसा है मेरे जान,
होम-भूमि मध्य मानो आगि उरझाई है।
'नूर' कहै निपट अधीन होत लाल मेरो,
प्यारी सिर तीखी माँग मोहनी बनाई है॥

नायिका की काली पाटियों के बीच में माँग ऐसी जान पड़ती है, मानो सतोगुण ने तमोगुण पर चाँदी की साँग से प्रहार किया है, या कामदेव ने जगत् को जीत कर अपनी तलवार शान पर रक्खी है। अथवा राहु के घर में अमृत की धारा बह रही है।

नीचे लिखे कवित्त में भी माँग का कैसा सुन्दर वर्णन है, देखिए—

दुतिया के चन्द कैधौं तम के पर्‌यो है पाले—
कैधौं बैनी नाग जीभ सुधा कों निकारी है।
कैधौं रति काम दोऊ झगरि कै आपुस में,
सुख-भूमि बाँटि हेम-सीमा बीच डारी है॥

कैधौं प्रेम तोलिबे कौं डाँडी सी बनाई विधि,
कैधौं चन्द्र कोपि राहु-सीस चोट भारी है।
कैधौं सुधा धार चली नागिनी के आनन तें,
कैधौं माँग नागरी की सखिन सुधारी है॥

माँग को देखकर कवि कभी तो उसे अंधकार के बीच फँसा हुआ द्वितीया का चन्द्रमा समझता है, और कभी वेणी रूपी नागिन की जीभ जिसे उसने अमृत पान करने के लिए मुख-मण्डल रूपी चन्द्रमा की ओर फैलाया है। कभी वह यह भी ख़याल करता है कि रति और कामदेव ने अपनी सुख-भूमि आपस में बाँट कर बीच में, सोने की सीमा डाल दी है। कभी वह उसे प्रेम-तराजू की डंडी समझता है, और कभी नागिन के मुख से बहती हुई सुधा की धारा का अनुमान करता है।.

इस प्रसंग में पुखी कवि का नीचे लिखा सवैया भी पढ़ने लायक है—

मज्जन कै तिय बैठी प्रवास में पास खवासिनी हैं सब ठाढ़ी।
सारी सुगन्ध सचिक्कन कै सुभ बैनी बनाय गुही अति गाढ़ी॥
पाटिन बीच सिंदूर की रेख 'पुखी' लखि यों उपमा अति बाढ़ी।
चन्द के लीलन को झुकि राहु मनों रसना मुख बाहर काढ़ी॥

नायिका की पाटियों के बीच माँग ऐसी प्रतीत होती है, मानो चन्द्रमा को लीलने के लिए राहु ने झुककर अपनी लाल-लाल जीभ बाहर निकाली हो।

महाकवि शङ्कर ने तो माँग के वर्णन में कमाल ही कर दिया है, देखिए नीचे लिखा छन्द कितना अपूर्व है—

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि
श्याम घन मण्डल में 'दामिनी' की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है॥

वैणी-वर्णन

[यमुना की धार, साँप या भौंरों की पाँति, रात्रि की तलवार आदि से वेणी की उपमा दी जाती है।]

महाकवि केशवदास ने वैणी का वर्णन इस प्रकार किया है—

चन्दन चढ़ाय चारु कंकुम लगाय पाछे,
कैधौं निसनाथ निसि नेह सों दुराई है।
कैधौं वैनी बन्दन छिरकि छीर साँपिनि सी,
अलि अवली समीप सुधा-सोध आई है।
'केसौदास' हास रस मिलि अनुराग रस,
सरस सिंगार रस धार धरा धाई है।
मेलि मालती की माल लाल डोरी गोरी गुहि,
बैनी पिक बैनी की त्रिबैनी-सी बनाई है॥

यह जो लाल डोरे से गूँथ और मालती की माला मे सजाकर सखी ने नायिका की वेनी त्रिवेणी-सी बना दी है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानो निशानाथ ने निशा को कुंकुम और पुष्पों से पूज कर प्रेम पूर्वक अपने पीछे छिपा लिया है। अथवा काली नागिन बैनी-बन्दन रूपी दूध छिड़ककर अमृत की खोज में भ्रमरावलि के समीप आई है।

और भी देखिए—

पीठि तन ताकत ही दीठि डसि लेति फेरि
फैलि कै विरह-विष रोम-रोम छावतो।
छिनक में ऐसे हाल केतेन के होते तब,
एते कोऊ गरुड़ कहाँ ते ढूँढि लावतो।
ईश्वर दुहाई जो पै होती वाके ऐसी व्याली,
काली को नथैया कान्ह काहे को कहावतो।
मुरि मुसिकान मन्त्र जानती न राधे तो या,
वैनी के डसन ब्रज बसन न पावतो॥

सच है, यदि विधाता ने नायिका को मुसकान रूपी विष-मन्त्र न दिया होता, तो उसकी वैणी रूपी नागिन का डसा एक भी व्यक्ति ब्रज में न बचने

पाता। वह तो प्रभु ने बड़ी दया की, जो व्याधि के साथ ही उसका उपचार भी बना दिया।

नीचे लिखे कवित्त में वेणी की कैसी उपमाएँ दी गई हैं, देखिए—

लाँबी लहकारी अति कारी सुकुमारी, सखि —
यान नें सुधारी मत्त मधुप की सैनी है।
डारत कलंकहिं कलानिधि निचोरि कैधौं,
कैधौं मन धीरज विदारिबे की छैनी है॥
नागरि सनाल मुख कञ्ज तें लगी हैं कैधौं,
कैधौं कारी नागिनी निपट सुख दैनी है।
कीनो तम पान कै तमी पतित के पाछे परी,
कैधौं अंधकार धार कैधौं यह बैनी है॥

नायिका की वेणी ऐसी है, जैसे मत्त मधुकरों की पंक्ति या काली नागिन हो। कभी उसे देख ऐसा जान पड़ता है, मानों चन्द्रमा ने अपने अन्दर से कलंक निचोड़ दिया है, या अन्धकार की धारा चन्द्रमा के पीछे पड़ी है।

वेणी-वर्णन प्रसंग में नीचे लिखा सवैया भी क्या ही उत्कृष्ट है—

कै मधुपावलि मंजु लसै, अरविन्द लगी मकरन्द न सोहै।
कै रजनी मणि कण्ठ रिसाय कै पाछे को गौन कियो अरसोहै।
बैनी किधौं, ये कलंक चुवै, किधौ रूप मसाल को धूमक सोहै।
कंचन खंभ के कंध चढ़ी थकि चन्द गहे मुख साँपिनि सोहै॥

उक्त सवैया में भी बेणी को, सरोज के पीछे लगी मधुपावली, रूप-मसाल के धुआँ, मुख में चन्द्रमा को लिए कंचन के खम्भे पर चढ़ी साँपिन आदि से उपमा दी गई है।

नीचे के सवैया में ब्रह्म कवि ने कैसे सुन्दर ढंग से नायिका को कमान और वेणी को उसकी डोरी बना दिया है—

सेज ते ठाढ़ी भई उठि बाल लई उलटी अँगराई जम्हाई।
रोम की राजी विराजी विसाल मिटी त्रिबली अरु पीठि खलाई।
वेनी परी पग ऊपर पाछे तें 'ब्रह्म' यहै उपमा उर आई।
लोक त्रिलोक के जीतिबे कारण सोने की काम कमान चढ़ाई॥

प्रातःकाल शैया से उठकर अँगड़ाई लेती हुई नायिका पीछे को झुक कर बिलकुल कमान बन गई और उसकी वेणी लटक कर पैरों से मिल उस कमान की डोरी सी दिखाई देने लगी।

अंगवास-वर्णन

देखिए सेवक कवि ने अंगवास का वर्णन कितनी अच्छी तरह किया है—

मौलसिरी रास ते न मालती हुलासतें,
गुलाब बरदास तें न मान खस खास तें।
वेला के विलास ें जुही के परगास ते,
निवारि हू की आस तें न सेवती उजास तें।
चम्पक विकासतें न केवरे निकासतें न,
'सेवक' प्रकास तें मलै केऊ जु बास तें।
लाड़िली के हास तेऽरु अंग की सुवासतें सु—
है रह्यौ सुवासित अवास आस पास ें॥

घर और उसके आस-पास का स्थान लाड़िली के मधुर हास और उसके अंगवास से जितना सौरभित हो रहा है, उतना मौलसिरी, गुलाब, ख़स, बेला, जुही, सेवती, निवाड़ी, चम्पा, केवड़ा आदि किसी से भी नहीं हो सकता था।

नीचे लिखे कवित्त में भी अंगवास का अच्छा वर्णन किया गया है—

यमुना के आगमन मारग में मारुतन,
भौंरन के भीरन पटे से लखि पाये हैं।
सन्तन सुकवि सुख खानि पदुमिनि तेरी,
रूप की तरंगिनि अनंग दरसाये हैं॥
बाहर कढ़न कहैं तोसों ते अयान कौन,
लहे बदनामी घेर घर-घह छाये हैं।
पटकी लपट लपटति ता दिना ते आजु,
मानो उन गलिन गुलाब छिरकाये हैं॥

नायिका जिस मार्ग से होकर निकल जाती है, उसमें ऐसा जान पड़ता है, मानो गुलाब जल से छिड़काव किया है। उस दिन वह यमुना-स्नान को गई

थी, तो भौंरों की भीड़ से वह मार्ग भर गया था। ओह! कितनी मस्त सुगन्ध उसके शरीर से निकलती है।

अंग-दीप्ति-वर्णन

देखिए, देह दीप्ति का वर्णन कवियों ने कितने अनूठे ढंग से किया है—

फटिक शिलान सों सुधारो सुधा मन्दिर उ—
दधि दधि की-सी अधिकाई उमँगै अमन्द।
बाहर ते भीतर लौं भीति ना दिखाई देति,
दूध कैसो फैन फैल्यो आँगन फरस बंद।
तारा सी सुता में ठाढ़ी आनि झिलि मिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अम्बर में आभा सी उज्याही लगै,
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिंब सौ लगत चन्द॥

जिस मन्दिर में राधिका जी निवास करती हैं, वह उनकी देह-दीप्ति के प्रभाव से स्फटिक शिलाओं से निमित-सा प्रतीत होता है। उसमें बाहर-भीतर से कहीं भी भीति दिखाई नहीं देती; सर्वत्र दूध या दधि का समुद्र सा उमड़ा दिखाई देता है। रात्रि-समय आकाश की ओर देखें तो यह जान पड़ता है, मानों आकाश बड़ा सा दर्पण है, जिसमें चन्द्रमा राधा जी का प्रतिबिम्ब है।

कविवर द्विजदेव जी का भी वर्णन पढ़ लीजिए—

कातिक के द्यौस कहूँ आई न्हाइबे को वह,
गोपिन के संग जऊ नेसुक लुकी रही।
'द्विजदेव' हरिद्वार ही तें घाट घाट लगि,
खासी चन्द्रिका सी तऊ फैलि बिधु की रही।
घेरी बार पार लों तमा से हित ताही समै,
भारी भीर लोगन की ऐसि ये झुकी रही।
आली उत आजु वृषभानुजा विलोकिबे कों,
भानु तन या हू घरी द्वैक लों रुकी रही॥

कार्तिक के महीने में एक दिन राधिका जी यमुना नहाने सखियों के

बीच में छुक-छिप कर गईं, तो भी उनकी देह-दीप्ति के कारण मार्ग और यमुना-तट पर सर्वत्र चाँदनी-सी फैल गई। उस समय राधिका के चारों ओर दर्शकों की भीड़ लग गई। कहते हैं दो घड़ी तक तो यमुना की धारा भी उन्हें देखने को रुकी रही।

और भी देखिए—

जैसी यह ललित लड़ैती मिथिलेश जू की,
तैसो अवधेश को दुलारो रस भीना है॥
याहि देखि लाज रति होत है बिकल मति,
वाहि तो विलोकि पञ्च वान हू अधीना है।
जन सो मुरारि यों विदेह-पुर नारि कहैं,
यह तो सँयोग विधि कर लिखि दीना है।
सम्भु धनु टूटे या न टूटै कहौं साँची सिया,
सोने की अँगूठी राम साँवरो नगीना है॥

इस पद्य में जानकी जी को उनकी देह दीप्ति के कारण सोने की मुँदरी से उपमा दी गई है।

देह-दीप्ति के वर्णन में नीचे लिखे सवैये भी पढ़ने लायक हैं—

राधे की अंग गोराई सी और गोराई विरंचि बनावन लीनी।
कै सत बुद्धि विबेक सो एक अनेक विचारन में हग दीनी।
बानिक तैसी बनी न बनावत 'केसव' प्रत्युत ह्वै गई हीनी।
लै तब केसरि केतकि कंचन चम्पक के दल दामिनि कीनी॥

विधाता ने राधिका जी के गौर वर्ण के समान वर्ण बनाने के विचार से मसाले एकत्र किए पर वैसा रंग बन ही न सका, उससे फीका ही रह गया। तब ब्रह्मा जी ने उस मसाले से सोना, केसर, चम्पा, केतकी आदि चीज़ें बना दीं।

गति मन्द यों जाकी मजा की लखें हँसी होत गयंद के चाल की है।
मुख हेरि कै चन्द लजोई रहै, रुचि को कहै कंज कमाल की है॥
'हनुमान' नखावलि पै तिय के अवली परे फीकी प्रवाल की है।
दबि दामिनी जाति प्रभा निरखें, कितनी छबि मंजु मसाल की है॥

कवि हनुमान कहते हैं, कि नायिका की देह-दीप्ति को देख बिजली भी हत प्रभ हो जाती है।

इस सम्बन्ध में यह दोहा भी कितना सुन्दर है, देखिए—

देह-दीप्ति छवि गेह की किहिं विधि बरनी जाय।
जा लखि चपला गगन तें, छिति पटकत सिर आय॥

नायिका की उस देह-दीप्ति का वर्णन भला कैसे किया जा सकता है, जिसे देखकर लज्जित हुई चपला अपना सिर ज़मीन पर आ पटकती है।

गति-वर्णन

[कवि जन सुन्दरी की चाल की उपमा राजहंस, कलहंस, गजगति आदि से देते हैं।]

नीचे लिखे कवित्त नायिका की चाल का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है, देखिए—

तेरी चाल देखि-देखि दिग्गज अचल भये,
भव के मतंग ते तो खेह सिर नाये हैं।
ऐरावत इन्द्रपति सबै चाल समता को,
तऊ नाँहि एकौ कला पाई अजो धाये हैं।
हंस विधि-पद ध्यायौ, ताते एक पद पायौ,
छीर-नीर विवरण जस जग गाये हैं।
सुनु री छबीली प्यारी तेरी चाल लोल ताको,
केती-केती कलाकरी समता न पाये हैं॥

हे सुन्दरी, तेरी चाल को देख, शर्म के मारे दिग्गजों ने तो चलना ही बन्द कर दिया। ऐरावत बेचारे ने बहुतेरी कोशिश की, पर तेरी सी चाल वह भी न पा सका। जो मर्त्य लोक के साधारण हाथी थे, उन्होंने तो लज्जित होकर पहले ही अपने शिर पर धूल डाल ली। हाँ, हंस ने भी तेरी सी गति पाने के लिए बहुत दिनों तक ब्रह्मा जी की सेवा की, पर वह भी इस दिशा में असफल ही रहा। उसे नीर-छीर विवेक की शक्ति तो प्राप्त होगई, पर तेरी सी गति न मिली।

नीचे गति-वर्णन विषयक दो पद्य और भी दिए जाते हैं—

सुरँग चुनरि चटकीली की चटक तैसी,
भौंह की मटक आव छवि के ढवन में।
खंजन गरब गार कंजन घुँघट ओट,
विहसौं हे नैना मन रंजन रवन में॥
'चिन्तामनि' बार-बार बेसरि सँवारि पग,
धरै सुकुमारि थहराति-सी गवन में।
मदन के मदमाती, मोहन के नेह राती,
प्यारी मुसुकाती आजु डोलति भवन में॥

+ + +

सारी सेत सोहै नख नूपुर की आभा स्वेत,
चन्द्रमुखी धारै एक चाँदनी-सी चंद की।
कहै कवि 'आलम' किसोरी वैस गोरी बाल,
जग की उज्यारी प्यारी प्यारी नँद-नन्द की।
उरज उतंग मानो उमँगि अनंग आयो,
बैठी कसि आँगी पाछे गाढ़ी गाँठि बन्द की।
सुघर नितम्ब जंघ रम्भा के से खम्भ चल,
मंद मंद आवै चाल मद के गयन्द की॥

उपर्युक्त दोनों कवित्तों में नायिका का सौन्दर्य-वर्णन के साथ-साथ सामान्य रूप से उसकी चाल की चर्चा भी कर दी गई है।

शङ्कर कवि ने नायिका की चाल का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—यह नायिका 'हौले-हौले' किस प्रकार हंसों की हँसी सी करती जाती है, जरा देखिए तो सही—

मंगल करन हारे कोमल चरण चारु,
मंगल से मान मही गोद में धरत जात।
पंकज की पाँखुरी से आँगुरी अँगूठन की,
जाया पञ्च बाण जी की भाँवरी भरत जात।
'शंकर' निरख नख नग से नगत श्रेणी,
अम्बर सों छूट-छूट पायन परत जात।

चाँदनी में चाँदनी के फूलन की चाँदनी पै,
हौले-हौले हंसन की हाँसी-सी करत जात ॥

सर्वाङ्ग-वर्णन

[नायिका के सर्वाङ्ग सौन्दर्य की उपमा चन्द्रकला, तारागण, सोने की छड़ी, विद्युल्लता, दीप शिखा, माला, ओषधि वल्लरी आदि से दी जाती है ।]

शङ्कर कवि ने नायिका के सर्वाङ्ग का वर्णन सागर के रूपक में कैसा सुन्दर किया है, देखिए—

सीस-पग तीर, नीर, गौरता, तरंग तुग—
त्रिवली चिबुक, नाभि भँवर परत हैं ।
खाड़ी भुज-पाद-मध्य, मेरु कुच, शृंग हिम,
कञ्चुकी की ओट ठीक दीखि न परत हैं ।
केस व्याल, कच्छप, कपोल, श्रुति सीप, जोंक,
भृकुटी कुटिल, झष लोचन चरत हैं ।
'शंकर' रसिक सुख भोगी बड़ भागी लोग,
ऐसे रूप सागर में मज्जन करत हैं ॥

नायिका का शरीर क्या है, सुन्दर रूप-सागर है, जिसके सिर और पैर दोनों तट है, गौरता रूपी जल है, जिसमें त्रिवली और चिबुक की ऊँची-ऊँची तरंगें उठ रही हैं, नाभि के भँवर पड़ रहे हैं । भुजाओं और पैरों के मध्य-भाग ही इस सागर की खाड़ी हैं । केश इस सागर में सर्प, कपोल कछुए, कान सीपें और भौंहें जोक हैं । इसी तरह लोल-लोचन मछलियाँ हैं । वे जन बड़े बड़ भागी हैं, जो ऐसे रूप-सागर में स्नान करते हैं ।

कवि केशव ने सर्वाङ्ग वर्णन में नीचे लिखा कवित्त लिखा है—

चन्द्र कैसो भाग भाल, भृकुटी कमान कैसी,
मैन कैसे पैने सर नैननि बिलासु है ।
नासिका सरोज गन्धवाह से सुगंध वाह,
दार्‌यौ से दसन 'केसौ' बीजुरी सोहासु है ।

माईं ऐसी ग्रीवा भुज पान सो उदर अरु,
पंकज से पायँ गति हंस की सी जासु है।
देखी है गुपाल एक गोपिका मैं देवता सी,
सोने सो सरीर सब सौंधे की सी बासु है॥

उपर्युक्त पद्य में नायिका के समस्त अंगों का वर्णन उपमानों सहित किया गया है। इसी प्रकार नीचे लिखे कवित्त में भी अंगों के उपमान गिनाए गए है—

व्याली बैनी, घन पाटी, तेज माँग चन्द भाल,
सीप स्रौन. धनु भौंहैं. बान नैन हेरे हैं।
कीर नासा, दर्पन कपोल, बिंबि ओठ-मोती—
दसन रसाल ढोढ़ी, कंबु कण्ठ तेरे हैं।
बासु भुज, पल्लौ हाथ, बेल कुच, पान पेट.
रम्भा दल. पीठि ईठि भृंगी कटि मेरे हैं।
तुम्बुरु नितम्ब, केल खम्भ जंघ कंज पग,
एते सब पेर तेरे अंगनि के चेरे हैं॥

सर्वाङ्ग वर्णन विषयक बेनी कवि का नीचे दिया गया कवित्त भी पढ़ने लायक है—

करि की चुराई चालि, हरि की चुराई लंक,
ससि को चुरायो मुख, नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन, मृग के चुराये नैन,
दसन अनार हँसी बीजुरी अधीर की॥
कहै कवि 'बैनी' बैनी ब्याल सों चुराय लीन्हीं,
रती-रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चित्त हू चुराय लीन्हों,
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की॥

अरे साहब, यह अहीर की छोकरी तो पक्की चोर है। इसके पास जितनी चीज़ें हैं, सब चुराई हुई चाल इसने हाथी की चुरा ली और कमर सिंह की। इसी प्रकार मुख चन्द्रमा का, नाक तोते की, वाणी कोयल की, आँखें मृग की, दाँत अनार से, हँसी बिजली से और बेणी सर्प से चुराई है। यह सब

तो किया सो किया, पर अब तो इसने कृष्ण जी का मन भी चुरा लिया। ओहो, चोरी करने में इसे कमाल हासिल है।

इस प्रसंग में लगे हाथों एक सवैया और भी पढ़ लीजिए—

बार बड़े तम तारन से, शशि सो मुख लोचन खंजन से।
भृकुटी धनु सी, रद कुंद कली, सुकनाक लसै, कर कञ्जन से।
कुच श्रीफल से, कटि केहरि सी, पद पद्म महा अघ गंजन से।
सिखते नख लौं वृषभानु सुता, अँग रंग भरे मन रंजन से॥

इसमें भी सीधे ढंग से राधिका जी के अंगों की उपमा दी गई है।

सुकुमारता-वर्णन

नायिका कितनी नाजुक है, इसका वर्णन कवि बलभद्र जी ने इस भाँति किया है—

पलिका ते पायँ जो धरति-धाम धरणी में,
छाले परें मग माँझ पैंड़क गवन ते।
लीजै जो तमोल तौ तो ताप आवे 'बलिभद्र',
होत है अरुचि पान पीक अचवन ते।
बारन के भार और तन हू के चीर-भार,
याते नहिं होत बाल बाहर भवन ते।
लागै जो समीर तौ तो पूरो परै सौतिन के,
फूल ज्यों उड़ति प्यारी पंखा के पवन ते॥

पलका से उतर कर यदि वह घर में ही दो-एक कदम चलती है, तो तुरन्त पैरों में छाले पड़ जाते हैं। अगर अपने हाथ से पान-बीरी भी उठा ले, तो फ़ौरन बुख़ार आ जाते हैं। पान की पीक लील लेने से उसे अजीर्ण हो जाता है। वह अपने बालों और पहने हुए कपड़ों का बोझ भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। पंखा की हवा लगने से ही फूल की तरह इधर-उधर उड़ने लग जाती है, उसे यदि कहीं तेज हवा लग जाय, तब तो सौतों की मन चीती ही हो जाय।

और लीजिए, जगत्सिंह जी बलभद्र जी से भी चार क़दम आगे बढ़ गए—

कैसे कै बखान करै कविता जगतसिंह,
साँस लेत पिय के न पास ठहरात है।
मूठि की सी मारी गिरे दीठि के परे ते नेंकु,
सुषमा के भार ते न चलो जात गात है।
उपमा धरत न धरत धीर धरणी पै,
लचकि लचकि लंक लचि लचकात है।
हिय के मिलन वाले कोमल अमल आले,
बानी के निकाले पग छाले परिजात है॥

आपकी नायिका तो मुँह की साँस के साथ ही उड़ जाती है, इसीलिए आप उसके समीप बात नहीं करते। यदि उसके ऊपर निगाह भी पड़ जाय तो ऐसे गिर जाती है, जैसे किसी ने जोर से धक्का मार दिया हो। बलभद्र जी की नायिका तो वस्त्रों का भार उठाने में असमर्थ है, परन्तु यह अपने रूप का बोझा भी नहीं सह सकती।

अब ज़रा मतिराम जी की नायिका को भी देख लीजिए—

चरण धरै न भूमि भरै सो जहाँ ही तहाँ,
फूले-फूले फूलन बिछाई परियंक है।
भार के हरन सुकुमार चारु अंगन में,
अंग ना लगावे राज केसरि को पंक है।
कवि 'मतिराम' लखि बातायन बीच मुख,
आतम मलीन होत बदन मयंक है।
कैसे सुकुमारि वह बाहर विजन आवे,
विजन बयार लागे लचकत लंक है॥

मतिरामजी की नायिका भी सुकुमारी तो है, पर जगतसिंह जी की नायिका को नहीं पा सकी।

जब सब ही अपनी अपनी नायिकाओं की सुकुमारता का वर्णन कर रहे है, तो पद्माकर जी ही क्यों चुप रहें।

सुन्दर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग,
अंग-अंग फैलत तरंग परिमल के।

बारन के भार सुकुमारि को लचत लंक,
राजै परियंक पर भीतर महल के ॥
कहै 'पदमाकर' विलोकि जन रीझैं जाहि,
अम्बर अमल के सकल जल थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के सु,
जात गड़ि पायन बिछौना मखमल के ॥

भला पद्माकर किसी से पीछे रहने वाले थोड़े ही थे। आप जगतसिंह से बाजी मार ही ले गए। आपकी नायिका के पैरों में तो कोमल कमल और गुलाब की पंखड़ियाँ तथा मखमल के बिछौना तक गड़ जाते हैं। कहिए, हो गई न सुकुमारता की पराकाष्ठा।

और देखिए—

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल से दुकूलनि सुगंध विथुर्‌यौ परै।
चन्द सो बदन मंद हाँसी सुधा विन्दु अर—
विन्दन मुदित मकरंदन मुर्‌यौ परै।
ललित लिलार श्रम झलक अलक भार,
मग में धरत पग जावक घुर्‌यौ परै।
देवमणि नूपुर पदुम पद्म हू पर द्वै,
भूपर सुअंगनि के रूप निचुर्‌यौ परै॥

ऊपर के पद्य में सुकुमारता के साथ ही सौन्दर्य का वर्णन भी कितने सुन्दर ढंग से किया गया है। नायिका के मार्ग में पैर रखने से पसीना आकर उसके साथ जो रोली जावक आदि का रंग मिलकर टपक रहा है, वह मानों सुन्दरी का रूप निचुड़ा पड़ता है।

अब लगे हाथों कवि श्रीपति जी की नायिका का सौन्दर्य भी देख लीजिए—

रोहिणी रमण की मरीची सी सुखद सीरी,
मोहिनी सरिस महा मोहिनी के थल सी।
'श्रीपति' सुकवि बाला रवि के किरन ऐसी,
बदन मुकुर सी अमल गंग जल सी।

ग्वालि गरबीली जाके गात की गुराई आगे,
चपला निकाई ऐसी लागति सहल सी।
माखन महल सी पराग के नहल सी,
गुलाब के पहल सी नरम मखमल सी॥

इसकी गुराई के आगे तो चपला की चमक भी फीकी जान पड़ती है, और सुकुमारता के आगे गुलाब-पुष्प और मखमल की तो बात ही क्या चलाईं। माखन का गोला भी कठोर जान पड़ता है।

महाकवि बिहारी ने नायिका की नज़ाकत का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

भूषन भार सँभारि है क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धर परत सोभा ही के भार॥

जो नायिका शोभा का ही भार नहीं सँभाल सकती, वह ज़ेवरों का बोझ कैसे बरदाश्त करेगी।

इसी आशय के नीचे लिखे दो शेर भी ख़ूब हैं—

नाज़ कहता है कि ज़ेवर से हो तज़ईने जमाल।
नाज़ुकी कहती है, सुर्मा भी कहीं बार न हो।

—अकबर

× × ×

यों नज़ाकत से गराँ सुरमा है चश्मे यार का—
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे बीमार को।

सोलह शृंगार वर्णन

सोलह शृङ्गार कौन-कौन से हैं, यही बात केशव जी के निम्नलिखित कवित्त में बताई गई है—

प्रथम सकल सुचि मज्जन अमल वास,
जावक सुदेस केस पास को सुधारिबो।
अंग राग भूषन विविध मुखवास राग,
कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबो।

बोलनि हँसनि चित चातुरी चलनि चारु,
पल-पल प्रति पतिव्रत प्रति पारिबो।
'केसोदास' सबिलास कहत प्रवीनराय,
यहि बिधि सोरह सिंगारन सिंगारिबो॥

कविवर बलभद्र जी ने इसी बात को कुछ दूसरे ढंग से कहा है, देखिए—

करि दन्त धावन उबटि अंग उबटन,
मज्जन कै देह अँगुछान अँगु छाई है।
करि कै तिलक माँग पाटी पारी 'बलभद्र'
भली भाल चन्दन की बैंदुरी बनाई है।
अंजन दै नैन देखि दर्पण चिबुक चिन्ह,
अधर तमोर की अधिक छबि छाई है।
महँदी करन एड़ी माँजि कै महावर दै,
सोरह सिंगारन की मूल चतुराई है॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.